राजस्थान का
इतिहास

राजस्थान का इतिहास

(प्राचीनकाल से सन् १९५६ तक)

बी० एल० पानगड़िया

बी० ए०, एल-एल० बी०

सादर समर्पित

भारत की प्रधानमंत्री

श्रीमती इन्दिरा गांधी को

जिन्होंने

देश के इतिहास में पहली बार बंगला देश-युद्ध में
शत्रु को उसी की भूमि पर करारी हार देकर
इतिहास में एक स्वर्णिम अध्याय जोड़ दिया।

प्राक्कथन

राजस्थान को ऐतिहासिक दृष्टि से खोजने का श्रेय मूलतः कर्नल टॉड को जाता है जिसने जैन-यति ज्ञानचंद्र की सहायता से सन् १८२९ में 'एनाल्स एंड एंटीक्विटीज ऑफ राजस्थान' नामक विशाल ग्रंथ प्रकाशित कर राजस्थान को विश्व के मानचित्र पर रख दिया। इस ग्रंथ में उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, जयपुर, कोटा और बूंदी के राजवंशों का विस्तृत इतिहास है। यह ग्रंथ साधारणतः चारण-भाटों की ख्यातों, वंशावलियों और जनश्रुतियों के आधार पर लिखा गया है। इसलिए इस ग्रंथ में कई भूलें और असंगतियां रह गयी हैं। इसके बावजूद इसमें संदेह नहीं कि टॉड ने उक्त ग्रंथ की रचना कर राजस्थान के इतिहास को मजबूत आधार प्रदान किया एवं भावी इतिहासकारों का मार्ग प्रशस्त किया।

टॉड से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व जोधपुर के दीवान मुहणोत नैणसी ने सन् १६७० में एक पुस्तक लिखी थी जो 'मूथा नैणसी की ख्यात' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पुस्तक में जोधपुर राज्य के इतिहास के अलावा अन्य पड़ोसी राजवंशों का विवरण भी दिया गया है। यह पुस्तक अव्यवस्थित ढंग से लिखी गयी है, तथापि राजस्थान के इतिहास के संबंध में उपलब्ध ग्रंथों में सबसे प्राचीन होने से इस 'ख्यात' का अपना महत्त्व है। नैणसी ने 'मारवाड़ की विगत' नामक पुस्तक भी लिखी थी, जिससे मारवाड़ की तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था का पता चलता है।

कर्नल टॉड के ग्रंथ को आधार मानकर बाबू ज्वालासहाय माथुर ने सन् १८७८ में 'बकाये राजस्थान' और मुंशी देवीप्रसाद कायस्थ ने सन् १८९३ में राजाओं के जीवन-चरित्र लिखे। बूंदी के राजकवि सूर्यमल मिश्रण द्वारा लिखित सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'वंशभास्कर' सन् १८९८ में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में बूंदी-राज्य का इतिहास है। पर विद्वान् लेखक ने ग्रंथ में प्रसंगवश अन्य राज्यों के इतिहास पर भी बखूबी प्रकाश डाला है।

कविराजा श्यामलदास द्वारा १२ वर्ष के अथक परिश्रम और खोज के बाद लिखा गया 'वीर विनोद' राजस्थान के इतिहास की अमूल्य धरोहर है। यह ग्रंथ सन् १८८६ और १८८८ के बीच कई भागों में प्रकाशित हुआ। शिलालेखों, सरकारी दस्तावेजों एवं अन्य अधिकृत स्रोतों से एकत्रित सामग्री से लैस यह मौलिक ग्रंथ अब तक प्रकाशित सभी ग्रंथों से अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय था। 'वीर विनोद'

मूलत: मेवाड़ राज्य का इतिहास है; पर इसमें राजस्थान के अन्य राज्यों के इतिहास की भी विस्तृत झांकी मिलती है।

इस सदी में राजस्थान का संपूर्ण और क्रमबद्ध इतिहास लिखने का श्रेय जाता है महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा को जिन्होंने 'राजस्थान का इतिहास' नामक ग्रंथ कई भागों में प्रकाशित कर राजस्थान के इतिहास को एक नयी दिशा प्रदान की। इस ग्रंथ का प्रथम भाग सन् १९२५ में प्रकाशित हुआ। ओझा जी ने बड़े परिश्रम और अन्वेषण के बाद टॉड और अन्य इतिहासकारों की रचनाओं में समाहित कई असंगतियों, किंवदंतियों और भूलों का भली भांति परिमार्जन कर राजस्थान के इतिहास का विशुद्धीकरण किया। ओझा जी पहले मेवाड़ राज्य और बाद में अंग्रेज सरकार की सेवा में रहे। इसका स्पष्ट प्रतिबिंब उनके उक्त ग्रंथ में दृष्टिगोचर होता है। ग्रंथ का आकार भी कई कारणों से बहुत बड़ा बन गया और टॉड एवं श्यामलदास के ग्रंथों की तरह जन-साधारण के लिए दुर्लभ बन गया। पर इन कमियों के बावजूद ओझा जी ने इस ग्रंथ की रचना कर अपने-आपको अमर कर दिया।

आधुनिक काल में राजस्थान के इतिहास को समृद्ध बनाने में अनेक इतिहासविज्ञों का योगदान रहा है। श्री जगदीशसिंह गहलौत द्वारा रचित 'राजपूताने का इतिहास' सन् १९३७-३८ में प्रकाशित हुआ। यद्यपि गहलौत ने अपने ग्रंथ का आकार ओझा जी के मुकाबले छोटा करने का प्रयत्न किया, मगर उसमें उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। डॉ० रघुवीरसिंह ने अपने ग्रंथ 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' में राजस्थान के सन् १५२७ से १९४७ के घटनापूरित इतिहास को सरलता से प्रस्तुत कर जन-साधारण में इतिहास के प्रति बड़ी रुचि पैदा की। श्री पृथ्वीसिंह मेहता ने 'हमारा राजस्थान' नामक पुस्तक लिखकर राजस्थान के इतिहास को एक नया मोड़ देने का प्रयत्न किया। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि उसमें क्रांतिकारियों की राजस्थान संबंधी प्रवृत्तियों पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है। डॉ० गोपीनाथ शर्मा द्वारा लिखित राजस्थान का इतिहास (प्रथम भाग) एक बड़े ग्रंथ के रूप में सामने आया है। इन तीनों इतिहासकारों ने राजस्थान के इतिहास को पहली बार प्रांतीय दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि तीनों ग्रंथ राजस्थान-निर्माण के बाद लिखे गए हैं।

डॉ० गोपीनाथ शर्मा और श्री जी० सी० राय चौधरी ने मेवाड़, डॉ० मथुरालाल शर्मा ने जयपुर और कोटा एवं श्री विश्वेश्वरनाथ राऊ ने मारवाड़ का सारगर्भित इतिहास लिखा है। डॉ० करणीसिंह ने अपने ग्रंथ 'बीकानेर घराने का केंद्रीय शक्तियों से संबंध' (दी रिलेशंस ऑफ दी हाउस ऑफ बीकानेर विद दी सेंट्रल पावर्स) में बीकानेर के राठौड़ राजघराने के इतिहास पर विस्तृत प्रकाश डाला है। करणीसिंह स्वयं इस घराने में पैदा हुए थे। अत: यह स्वाभाविक था कि वे अपने ग्रंथ में अपने पूर्वजों की सफलता का बखान बढ़ा-चढ़ाकर करते। पर अच्छा होता, यदि वे ऐसा करते समय राजस्थान के अन्य राजघरानों के साथ भी न्याय करते।

इस युग के अन्य उदीयमान इतिहासकार हैं सर्वश्री राजेंद्रशंकर भट्ट, वी० एस० भार्गव, राजेंद्र जोशी और वी० एस० भटनागर जिनका राजस्थान के इतिहास को अपना योगदान है।

राजस्थान के राजवंशों के संबंध में मध्यकाल में ही नहीं, आधुनिक युग में लिखी गयी अधिकतर पुस्तकों में भी राजाओं के संबंध में अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण देखने को मिलता है। राजाओं के जीवन-चरित्र तो यशोगाथाएं बनकर रह गए हैं। राजाओं की जिन भूलों और कमजोरियों के कारण देश कमजोर हुआ, उन पर पर्दा डालने का प्रयत्न किया गया है अथवा उन्हें बिल्कुल ही भिन्न रोशनी में प्रस्तुत किया गया है। उक्त पुस्तकों में कहीं-कहीं सामंतवाद और साम्राज्यवाद की झलक भी दृष्टिगोचर होती है। जिन राजाओं ने अपने-आपको दिल्ली के सुल्तानों और अंग्रेज शासकों के सम्मुख पूर्णरूपेण समर्पित कर दिया, उन्हें बुद्धिमान और नीतिज्ञ बताया गया है एवं जिन इने-गिने राजाओं ने भारी जोखिम उठाकर उक्त शक्तियों का विरोध किया उन्हें मूर्ख और भारतीय एकता का विरोधी बताया गया है।[1] यह एक प्रकार से राजस्थान के गौरवपूर्ण अतीत पर पानी फेरने वाली प्रवृत्ति है जिसका डटकर विरोध किया जाना चाहिए। इतिहासकार को निःसंदेह घटनाओं की व्याख्या करने का अधिकार है, पर उसे तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर रखने का कोई अधिकार नहीं। उसका काम न तो शासकों की अच्छाइयों पर पानी फेरना है और न उनकी कमजोरियों को छिपाना है। उसे हर घटना को देश और काल के संदर्भ में तोलकर समाज के सामने प्रस्तुत करना है जिससे भावी पीढ़ियां समुचित सबक सीख सकें। इतिहास के एक विद्यार्थी के नाते मैंने इतिहास-लेखन के उक्त मौलिक सूत्रों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत पुस्तक लिखने का दुस्साहस किया है। मैं इस प्रयत्न में कहां तक सफल हुआ हूं, इसका निर्णय सम्माननीय पाठक करेंगे।

राजस्थान में वर्तमान शताब्दी में हुए विभिन्न जन-आंदोलनों के संबंध में बहुत कम सामग्री उपलब्ध है। आधुनिक राजस्थान के इतिहास के संबंध में अब तक प्रकाशित ग्रंथों में ऐसे आंदोलनों को या तो बिल्कुल ही दरगुजर कर दिया गया है

१. कतिपय आधुनिक इतिहासकारों ने, जिनमें राहुल सांकृत्यायन, रोमीला थापर और डॉ० गोपीनाथ शर्मा शामिल हैं, देश की भावनात्मक एकता एवं धर्म-निरपेक्षता के नाम पर राणा प्रताप की अकबर-विरोधी जद्दोजहद को अव्यावहारिक अथवा भारत की एकता के विरुद्ध बताया है। विद्वान् लेखक यह भूल गये कि प्रताप अकबर को एक विदेशी आक्रांता मानता था। प्रताप भला यह कैसे भूल सकता था कि केवल ५० वर्ष पूर्व अफगानिस्तान की फरगाना रियासत का एक शासक बाबर सुल्तान इब्राहीम लोदी और स्वयं प्रताप के दादा राणा सांगा को हराकर दिल्ली का बादशाह बन बैठा था। उस काल में प्रताप अथवा भारत के अन्य किसी राजा द्वारा बाबर के पौत्र अकबर को भारतीय शासक के रूप में स्वीकार करना असंभव ही नहीं, अस्वाभाविक भी था। दरअसल मुगलों को भारतीय शासक के रूप में स्वीकार करने की स्थिति प्रताप की मृत्यु के २६० वर्ष बाद पैदा हुई जबकि हिंदुओं और मुसलमानों ने कंधे से कंधा मिलाकर अंतिम मुगल सम्राट् बहादुरशाह जफर के नेतृत्व में सन् १८५७ में अंग्रेजों के विरुद्ध जिहाद बोला।

अथवा उनका वर्णन तोड़-मरोड़ कर इस प्रकार किया गया है कि उनका ऐतिहासिक महत्त्व ही खत्म हो गया है। राजस्थान सरकार ने इस संबंध में कुछ प्रयत्न किये पर भारी धनराशि व्यय करने के बावजूद उसके ये सब प्रयत्न अब तक निष्फल रहे। मेरी शुरू से ही रियासतों के जन-आंदोलनों में रुचि रही है। मेवाड़ प्रजामंडल के मुख पत्र 'प्रजामंडल पत्रिका' के प्रधान संपादक के नाते मैंने मेवाड़ के उत्तरदायी सरकार के स्थापना संबंधी आंदोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। इसी समय मैं देसी राज्य लोक परिषद् की प्रांतीय सभा के संपर्क में आया था। यही कारण था कि मुझे राजस्थान के जन-आंदोलन संबंधी सामग्री एकत्रित करने में आशा से अधिक सफलता मिली। प्रस्तुत पुस्तक में यह सामग्री क्रमबद्ध रूप में यथास्थान जोड़कर मैंने राजस्थान के आधुनिक इतिहास की एक अखरने वाली कमी को पूरा करने का प्रयास किया है।

पुस्तक के प्रथम अध्याय में राजस्थान की भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक बनावट, प्राकृतिक संपदा, कृषि, उद्योग और जनसंख्या पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। ऐसा केवल प्राचीन परिपाटी को निभाने मात्र की दृष्टि से नहीं, बल्कि इसलिए किया गया है कि इस सामग्री की पृष्ठभूमि में पाठकों को राजस्थान का इतिहास समझने में सहूलियत हो। आगे के अध्यायों में क्रम से शिशोदिया, राठौड़, चौहान, कछवाहा और सिनसिनिवार आदि राजवंशों का आद्योपांत इतिहास दिया गया है। एक अध्याय में भूतपूर्व अजमेर सूबे का इतिहास जोड़ दिया गया है। एक अन्य अध्याय में राजस्थान राज्य की निर्माण-संबंधी घटनाओं का विस्तृत वर्णन दिया गया है। इस अध्याय में कई चौंकाने वाले प्रसंग दिए गए हैं जो अभी तक जन-साधारण की जानकारी में नहीं हैं। पुस्तक के अंतिम अध्याय में राजस्थान की भाषा, चित्रकला, स्थापत्य-कला एवं तीर्थ-स्थानों के बारे में आवश्यक जानकारी दी गयी है। इस प्रकार राजस्थान के एकीकृत इतिहास के रूप में प्रस्तुत पुस्तक को अधिकाधिक जन-उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। इसके बावजूद पुस्तक के कलेवर को एक निश्चित सीमा में रखा गया है, जिससे इतिहास में दिलचस्पी रखने वाले मित्र अधिक से अधिक संख्या में पुस्तक से लाभान्वित हो सकें।

इतिहास-लेखन की परंपरा है कि विभिन्न घटनाओं की जानकारी के स्रोत दिए जाएं। मैंने इस परंपरा का निर्वाह सीमित मात्रा में किया है। जिन घटनाओं को इतिहास सर्वसम्मति से स्वीकार कर चुका है, उनके बारे में मैंने विभिन्न स्रोतों का संदर्भ जान-बूझकर नहीं दिया है। इसी प्रकार मैंने अनुक्रमणिका देना भी आवश्यक नहीं समझा है। आशा है, इतिहास-लेखन के क्षेत्र में यह नया परीक्षण पुस्तक की प्रामाणिकता पर असर डाले बिना पाठकों के बोझ को हलका करेगा।

पुस्तक के लेखन में मैंने मूथा नैणसी, कर्नल टॉड, महाकवि सूर्यमल, सिंडायच दयालदास, कविराजा श्यामलदास, पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, श्री जगदीशसिंह गहलौत और डॉ० मथुरालाल शर्मा आदि कई विद्वान् इतिहासकारों द्वारा लिखित ग्रंथों की सामग्री से पूरा-पूरा लाभ उठाया है। इसके लिए मैं उक्त ग्रंथों के लेखकों

और प्रकाशकों का हृदय से ऋणी हूं।

पुस्तक लिखने के लिए मुझे सबसे अधिक प्रेरणा स्वतंत्रता सेनानी प्रो० गोकुल-लाल असावा से मिली। इसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूं। प्रो० असावा देश की उन इनी-गिनी विभूतियों में से हैं जिन्होंने देश के स्वतंत्रता-संग्राम में अपना सर्वस्व झोंक दिया। मैं उन अनेक सार्वजनिक कार्यकर्ताओं का और विशेषतया श्री छगनराज चोपासनीवाला का आभारी हूं जिन्होंने राजस्थान के जन-आंदोलन के संबंध में मुझे सामग्री एकत्रित करने में बहुमूल्य सहायता दी। मैं यहां 'राजस्थान पत्रिका' का जिक्र किए बिना नहीं रह सकता, जिसने राजस्थान के इतिहास के संबंध में मेरी लेखमाला प्रकाशित कर मुझे प्रस्तुत पुस्तक लिखने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहित किया है। मैं श्री ओमप्रकाश मिश्रा का शुक्रगुज़ार हूं जिन्होंने एक अच्छे शीघ्रलिपिक की क्षमता का परिचय देते हुए मुझे पुस्तक का प्रारूप तैयार करने में हृदय से सहायता दी।

इतिहास कभी पूर्ण नहीं होता। खोज चलती रहती है। नये तथ्य जुड़ते रहते हैं और इतिहास आगे बढ़ता रहता है। आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व कर्नल टॉड ने राज-स्थान के इतिहास की खोज का जो महान् अभियान शुरू किया था, वह अब भी द्रुत-गति से चालू है। प्रस्तुत पुस्तक इतिहास की इस लंबी यात्रा में एक कड़ी मात्र है। पुस्तक में अनेक त्रुटियां और कमियां रही होंगी। यदि पाठकवृंद इन त्रुटियों और कमियों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करेंगे तो मैं उनका आभारी रहूंगा और आगामी संस्करण में उनका परिमार्जन करने का प्रयत्न करूंगा।

—बालूलाल पानगड़िया

राज निकेतन,
मोतीडूंगरी रोड,
जयपुर

विषय-सूची

राजस्थान
का
इतिहास

पहला अध्याय

राजस्थान पर विहंगम दृष्टि

राजस्थान का पतंगाकार राज्य २३ से ३० अक्षांश और ६९ से ७८ देशांतर के बीच स्थित है। इसके उत्तर में पाकिस्तान, पंजाब और हरियाणा, दक्षिण में मध्यप्रदेश और गुजरात, पूर्व में उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश एवं पश्चिम में पाकिस्तान है। राजस्थान की जनसंख्या लगभग २ करोड़ ६५ लाख है जिनमें हिंदू २ करोड़ ३३ लाख, मुसलमान १४ लाख, जैन ५ लाख ५० हजार, सिक्ख ४ लाख, ईसाई ३ लाख ५० हजार और शेष अन्य धर्मावलंबी हैं। अनुसूचित जातियों की जनसंख्या लगभग ४५ लाख और जन-जातियों की ३५ लाख है। राज्य में नगरों एवं कस्बों की संख्या १५७ और गांवों की संख्या ३५७९५ है।

राज्य का क्षेत्रफल ३ लाख ६६ हजार २७० किलोमीटर है। क्षेत्रफल की दृष्टि से राजस्थान भारत का दूसरा बड़ा राज्य है। राज्य २६ जिलों में बंटा हुआ है। स्वायत्त शासन के लिए नगरों और कस्बों में नगरपालिकाएं एवं ग्रामीण क्षेत्रों के लिए ग्राम-पंचायतें, तहसील पंचायतें और जिला परिषदें स्थापित हैं। राज्य में सड़कों की लंबाई लगभग ४२००० किलोमीटर है। राजस्थान में इस समय बिजली की कुल खपत १७० लाख यूनिट प्रतिदिन है। खाद्यान्नों की पैदावार लगभग ४५ लाख टन वार्षिक है। राजस्थान की अन्य कृषि पैदावार हैं कपास, गन्ना एवं तिलहन आदि। राज्य में इस समय छोटे-बड़े लगभग ६००० कारखाने हैं जिनमें टैक्सटाइल, चीनी, सीमेंट, तांबा और जस्ता के बड़े कल-कारखाने भी शामिल हैं।

सिरोही में अलवर की ओर जाती हुई ४८३ किलोमीटर लंबी अरावली पर्वत-श्रृंखला प्राकृतिक दृष्टि से राजस्थान को दो भागों में विभाजित करती है। राजस्थान का पूर्वी भाग शुरू से ही उपजाऊ रहा है। इस भाग में वर्षा का औसत ५० सें० मी० से ९० सें० मी० तक है। राजस्थान-निर्माण के बाद चंबल और माही नदी पर बड़े-बड़े बांध और विद्युत-घर बने हैं, जिनसे राजस्थान को सिंचाई और बिजली की सुविधाएं उपलब्ध हुई हैं। अन्य नदियों पर मध्यम श्रेणी के बांध बने हैं जिनसे हजारों

एकड़ सिंचाई होती है। इस भाग में ताबा, जस्ता, पन्ना, अभ्रक, घिया पत्थर और अन्य खनिज पदार्थों के भंडार पाए जाते हैं।

राज्य का पश्चिमी भाग देश के सबसे बड़े रेगिस्तान 'थरपरकर' का अंग है। इस भाग में वर्षा का औसत १२ सें० मी० से ३० सें० मी० तक है। इस भाग में लूनी और बांडी आदि नदियां हैं जो बारिश के कुछ दिनों को छोड़कर प्रायः सूखी रहती हैं। देश की स्वतंत्रता के पूर्व बीकानेर राज्य पंजाब को ३ लाख रुपये वार्षिक सीनियोरेज चार्जेज के रूप में देकर गंगनहर द्वारा पंजाब की नदियों से पानी प्राप्त करता था। परंतु स्वतंत्रता के बाद राजस्थान पंजाब की रावी और व्यास नदियों के ५२ प्रतिशत पानी का भागीदार बन गया। उक्त नदियों का पानी राजस्थान में लाने के लिए सन् १९५८ में राजस्थान नहर की विशाल परियोजना शुरू की गयी। इस परियोजना पर ४ अरब रुपए से अधिक की लागत आएगी। इस परियोजना का प्रथम चरण समाप्त हो चुका है और दूसरे चरण का कार्य निर्माणाधीन है। ६४९ किलोमीटर लंबी राजस्थान नहर से कुल १३ लाख हैक्टेयर भूमि की सिंचाई होगी। इसमें से लगभग आधी भूमि की सिंचाई होने लग गयी है। इस सिंचाई योजना के फलस्वरूप थरपरकर का महान रेगिस्तान धीरे-धीरे शस्य-श्यामला भूमि में परिवर्तित हो जायेगा और देश का बृहद नाज-भंडार बन जाएगा। पंजाब की नदियों पर बनाई जानेवाली जल-विद्युत योजनाओं में भी राजस्थान भागीदार है। उसे इस समय भाखरा नांगल, पोंग और अन्य योजनाओं से यथेष्ट बिजली प्राप्त होती है जिससे राजस्थान के कृषि एवं औद्योगिक विकास में भरपूर सहायता मिली है। राजस्थान नहर परियोजना के अलावा इस भाग में जवाई नदी पर बनाया गया एक बड़ा बांध है जिससे न केवल विस्तृत क्षेत्र की सिंचाई होती है, वरन् जोधपुर नगर को पेयजल भी प्राप्त होता है। यह भाग अभी तक औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। पर इस क्षेत्र में ज्यों-ज्यों बिजली और पानी की सुविधाएं बढ़ती जाएंगी, औद्योगिक विकास भी गति पकड़ लेगा। इस भाग में लिग्नायट, फुलर्सअर्थ, टंगस्टन, बेंटोनाईट, जिप्सम और संगमरमर आदि खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। जैसलमेर-क्षेत्र में तेल मिलने की भी संभावनाएं हैं। अब वह दिन दूर नहीं जब राजस्थान का यह भाग भी समृद्धिशाली बन जाएगा।

देश की आजादी के पूर्व राजस्थान मात्र भौगोलिक अभिव्यक्ति था। उसमें केंद्र-शासित प्रदेश अजमेर के अलावा १९ देशी राज्य थे। देशी राज्यों में उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ और शाहपुरा में शिशौदिया, जोधपुर, बीकानेर और किशनगढ़ में राठौड़, कोटा और बूंदी में हाड़ा चौहान, सिरोही में देवड़ा चौहान, जयपुर और अलवर में कछवाहा, जैसलमेर और करोली में यदुवंशी एवं झालावाड़ में झाला राजपूत राज्य करते थे। टोंक में मुसलमान एवं भरतपुर तथा धौलपुर में जाटों का राज्य था।

राजस्थान के शौर्य का वर्णन करते हुए सुप्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड ने अपने ग्रंथ 'एनाल्स एंड एंटीक्वीटीज ऑफ राजस्थान' में कहा है कि राजस्थान में

ऐसा कोई राज्य नहीं जिसकी अपनी थर्मोपली न हो और ऐसा कोई नगर नहीं जिसने अपना लियोनिडास पैदा नहीं किया हो। टॉड का यह कथन न केवल प्राचीन और मध्ययुग में वरन् आधुनिक काल में भी इतिहास की कसौटी पर प्रायः खरा उतरा है। ८वीं शताब्दी में जालौर के प्रतिहार और मेवाड़ के गहलोत अरब-आक्रमणों की बाढ़ को न रोकते तो सारे भारत में इस्लाम की तूती बोलती नजर आती। मेवाड़ के रावल जेतसिंह ने सन् १२३४ में दिल्ली के सुलतान इल्तुतमिस और सन् १२३७ में सुलतान बलवन को करारी हार देकर राजस्थान को यवनों के आधिपत्य से बचाया। सन् १३०३ में सुलतान अलाउद्दीन खिलजी ने एक विशाल सेना के साथ मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ पर हमला किया। चित्तौड़ के इस प्रथम शाके में हजारों वीर और वीरांगनाओं ने मातृभूमि की रक्षा हेतु अपने-आपको न्यौछावर कर दिया। पर खिलजी किले पर अधिकार करने में सफल हो गया। इस हार का बदला सन् १३२६ में राणा हमीर ने दिल्ली के सुलतान मुहम्मद तुगलक की विशाल सेना को हराकर चित्तौड़ पर मेवाड़ का पुनः अधिकार जमाकर चुकाया।

१५वीं शताब्दी के मध्य में मेवाड़ का राणा कुंभा उत्तरी भारत में एक प्रचंड शक्ति के रूप में उभरा। उसने गुजरात, मालवा और नागौर के सुलतानों को अलग-अलग और संयुक्त रूप से हराया। सन् १५०९ में राणा सांगा ने मेवाड़ की बागडोर संभाली। सांगा बड़ा महत्त्वाकांक्षी था और भारत में हिंदू साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। सारे राजस्थान पर अपना वर्चस्व स्थापित करने के बाद उसने दिल्ली, गुजरात और मालवा के सुलतानों को संयुक्त रूप से हराया। सन् १५२६ में फरगाना के शासक उमरशेख मिर्जा के पुत्र बाबर ने पानीपत के मैदान में दिल्ली के सुलतान इब्राहीम लोदी को हराकर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। सांगा को विश्वास था कि बाबर भी अपने पूर्वज तैमूर लंग की भांति लूट-खसोट कर अपने वतन को लौट जाएगा। पर सांगा का अनुमान गलत साबित हुआ। यही नहीं, वह सांगा से मुकाबला करने के लिए आगरा से रवाना हुआ। सांगा ने भी समूचे राजस्थान की सेना के साथ आगरा की ओर कूच किया। बाबर और सांगा की पहली भिड़ंत बयाना के निकट हुई। बाबर की सेना हार कर भाग खड़ी हुई। बाबर ने सांगा से सुलह करनी चाही। पर सांगा आगे बढ़ता ही गया। १७ मार्च, १५२७ को खानवा के मैदान में दोनों पक्षों में जमकर युद्ध हुआ। मुगल सेना के एक बार तो छक्के छूट गए। पर इसी बीच देश के दुर्भाग्य से सांगा के सिर पर एक तीर लगा जिससे वह मूर्छित होकर गिर पड़ा। उसे युद्ध-क्षेत्र से हटाया जाकर बसवा ले जाया गया। इस दुर्घटना के साथ ही लड़ाई का पासा पलट गया। बाबर विजयी हुआ और इस प्रकार देश में हिंदू साम्राज्य स्थापित करने का यह अंतिम प्रयत्न विफल हो गया। बाबर भारत में मुगल-साम्राज्य की नींव डालने में सफल हो गया।

खानवा के युद्ध ने मेवाड़ की कमर तोड़ दी। यही नहीं, वह वर्षों तक गृह-कलह का शिकार बना रहा। अब राजस्थान का नेतृत्व मेवाड़ के शिशोदियों के हाथ

से निकल कर मारवाड़ के राठौड़ मालदेव के हाथ में चला गया। मालदेव सन् १५३२ में मारवाड़ की गद्दी पर बैठा। उसने मारवाड़ राज्य का भारी विस्तार किया। इस समय शेरशाह सूरी ने बाबर के उत्तराधिकारी हुमायूं को हराकर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। शेरशाह ने राजस्थान में मालदेव की बढ़ती हुई शक्ति को देख कर मारवाड़ पर आक्रमण किया। राठौड़ों ने अजमेर के निकट सुमेल गांव में शेरशाह की सेना के ऐसे दांत खट्टे किये कि एक बार तो शेरशाह का हौसला पस्त हो गया। परंतु अंत में शेरशाह छल-कपट से जीत गया। पर फिर भी उसे यह कहने के लिए मजबूर होना पड़ा कि "खैर हुई, वरना मुट्ठी भर बाजरे के लिए मैं हिंदुस्तान की सल्तनत खो देता।"

सन् १५५५ में हुमायूं ने दिल्ली पर पुनः अधिकार कर लिया। पर अगले ही वर्ष वह मर गया। उसके स्थान पर अकबर बादशाह बना। उसने मारवाड़ पर आक्रमण कर अजमेर, जेतारण और मेड़ता आदि इलाके छीन लिए। मालदेव स्वयं १५६२ में मर गया। उसकी मृत्यु के साथ ही साथ मारवाड़ का सितारा अस्त हो गया। सन् १५८७ में मालदेव के पुत्र मोटा राजा उदयसिंह ने अपनी लड़की नानाबाई का विवाह शाहजादे सलीम से कर अपने आपको पूर्णरूपेण मुगल साम्राज्य को समर्पित कर दिया। आमेर के कछवाहा, बीकानेर के राठौड़, जैसलमेर के भाटी, बूंदी के हाड़ा, सिरोही के देवड़ा और अन्य छोटे राज्य इसके पूर्व ही मुगलों की अधीनता स्वीकार कर चुके थे।

अकबर की भारत-विजय में केवल मात्र मेवाड़ का राणा प्रताप बाधक बना रहा। हल्दीघाटी सहित अनेक आक्रमणों के बावजूद वह प्रताप को अपने अधीन करने में असफल रहा। राणा प्रताप जब तक जिंदा रहा, डंके की चोट कहता रहा, "तुरक कहासी मुखपतो इण तण सुंइकलिंग।" काश! देश में उस समय दो-चार राणा प्रताप और पैदा हुए होते तो भारत-भूमि से मुगलों के पैर उखड़ जाते।

महाराणा प्रताप की मृत्यु पर उसके उत्तराधिकारी अमरसिंह ने मुगल-सम्राट जहांगीर से संधि कर ली। उसने अपने पाटवी पुत्र को मुगल-दरबार में भेजना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार ६०० वर्ष बाद मेवाड़ की स्वतंत्रता का भी अंत हुआ। मुगल-काल में जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और राजस्थान के अन्य राजाओं ने मुगल-साम्राज्य की उत्कृष्ट सेवाओं के फलस्वरूप मुगल-दरबार में वड़े-वड़े ओहदे, जागीरें और सम्मान प्राप्त किये।

सन् १७०७ में औरंगजेब की मृत्यु हो गयी और उसके साथ ही साथ मुगल-साम्राज्यवाद की जड़ें हिल गयीं। एक ओर जहां साम्राज्य के सूबेदार अपने आपको स्वतंत्र समझने लगे, वहां दूसरी ओर मरहठे अपनी शक्ति बढ़ाने लगे। वे दक्षिण में अपना सिक्का जमा कर राजस्थान में घुसपैठ करने लगे। फलतः राजस्थान के राजाओं ने महाराणा जगतसिंह की अध्यक्षता में १७ जुलाई, १७३४ को हुरडा सम्मेलन में मरहठों के विरुद्ध एक संयुक्त अभियान की योजना बनायी। परंतु राजाओं के निजी स्वार्थों और प्रतिस्पर्धा के कारण यह योजना कार्यान्वित नहीं हो

सकी। उसी वर्ष मुगल सम्राट् मोहम्मदशाह ने मरहठों के विरुद्ध अभियान शुरू किया। जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और कोटा आदि राज्यों के शासक भी मुगलों की ओर से इस अभियान में शामिल हुए। पर जयपुर के सवाई जयसिंह द्वारा मरहठों को मुगलों की सैनिक गतिविधियों का भेद खोल देने से मुगल सेना को मुंह की खानी पड़ी। मरहठों ने कोटा, बूंदी और टोंक आदि इलाकों को रौंद डाला। इस घटना के बाद राजस्थान के राजाओं का हौसला पस्त हो गया। मरहठों और पिंडारियों ने आतंक, लूटमार और भय से त्रस्त राजस्थान के राजाओं ने भारत के क्षितिज पर उदित अंग्रेजों के रूप में एक नयी शक्ति के सम्मुख रक्षा के लिए हाथ फैलाये। भारत पर आधिपत्य जमाने के लिए अंग्रेजों के लिए भला इससे अच्छा अवसर क्या हो सकता था? लार्ड हेस्टिंग्स की 'आश्रित पार्थक्य' (सबोर्डिनेट अलायंस) की नीति का पहला शिकार करोली हुआ जिसने नवंबर १८१७ में अंग्रेजों के साथ एक अहद-नामे पर हस्ताक्षर कर ईस्ट इंडिया कंपनी को सार्वभौम-सत्ता के रूप में स्वीकार कर लिया। सन् १८१८ के अंत तक केवल १४ माह की अवधि में राजस्थान के लगभग सभी शासक पक्के फल की तरह अंग्रेजों की गोद में टपक पड़े।

सन् १८५७ की असफल क्रांति के बाद सारे भारत पर अंग्रेजों का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। पर २०वीं शताब्दी की शुरुआत के साथ ही साथ भारतीय जनता की ओर से चुनौतियों का सिलसिला शुरू हुआ। इस सिलसिले में राजस्थान भी पीछे नहीं रहा। सन् १९०५ में डूंगरपुर राज्य के निवासी गोविंद गुरु ने भीलों को संग-ठित कर क्रांति का ऐसा बिगुल बजाया जिससे बागड़, मेवाड़ और गुजरात के शासक थर्रा गए। बंगभंग के बाद देश में क्रांतिकारियों की जो गतिविधियां शुरू हुईं उनमें भी राजस्थान अपना भाग अदा करने से नहीं चूका। शाहपुरा का सुप्रसिद्ध बारहठ परिवार, खरवा ठाकुर गोपालसिंह, जयपुर के अर्जुनलाल सेठी और व्यावर के सेठ दामोदर दास राठी राजस्थान के क्रांतिकारियों में अग्रणी थे। सन् १९१८ में स्व० विजयसिंह पथिक के नेतृत्व में बीजोलिया का ऐतिहासिक किसान आंदोलन शुरू हुआ जिसकी लपटें मेवाड़ में ही नहीं, पड़ोसी रियासत सिरोही और बूंदी में भी फैलीं। इन आंदोलनों में कई हजार भील, मिरासियों और अन्य किसानों ने अपने प्राणों की आहुति दी।

सन् १९३८-३९ में राजस्थान की विभिन्न रियासतों में उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए जन-आंदोलन हुए जिसमें हजारों की संख्या में देशभक्त जेल गए। इन आंदोलनों ने सर्वश्री जयनारायण व्यास, माणिक्यलाल वर्मा, हीरालाल शास्त्री और गोकुलभाई भट्ट जैसे उद्भट जन-सेवकों को राजस्थान के राजनीतिक पटल पर ला खड़ा किया। सन् १९४२ की देशव्यापी क्रांति में भी राजस्थान ने समुचित योग दिया।

देश की स्वतंत्रता की बेला में राजस्थान में सामंतशाही और राजाओं के निरंकुशवाद के विरुद्ध जो आंदोलन हुए उन्होंने शताब्दियों से आरूढ़ राजवंशों की जड़ों को खोखला कर दिया। रहा-सहा काम भारत के लौहपुरुष स्व० सरदार

वल्लभ भाई पटेल ने पूरा कर दिया। उन्होंने ३० मार्च, १९४९ को प्रदेश की विभिन्न रियासतों के विलय द्वारा बृहद राजस्थान राज्य का निर्माण कर राजशाही को सदा के लिए विदा कर दिया।

तो आइए, पाठकवृंद ! अब आपको वीर-वीरांगनाओं के रक्त से रंजित एवं भारतीय कला और संस्कृति के प्रतीक राजस्थान के अतीत का विस्तृत दिग्दर्शन करायें△

दूसरा अध्याय

शिशौदिया वंश

वीर-भूमि मेवाड़

सन् ७१२ में अरबों ने सिंध पर आधिपत्य जमा कर भारत विजय का मार्ग प्रशस्त किया। इस काल में न तो कोई केंद्रीय सत्ता थी और न कोई सबल शासक ही जो अरबों की इस चुनौती का सामना करता। फलतः अरबों ने आक्रमणों की बाढ़ लगा दी और सन् ७२५ में जैसलमेर, मारवाड़, मांडलगढ़ और भंड़ोच आदि इलाकों पर अपना आधिपत्य जमा लिया। ऐसा लगने लगा कि शीघ्र ही मध्य-पूर्व की भांति भारत में भी इस्लाम की तूती बोलने लगेगी। ऐसे समय में दो शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। एक ओर जहां नागभट्ट ने जैसलमेर, मारवाड़ और मालवे से अरबों को खदेड़ कर जालौर में प्रतिहार राज्य की नींव डाली, वहां दूसरी ओर बप्पा रावल ने चित्तौड़ के प्रसिद्ध दुर्ग पर अधिकार कर सन् ७३४ में मेवाड़ में गुहिल वंश का वर्चस्व स्थापित किया और इस प्रकार अरबों के भारत-विजय के मनसूबों पर पानी फेर दिया।

मेवाड़ का गुहिल वंश संसार के प्राचीनतम राजवंशों में माना जाता है। यह राजवंश राजा गुहिल से शुरू होता है जो छठी शताब्दी में मेवाड़ में राज्य करता था। बप्पा रावल गुहिल की ८वीं पीढ़ी में हुआ था। वह बड़ा वीर एवं पराक्रमी था। उसने चित्तौड़ का किला मौर्यवंशी राजा मान से छीन कर अपने राज्य में मिलाया था। कहते हैं कि उसने ईरान और सुरसान आदि देशों पर भी अपना आधिपत्य जमा लिया था। उसने उदयपुर के निकट एकलिंग महादेव का मंदिर बनवाया जो आज भी विद्यमान है। एकलिंग महादेव मेवाड़ के महाराणाओं के आराध्य देव माने जाते हैं।

चित्तौड़ का प्रथम 'शाका'

मेवाड़ के गुहिलों ने सन् १२३४ में दिल्ली के सुल्तान इल्तुतमस और सन्

१२३७ में बलवन को करारी हार दी।[1] सन् १३०३ में अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। मेवाड़ के स्वामी रावल रतनसिंह ने खिलजी का डट कर मुकाबला किया। पर अंत में विजय की कोई आशा न देख कर रतनसिंह ने जौहर करने का निर्णय किया। किले के द्वार खोल दिये गये। रानी पद्मिनी सहित हजारों राजपूत वीरांगनाएं चिता में बैठ कर भस्म हो गयीं। तीस हजार राजपूत पीले वस्त्र धारण कर दुश्मन की सेना पर टूट पड़े और वीरगति को प्राप्त हुए। यह चित्तौड़ का पहला 'शाका' था। मेवाड़ की इस हार का बदला सन् १३२५ में राणा हमीर[2] ने लिया। जबकि उसने दिल्ली के सुल्तान मोहम्मद तुगलक को परास्त कर चित्तौड़ के किले पर पुनः शिशौदिया वंश का झंडा फहराया। हमीर बड़ा साहसी और निडर था। उसने अपने सामंतों की सहायता से एक विशाल सेना का गठन किया। उसने पालनपुर, ईडर और कई अन्य शासकों को अपने अधीन किया। हमीर का पुत्र महाराणा क्षेत्रसिंह सन् १३६४ में मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। उसने टोडा और हाड़ौती पर अपना वर्चस्व स्थापित किया और मालवे के सुल्तान अमीशाह को हराया। उसने ईडर के राजा रणमल को परास्त कर कैद कर लिया।

महाराणा कुंभा

महाराणा कुंभा के काल में मेवाड़ उत्तरी भारत में एक प्रचंड शक्ति के रूप में उभरा। कुंभा सन् १४३४ में मेवाड़ के राज-सिंहासन पर बैठा। इसके बाल्यकाल में राज्य की व्यवस्था उसके मामा मारवाड़ के राठौड़ रायमल के हाथ में थी। राठौड़ों के बढ़ते हुए प्रभाव और रायमल के व्यवहार से मेवाड़ के सामंत क्षुब्ध हो गए थे। कतिपय कारणों से स्वयं कुंभा भी रायमल से अप्रसन्न था। फलतः रायमल को एक दिन सोते हुए मरवा दिया। रायमल के पुत्र जोधा और कांधल मेवाड़ से भाग गए। इस प्रकार मेवाड़ के शासन में मारवाड़ के राठौड़ों का दखल समाप्त हुआ।

महाराणा कुंभा ने अपने राज्य-काल में गुजरात, मालवा और नागौर के सुल्तानों को हराया। उसने अपनी मांडू-विजय के उपलक्ष्य में चित्तौड़गढ़ में विजय-स्तंभ जैसे गगनचुंबी टॉवर का निर्माण कराया। उसने अपने राज्य का व्यापक विस्तार किया। उसने बूंदी, मांडलगढ़, खाटू, अजमेर, सांभर, जहाजपुर, आमेर, आबू, गागरौन, रणथंभौर, मालवा और गुजरात आदि परगनों पर अपना वर्चस्व स्थापित किया।

कुंभा न केवल एक योद्धा था वरन् प्रसिद्ध संगीतज्ञ और कवि भी था। उसने

१. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, 'उदयपुर राज्य का इतिहास', भाग १, पृ० १६२।
२. हमीर शिशौदा गांव के सामंत राणा अरिसिंह का पुत्र था। प्रथम शाके में रावल रतनसिंह के निःसंतान काम आने पर हमीर मेवाड़ का शासक बना। यहीं से (सन् १३२५) गहलोत वंश की यह शाखा शिशोदियों के नाम से विख्यात हुई। हमीर एवं उसके वंशज 'रावल' के स्थान पर महाराणा के नाम से विख्यात हुए।

'गीत-गोविंद', 'संगीत-मीमांसा' और 'एकलिंग-माहात्म्य' आदि कई सुंदर ग्रंथों की रचना की। उसने न केवल कुंभलगढ़ जैसे सामरिक महत्त्व के किले का निर्माण किया वरन् चित्तौड़ में कई सुंदर महल भी बनवाए। परंतु दुर्भाग्य से यह पराक्रमी महाराणा सन् १४६८ में अपने ही पुत्र उदयकरण के हाथों मारा गया।

उदयकरण केवल पांच साल राज्य करके मर गया। उसके स्थान पर कुंभा का छोटा पुत्र रायमल गद्दी पर बैठा। उसके राज्य-काल में उसके तीन पुत्र— पृथ्वीराज, जयमल और संग्रामसिंह आपस में झगड़ते रहते थे। इनमें से दो पुत्र— जयमल और पृथ्वीराज रायमल के जीवन-काल में ही मर गए थे। अतः रायमल के मरने पर उसका तीसरा पुत्र संग्रामसिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। इतिहास में यह संग्रामसिंह 'राणा सांगा' के नाम से विख्यात हुआ।

हिंदू-साम्राज्य का स्वप्न

सन् १५०९ में राणा सांगा ने मेवाड़ राज्य की बागडोर संभाली। वह अपने समय का एक महान् योद्धा और बड़ा महत्त्वाकांक्षी शासक था। वह भारतवर्ष में मुसलमान राज्य को समाप्त कर एक नये हिंदू साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। उसने लगभग सारे राजस्थान पर अपना अधिकार जमा लिया था। ग्वालियर, अजमेर, सीकरी, कालपि, चंदेरी, बूंदी, गागरौन, रामपुरा और आबू के शासक राणा सांगा के सामंत थे। यही नहीं, जोधपुर और आमेर के राजा भी उसका लोहा मानते थे।[1] उसने दिल्ली के सम्राट सिकंदर लोदी, गुजरात के सुल्तान महमूद शाह बेगड़ा और मालवा के नासिरुद्दीन खिलजी को सम्मिलित रूप से हराया था। दिल्ली का अंतिम लोदी-सम्राट इब्राहीम सांगा से दो बार परास्त हो चुका था। इन लड़ाइयों के फलस्वरूप गुजरात और मालवा के कई इलाके तथा ग्वालियर, बयाना और जोधपुर के क्षेत्र मेवाड़ के अंतर्गत आ गए थे।

उस समय जबकि उत्तरी भारत में राणा सांगा की तूती बोल रही थी, फरगाना के राजा उमरशेख मिर्जा के लड़के बाबर ने १२ हजार सैनिकों के साथ दिल्ली पर चढ़ाई की। उसने सन् १५२६ में पानीपत की लड़ाई में इब्राहीम लोदी को हरा कर दिल्ली पर अपना आधिपत्य जमा लिया। राणा सांगा का ख्याल था कि बाबर भी तैमूरलंग की तरह लूट-खसोट करके पुनः अफगानिस्तान चला जाएगा और वह स्वयं दिल्ली पर अपना अधिकार कर लेगा। परंतु जब उसने बाबर को दिल्ली-तख्त पर जमते देखा, तो उसने उसे चुनौती देने की ठानी। सांगा ने मेवाड़ और राजस्थान के अन्य राजाओं की सेना के साथ दिल्ली की ओर कूच किया। सांगा की बाबर की सेना से पहली भिड़ंत बयाना के निकट हुई। बाबर की सेना हार कर भाग खड़ी हुई। बाबर ने सांगा से सुलह करनी चाही पर सांगा आगे बढ़ता ही गया। अंत में १७ मार्च, १५२७ को खानवा नामक स्थान पर दोनों सेनाओं में जम कर युद्ध हुआ।

१. जगदीशसिंह गहलोत, 'राजपुताने का इतिहास', प्रथम भाग, पृ० २१७।

लड़ाई के दौरान दुर्भाग्य से सांगा के सिर पर तीर लगा और वह मूर्छित हो गया। उसे रण-क्षेत्र से हटा लिया गया। राजपूत मरते दम तक लड़ते रहे। पर अंत में वे परास्त हुए। इस हार के साथ ही साथ राणा सांगा का भारत में हिंदू-साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न समाप्त हो गया। उसको विष देकर मरवा दिया गया। राणा सांगा को उसके कट्टर शत्रु स्वयं बाबर ने निम्न शब्दों में श्रद्धांजलि अर्पित की: "राणा सांगा अपनी बहादुरी और तलवार के बल से बहुत बड़ा हो गया था। मालवा, दिल्ली, गुजरात का कोई अकेला सुल्तान उसे हराने में समर्थ नहीं था। उसने लगभग दो सौ शहरों की मस्जिदें गिराईं और बहुत से मुसलमानों को कैद किया। उसके राज्य की वार्षिक आय १० करोड़ रुपए थी। उसकी सेना में १ लाख सैनिक थे। महाराणा सांगा के उत्तराधिकारी यदि वैसे ही होते तो मुगलों का राज्य भारतवर्ष में पनप नहीं पाता।"[१]

पतन के बीज

एक ओर जहां राणा सांगा ने अपने बल और पराक्रम द्वारा सारे उत्तरी भारत में धाक जमा ली थी तो दूसरी ओर उसने एक भयंकर भूल भी की थी। सांगा के तीन पुत्र थे—रतनसिंह, विक्रमादित्य और उदयसिंह। ज्येष्ठ पुत्र रतनसिंह जोधपुर की राजकुमारी धनबाई से और विक्रमादित्य और उदयसिंह बूंदी की राजकुमारी हाड़ी कर्मवती से पैदा हुए थे। सांगा का रानी कर्मवती से विशेष प्रेम था। कर्मवती के वशीभूत होकर राणा सांगा ने रणथंभौर का सामरिक महत्त्व का किला विक्रमादित्य और उदयसिंह को दे दिया। राणा सांगा की मृत्यु पर रतनसिंह गद्दी पर बैठा। हाड़ी रानी कर्मवती ने अपने पुत्र विक्रमादित्य को मेवाड़ की गद्दी पर बैठाने के लिए अपने भाई बूंदी नरेश सूर्यमल के द्वारा बाबर के पुत्र हुमायूं को राखी भेजी और यह संदेश कहला भेजा कि यदि बाबर विक्रमादित्य को चित्तौड़ की गद्दी पर बैठा देगा तो विक्रमादित्य रणथंभौर का किला और इलाका बाबर को सौंप देगा। बाबर ने यह प्रस्ताव मंजूर कर लिया, परंतु उसे ग्वालियर और बिहार की ओर जाना पड़ा। इसी बीच बाबर की मृत्यु हो गयी और इस प्रकार मेवाड़ पर मंडराते हुए युद्ध के बादल एक बार तो टल गए।

गृह-कलह और दूसरा 'शाका'

राणा रतनसिंह कर्मवती और सूर्यमल द्वारा रचे गए षड्यंत्र से परिचित था। उसने सूर्यमल को समाप्त करने की ठानी। रतनसिंह ने शिकार के बहाने सूर्यमल को चित्तौड़ और बूंदी की सीमा के पास बुलवाया। रतनसिंह ने मौका पाकर सूर्यमल पर वार किया। घायल सूर्यमल ने भी रतनसिंह पर वार किया। दोनों की जीवन-लीला वहीं समाप्त हो गयी।[२] रतनसिंह की मृत्यु होने के बाद विक्रमादित्य मेवाड़ की गद्दी

१. जगदीशसिंह गहलोत, 'राजपूताने का इतिहास', प्रथम भाग, पृ० २२२।
२. 'मुहणोत्त नैणसी की ख्यात', प्रथम भाग, पृ० १०९-१११।

पर बैठा और इस प्रकार रानी कर्मवती की इच्छा पूर्ण हुई। विक्रमादित्य शासन करने में बिल्कुल अयोग्य था। उससे सामंत लोग नाराज थे। मेवाड़ में अराजकता का बोलबाला हो गया था। इस स्थिति का लाभ उठाकर गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। विक्रमादित्य और उदयसिंह अपने ननिहाल बूंदी चले गए। कर्मवती सहित १३ हजार स्त्रियों ने जौहर किया। ८ मार्च, १५३५ का यह युद्ध चित्तौड़ का दूसरा 'शाका' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मेवाड़ परास्त हुआ। चित्तौड़ पर बहादुरशाह का आधिपत्य हो गया। पर यह स्थिति अधिक समय तक नहीं कायम रही। हुमायूं ने गुजरात पर हमला कर दिया। फलस्वरूप बहादुरशाह चित्तौड़ छोड़ गया। मेवाड़ के सामंतों ने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। इन उतार-चढ़ावों के बावजूद विक्रमादित्य ने कोई सबक नहीं सीखा! वह मेवाड़ के सामंतों की बेइज्जती करता रहा। इस परिस्थिति का फायदा राणा सांगा के भाई पृथ्वीराज की पासवान पुतलदे से उत्पन्न पुत्र बनवीर ने उठाया। वह महाराणा विक्रमादित्य को मौत के घाट उतार कर विक्रमादित्य के छोटे भाई उदयसिंह को मारने के लिए महलों में घुसा। जब इसकी सूचना पन्ना धाय को मिली तो उसने तुरंत ही उदयसिंह के स्थान पर अपने पुत्र को सुला दिया जो लगभग उदयसिंह की ही आयु का था। बनवीर ने दासी-पुत्र को उदयसिंह समझ कर कत्ल कर दिया और अपने आपको मेवाड़ का महाराणा घोषित कर दिया।

पन्ना धाय का सर्वोच्च त्याग

पन्ना धाय अपने पति और एक बारी दंपति की सहायता से उदयसिंह को टोकरे में छिपा कर कुंभलगढ़ की ओर ले गयी। वहां के किलेदार आशा देवपुरा ने उदयसिंह को संरक्षण दिया। थोड़े दिनों में यह बात सब जगह फैल गयी। उधर चित्तौड़ की गद्दी पर बैठने के बाद बनवीर सामंतों और मुसद्दियों के साथ दुर्व्यवहार करने लगा। इससे वे बनवीर से नाराज हो कर कुंभलगढ़ के मुखापेक्षी हो गए। पूर्विया चौहान रावत खान बनवीर से क्षुब्ध होकर कुंभलगढ़ जा पहुंचा और उसने उदयसिंह को मेवाड़ का महाराणा स्वीकार किया। इसके बाद अन्य सामंतों ने भी खुले आम उदयसिंह के प्रति वफादारी प्रकट की। सबने मिल कर सन् १५३६ में उदयसिंह को मेवाड़ का महाराणा घोषित कर दिया।[1] उदयसिंह ने चित्तौड़गढ़ पर आक्रमण करने की तैयारी की। इस लड़ाई में डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, सिरोही, बूंदी और ईडर के शासक अपनी सेना-सहित शामिल हुए। जोधपुर के शासक मालदेव ने भी उदयसिंह की सहायतार्थ अपनी सेना भेजी। चित्तौड़गढ़ से कुछ दूर ताना नामक स्थान पर उदयसिंह और बनवीर की सेना में युद्ध हुआ। बनवीर की सेना हार गयी। आशादेवपुरा ने चित्तौड़ के किलेदार चील मेहता को अपनी ओर मिला लिया। चील मेहता ने रात के समय किले के द्वार खोल दिए। फलतः उदयसिंह की

१. 'वीर विनोद', भाग २, पृ० २७-५५।

सेना ने किले पर आसानी से अधिकार कर लिया। बनवीर किले से भाग कर नागपुर चला गया। उदयसिंह सन् १५४० में मेवाड़ का स्वामी बन गया। मेवाड़ का इतिहास वीर-वीरांगनाओं के बलिदान की गाथाओं से भरा पड़ा है। पन्ना धाय द्वारा शिशौदिया-वंश की रक्षा-हेतु अपनी कोख से उत्पन्न पुत्र का बलिदान और आशादेवपुरा की स्वामी-भक्ति ने इस जाज्वल्यमान इतिहास में चार चांद जोड़ दिये हैं।

हतभागी उदयसिंह

उदयसिंह के गद्दी पर आसीन होने के समय मेवाड़ की बाह्य और आंतरिक स्थिति बड़ी शोचनीय थी। खानवा की पराजय, राणा सांगा की मृत्यु, गृह-कलह और बहादुरशाह के आक्रमण से मेवाड़ की सैनिक और आर्थिक स्थिति रसातल को पहुंच गयी। मेवाड़ के सामंतों में असंतोष फैला हुआ था। राज्य-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। इस परिस्थिति का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड ने बताया कि मेवाड़ में इस समय मानो 'पोपा बाई' का राज था। गद्दी पर बैठने के कुछ समय बाद उदयसिंह चित्तौड़ छोड़ कर कुंभलगढ़ चला गया और वहीं से मेवाड़ की शासन व्यवस्था जमाने लगा। उदयसिंह को मेवाड़ की गद्दी पर बैठे अभी ४ वर्ष भी नहीं हुए थे कि दिल्ली-सम्राट शेरशाह सूरी ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। उदयसिंह ने बिना युद्ध के ही चित्तौड़ के किले को शेरशाह सूरी को समर्पित कर दिया।[1] लगभग दो वर्ष तक शेरशाह सूरी का चित्तौड़ पर कब्जा रहा। इसी बीच शेरशाह की मृत्यु हो गयी। उदयसिंह ने शेरशाह की सेना को चित्तौड़ से खदेड़ दिया। चित्तौड़ के किले पर पुनः शिशौदिया वंश की पताका फहराने लगी। इस घटना से उदयसिंह का हौंसला बढ़ गया। उसने अपने शासनकाल में बूंदी और रणथंभौर पर पुनः अपना प्रभुत्व जमाया। उसने जोधपुर के राव मालदेव जैसे शक्तिशाली शासक को नाकों चने चबाये।[2] पर उसे मेवात के शासक हाजीखां से मुंह की खानी पड़ी। उसके बाद उसने अपना ध्यान केवल अपने राज्य की सुरक्षा एवं समृद्धि की ओर ही केंद्रित रखा। उसने सन् १५६० में उदयपुर नगर की नींव डाली। इसके कुछ समय पूर्व उसने उदयपुर से ८ मील दूर बेडच नदी पर उदयसागर बांध की नींव रखी। पर महाराणा के भाग्य में शांति नहीं बदी थी। इस समय दिल्ली के सिंहासन पर तृतीय मुगल सम्राट अकबर आरूढ़ था। वह बहुत महत्त्वाकांक्षी था। वह हिंदूकुश से लगाकर कन्याकुमारी तक सारे भारत को अपनी छत्रछाया में लाना चाहता था। राजपूत राजाओं में सबसे पहले उसका ध्यान उदयसिंह की ओर गया। इसके लिए उसे बहाना भी शीघ्र ही मिल गया।

चित्तौड़ का तीसरा 'शाका'

अकबर सन् १५६७ में मालवा-विजय के लिए रवाना हुआ। अकबर के भय

१. इलीयट, 'हिस्ट्री ऑफ इंडिया', भाग ४, पृ० ४०६।
२. जगदीशसिंह गहलोत, 'राजपूताने का इतिहास', जिल्द १, पृ० २२८।

से गुजरात का सुल्तान बाजबहादुर भाग कर महाराणा की शरण में आ गया। अक-बर ने मालवा की ओर जाने का विचार छोड़ कर पहले महाराणा से निपटने का निर्णय किया। २३ अक्टूबर, १५६७ को अकबर ने चित्तौड़ पहुंच कर किले पर घेरा डाल दिया। महाराणा इसके पहले ही सामंतों के आग्रह पर चित्तौड़ का किला राठौड़ जयमल और चूंडावत पत्ता को सौंप कर पहाड़ों में चला गया था। इन दोनों सामंतों के नेतृत्व में मेवाड़ की सेना ने शाही-सेना से कई महीनों तक टक्कर ली। अंत में किले में भोजन-सामग्री नहीं रही। राजपूतों ने जौहर करने का निर्णय लिया। बच्चे और स्त्रियां जौहर की आग में भस्म हो गए। किले का दरवाजा खोल दिया गया और राजपूत केसरिया बाना पहन कर शत्रु पर टूट पड़े। घमासान युद्ध हुआ और राजपूत सेना के सभी सैनिक वीरगति को प्राप्त हुए। अकबर ने २५ फरवरी, १५६८ को चित्तौड़ पर कब्जा कर लिया।[१] यह युद्ध चित्तौड़ का तीसरा 'शाका' कहलाता है। इस युद्ध में जयमल और पत्ता ने बड़ी बहादुरी दिखायी। इनकी बहादुरी से प्रभावित होकर अकबर ने आगरे के किले के दरवाजे पर इन दोनों की संगमरमर की मूर्तियां स्थापित क रवायीं।[२] अकबर ने अगले वर्ष मेवाड़ के दूसरे प्रसिद्ध किले रणथंभौर पर वहां के किलेदार राव सुरजण हाड़ा से मिलकर अपना अधिकार जमा लिया। इन दिनों महाराणा का अधिकतर समय कुंभलगढ़ में बीता। वह सन् १५७२ में कुंभलगढ़ से गोगुंदा आया और वहीं पर उसका देहांत हो गया।

अन्याय का प्रतिकार

अधिकांश इतिहासकारों ने उदयसिंह द्वारा मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ से हटाकर कुंभलगढ़ ले जाने, बिना युद्ध किये ही चित्तौड़ का किला शेरशाह सूरी को सौंपने तथा अकबर के आक्रमण के समय चित्तौड़ को राठौड़ जयमल और पत्ता को सौंप कर पहाड़ों में चले जाने की कटु आलोचना की है। उन्होंने उदयसिंह के इस कार्य को शिशौदिया वंश की गरिमा के विपरीत बताया है। परंतु आर्य रामचंद्र तिवारी और राजेंद्रशंकर भट्ट आदि विद्वानों ने खोज के बाद उदयसिंह के इन निर्णयों को राजनीतिक और सामरिक दृष्टि से उचित ठहराया है। इन इतिहासकारों का कहना है कि चित्तौड़ किले की गरिमा के कारण उसे बार-बार पड़ोस के गुजरात और मालवा के शासकों का ही नहीं, दिल्ली के सम्राटों के आक्रमण का भी शिकार बनना पड़ा और इसी कारण मेवाड़ को अनेक बार अपार जन-धन की क्षति उठानी पड़ी। अतः उदयसिंह यदि मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ से उठा कर कुंभलगढ़ ले गया तो यह कायरता की नहीं वरन् राजनीतिक बुद्धिमत्ता की निशानी थी।

उदयसिंह ने समझ लिया कि मेवाड़ की सेना के लिए दिल्ली जैसी बड़ी सल्तनत की सेना से खुले आम युद्ध में जूझना आत्मघात है। अतः उसने परंपरागत युद्ध-

१. 'अकबरनामा', भाग २, पृ० ४००-५६८।
२. 'बर्नियर ट्रेवल्स', पृ० २५६।

नीति को त्याग कर एक नयी रण-नीति को जन्म दिया जिसे आज की भाषा में 'गुरिल्ला' युद्ध कहा जाता है। उदयसिंह द्वारा सृजित इस रण-नीति पर चलकर उसके उत्तराधिकारी प्रताप ने अपना और अपने वंश का गौरव बढ़ाया। डॉ० गोपी-नाथ शर्मा ने अपने ग्रंथ 'राजस्थान का इतिहास' (प्रथम भाग) और राजेंद्रशंकर भट्ट ने 'मेवाड़ के महाराणा और शहंशाह अकबर' में उदयसिंह की सामरिक नीति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और इस प्रकार प्रसिद्ध इतिहासकार टॉड द्वारा उदयसिंह के प्रति किये गए अन्याय का प्रतिकार किया है।

प्रताप की गद्दीनशीनी

महाराणा उदयसिंह का ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते प्रताप मेवाड़ की गद्दी का स्वाभाविक हकदार था। परंतु भटियाणी रानी के वशीभूत होकर उदयसिंह ने अपने कनिष्ठ पुत्र जगमाल को मेवाड़ की राजगद्दी का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। परंतु उदयसिंह की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ के सामंतों ने जगमाल को महाराणा स्वीकार करने से इनकार कर दिया और प्रताप को कुंभलगढ़ में मेवाड़ के राज-सिंहासन पर बैठा दिया। जब प्रताप मेवाड़ की राजगद्दी पर बैठा उस समय मेवाड़ को छोड़ कर समूचे राजस्थान में मुगल-सम्राट अकबर का वर्चस्व स्थापित हो गया था। मेवाड़ के भी चित्तौड़ और रणथंभौर जैसे किले अकबर के अधिकार में जा चुके थे। जयपुर, जोधपुर और बीकानेर के शासकों की बहन-बेटियां मुगल हरम में जा चुकी थीं। परंतु अकबर उदयसिंह को अपने अधीन में नहीं कर पाया था। उदयसिंह का उत्तराधिकारी राणा प्रताप सैन्य-संचालन और व्यूह-रचना में उदयसिंह से भी अधिक दक्ष साबित हुआ। प्रताप की योग्यता, सहृदयता, आचरण तथा वीरता से राजपूताने के राजाओं की आशाएं उस पर केंद्रित हो गयी थीं। स्वाभाविक तौर पर मेवाड़ अकबर की आंखों में खटक रहा था। परंतु जिस कठिनाई से अकबर ने चित्तौड़ और रणथंभौर किलों पर अधिकार किया उस कारण वह मेवाड़ पर दुबारा आक्रमण करने से हिचकिचा रहा था। इसलिए उसने पहले बातचीत का रास्ता अख्तियार किया।

अकबर द्वारा संधि के प्रयत्न

अकबर ने सबसे पहले अपने एक विश्वासपात्र कूटनीतिज्ञ जलाल खां को राणा प्रताप के पास भेजा। जलाल खां प्रताप को मनाने में सफल नहीं हुआ। उसके कुछ दिन बाद जून, १५७३ में अकबर ने आमेर के राजा भगवंतदास के पुत्र मान-सिंह को प्रताप को समझाने भेजा। मानसिंह ने प्रताप को अकबर की अधीनता स्वीकार करने के लिए कई प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया। यद्यपि वह अकबर के राजदूत के रूप में प्रताप से मिला था तथापि वह उम्र में केवल २३ वर्ष का था और उसकी स्वयं की हैसियत भी केवल राजकुमार की थी। अतः मानसिंह की बातों का प्रताप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उसे खाली हाथ लौटना पड़ा।

मानसिंह की उदयपुर में प्रताप से हुई भेंट के संबंध में इतिहासकारों ने तरह-तरह के वर्णन दिये हैं। कहा जाता है कि प्रताप ने उदयसागर के तट पर मानसिंह को दावत दी। इस अवसर पर प्रताप ने स्वयं उपस्थित न होकर अपने कुंवर अमरसिंह को भेज दिया। मानसिंह को महाराणा का यह व्यवहार नागवार गुजरा। उसने अमरसिंह से महाराणा के न आने का कारण पूछा। अमरसिंह ने उत्तर दिया कि महाराणा के सिर में दर्द है। मानसिंह ने कहा कि मैं शीघ्र ही महाराणा के सिर-दर्द का इलाज करने पुनः उदयपुर आऊंगा। इस पर वहां उपस्थित मेवाड़ के एक सामंत ने कहा कि आप जब पुनः मेवाड़ आएं तो अपने फूफा अकबर को भी साथ लेते आना। यह घटना महज किंवदंती मालूम होती है। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव का यह कहना सही प्रतीत होता है कि अगर आमेर के राजपरिवार या मुगल-सम्राट अकबर का ऐसा गहरा अपमान किया गया होता तो शीघ्र ही युद्ध छिड़ जाता और अकबर अगले ३ वर्ष तक चुप नहीं बैठा रहता। यही नहीं, मानसिंह की उदयपुर की यात्रा के कुछ माह बाद अकबर ने मानसिंह के पिता राजा भगवंतदास को उदयपुर प्रताप को मनाने भेजा। पर उसके प्रयत्न भी असफल होने पर अंत में अकबर ने राजा टोडरमल को महाराणा के पास समझौता-वार्ता के लिए भेजा। इन वार्ताओं में अकबर की ओर से इस बात पर जोर दिया गया कि अन्य राजाओं की भांति महाराणा स्वयं भी अकबर के दरबार में उपस्थित हों। इस मुद्दे को लेकर इस बार भी वार्ता असफल रही। अकबर के एक नवरत्न और प्रसिद्ध इतिहासकार अबुलफजल ने इस संबंध में खीझ कर लिखा है कि "महाराणा आज्ञाकारिता का मार्ग छोड़ कर पथभ्रष्ट हो गया है।"

प्रताप से समझौते का अंतिम प्रयत्न असफल होने पर अकबर इस नतीजे पर पहुंचा कि अब प्रताप से लड़ाई के मैदान में ही निपटना होगा। इसके लिए उसने आवश्यक तैयारी शुरू कर दी। उसका सबसे पहले ध्यान प्रताप के सहयोगी राजाओं की ओर गया। उसने सौजत के राजा कल्ला और मालानी के मेघराज को हराया। इसके बाद सिवाणा में चंद्रसेन को हरा कर वहां पर मुगल शासन कायम किया। इस प्रक्रिया में अकबर को तीन वर्ष लग गए।

हल्दीघाटी की लड़ाई

फरवरी, १५७६ में अकबर अजमेर पहुंचा और वहीं उसने मेवाड़ पर आक्रमण करने की योजना बनायी। उसने इस आक्रमण का भार मानसिंह को सौंपा। मानसिंह ने ३ अप्रैल, १५७६ को शाही सेना के साथ मेवाड़ की ओर कूच किया। राह में वह २ माह तक मांडलगढ़ में डेरा डाले रहा। शाही सेना के कूच की सूचना मिलते ही प्रताप कुंभलगढ़ से गोगुंदा आ गया और वहीं उसने मुगल सेना से निपटने के लिए अपने सरदारों से विचार-विमर्श किया। एक ओर मानसिंह ने मांडलगढ़ से गोगुंदा की ओर कूच किया तो दूसरी ओर प्रताप गोगुंदा से अपनी सेना के साथ रवाना होकर लोसिंग नामक स्थान पर पहुंचा। १८ जून, १५७६ को हल्दीघाटी

के निकट दोनों सेनाओं में भीषण संग्राम हुआ।[1] इस संग्राम में मुगल सेना की संख्या लगभग ५ हजार और प्रताप की सेना की संख्या ३ हजार थी। प्रसिद्ध इतिहासकार बदायूनी के अनुसार लड़ाई के प्रथम चरण में मुगल सेना की पूर्ण रूप से हार हुई। अलबदायूनी ने स्वयं भी लड़ाई में अकबर की ओर से भाग लिया था। उसने अपनी पुस्तिका 'मुंतखबुत तवारीख' में लिखा है कि भगदड़ के समय जब मैंने आसफखां से पूछा कि "ऐसी अवस्था में हम अपने और शत्रु के सैनिकों की पहचान कैसे करें तो उसने उत्तर दिया कि तुम तीर चलाये जाओ, चाहे जिस पक्ष के आदमी मरें, इस्लाम को तो उससे लाभ ही होगा।" अस्तु, शाही सेना बनास नदी पार करके १५-२० किलोमीटर तक भागती रही। इसी समय शाही सेना के एक प्रमुख अधिकारी मेहतर खान ने ढोल बजा कर यह हल्ला मचवाया कि मुगल सेना की नयी कुमुक पहुंच रही है और सम्राट अकबर स्वयं इसका नेतृत्व कर रहे हैं। इससे शाही सेना का मनोबल बढ़ गया और वह पुनः महाराणा की सेना से भिड़ गयी। शाही सेना ने प्रताप की सेना को घेर लिया। प्रताप स्वयं शत्रुओं से घिर गया। ठीक इसी समय झाला सरदार माना[2] की सूझबूझ ने स्वतंत्रता के पुजारी प्रताप को एक महान् खतरे से बचा लिया। उसने प्रताप के सिर से छत्र हटाकर अपने सिर पर धारण कर लिया। फलतः शत्रु-सेना माना को महाराणा समझ कर उस पर टूट पड़ी। माना वीरगति को प्राप्त हुआ। पर वह अपने प्राणों की बलि देकर हिंदुओं का सूर्य कहलाने वाले महाराणा प्रताप की जान बचाने में सफल हो गया। इस लड़ाई में प्रताप का सुप्रसिद्ध नीला घोड़ा 'चेतक' रण-खेत रहा। प्रताप को सात घाव लगे। उसके स्वामीभक्त सेवकों ने उसे हकीम खां सूरी के साथ घायल अवस्था में कौल्यारी नामक सुरक्षित स्थान पर पहुंचा दिया जहां उसका अन्य घायल सैनिकों के साथ इलाज हुआ। झाला माना के प्राणोत्सर्ग के साथ ही साथ हल्दीघाटी की लड़ाई समाप्त हो गयी। प्रताप युद्ध के इस दौर में परास्त हुआ। पर इस लड़ाई ने प्रसिद्ध इतिहासकार रघुवीरसिंह के शब्दों में राणा प्रताप की कीर्ति को समुज्ज्वल बना दिया। हल्दीघाटी स्वयं स्वाधीनता-प्रेमियों के लिए एक पवित्र स्थान बन गया।

स्मिथ के अनुसार अकबर का सन् १५७६ का मेवाड़-अभियान राणा प्रताप को संपूर्णतः नष्ट कर देने के लिए था। अकबर के इस उद्देश्य में मुगल-सेना पूर्णतः असफल रही। राणा प्रताप की छोटी-सी सेना ने हल्दीघाटी की लड़ाई में मुगल सेना को जो लोहे के चने चबवाये उससे हल्दीघाटी की लड़ाई जीत कर भी वह गोगुंदा से आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं कर सकी। इस अभियान की असफलता से अकबर बड़ा अप्रसन्न हुआ। उसने मानसिंह और आसफ खां के प्रति अपनी नाराजगी जाहिर की। मानसिंह का दरबार में आना बंद कर दिया। इधर गुरिल्ला युद्ध द्वारा प्रताप ने कुछ ही समय में गोगुंदा का प्रदेश मुगल सेना से छीन लिया। इस प्रकार अकबर की

१. अबुल फजल, 'अकबरनामा', जिल्द ३, पृ० २४४-२४५।
२. झाला मान 'बिदा' के नाम से भी जाना जाता था।

मेवाड़ पर पहली चढ़ाई निष्फल हुई ।

मुगल-आक्रमणों की बौछार

हल्दीघाटी के युद्ध के बाद मुगल सेना ने भयभीत होकर प्रताप की सेना का पीछा छोड़ दिया । प्रताप ने भी अपनी रण-नीति बदल दी । वह पूर्णरूपेण गुरिल्ला युद्ध पर उतर आया । उसने विभिन्न सैन्य मार्गों पर नियंत्रण कर लिया और मेवाड़ में स्थित मुगल सेना को नयी कुमुक और रसद पहुंचाने में कठिनाई पैदा कर दी । थोड़े समय में उसने गोगुंदा पर पुनः अधिकार कर लिया । यह स्थिति देख कर सितंबर, १५७६ में मेवाड़-अभियान की कमान अकबर ने स्वयं अपने हाथ में ली । उसने मोही नामक स्थान पर पहुंचकर अपने अभियान का श्रीगणेश किया । पर इस बार भी शाही सेना न तो गोगुंदा से आगे बढ़ पायी और न प्रताप को ही पकड़ सकी । अकबर अपने सेनानी कुतुबुद्दीन, भगवंतदास एवं मानसिंह आदि पर रुष्ट हो गया और उनके मुगल दरबार में आने पर पाबंदी लगा दी । अकबर स्वयं उदयपुर के लिए रवाना हुआ और उस पर कब्जा कर लिया । वह नवंबर, १५७६ तक मेवाड़ में रहा । पर वह भी प्रताप को पकड़ने में सफल नहीं हुआ । अक्तूबर, १५७७ में अकबर ने मीरबक्सी शाहबाजखान के नेतृत्व में एक विशाल सेना मेवाड़ भेजी । कई महीनों बाद यह सेना अब तक अजय कुंभलमेर के किले को सर करने में सफल हुई । शाहबाजखान ने मेवाड़ को बुरी तरह से बरबाद कर दिया । परंतु फिर भी वह प्रताप को नहीं पकड़ सका ।

प्रताप कुंभलगढ़ से निकल कर रणकपुरा होता हुआ हर्डर राज्य के चूलिया ग्राम में पहुंचा जहां वह काफी समय तक रहा । वहीं उसकी मेवाड़ के पुराने प्रधान-मंत्री भामाशाह से मुलाकात हुई । उसने प्रताप को २५ लाख रुपये और २० हजार अशर्फियों के अलावा अपनी सेना समर्पित की ।[1] प्रताप ने इस अमूल्य सहायता से अपनी सेना का पुनर्गठन किया । उसने परंपरागत भील जाति का सहयोग प्राप्त किया । इसी बीच शाहबाजखान मेवाड़ छोड़कर भामाशाह और उसके भाई ताराचंद को दबाने के लिए मालवा की ओर रवाना हुआ । यह अवसर देखकर प्रताप ने मेवाड़ के उत्तरी-पश्चिमी पहाड़ों की ओर कूच किया । दीवेर घाटी में प्रताप की सेना और मुगल सेना के बीच घमासान युद्ध हुआ । मुगल सेना हार गयी । प्रताप ने कुंभलमेर पर पुनः अधिकार कर लिया । इसके बाद उसने छप्पनियां के इलाके पर अपना अधिकार कर चांवड नामक स्थान को अपनी राजधानी बनाया । शाहबाजखान पुनः मेवाड़ पर चढ़ आया । वह लगभग ६ महीने तक मेवाड़ में रहा । पर ज्यों ही वह मेवाड़ से लौटा प्रताप ने पुनः विभिन्न थानों से मुगल सेना को निकाल दिया । उन्हीं दिनों अकबर के पास यह खबर पहुंची कि राणा प्रताप संधि करने के लिए तैयार है । उसने बीकानेर के पृथ्वीराज राठौड़ से इस खबर का जिक्र किया तो पृथ्वीराज ने

१. टॉड, 'एनाल्स एंड एंटी क्विटीज ऑफ राजस्थान', भाग १, पृ० ४०२३ ।

कहा कि प्रताप को लिख कर इस खबर की पुष्टि करना उपयुक्त होगा। पृथ्वीराज यद्यपि मुगल दरबार में रहता था, पर वह प्रताप के प्रशंसकों में से था। कहते हैं कि इस खबर से उसे मन ही मन बड़ा दुःख हुआ और उसने प्रताप को निम्न सोरठे लिख भेजे :

पातल जो पतसाह, बोले मुखहूंता बयण।
मिहर मंछम दिस मोह, ऊगे कासप राव उत ।।
पटकूं मूंछा पाण, के पटकूं निजतन करद।
दीजे लिख दीवाण, इण दो महली बात इक ।।

अर्थात् हे प्रताप ! तू यदि अपने मुख से अकबर को बादशाह कहेगा तो सूर्य पूर्व के बजाय पश्चिम में उगने लगेगा। हे दीवान ! तू मुझे सूचित कर कि मैं अपनी मूंछों पर ताव दूं या अपनी तलवार से अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दूं।

कहते हैं कि राणा प्रताप ने पृथ्वीराज की इस कविता के बदले निम्न उत्तर भेजा :

तुरक कहासी मुख पतो, इण तन सूं इक लिंग।
उगे जंही ऊगसी, प्राची बीच पतंग ।।
खूसी हूंत पीथल कमथ, पटको मूंछा पाण।
पछटण है जैते पतो, कलमा सिर के वाण ।।

अर्थात् जब तक यह शरीर मौजूद है भगवान एकलिंग की कृपा से प्रताप अकबर को तुर्क नाम से ही पुकारेगा और यह सूर्य हमेशा की भांति पूर्व में ही उगता रहेगा। हे राठौड़ पृथ्वीराज, तू अपनी मूंछों पर ताव लगाता रह। जब तक प्रताप जिंदा है, उसकी तलवार के प्रहार से यवनों के सिर उड़ते रहेंगे।

प्रताप के उत्तर ने अकबर का भ्रम दूर कर दिया। उसके बाद अकबर ने मेवाड़-अभियान का दायित्व अजमेर के सूबेदार दस्तमखान को सौंपा। पर थोड़े दिनों बाद वह मर गया। उसकी मृत्यु के उपरांत बादशाह ने अब्दुल रहीम खान (खानखाना) को मेवाड़ अभियान की जिम्मेदारी सौंपी। उसे भी कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। यही नहीं, प्रताप की सेना कुंवर अमरसिंह के नेतृत्व में शेरपुर के मुगल मोर्चे को तोड़ने में सफल हुई। खानखाना की बीवी और बच्चे पकड़ लिए गए। पर प्रताप को जब यह सूचना मिली तो खानखाना के परिवार को बाइज्जत पुनः खानखाना के पास पहुंचा दिया। प्रताप की इस उदारता से खानखाना द्रवित हो गया। वह प्रताप का भक्त हो गया।

खानखाना ने फामाशाह की मार्फत प्रताप की अकबर से सुलह कराने का प्रयत्न किया पर वह कामयाब नहीं हुआ। अकबर ने मेवाड़ विजय के लिए सन् १५८५ में एक और प्रयत्न किया। उसने आमेर के राजा भारमल के छोटे पुत्र जगन्नाथ को एक शक्तिशाली सेना के साथ मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भेजा। पर वह भी बिना प्रताप को पकड़े लौट गया। आगामी कुछ ही वर्षों में प्रताप ने

चित्तौड़ और मांडलगढ़ को छोड़ कर शेष सारा मेवाड़ अपने कब्जे में कर लिया ।

मेवाड़ का पुर्निर्माण

अकबर ने आगामी १२ वर्षों तक मेवाड़ पर आक्रमण करने का कोई ठोस प्रयत्न नहीं किया । एक तो वह देश की अन्य समस्याओं में उलझा रहा । दूसरे उसको मेवाड़ के सभी अभियान सैनिक और आर्थिक दृष्टि से इतने महंगे पड़े कि उसने सोच लिया कि मेवाड़ में अब और शक्ति लगाना निरर्थक है । जो अनुभव शेरशाह को मारवाड़ आक्रमण के समय तुरंत ही हो गया उस प्रकार का अनुभव अकबर को प्रताप से लड़ते हुए कई वर्षों बाद हुआ । प्रताप ने इन १२ वर्षों में मेवाड़ के पुर्निर्माण का महत्त्वपूर्ण काम हाथ में लिया । उसने मेवाड़ में नयी शासन-व्यवस्था कायम की । उसने भामाशाह को अपना प्रधानमंत्री बनाया । अधूरे उदयपुर नगर का निर्माण कराया । प्रताप के राजकाल में मेवाड़ में साहित्य और शिल्पकला की उन्नति हुई । स्वतंत्रता का पुजारी रणबांकुरा प्रताप केवल ५७ साल की उम्र में १९ जनवरी, १५९७ में इस संसार से चल बसा । उसकी मृत्यु के अवसर पर उसके कट्टर शत्रु अकबर ने भी आंसू बहाये । अकबर की यह भावना मुगल दरबार में उपस्थित प्रसिद्ध चारण कवि दुरसा आढ़ा ने निम्न शब्दों में व्यक्त की :

> गहलोत राण जीत गयो दसण मूंद रसणा डसी ।
> नी सास मूक भरिया नयन तो मृत शाह प्रताप सी ।।

अर्थात् "हे प्रताप ! तेरी मृत्यु पर शाह अकबर ने दांतों के बीच जीभ दबायी, निःश्वास छोड़े । उसकी आंखों में आंसू भर आए । गहलोत राणा तेरी ही विजय हुई ।" वीर शिरोमणी प्रताप के व्यक्तित्व को भला इससे बड़ी श्रद्धांजलि और क्या हो सकती है ।

राणा अमरसिंह

प्रताप के देहांत पर मेवाड़ के कांटों का ताज युवराज अमरसिंह के सिर पर सुशोभित हुआ । वह अपने यशस्वी पिता की देख-रेख में मुगल सेना से कई बार मोर्चे ले चुका था । वह अकबर की महत्त्वाकांक्षा से भली भांति परिचित था । अतः गद्दी पर बैठते ही उसने अपनी सेना का पुनर्गठन किया । विभिन्न किलों और थानों को सुदृढ़ बनवाया । इधर अकबर मेवाड़ के साथ हुए संघर्ष को १२ वर्ष बीत जाने के बावजूद भूला नहीं था । सन् १५९९ में उसने अपने पुत्र सलीम को मानसिंह के साथ मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए रवाना किया । मुगल सेना ने मेवाड़ के इलाकों पर अधिकार जमा लिया । अंत में उदयपर से कुछ मील दूर ऊंटाला नामक स्थान पर मेवाड़ और मुगल सेना के बीच जम कर युद्ध हुआ । मुगल सेना हार गयी । इस प्रकार सलीम का यह अभियान असफल रहा । अकबर ने १६०५ में मेवाड़ पर पुनः आक्रमण की योजना बनायी परंतु इसी बीच १५ अक्टूबर, १६०५ को हिंदुस्तान

का यह महान् सम्राट दुनिया से चल बसा। इस प्रकार अनेक प्रयत्नों के बावजूद अकबर जीते जी मेवाड़ विजय का अपना स्वप्न पूरा न कर सका।

मुगलों के आक्रमण

अकबर के स्थान पर उसका पुत्र सलीम 'जहांगीर' के नाम से गद्दी पर बैठा। देश की बागडोर संभालते ही जहांगीर ने अपने पुत्र परवेज के नेतृत्व में २० हजार घुड़सवार और जगन्नाथ एवं माधोसिंह जैसे सेनानियों से लैस काफिले को मेवाड़-आक्रमण के लिए रवाना किया। परवेज मेवाड़ को रौंदता हुआ उदयपुर के द्वार देवारी तक पहुंच गया। वहीं महाराणा ने मुगल सेना का मुकाबला किया। मुगल सेना के छक्के छूट गए। शाहजादा परवेज स्वयं मांडल की ओर चला गया। सन् १६०८ में मुगल सेना ने महावत खान के नेतृत्व में मेवाड़ पर पुनः आक्रमण किया। इस अभियान में भी मुगल सेना को सफलता नहीं मिली। बादशाह ने महावत खान के स्थान पर अब्दुल खान को भेजा। अब्दुल खान ने मेवाड़ के कई भागों पर अधिकार कर लिया। यहां तक कि अमरसिंह को अपनी राजधानी चांवड़ भी खाली करनी पड़ी। अमरसिंह ने घर-फूंक नीति से काम लिया। उसने कई स्थानों पर मुगल सेना से गुरिल्ला युद्ध लड़ा और अब्दुल खान का हौसला पस्त कर दिया। सन् १६११ में अब्दुल खान को मेवाड़ से हटा कर गुजरात भेज दिया गया। मेवाड़-अभियान की कमान स्वयं जहांगीर ने संभाली। उसने इस अभियान हेतु अपना मुकाम अजमेर किया। वहां से उसने अपने पुत्र खुर्रम को 'विद्रोही राणा का दमन' करने भेजा। खुर्रम ने उदयपुर पर कब्जा कर लिया। उसने उदयपुर को मेवाड़-अभियान का केंद्र बनाया। उसने अपनी एक सेना अब्दुल्ला खान के नेतृत्व में राजधानी चांवड़ भेजी। अमरसिंह के हाथ से चांवड़ निकल गया। दूसरी ओर कुंभलगढ़ और गोगुंदा पर भी मुगल सेना का अधिकार हो गया। इस प्रकार मेवाड़ के पर्वतीय प्रदेश पर शाही सेना का अधिकार हो गया।

अधीनता स्वीकार

इस अभियान से मेवाड़ के सामंतों की हिम्मत टूट गयी। सुलह के पैगाम भेजे गए। ५ फरवरी, १६१५ को अमरसिंह और जहांगीर के बीच संधि हो गयी। इस संधि के फलस्वरूप मुगलों ने अपने अधीन चित्तौड़ और मांडलगढ़ सहित सभी मेवाड़ के इलाके पुनः महाराणा को सौंप दिए। जहांगीर ने महाराणा की यह बात मान ली कि मेवाड़ का महाराणा कभी भी बादशाह के दरबार में उपस्थित नहीं होगा। परंतु महाराणा को यह मानना पड़ा कि उसका पाटवी-पुत्र शाही दरबार में उपस्थित होगा। महाराणा शाही सेना के लिए एक हजार सवार देगा और चित्तौड़ सहित अपने सभी किलों की मरम्मत नहीं करेगा। स्पष्ट है, मेवाड़ ९०० वर्ष बाद पहली बार एक विदेशी सल्तनत के अधीन हो गया। पर यह भी स्पष्ट है कि यदि अकबर की तरह जहांगीर भी मेवाड़ के महाराणा को स्वयं मुगल दरबार में उपस्थित

होने के लिए बाध्य करता तो संभव है इतिहास की पुनरावृत्ति होती और महाराणा अमरसिंह दूसरा प्रताप बन जाता।

अमरसिंह ने संधि द्वारा मुगलों की अधीनता तो स्वीकार कर ली पर इससे उसे बड़ी ग्लानि हुई। उसने अपना राज-काज अपने पाटवी-पुत्र करणसिंह को सौंप दिया और कुछ ही साल बाद १६ जनवरी, १६२० को इस असार संसार से विदा हुआ। अमरसिंह ने अपने यशस्वी पिता राणा प्रताप के सामने और बाद में अपने राज्य-काल में मुगलों के साथ लगभग दो दर्जन लड़ाइयों का बड़ी खूबी से संचालन किया। पर उसके भाग्य में बदी थी मुगलों की अधीनता। इसे कहते हैं विधाता की विडंबना।

खुर्रम द्वारा मेवाड़ में शरण

महाराणा अमरसिंह की मृत्यु पर उसका ज्येष्ठ पुत्र करणसिंह मेवाड़ की गद्दी का उत्तराधिकारी बना। इसके समय में शाहजादा खुर्रम ने अपने पिता सम्राट जहांगीर के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। खुर्रम ने मेवाड़ में शरण ली। खुर्रम और करणसिंह 'पगड़ी-बदल भाई' बने। खुर्रम की यह पगड़ी आज भी उदयपुर के अजायबघर में सुरक्षित है। करणसिंह का सन् १६२८ में देहांत हो गया। उसके स्थान पर जगतसिंह गद्दी पर बैठा। उसने बांसवाड़ा, डूंगरपुर, देवलिया और सिरोही राज्यों को पुनः अपने अधीन किया और चित्तौड़ के किले की मरम्मत करवा कर मुगलों से लोहा लेने के लिए अपने उत्तराधिकारी का मार्ग प्रशस्त किया। वह सन् १६५२ में मर गया। उसके स्थान पर उसका पुत्र राजसिंह गद्दी पर बैठा।

ज्योति पुनः प्रज्वलित

औरंगजेब किशनगढ़ की राजकुमारी चारुमति से शादी करना चाहता था। चारुमति ने इस संबंध में महाराणा राजसिंह को लिखा। राजसिंह सदलबल किशनगढ़ पहुंच गया और चारुमति से शादी कर ली। औरंगजेब मन मसोस कर रह गया। पर वह अभी तक इस स्थिति में नहीं था कि महाराणा से बदला लेता। कुछ वर्षों बाद परिस्थिति बदली। औरंगजेब अपने भाइयों से निपट चुका था। उसने हिंदुओं को मुसलमान बनाने, मंदिर और मूर्तियां तोड़ने और हिंदू-ग्रंथों को नष्ट करने का अभियान चलाया। सन् १६६९ में औरंगजेब के भय से वल्लभ संप्रदाय के गोस्वामी श्रीनाथ जी की मूर्ति सहित मथुरा से भाग कर मेवाड़ में आए जहां महाराणा ने उन्हें शरण दी। इन्हीं दिनों जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह का जमरुद्ध में देहांत हो गया। औरंगजेब ने जोधपुर रियासत पर कब्जा कर लिया। इसके कुछ समय बाद जसवंतसिंह की रानी से अजीतसिंह का जन्म हुआ। औरंगजेब अजीतसिंह को अपने कब्जे में करना चाहता था। नवजात महाराजा को बचाने की दृष्टि से स्वामीभक्त दुर्गादास राठौड़ अजीतसिंह को मेवाड़ ले गया जहां महाराणा राजसिंह ने उसे शरण दी। सन् १६७९ में औरंगजेब ने हिंदुओं पर जजिया नामक कर लगाया।

इसके विरोध में महाराणा ने एक कड़ा पत्र औरंगजेब को भेजा। इन सब घटनाओं से क्रुद्ध होकर औरंगजेब स्वयं सेना लेकर मेवाड़ पहुंचा। उसने उदयपुर पर अधिकार कर लिया। राजसिंह पहाड़ों में चला गया। औरंगजेब शाहजादा अकबर को मेवाड़ का शासक नियुक्त कर अजमेर लौट गया। औरंगजेब के लौटते ही राजसिंह ने मुगल सेना को मार भगाया। औरंगजेब ने और सेना भेजी परंतु फिर भी उसे राजसिंह को अधीन करने में सफलता नहीं मिली। राजसिंह का सन् १६८० में स्वर्गवास हो गया।

राजसिंह न केवल एक योद्धा और कुशल राजनीतिज्ञ था वरन् एक महान् निर्माता भी था। उसने राजनगर नामक कस्बा बसाया और उसके पास ही राजसमंद नामक एक विशाल झील बना कर इस अकाल-पीड़ित क्षेत्र में सिंचाई का साधन जुटाया। उसने अनेक छोटे-बड़े मंदिर, महल और जलाशय बनाए।

महाराणा जयसिंह

राजसिंह की मृत्यु पर जयसिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। उस समय मुगल सेना मेवाड़ के कुछ क्षेत्रों में डेरे डाले हुए थी। जयसिंह ने औरंगजेब के पुत्र शाहजादा अकबर को अपनी ओर मिला लिया। महाराणा का समर्थन पाकर अकबर ने अपने आपको बादशाह घोषित कर दिया। इस समय एक ओर औरंगजेब अकबर के बागी होने से चिंतित था तो दूसरी ओर जयसिंह मराठों के उपद्रवों से परेशान था। अतः औरंगजेब ने महाराणा को संधि का पैगाम भेजा तो महाराणा ने उसे तुरंत स्वीकार कर लिया। बादशाह ने मेवाड़ से मुगल सेना हटा ली। पर महाराणा को जजिया के बदले पुर और बदनौर के परगने बादशाह के हवाले करने पड़े। जयसिंह सन् १६९८ में मर गया। उसने अपने समय की संसार की सबसे बड़ी मनुष्यकृत झील 'जयसमंद' बना कर अपने आपको अमर कर दिया।

महाराणा अमरसिंह (द्वितीय)

जयसिंह की मृत्यु पर उसका पुत्र अमरसिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। इस समय मुगल बादशाह औरंगजेब दक्षिण में फंसा हुआ था। अतः अमरसिंह को अपनी शक्ति संगठित करने का अवसर मिल गया। जयसिंह के अंतिम दिनों में डुंगरपुर, बांसवाड़ा और देवलिया के शासक अपने-आपको स्वतंत्र समझने लग गए थे। अमर-सिंह ने इन राज्यों पर चढ़ाई की और इन्हें अपनी अधीनता में लाया।

सन् १७०७ में औरंगजेब दक्षिण में अहमदनगर नामक स्थान पर मर गया। फलतः मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकार के लिए उसके शाहजादे आजम और मोअज्जम में जाजऊ नामक स्थान पर युद्ध हुआ। मेवाड़ व बूंदी ने मोअज्जम और आमेर कोटा ने आजम का साथ दिया। आमेर का जयसिंह लड़ाई के अंतिम दौर में आजम का साथ छोड़ मोअज्जम से जा मिला। इस युद्ध में मोअज्जम विजयी हुआ और बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। पर बादशाह ने जयसिंह को माफ नहीं

किया। उसने आमेर पर अधिकार कर लिया। कामबख्स के विरुद्ध अभियान के दौरान जयसिंह, जोधपुर का अजीतसिंह और दुर्गादास बादशाह के साथ-साथ दक्षिण की ओर गए। राह में उन्होंने अपने-अपने वतन लौटाने के लिए बादशाह की बहुत आरजू-मिन्नतें कीं। पर बादशाह ने उनकी प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया। अंत में उन्होंने महाराणा से सहायता की प्रार्थना की। महाराणा ने उन्हें ढांढस बंधाया। दोनों महाराजा और दुर्गादास उदयपुर पहुंच गए। मेवाड़, मारवाड़ और आमेर की संयुक्त सेना ने पहले मारवाड़ और फिर आमेर पर आक्रमण कर अजीतसिंह और जयसिंह को पुनः क्रमशः जोधपुर और आमेर की गद्दी पर बैठाया।[1] महाराणा ने अपनी पुत्री की शादी जयसिंह से की। इसी तरह अजीतसिंह ने भी अपनी पुत्री की सगाई जयसिंह से की। इस प्रकार राजस्थान के ये तीनों राज्य राजनीतिक एवं पारिवारिक दृष्टि से एक सूत्र में बंध गए। थोड़े समय बाद महाराणा ने पुर, मांडल, बदनौर और मांडलगढ़ के परगने मुगलों से पुनः हस्तगत कर लिए। महाराणा ने बुंदेल के छत्रसाल की मारफत जयसिंह तथा अजीतसिंह का बादशाह से समझौता करा दिया। फलतः बादशाह ने उन दोनों को क्रमशः आमेर और मारवाड़ा का शासक स्वीकार कर लिया। दुर्भाग्य से अमरसिंह सन् १७१० में ही अल्पायु में चल बसा। उसके मरने से राजस्थान को बड़ी क्षति हुई। सच पूछा जाए तो अमरसिंह के साहस और सहायता के कारण ही आमेर और मारवाड़ जैसी रियासतों का अस्तित्व मिटने से बच गया।

महाराणा संग्रामसिंह

अमरसिंह के देहांत के बाद उसका पुत्र संग्रामसिंह मेवाड़ का उत्तराधिकारी बना। इन्हीं दिनों बहादुरशाह ने पुर, मांडल, बदनौर आदि के परगने रणबाजखां मेवाती को दे दिए। वह मुगल सेना लेकर इन परगनों पर कब्जा करने आया। बांदनवाड़े के स्थान पर मेवाड़ और मुगल सेना के बीच युद्ध हुआ। मुगल सेना हार गयी। रणबाजखां स्वयं मारा गया। कुछ समय बाद संग्रामसिंह ने बादशाह फर्रूखसियर से रामपुरा का परगना भी पुनः हस्तगत कर अपने राज्य में मिला लिया। जोधपुर राजघराने में आंतरिक कलह का लाभ उठाकर उसने ईडर का कुछ भाग भी मेवाड़ में मिला लिया। इन दिनों स्वामीभक्त दुर्गादास राठौड़ को महाराजा अजीतसिंह ने जोधपुर से निर्वासित कर दिया। महाराणा ने उसे अपने यहां शरण दी और विजयपुर की जागीर प्रदान की।[2]

महाराणा ने जयपुर के उत्तराधिकार के प्रश्न को हल करने की दृष्टि से जयसिंह से उसके छोटे पुत्र और अपने भानजे माधोसिंह को टोंक, फागी आदि इलाके प्रदान करने की स्वीकृति प्राप्त कर ली और साथ ही रामपुरा का इलाका अपनी

१. इरविन, 'लेटर मुगल्स', भाग १, पृ० ७०।
२. वहीं, पृ० ४०५।

ओर से माधोसिंह को दे दिया।

महाराणा जगतसिंह (द्वितीय)

महाराणा संग्रामसिंह के स्थान पर उसका ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह सन् १७३४ में मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। इन दिनों मुगल सल्तनत लड़खड़ा रही थी और मराठे शक्तिशाली हो रहे थे। मराठों ने राजपूताना की विभिन्न रियासतों में भयंकर लूट-पाट मचाना शुरू कर दिया। मराठा शक्ति का मुकाबला करने के लिए १७ जुलाई, १७३४ में मेवाड़ में हुरडा नामक स्थान पर राजस्थान के राजाओं का एक सम्मेलन हुआ जिसमें मेवाड़ के अलावा जयपुर, जोधपुर, कोटा, बूंदी, करौली, किशनगढ़, रतलाम, झाबुआ, ईडर, दतिया, रूपनेर, सिरोही, जैसलमेर और राधुगढ़ आदि राजाओं ने भाग लिया। इस सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि मराठों से मुकाबला करने के लिए सभी राजा ससैन्य वर्षा के बाद रामपुरा में इकट्ठे होंगे और मराठों को मालवा से निकाल कर राजस्थान को मराठों के हमलों से मुक्त कर देंगे। कुछ राज्यों की स्वार्थपरता के कारण यह समझौता कार्य-रूप में परिणत नहीं हो सका। इसका नतीजा आगे जाकर राजस्थान की सभी रियासतों को भुगतना पड़ा। महाराणा जगतसिंह सन् १७५१ में चल बसा। जगतसिंह के बाद प्रतापसिंह, राजसिंह, अरिसिंह और हमीरसिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठे। इन महाराणाओं का शासन-काल मराठों से लड़ने-भिड़ने में ही बीत गया।

हमीरसिंह की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई भीमसिंह सन् १७७८ में मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। उसे शीघ्र ही एक विकट स्थिति का सामना करना पड़ा। महाराणा की पुत्री कृष्णाकुमारी की शादी को लेकर जोधपुर और जयपुर के नरेशों में ठन गयी। पिंडारी नेता अमीर खां ने सैनिक सहायता के नाम पर दोनों राजाओं से लाखों रुपए ऐंठ लिए। अंत में इस झगड़े को निपटाने के लिए वह स्वयं पंच बन बैठा। उसने महाराणा भीमसिंह पर दबाव डाल कर कृष्णाकुमारी को जहर दिलवा दिया।[1] कायर भीमसिंह ने एक अबला और अपनी ही पुत्री की हत्या करवा कर बलिदान और शौर्य के लिए प्रसिद्ध शिशौदिया वंश पर सदैव के लिए कलंक का टीका लगा दिया।

इस समय मुगल सल्तनत लड़खड़ा रही थी और ईस्ट इंडिया कंपनी का जोर बढ़ रहा था। मराठे, पिंडारी और पठानों के जुल्मों से परेशान होकर महाराणा भीमसिंह ने ईस्ट इंडिया कंपनी से सहायता की प्रार्थना की। १३ जनवरी, १८१८ को महाराणा और ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच समझौता हुआ। इस समझौते की मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं :

१. दोनों राज्यों के बीच मैत्री, सहकारिता तथा स्वार्थ की एकता पीढ़ी-दर-

१. 'वीर विनोद', भाग २, प्रकरण १५।
टॉड, 'एनाल्स एंड एंटीक्विटीज ऑफ राजस्थान', जिल्द १, पृ० ५३३-५४१।

पीढ़ी बनी रहेगी और एक के मित्र और शत्रु दूसरे के मित्र और शत्रु होंगे।

२. उदयपुर के महाराणा अंग्रेजी सरकार का प्रभुत्व स्वीकार करते हुए सदा उसके अधीन रहेंगे और उसका साथ देंगे।
३. अंग्रेजी सरकार की स्वीकृति के बिना महाराणा किसी रियासत से कोई भी समझौता या संधि नहीं करेंगे।
४. मेवाड़ राज्य की आय का एक भाग अंग्रेजी सरकार को खिराज के रूप में दिया जाएगा।
५. महाराणा अपने राज्य के खुद मुख्तियार रईस रहेंगे और उनके राज्य में अंग्रेजी हुकूमत का कोई दखल नहीं होगा।[1]

जिस मेवाड़ ने मुगल दरबार में महाराणा की व्यक्तिगत उपस्थिति को लेकर लंबे काल तक सफलतापूर्वक जद्दोजेहद किया था, वही मेवाड़ मराठे और पिंडारियों के भय से त्रस्त होकर अंग्रेजों के आगे झुक गया। मेवाड़ के महाराणा ब्रिटिश सम्राट के सम्मुख ही नहीं वरन् इनके प्रतिनिधि गवर्नर-जनरल के दरबार में भी एक सामंत की भांति सम्मिलित होने लगे। महाराणा जवानसिंह सन् १८३१ में भारत के गवर्नर-जनरल लॉर्ड बेंटिक के दरबार में और महाराणा शंभूसिंह सन् १८७० में लॉर्ड मेयो के दरबार में उपस्थित हुए। इसी प्रकार महाराणा सज्जनसिंह सन् १८७७ में लॉर्ड लिट्टन के दिल्ली दरबार में शामिल हुए। यही नहीं, संधि की शर्तों के विरुद्ध अंग्रेज बराबर मेवाड़ राज्य के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप करते रहे। महाराणा सज्जनसिंह की नाबालगी के समय तो राज्य का सारा प्रबंध ब्रिटिश एजेंट के हाथ में रहा।

महाराणा सज्जनसिंह

महाराणा सज्जनसिंह के समय जनगणना के प्रश्न को लेकर भीलों ने विद्रोह कर दिया जिसे सेना भेज कर शांत किया गया। सन् १८८२ में आर्य समाज के प्रवक्ता स्वामी दयानंद सरस्वती महाराणा के निमंत्रण पर उदयपुर आए और वहीं पर उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' नामक ग्रंथ को अंतिम रूप दिया। महाराणा ने उदयपुर में सज्जन-निवास बाग, चिड़ियाघर, जनाना और मर्दाना अस्पताल बनाए। कविराज श्यामलदास द्वारा मेवाड़ राज्य का वृहद् इतिहास 'वीर-विनोद' इसी महाराणा के सक्रिय सहयोग से लिखा गया था।

स्वाभिमान पुनः जाग्रत

महाराणा सज्जनसिंह की मृत्यु पर फतेहसिंह तारीख २३ दिसंबर, १८८४ को मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। उस समय मेवाड़ की राजनीतिक स्थिति बड़ी खराब थी। मेवाड़ के जागीरदार स्वच्छंद हो गए थे। राज्य के आंतरिक मामलों में अंग्रेजों

१. एचीसंस, 'ट्रीटीज, अरेंजमेंट्स एंड सनद्स', भाग ३, पृ० २२-२३।

का दखल बढ़ गया था। फतेहसिंह शिक्षित नहीं थे। पर वह कूटनीति में माहिर थे। स्वाभिमान तो उनमें कूट-कूट कर भरा था। गद्दी पर बैठते ही उन्होंने निर्णय लिया कि अंग्रेजों को राज्य में दखल देने से रोका जाए। सन् १८८८ में अंग्रेज सरकार ने महाराणा पर यह दबाव डाला कि साम्राज्य की रक्षा हेतु वे अपने यहां एक सुसज्जित सेना तैयार करें। महाराणा ने अंग्रेजों के इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। वायसराय मन मसोस कर रह गया।

जवाहरमल-छोगामल नामक फर्म पर मेवाड़ सरकार का ५ लाख रुपया बकाया था। महाराणा ने इस फर्म की जागीर और दुकानें कुर्क कर लीं। मेवाड़ के रेजिडेंट एस० बी० माइल्स और ए० जी० जी० ट्रेवर ने महाराणा के इस कदम का विरोध किया और धमकी दी कि यदि फर्म की जायदाद नीलाम कर दी गयी तो वे यह सारा मामला वायसराय के ध्यान में लाएंगे। महाराणा ने इस धमकी की कोई परवाह नहीं की और स्पष्ट कहा कि रेजिडेंट और ए० जी० जी० को इस मामले में दखल देने का कोई अधिकार नहीं है। रेजिडेंट और ए० जी० जी० ठंडे पड़ गए। महाराणा के व्यवहार से खिन्न होकर रेजिडेंट माइल्स ने भारत सरकार को एक लंबा पत्र लिखा जिसकी निम्न पंक्तियां महत्त्वपूर्ण हैं :

"दो शताब्दियों पूर्व मेवाड़ ही एक ऐसा राजपूत राज्य था जिसने दिल्ली को अपनी लड़कियां नहीं दीं। आज यही एक ऐसा राज्य है जो ब्रिटिश राज्य की सुरक्षा के लिए अपनी सेना भेजने को तैयार नहीं है। इन दोनों के पीछे हेतु एक ही है। यदि भविष्य में कभी ब्रिटिश सरकार पर संकट उपस्थित हुआ तो पता चलेगा कि हिंदू ही अंग्रेजी राज्य के दुश्मन हैं न कि मुसलमान, और उनके संगठित होने की धुरी होगी उदयपुर न कि दिल्ली।"[1]

माइल्स की हरकतों से क्षुब्ध होकर महाराणा ने निर्णय किया कि राज्य में नियुक्त अंग्रेज अधिकारियों और उनके पिट्ठुओं को प्रशासन से निकाल कर बाहर किया जाए। सबसे पहले उन्होंने रेजिडेंट के दबाव के बावजूद सैटलमेंट कमिश्नर विगंट को पद-मुक्त कर दिया। इसके बाद राज्य में मुख्य अभियंता थॉमसन को पद से हटा दिया। इन घटनाओं से महाराणा और रेजिडेंट माइल्स के संबंध और भी बिगड़ गए। भारत सरकार को मजबूर होकर माइल्स को मेवाड़ से हटाना पड़ा। ए० जी० जी० ट्रेवर स्वयं महाराणा के पास आए और उन्हें सूचित किया कि रेजिडेंसी और मेवाड़ सरकार के बीच संबंध सुधारने की दृष्टि से माइल्स को हटा दिया गया है और वायली को नया रेजिडेंट नियुक्त किया गया है। महाराणा ने ए० जी० जी० को सूचित किया कि उन्होंने अपने प्रधानमंत्री राय मेहता पन्नालाल को भी अपने पद से हटाने और प्रधानमंत्री का काम खुद अपने हाथ में लेने का निर्णय किया है। ट्रेवर ने महाराणा पर इस प्रकार कदम न उठाने के लिए सब तरह के दबाव डाले, पर महाराणा टस से मस नहीं हुए। उन्होंने अंग्रेजों द्वारा समर्थित मेहता पन्नालाल

१. डी० ग्रार० मंकीकर, 'मेवाड़ सांगा' (अं०), पृ० १५४।

को प्रधानमंत्री के पद से हटा दिया और रियासत की सारी जिम्मेदारी सीधी अपने हाथ में ले ली। महाराणा ने अंग्रेजों की इच्छा के विरुद्ध प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा को अपना निजी सचिव और उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किया।

महाराणा ने जागीरदारों के अधिकारों को सीमित किया और उनमें प्रचलित बहु-विवाह व शादी-गमी के मौकों पर की जाने वाली फिजूलखर्ची पर अंकुश लगाया। सन् १८९० में शाहपुरा राजाधिराज द्वारा अपने आपको मेवाड़ से स्वतंत्र घोषित करने के अपराध में महाराणा ने राजाधिराज से एक लाख रुपया जुर्माना वसूल किया।

वायसराय लॉर्ड कर्जन ने एडवर्ड सप्तम के राजतिलक के अवसर पर १ जनवरी, १९०३ को दिल्ली में एक बड़े दरबार का आयोजन किया। महाराणा जवानसिंह, शंभूसिंह और सज्जनसिंह द्वारा डाली गयी परंपरा के अनुसार महाराणा फतेहसिंह को भी वायसराय के दरबार में शामिल होने के लिए दिल्ली जाना पड़ा। प्रसिद्ध क्रांतिकारी स्वर्गीय श्री केशरीसिंह बारहट को यह गवारा नहीं हुआ कि 'हिंदुआ-सूर्य' कहलाने वाला महाराणा एक सामंत की हैसियत से वायसराय के दरबार की शोभा बढ़ाए। इस अवसर पर उन्होंने डिंगल-भाषा में निम्न १३ सोरठे लिख कर महाराणा को भेजे :

पग पग भम्या पहाड़, धरा छोड़ राख्यो धरम।
(हंस) महाराण र मेवाड़, हिरदे वासिया हिंद रे ॥१॥

अर्थात् पैदल-पैदल पहाड़ों में भटकते फिरे और पृथ्वी का मोह छोड़ कर धर्म की रक्षा की। इसलिए ही महाराणा और मेवाड़ ये दोनों शब्द हिंदुस्तान के हृदय में बस गए।

घण घलिया घमसाण, (तोई) राण सहदा रहिया निडर।
(घाव) पैखंता फरमाण, हलचल किम 'फलमल' हुए ॥२॥

अनेकानेक घोर युद्ध हुए, तब भी महाराणा निर्भय बने रहे। किंतु अब सिर्फ शाही फरमानों को देखते ही, हे फतेहसिंह ! यह हलचल कैसे मच गयी ?

गिरद गजां घमसाण, नहचे घर माई नहीं।
(ऊ) भावें किमपहाराण, गजदौदौसै रा गिरद में ॥३॥

निश्चय ही जिमके मदोन्मत्त हाथियों द्वारा युद्धस्थल में उठा हुआ गर्दा पृथ्वी में नहीं समाता था वह महाराणा भला दो सौ गज के गिरदाव (घेरे) में कैसे समा जाएगा।

औरां ने आसान, हांका हरबल हालणां।
(पण)किम हाले कुल राण,(जिण) हरबल शांका हांकिया ॥४॥

दूसरे राजाओं के लिए आसान है कि वे शाही सवारी को हकाले जाने पर

आगे बढ़ते चलें किंतु वह प्रतापी गुहिल वंश उस तरह कैसे चलेगा जिसने बादशाहों को अपने हरावल में हकाल लिए थे ?

नरियद सह नजराण, झुक करसी सरसी जिको ।
(पण) पसरैलो किम पाण, पाण छतां थारी फता ।।५।।

अन्य राजाओं के लिए आसान है कि वे झुक-झुक कर नजराना दिखला सकेंगे परंतु हे महाराणा फतेहसिंह ! तेरे हाथ में तलवार होते हुए नजराने के लिए तेरा हाथ कैसे फैलेगा ?

सिर झुकिया सहसाह, सिंहासण जिण सामने ।
(अब) रलणों पंगत राह, फावे किस तोने फता ।।६।।

जिस सिंहासन के सामने बादशाहों के सिर झुके हैं उसके अधिकारी होते हुए हे फतेहसिंह ! तुझे पंक्ति में आसन प्राप्त करना कैसे शोभा देगा ?

सकल चढ़ावे शीस, दान धरम जिणरो दियो ।
सो खिताब बगशीस, लेवण किम ललचाव सी ।।७।।

जिसके दिए हुए दान-धर्म को संसार सिर पर चढ़ाता है वह खिताबों की बख्शीश लेने के लिए कैसे ललचाएगा ?

देखेला हिंदुवाण, निज सूरज दिस नेहसू ।
पण तोरा परमाण, निरखा निशासा न्हाकसी ।।८।।

समस्त हिंदू अपने सूर्य की ओर जब स्नेहयुक्त आंखों से देखेंगे और उस समय वह एक तारे के रूप में दृष्टिगोचर होगा तो वे अवश्य ही परिताप के निःश्वास छोड़ेंगे ।

देखे अंजसदीह मुलकैलो, मुलकैलो, मन ही मनां ।
दम्भीगढ़ा दिल्लीह, शीस नमन्ता शीसवद् ।।९।।

हे शिशौदिया ! तेरे सिर को अपने सामने झुकता हुआ देखकर दिल्ली का वह दंभी दुर्ग इस अवसर पर अहंकार से मन ही मन खूब मुस्कराएगा ।

अंत वैर आखीह, पातल जे वातां पहल ।
राणा सह राखीह, जिणरी शाखी सिर जटा ।।१०।।

महाराणा प्रताप ने अपने अंतिम समय में जो बातें पहले कही थीं उनको अब तक सब महाराणाओं ने निभाया है और इसकी साक्षी तुम्हारे सिर की जटा दे रही है ।

कठण जमाना कौल, बांधे नर हिम्मत बिना ।
(यों) वीरां हंदो बोल, पातल सागे पाखियो ।।११।।

साहस खो देने पर ही मानव यह कहना शुरू कर देता है कि 'जमाना खराब है ।' इस रहस्य को वीर सांगा और प्रताप भली भांति जानते थे ।

अब लग सारां आस, राण रीत कुछ राखसी।
रहो सहाय सुखराश, एकलिंग प्रभु आपरे ॥१२॥

सबको आशा लगी हुई है कि महाराणा अपनी कुल-परंपरा की रक्षा करेंगे। सुखराशि भगवान एकलिंग आपके सहायक बने रहें।

मान मोद सिसोद, राजनीति बल राखणों।
(ई) गवरमेंट री गोद, फल मीठा-मीठा फता ॥१३॥

अपनी प्रतिष्ठा और प्रसन्नता को राजनीति के बल से कायम रखना चाहिए। हे फतेहसिंह ! अंग्रेजों की शरण में जाने से क्या तुम कभी मधुर फल पाओगे ?

ये सोरठे 'चेतावनी के चूंगठिये' के नाम से विख्यात हुए। बारहट का संदेश काम कर गया। महाराणा दिल्ली पहुंच कर मेरे दरबार में सम्मिलित नहीं हुए। बारहट के स्वयं के शब्दों में "जब १ फरवरी, १६०३ की मध्याह्न को लॉर्ड कर्जन सिंहासन पर बैठकर महाराणा के लिए सुरक्षित खाली कुर्सी की ओर ताक रहा था, ठीक उसी समय महाराणा की स्पेशल ट्रेन उन्हें लेकर चित्तौड़ की ओर दौड़ रही थी।" लॉर्ड कर्जन महाराणा की इस हरकत पर मन मसोस कर रह गया।

दिसंबर, १६११ में सम्राट पंचम जॉर्ज के भारत आने के अवसर पर उनके सम्मान में वायसराय ने दिल्ली में दरबार का आयोजन किया। महाराणा दिल्ली तो पहुंच गए पर स्टेशन पर ही सम्राट से हाथ मिलाकर लौट आए।

महाराणा में राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी हुई थी। एक बार वायसराय लॉर्ड रीडिंग की कार्यकारी परिषद् के प्रथम भारतीय सदस्य श्री नरसी मिया शर्मा स्थानीय रेजिडेंट से आंख बचाकर महाराणा से उदयपुर में मिले तो महाराणा ने उनको यह कहकर भौचक्का कर दिया कि इन दुष्टों (अंग्रेजों) से देश का कब तक छुटकारा होगा ?[1] बिजोलिया के किसान आंदोलन के कर्णधार विजयसिंह पथिक के साथ भी महाराणा की सहानुभूति थी। इसी कारण अंग्रेज सरकार के वारंट और दबाव के बावजूद पथिक जी सन् १६१६ से १६२१ तक बाहर अथवा भूमिगत रह कर किसान आंदोलन का संचालन करते रहे। यही नहीं, समय-समय पर महाराणा ने बिजोलिया के मामले में किसानों के पक्ष में दखल किया और नेताओं की रिहाई के आदेश दिये। महाराणा की इन गतिविधियों से अंग्रेजों की नाराज़गी बढ़ती गयी। राजपूताने के ए० जी० जी० हालैंड ने वायसराय के आदेशानुसार १७ जुलाई, १६२१ को महाराणा को पत्र लिखा, जिसमें उसने महाराणा पर आरोप लगाया कि "वे राज्य भर में फैली हुई विस्तृत जन-अशांति का आंदोलनकारी लाभ उठा रहे हैं। वायसराय की सम्मति में इस आंदोलन के फलस्वरूप ऐसी गंभीर स्थिति पैदा हो गयी है जो न केवल मेवाड़ राज्य के लिए वरन् सभी देशी राज्यों तथा ब्रिटिश भारत के लिए भी घोर आपत्तिजनक है, इन्हीं कारणों से प्रभावित होकर वायसराय इस निर्णय

१. दुर्गादास, 'कर्जन से नेहरू और उसके बाद'।

पर पहुंचे हैं कि आप अपने पुत्र के पक्ष में राजसिंहासन छोड़ दें।"[1] इधर स्थानीय रेजिडेंट और उसके गुर्गों ने महाराणा और उनके इकलौते पुत्र महाराजकुमार भूपालसिंह के बीच मनोमालिन्य पैदा कर दिया। इस स्थिति का फायदा उठा कर अंग्रेजों ने महाराणा पर राजसिंहासन छोड़ने के लिए अपने दबाव को बढ़ा दिया। महाराणा ने अंग्रेज सरकार के प्रस्ताव का डटकर विरोध किया। पर अंत में गृह-क्लेश के कारण महाराणा को समझौता करना पड़ा। उन्होंने सिंहासन तो नहीं छोड़ा परंतु उन्हें प्रशासन संबंधी कई अधिकार महाराजकुमार को देने पड़े। इस घटना के कुछ समय बाद पथिक जी देशद्रोह के अपराध में गिरफ्तार कर लिए गए। पथिक जी ने अपने मुकदमे में उच्च न्यायालय में ए० जी० जी० द्वारा महाराणा को लिखे गए १७ जुलाई, १९२१ के पत्र की प्रति प्रस्तुत कर सारे भारत में सनसनी पैदा कर दी। इन घटनाओं से यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि पथिक जी को अपने आंदोलन में महाराणा का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष समर्थन प्राप्त था, जिसकी कीमत महाराणा को किसी न किसी रूप में चुकानी पड़ी। अजमेर से प्रकाशित साप्ताहिक पत्र 'तरुण-राजस्थान' ने अपने १० फरवरी, १९२४ के अंक में इस स्थिति का बहुत ही सुंदर चित्रण किया है। पत्र ने अपने संपादकीय लेख 'नरेश और भारतीय स्वातंत्र्य' में कहा है कि "जिस वंश में उत्पन्न होकर भीमसिंह ने अपनी खुशी से मेवाड़ का राज्य अपने छोटे भाई जयसिंह को दे डाला, उसी प्रातःस्मरणीय शिशौदिया वंश की यह अधोगति हो कि स्वार्थी लोगों के हाथ की कठपुतली बन कर पुत्र पिता के साथ वैमनस्य करे, उसके जीते जी राज्य लेने की इच्छा करे और अपने पूर्वकालीन गौरव को विस्मृत कर पिता-पुत्र के प्रेममय संबंध को तिलांजलि दे दे।...सभी जानते हैं कि महाराणा के हाथ से लगभग सभी शासनाधिकार छीन लिए गए। यह सब इसलिए हुआ क्योंकि महाराणा स्वाभिमानी, सदाचारी और स्वातंत्र्य-प्रेम की जीती-जागती मूर्ति हैं। यदि महाराणा गोरी सरकार के अंधभक्त होते तो शायद मेवाड़ के प्राचीन गौरव को नाश करने वाला यह अत्याचारपूर्ण हस्तक्षेप न हुआ होता।"

महाराणा फतेहसिंह ने जिस साहस और खूबी से राज्य के आंतरिक मामलों में सर्वशक्तिमान अंग्रेजी सरकार के दखल को रोका उससे वे राज्य की जनता में लोकप्रिय हो गए। भारत के अन्य नरेश उन्हें श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखने लगे। यही कारण था कि रेजिडेंट और ए० जी० जी० से लगाकर वायसराय तक महाराणा की गतिविधियों से अत्यंत क्षुब्ध होते हुए भी उन्हें गद्दी से हटाने का साहस नहीं कर सके। यही नहीं, अंग्रेज सरकार की नाराजगी के बावजूद ब्रिटिश सम्राज्ञी विक्टोरिया और उसके उत्तराधिकारी सम्राट एडवर्ड एवं जार्ज पंचम ने महाराणा फतेहसिंह और उनकी महारानी और राजकुमार के प्रति समय-समय पर जो सम्मान प्रदर्शित किया वह देश के अन्य राजाओं के लिए डाह का विषय था। तत्कालीन ए० जी० जी० लारेंस के अनुसार सुप्रसिद्ध वायसराय लॉर्ड कर्जन जब महाराणा को

१. ले० शंकर सहाय सक्सेना, 'बिजोलिया किसान आंदोलन', पृ० २७५।

'ताड़ना' देने आया तो महाराणा के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर न केवल महाराणा को 'ताड़ना' देना भूल गया वरन् उसने महाराणा को स्वाभिमान और देशभक्ति का प्रतीक भी बताया।[1]

महाराणा फतेहसिंह के बारे में अक्सर यह कहा जाता है कि वे अप्रगतिशील और अनुदार शासक थे। सच पूछो तो यह आरोप अंग्रेज और उनके पिट्ठुओं के दिमाग की उपज थी जिनका महाराणा ने अपने ४७ वर्ष के लंबे शासनकाल में पग-पग पर विरोध किया। उनकी प्रगतिशीलता इससे जाहिर होती है कि उन्होंने जागीरदारों के अधिकारों को सीमित किया, राज्य में अंग्रेजों के दखल को समाप्त किया, अंग्रेज-विरोधी विचारधारा को बढ़ावा दिया एवं अपने पूर्ववर्ती महाराणाओं की वायसराय के दरबारों में सम्मिलित होने की परंपरा को तोड़ा। जहां तक निर्माण-कार्यों का सवाल है उन्होंने उदयपुर में एक बड़े पुस्तकालय और अजायबघर की स्थापना की। इंटर कालेज एवं मर्दाना और जनाना अस्पताल स्थापित किये गये। उदयपुर-चित्तौड़गढ़ रेलवे का निर्माण कराया। राज्य में अनेक स्कूल और अस्पताल खोले। इन सब विकास-कार्यों के बावजूद महाराणा ने बिना नये कर लगाए अपने उत्तराधिकारी को एक सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था सौंपी जो अपने आपमें उनकी प्रशासनिक सफलता का सूचक है। महाराणा ८१ वर्ष की उम्र में २४ मई, १९३० को मृत्यु को प्राप्त हुए। भारत के वायसराय लॉर्ड इरविन ने इस अवसर पर महाराणा को निम्न शब्दों में श्रद्धांजलि अर्पित की:

"महाराणा चिर-काल तक एक प्रसिद्ध तथा ऐतिहासिक पुरुष रहे। वे अपने निष्कलंक जीवन तथा कर्त्तव्यपरायणता के लिए पूजित, राजपूत वीरता के आदर्श एवं नम्रता और महानता की सजीव मूर्ति थे।"[2]

बिजोलिया का किसान आंदोलन

भारतवर्ष में एक संगठित किसान-आंदोलन की शुरुआत का श्रेय मेवाड़ को है। बिजोलिया मेवाड़ का प्रथम श्रेणी का ठिकाना था। उसके जागीरदार मालवे के परमारों के वंशज थे। बिजोलिया के परमारों का मूल पुरुष अशोक महाराणा सांगा की ओर से खानवा के युद्ध में लड़ा था। इस सेवा के उपलक्ष्य में सांगा ने अशोक को बिजोलिया का पट्टा दिया। धीरे-धीरे अशोक के वंशजों का मेवाड़ की राजनीति में प्रभाव बढ़ता गया और वे स्वेच्छाचारी शासक बन गए। राव कृष्णसिंह के समय इस ठिकाने में ८४ लागतें ली जाती थीं। भूमि-कर निश्चित करने के लिए 'कूंता' की प्रथा प्रचलित थी और इस कूंते में ठिकाने के कर्मचारी मनमानी धांधली करते थे। बेगार-प्रथा का भी बोलबाला था। ठिकाने के अत्याचारों से वहां के किसान तिलमिला रहे थे। सन् १८९७ में ऊपरमाल (बिजोलिया का पठार) के किसान एक मृत्युभोज के अवसर पर गिरधरपुरा नामक ग्राम में एकत्रित हुए। इस अवसर पर उन्होंने

१. डी० आर० मंकीकर, 'मेवाड़ सांगा', पृ० १५६।
२. ले० जगदीशसिंह गहलोत, 'राजपूताने का इतिहास', पृ० २६६।

निश्चय किया कि किसानों का एक प्रतिनिधि-मंडल उदयपुर जाकर महाराणा से मिले और उन्हें ठिकाने के जुल्मों से अवगत कराया। प्रतिनिधि-मंडल उदयपुर पहुंचा। लगभग सात माह बाद महाराणा फतेहसिंह ने उसकी सुनवाई की और अपना एक अधिकारी जांच के लिए बिजोलिया भेजा। वह अधिकारी छह माह बिजोलिया ठहरा, पर ठिकाने ने जांच में सहयोग नहीं दिया। उसने ठिकाने द्वारा सहयोग नहीं करने की शिकायत महाराणा से की। पर महाराणा ने उसकी रिपोर्ट पर कोई ध्यान ठहीं दिया। इधर बिजोलिया के राव कृष्णसिंह ने उदयपुर जाने वाले प्रतिनिधि-मंडल के नेता नानजी और ठाकरी धाकड़ को ऊपरमाल से निर्वासित कर दिया। इस प्रकार किसानों का पहला प्रयत्न असफल हुआ।

चंवरी कर

सन् १९०३ में बिजोलिया के राव ने 'चंवरी' नामक एक नया कर लगाया जिसके अनुसार बिजोलिया की जनता को हर लड़की की शादी पर टैक्स के ५ रुपये ठिकाने को देने पड़ते थे। किसानों ने विरोधस्वरूप दो वर्ष तक किसी लड़की का विवाह नहीं किया। इसके बावजूद जब राव ने इस कर को समाप्त नहीं किया तो किसानों ने निश्चय किया कि ऊपरमाल की जमीन पड़त रख दी जाए। किसानों के इस निश्चय से राव घबरा गया। उसने चंवरी का कर रद्द कर दिया। साथ ही साथ भूमि कर में फसल का $\frac{2}{5}$ हिस्सा लेने के निर्णय की भी घोषणा की। यह किसानों की पहली विजय थी। इस सफलता ने किसानों के भावी असहयोग एवं अहिंसात्मक आंदोलन की आधार-शिला रखी।

सन् १९०६ में राव कृष्णसिंह की मृत्यु हो गयी और पृथ्वीसिंह जागीर का मालिक बना। नये जागीरदार ने भूमि-कर बढ़ा दिया और तलवार-बंधाई नामक नया कर वसूल करना चाहा। कूंते में ज्यादतियां होने लगीं। किसानों ने साधु सीता-रामदास, फतेहकरण चारण और ब्रह्मदेव के नेतृत्व में ठिकाने के इन कदमों का संगठित विरोध किया। फलस्वरूप सन् १९१३ में किसानों ने सारे ऊपरमाल के क्षेत्र को पड़त रखा। न केवल बिजोलिया का जागीरदार वरन् मेवाड़ सरकार भी किसानों की इस जागृति से सशंक हो उठी। राव पृथ्वीसिंह ने चारण तथा ब्रह्मदेव को राज्य से निर्वासित कर दिया। साधु सीतारामदास को पुस्तकालय की नौकरी से हटा दिया और बिजोलिया के कई कार्यकर्ताओं को जेल में बंद कर दिया। किसानों का आंदोलन कुछ समय के लिए दब गया। इसी बीच राव पुथ्वीसिंह की मृत्यु हो गयी। उसका बड़ा पुत्र केशरसिंह नाबालिग था। अतः ठिकाने पर मेवाड़ सरकार द्वारा मुंसरमात कर दी गयी। संयुक्त राजस्थान के भावी प्रधानमंत्री श्री माणिक्यलाल वर्मा इस समय ठिकाने के एक कर्मचारी थे।

पथिकजी का नेतृत्व

सन् १९१६ की बात है। बिजोलिया के किसान-आंदोलन के प्रमुख कार्यकर्ता

अल्लाबन्ध

नेमो

के शोध

अरिसिंह 1800

जीव गीरे - आलवम्

1750 पन्नालालजी
गौड़, दरोगा
चितौड़

साधु सीतारामदास विद्या-प्रचारणी-सभा के अधिवेशन में भाग लेने के लिए चित्तौड़ गए। वहां उनकी श्री विजयसिंह पथिक से मुलाकात हुई। श्री पथिक का पूर्व नाम भूपसिंह था। वे क्रांतिकारी रासबिहारी बोस के दल के सदस्य थे और इसी कारण ब्रिटिश सरकार द्वारा खरवा ठिकाने के राव गोपालसिंह के साथ टाटगढ़ में नजरबंद कर दिए गए थे। उन्हीं दिनों फिरोजपुर षड्यंत्र केस के संबंध में श्री भूपसिंह के विरुद्ध वारंट जारी हुआ। वे टाटगढ़ से चुपचाप निकल भागे। उन्होंने अपनी दाढ़ी बढ़ा ली और नाम भी भूपसिंह से बदलकर विजयसिंह 'पथिक' रख लिया। वे कांकरोली के निकट भाछा ग्राम में पहुंचे और वहां एक पाठशाला स्थापित की। यहीं उनकी मोही के ठाकुर डूंगरसिंह भाटी और बारहट केशरीसिंह के जामाता ईश्वरदास आसिया से मुलाकात हुई। यहां पथिक जी को सूचना मिली कि गुप्तचर विभाग को उन पर संदेह हो गया है। अतः यहां से वे मोही और मोही से चित्तौड़गढ़ पहुंच गए जहां उन्होंने विद्या-प्रचारणी-सभा स्थापित की। इसी बीच डूंगरसिंह भाटी बिजोलिया के नायब मुंसरिम होकर चले गए। इनके साथ ईश्वरदास आसिया भी बिजोलिया पहुंच गए। भाटी की सहानुभूति बिजोलिया के किसानों के साथ थी। अतः उन्होंने साधु सीता-रामदास को सलाह दी कि वे पथिक जी को बिजोलिया बुलाएं और उनके नेतृत्व में आंदोलन चलाएं। अस्तु साधु सीतारामदास ने पथिक जी को बिजोलिया आने का निमं-त्रण दिया। पथिक जी बिजोलिया पहुंचे। उन्होंने बिजोलिया में भी विद्या-प्रचारणी-सभा स्थापित की। सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री शोभालाल गुप्त इसी सभा के अंतर्गत चलने वाली पाठशाला के एक विद्यार्थी थे। श्री माणिक्यलाल वर्मा भी इन्हीं दिनों पथिक जी के संपर्क में आए। पथिक जी ने वर्मा को विद्या-प्रचारणी-सभा का मंत्री नियुक्त किया। उन्होंने वर्मा को पारसनाथ नामक स्थान पर आजीवन देश-सेवा करने की दीक्षा दी। वर्मा ने ठिकाने की नौकरी से इस्तीफा दे दिया और पथिक जी के आदेशानुसार उमाजी के खेड़े में एक पाठशाला चलाना प्रारंभ किया। विद्या-प्रचारणी-सभा की आड़ में पथिक जी साधु सीतारामदास और माणिक्यलाल वर्मा के सहयोग से किसानों के संगठन में जुट गए। इसी बीच ब्रिटिश सरकार के गुप्तचरों को पथिक जी की गतिविधियों का पता चला। इनके इशारे पर मेवाड़-सरकार ने पथिक जी के विरुद्ध गिरफ्तारी वारंट निकाला। इसकी खबर लगते ही पथिक जी भूमिगत हो गए। पुलिस ने बिजोलिया आदि स्थानों में छापे मारे परंतु पथिक जी का पता नहीं लगा। पथिक जी इस समय उमाजी के खेड़े में एक वीरान मकान में छिपकर रह रहे थे। यही वीरान मकान बिजोलिया की किसान-क्रांति का मुख्य केंद्र बन गया। यहां उन्होंने सन् १९१७ में हरियाली अमावस्या के दिन ऊपरमाल-किसान-पंचायत नाम का एक जबरदस्त संगठन स्थापित किया। श्री मन्ना पटेल इस पंचायत का सरपंच बना। इस अवसर पर पथिक जी ने किसान कार्यकर्ताओं को निम्न संदेश दिया :

हरियाली अमावस, सुखद शुभ मुहूर्त मान लो।
स्वतंत्रता के अर्थ सब धर्म-युद्ध की ठान लो॥

'महात्मा जी (पथिक जी) की जय' के गगन-भेदी नारे के साथ किसान-पंचायत का श्रीगणेश हुआ।

विश्व-युद्ध का चंदा

बिजोलिया के किसान तलवार-बंदी टैक्स और लाटा कूंता से तो परेशान थे ही, इसी बीच प्रथम विश्व-युद्ध के संबंध में युद्ध का चंदा और ऋण वसूल किया जाने लगा। पथिक जी के नेतृत्व में किसान पूरी तरह तैयार थे। उन्होंने युद्ध का चंदा देने से इनकार कर दिया। इसी समय ठिकाने वालों ने एक प्रभावशाली किसान नारायण पटेल को बेगार देने के लिए मजबूर किया। पर जब उसने इनकार किया तो उसे बंदी बना लिया गया। रात्रि-भर में यह समाचार ऊपरमाल के सभी गांवों में फैल गया। लगभग दो हजार किसान सत्याग्रह के लिए बिजोलिया एकत्रित हो गए। उन्होंने नारा लगाया कि 'नारायण पटेल को छोड़ो अन्यथा हमें भी जेल दो।' ठिकाने का मुंसरिम यह दृश्य देखकर घबरा गया। उसने नारायण पटेल को छोड़ दिया। जनता की इस विजय से ऊपरमाल में किसान-पंचायत की धाक जम गयी।

पथिक जी ने अब युद्ध के चंदे के विरोध में आवाज बुलंद की। पथिक जी भूमिगत थे। अतः वे तो नहीं पकड़े जा सके पर आंदोलन के प्रमुख कार्यकर्ता साधु सीतारामदास और प्रेमचंद भील पकड़ लिये गए। उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। लगभग १३०० व्यक्तियों के बयान लिये गए। पर सभी ने एक स्वर से बयान दिए कि हमें युद्ध का चंदा न देने के लिए किसी ने नहीं बहकाया है। हम तो लगान व लागबागों के भार से दबे हुए हैं, अतः हम चंदा नहीं दे सकते। पथिक जी ने बिजोलिया के किसानों पर हो रहे अत्याचारों के संबंध में लोकमान्य तिलक को एक पत्र लिखा। लोकमान्य ने शीघ्र ही महाराणा फतेहसिंह को लिखा कि "मेवाड़-राजवंश ने स्वतंत्रता के लिए बहुत बलिदान किए हैं। आप स्वयं स्वतंत्रता के पुजारी हैं। अतएव आपके राज्य में स्वतंत्रता के उपासकों को जेल में डालना कलंक की बात है।" इस पत्र का यह असर हुआ कि महाराणा के आदेश से साधु सीतारामदास और प्रेमचंद भील छोड़ दिए गए।

अब पथिक जी ने किसानों को संगठित करने का कार्य तेजी से शुरू किया। पट्टे के गांव-गांव में पंचायती अदालतें, महिला-सभा और ग्राम-रक्षक दल स्थापित कर दिए। पाठशालाएं और रात्रि-प्रौढ़शालाएं खोली गयीं। पंचायत के अंतर्गत सहकारी भंडार खोले गए। बिजोलिया क्षेत्र में एक प्रकार से समानांतर सरकार स्थापित हो गयी। ऊपरमाल के स्त्री-पुरुष और बच्चे आदि सब आंदोलन के रंग में रंग गए। किसान-पंचायत के सरपंच ने ठिकाने को स्पष्ट चेतावनी दे दी कि किसान अनुचित लागतें और बेगार नहीं देंगे। सारा ऊपरमाल सत्याग्रह-संबंधी गीतों से गूंजने लगा। स्थिति तनावपूर्ण हो गयी। इधर मेवाड़-सरकार के कारकुनों को यह संदेह हो गया कि बिजोलिया के नायब मुंसरिम डूंगरसिंह भाटी पथिक जी से मिले हुए हैं। अतः सरकार ने उनके स्थान पर पहले दीपलाल को और बाद में माधोसिंह कोठारी को

नायब मुंसरिम नियुक्त किया। माधोसिंह ने आते ही किसानों से लागतें और बेगार देने को कहा। किसानों ने स्पष्ट इनकार कर दिया। इस पर ठिकाने ने ५१ किसानों को गिरफ्तार कर लिया। पथिक जी इस समय सत्याग्रह के देश-व्यापी प्रचार के लिए 'प्रताप' के ओजस्वी संपादक गणेशशंकर विद्यार्थी से मिलने कानपुर गए थे। वहां से पथिक जी कांग्रेस के सन् १९१८ के अधिवेशन में शामिल होने के लिए दिल्ली गए। माणिक्यलाल वर्मा और किसान-पंचायत के तीन अन्य प्रतिनिधि भी पथिक जी के आदेशानुसार दिल्ली पहुंचे। वहां इन सबकी विद्यार्थी जी से मुलाकात हुई। दिल्ली से बिजोलिया के कार्यकर्ता नया उत्साह लेकर वापस लौटे। उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि वे किसी भी हालत में बेगार नही देंगे और ठिकाने के जुल्मों के आगे नहीं झुकेंगे। उनके लौटते ही ठिकाने ने माणिक्यलाल वर्मा और प्रतिनिधि-मंडल के अन्य सदस्यों को जेल में बंद कर दिया। उसी दिन साधु सीतारामदास भी गिरफ्तार कर लिये गए। इस प्रकार दमनचक्र शुरू हुआ। ठिकाने ने किसानों की खड़ी फसल नष्ट कर दी। उनके साथ मारपीट की गयी और उन्हें तरह-तरह से जलील किया गया। परंतु किसानों ने बेगार देना मंजूर नहीं किया। पथिक जी ने स्मृति-पत्रों द्वारा भारत-सरकार और मेवाड़-सरकार को ठिकाने के अत्याचारों से अवगत कराया।

मेवाड़ सरकार ने अप्रैल, १९१९ में न्यायमूर्ति बिंदुलाल भट्टाचार्य की अध्यक्षता में एक जांच-आयोग नियुक्त किया। पथिकजी की सलाह पर किसानों ने आयोग के सामने यह मांग रखी कि वे आयोग के साथ तभी सहयोग करेंगे जबकि उनके नेता जेल से मुक्त किए जाएंगे। आयोग ने तुरंत ही इस मांग को स्वीकार कर लिया। साधु सीतारामदास, वर्मा वगैरा छोड़ दिए गए। आयोग ने दोनों पक्षों को सुनने के बाद राज्य-सरकार से सिफारिश की कि कैदियों को छोड़ दिया जाए। अनावश्यक लागतें समाप्त कर दी जाएं एवं बेगार-प्रथा भी बंद की जाए। मेवाड़-सरकार ने किसानों को तो रिहा कर दिया पर आयोग की अन्य सिफारिशों पर कोई निर्णय नहीं लिया।

बड़े इंतजार के बावजूद जब मेवाड़ सरकार की ओर से समस्या का कोई समाधान नहीं निकला तो किसानों ने यह प्रतिज्ञा कर ली कि वे न तो लागतें ही देंगे और न बेगार ही। उधर ठिकाना इस बात पर अड़ा रहा कि बिना लागत व बेगार दिए लगान स्वीकार नहीं करेंगे। इसी बीच ठिकाने ने सिंचित भूमि पर लगान बढ़ा दिया। किसानों ने निर्णय लिया कि वे सिंचित भूमि नहीं जोतेंगे। ठिकाने ने घोषणा की कि यदि किसान असिंचित भूमि को जोतेंगे तो सिंचित भूमि का लगान भी देंगे चाहे वे सिंचित भूमि जोतें या न जोतें। एक बार पुनः किसान-पंचायत तथा ठिकाने के बीच संघर्ष छिड़ गया। ठिकाने ने दो सौ प्रमुख किसानों को जेल में डाल दिया। अंत में मेवाड़-सरकार ने दखल किया और ठिकाने को आदेश दिया कि किसानों से केवल उसी भूमि का लगान लिया जाए जिस भूमि को वे जोतें। इस प्रकार किसानों की यह एक और विजय हुई।

गांधीजी की दिलचस्पी

इसी वर्ष अमृतसर-कांग्रेस में पथिक जी के प्रयत्न से लोकमान्य तिलक ने बिजोलिया से संबंधित प्रस्ताव रखा। परंतु महात्मा गांधी की इस सलाह पर यह प्रस्ताव वापस ले लिया गया कि मालवीय जी मेवाड़ के महाराणा से मिलकर इस मामले को तय करवाने का प्रयत्न करेंगे। इसी बीच महाराणा ने पुनः एक जांच-आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग ने किसानों के पक्ष को सही माना। इसके बावजूद मेवाड़ सरकार ने आयोग की रिपोर्ट पर कोई कार्यवाही नहीं की। मालवीय जी भी महाराणा फतेहसिंह से मिले पर उन्हें भी सफलता नहीं मिली। इस प्रकार किसान और ठिकाने में गत्यावरोध बना रहा। पथिक जी महात्मा गांधी से मिलने के लिए बंबई गए। उन्होंने बिजोलिया के किसानों की करुण गाथा महात्मा जी को सुनाई। महात्मा जी ने अपने सचिव स्वर्गीय महादेव देसाई को पथिक जी के साथ बिजोलिया भेजा। देसाई ने अपनी रिपोर्ट महात्मा जी को दी। इस रिपोर्ट से प्रभावित होकर महात्मा गांधी ने पथिक जी को वचन दिया कि यदि मेवाड़ सरकार ने बिजोलिया के किसानों के साथ न्याय नहीं किया तो वे स्वयं बिजोलिया-सत्याग्रह का संचालन करेंगे।

सन् १९२० की नागपुर कांग्रेस में सर्वश्री पथिक, साधु सीतारामदास, रामनारायण चौधरी, माणिक्यलाल वर्मा, किंकर एवं कई किसान नेता बिजोलिया-सत्याग्रह के संबंध में महात्मा गांधी से मिले और असहयोग आंदोलन के संबंध में उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। इस समय पथिक जी के प्रयत्नों से अजमेर में राजस्थान-सेवा-संघ की स्थापना हो चुकी थी। पथिक जी ने अब अजमेर को अपनी प्रवृत्तियों का केंद्र बनाया। इधर वर्मा जी सदलबल नागपुर अधिवेशन से लौटकर बिजोलिया पहुंच गए और किसान-आंदोलन को तीव्र बनाने में जुट गए। इन्हीं दिनों पथिक जी के आग्रह पर श्री अर्जुनसिंह सेठी बिजोलिया आए। वहां किसानों ने उनका धूमधाम से स्वागत किया।

किसानों की विजय

किसानों के लगान, लागतें और बेगार बंद कर दिए जाने से ठिकाने की आय के सब स्रोत बंद हो गए। इसके अलावा आंदोलन के कारण ठिकाने पर पुलिस का खर्चा बढ़ता जा रहा था। राव केशरीसिंह ने समझौते के प्रयत्न किए पर उनके कामदारों ने समझौता होने नहीं दिया। अंत में पथिक जी की सलाह पर किसान-पंचायत ने निर्णय किया कि ठिकाने का कोई आदेश नहीं माना जाए, न लगान दिया जाए न बेगार। ठिकाने की कचहरी का बहिष्कार किया गया। वर्मा जी के प्रयत्नों से किसानों ने शराब पीना और मृत्यु-भोज आदि बंद कर दिए। सन् १९२१ में बारिश होते ही किसानों ने फसल बोयी। जब फसल पक गयी तो उन्होंने ८ अक्तूबर, १९२१ को ठिकाने को नोटिस दिया कि वे एक सप्ताह में कूंता कर लें अन्यथा फसल काट ली जाएगी। ठिकाने ने उत्तर दिया कि पुराने चढ़े लगान तथा लागतों के दिए बिना कूंता नहीं किया जाएगा। किसानों ने फसल काट ली। ठिकाने ने अपने छोटे-छोटे

जागीरदारों को एकत्रित करके किसानों को भयभीत करने का प्रयत्न किया। परंतु ठिकाने को इसमें सफलता नहीं मिली। अब बिजोलिया के आंदोलन का असर मेवाड़ के अन्य ठिकानों तथा सीमावर्ती राज्यों में भी पड़ने लगा। इससे भारत-सरकार भयभीत हो गयी। उसने मेवाड़-राज्य पर दबाव डाला कि बिजोलिया आंदोलन को समाप्त करने के लिए किसान-पंचायत से शीघ्र ही समझौता कर लिया जाए। भारत-सरकार के एजेंट हालैंड स्वयं ४ फरवरी, १९२२ को सदलबल बिजोलिया पहुंचे। इस बार किसानों का प्रतिनिधित्व राजस्थान-सेवा-संघ ने किया। इस प्रतिनिधि-मंडल में माणिक्यलाल वर्मा, किसान पंचायत के सरपंच मोतीचंद पटेल तथा मंत्री नारायण पटेल एवं राजस्थान-सेवा-संघ के मंत्री श्री रामनारायण चौधरी थे। हालैंड के प्रयत्नों से ठिकाने और किसानों के बीच सम्मानपूर्वक समझौता हो गया। ३५ लागतें माफ कर दी गयीं। ठिकाने के जुल्मी कामदार हटा दिए गए। किसानों पर चलाए गए मुकदमे उठा लिए गए। जिन किसानों की जमीन दूसरों के कब्जे में थी वह उन्हें पुनः सौंप दी गयी। यह किसानों की एक महान् विजय थी। पर दुर्भाग्य से यह समझौता ठिकाने की बदनीयती के कारण टिकाऊ नहीं रह पाया। समझौते के थोड़े समय बाद बेगूं किसान आंदोलन के सिलसिले में पथिक जी पकड़े गए और उन्हें पांच वर्ष का कारावास दे दिया गया। साधु सीतारामदास खादी कार्य में लग गए और मध्यप्रदेश चले गए। अब बिजोलिया के किसान आंदोलन की सारी जिम्मेदारी माणिक्यलाल वर्मा पर आ पड़ी। एक तरह से बिजोलिया में 'पथिक-युग' समाप्त हुआ।

बंदोबस्त संबंधी विवाद

सन् १९२३ में बिजोलिया के राव का विवाह हुआ। इस विवाह में ठिकाना किसानों से बेगार लेना चाहता था। अतः ठिकाने और किसानों में फिर ठन गयी। बिजोलिया में लगातार सन् १९२३ से १९२६ तक अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि से फसलें बिगड़ गयीं। इससे किसानों की आर्थिक स्थिति अत्यधिक खराब हो गयी। इसके बावजूद ठिकाने ने लगान व लागबागें वसूल करना प्रारंभ कर दिया। सन् १९२६ में ठिकाने में जो बंदोबस्त हुआ उसमें लगान की दरें ऊंची नियत की गयीं। जनवरी, १९२७ में मेवाड़ के बंदोबस्त अधिकारी श्री ट्रेंच बिजोलिया आए। किसानों ने अपनी शिकायतें उनके सामने रखीं। ट्रेंच ने किसी प्रकार पंचायत और ठिकाने में समझौता तो करा दिया पर इसके थोड़े समय बाद ही मार्च, १९२७ में माणिक्यलाल वर्मा को जेल में रख दिया और ५०० रुपए की जमानत देने पर १२ दिन बाद रिहा किया गया। यह जमानत किसी बहाने जब्त कर ली गयी। सरकार ने वर्मा से दुबारा जमानत मांगी। वह उन्होंने नहीं दी। फलतः वे २७ मई, १९२८ को पुनः गिरफ्तार कर लिये गए। इन्हीं दिनों पथिक जी कारावास की अवधि समाप्त कर उदयपुर जेल से रिहा हुए। उनको मेवाड़ से निर्वासित कर दिया गया। पर वे बिजोलिया की सीमा पर ग्वालियर राज्य के फुसरिया गांव में रह कर बिजोलिया पंचायत

का मार्ग-दर्शन करते रहे। इन दिनों बिजोलिया के किसान नये बंदोबस्त में निर्धारित लगान की ऊंची दरों से क्षुब्ध थे। पथिक जी के जेल से रिहा होने के पूर्व ही बिजोलिया की किसान-पंचायत यह निर्णय कर चुकी थी कि लगान की ऊंची दरें निर्धारित करने के विरोध में सभी किसान माल की जमीन का इस्तीफा दे दें। पथिक जी ने किसानों को समझाया कि उन्हें ऐसा कदम तभी उठाना चाहिए जबकि उन्हें यह पक्का विश्वास हो कि उनकी इस्तीफा दी हुई जमीन को और लोग नहीं उठाएंगे। किसानों को भरोसा था कि किसान-पंचायत के निर्णय के विरुद्ध कोई व्यक्ति ऐसी भूमि को उठाने का साहस नहीं करेगा। अतः किसानों ने मई, १९२७ में अपनी-अपनी जमीनों के इस्तीफे दे दिए। ठिकाने ने इन जमीनों को नीलाम किया। किसानों के दुर्भाग्य से जमीनों को उठाने वाले मिल गए। किसान मात खा गए। इस समय पथिक जी और वर्मा जी के आपसी संबंध बिगड़ चुके थे। इसी प्रकार पथिक जी और राजस्थान-सेवा-संघ के मंत्री श्री रामनारायण चौधरी के बीच भी गहरा मतभेद हो गया था। परिणाम यह हुआ कि राजस्थान-सेवा-संघ छिन्न-भिन्न हो गया।

पथिक जी को इस घटना से बड़ी चोट पहुंची। उन पर आक्षेप किए जाने लगे। अतः वे इस आंदोलन से उदासीन हो गए। किसानों ने अब श्री माणिक्यलाल वर्मा को अपना प्रधान कार्यकर्ता स्वीकार किया। वर्मा जी सेठ जमनालाल बजाज तथा श्री हरिभाऊ उपाध्याय से मिले और उनसे प्रार्थना की कि वे बिजोलिया के किसानों का नेतृत्व स्वीकार करें। सेठ जी ने वर्मा जी की प्रार्थना इस शर्त पर स्वीकार की कि पथिक जी इस आंदोलन से अलग हो जाएं। वर्मा जी से किसान पंचायत के नेतृत्व से इस्तीफा लिखवा लिया। श्री रामनारायण चौधरी भी राजस्थान-सेवा-संघ से अलग हो गए। अब सेठ जी इस आंदोलन के सर्वेसर्वा बना दिए गए। सेठ जी ने आंदोलन के संचालन का भार श्री उपाध्याय को सौंपा। किसान अब अपनी इस्तीफाशुदा जमीन को वापस प्राप्त करने के लिए व्यग्र थे। उपाध्याय जी ने ट्रैंच से मिल कर एक समझौता किया जिसके अनुसार ट्रैंच ने वादा किया कि राज्य नये आपीदारों को समझा कर माल की भूमि वापस पुराने किसानों को दिलाने का प्रयत्न करेंगे। परंतु ट्रैंच के इस आश्वासन को कार्यरूप में परिणत नहीं किया गया। अतः वर्मा जी के नेतृत्व में किसानों ने निश्चय किया कि वे अपनी जमीनें वापस प्राप्त करने के लिए सत्याग्रह करेंगे। फलतः अक्षय तृतीया (सन् १९३१) को प्रातःकाल ६ बजे चार हजार किसानों ने अपनी इस्तीफाशुदा जमीनों पर हल चलाना आरंभ किया। ठिकाने के कर्मचारी, सेना और पुलिस के सिपाही तथा जमीनों के नये मालिक किसानों पर टूट पड़े। किसानों ने धैर्य के साथ मार सहन की। उसी दिन रात्रि ४ बजे वर्मा जी गिरफ्तार कर लिये गए। दूसरे दिन २०० किसान भी पकड़ लिये गए जिनमें से ४० प्रमुख किसानों के अलावा अन्यों को छोड़ दिया गया। इन ४० किसानों पर मुकदमा चलाया गया। वर्मा जी को जुर्माने के अलावा ६ माह का कठिन कारावास दिया गया और किसानों को तीन-तीन माह का। राज्य ने सत्याग्रह का मुकाबला करने के लिए बिजोलिया में सेना और पुलिस तैनात कर दी। इस समय हरिभाऊ जी पर

मेवाड़-प्रवेश का प्रतिबंध था। अतः उन्होंने सर्वश्री दुर्गाप्रसाद चौधरी, पं० लादूराम, अचलेश्वरप्रसाद शर्मा, श्रीमती रमादेवी आदि को बिजोलिया भेजा। पर इन्हें कठोर यातनाएं देने के बाद एक-एक कर बिजोलिया से निर्वासित कर दिया गया। श्री प्यारचंद विश्नोई एक व्यापारी का भेष धारण कर बिजोलिया गए। उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया। इसी बीच किसान सत्याग्रह करते रहे और गिरफ्तार होते रहे।

हरिभाऊ जी ने मेवाड़ राज्य के अधिकारियों को किसानों की जमीनें वापस लौटाने के संबंध में कई पत्र लिखे। परंतु उनके समस्त प्रयत्न निष्फल रहे। अंत में हरिभाऊ जी की प्रार्थना पर 'अखिल भारतीय देशी राज्य लोक-परिषद्' ने यह मसला अपने हाथ में लिया और उसने एक जांच-समिति की नियुक्ति की। हरिभाऊ जी ने महात्मा गांधी को भी बिजोलिया में हो रहे दमन से अवगत कराया। महात्मा जी की सलाह पर मालवीय जी ने मेवाड़ के प्रधानमंत्री सर सुखदेव प्रसाद को इस संबंध में एक पत्र लिखा। बिजोलिया का मसला अब अखिल भारतीय रूप धारण कर चुका था। सर सुखदेव ने स्थिति की गंभीरता को समझते हुए सेठ जमनालाल बजाज को वार्ता के लिए उदयपुर आमंत्रित किया। फलतः लोक-परिषद् की समिति ने अपनी जांच-कार्यवाही स्थगित कर दी। सेठ जी २० जुलाई, १९३१ को उदयपुर पहुंचे और महाराणा तथा सर सुखदेव से मिले। इस भेंट के फल-स्वरूप एक समझौता हुआ जिसके अनुसार सरकार ने आश्वासन दिया कि माल की जमीन धीरे-धीरे पुराने आपीदारों को लौटा दी जाएगी, सत्याग्रही रिहा कर दिए जाएंगे और १९२२ के समझौते का पालन किया जाएगा। समझौते के फलस्वरूप सत्याग्रही जेल से रिहा कर दिए गए। पर जमीनों की वापसी के संबंध में कोई ठोस कार्यवाही नहीं हुई। इस पर वर्मा जी किसानों का प्रतिनिधि-मंडल लेकर सर सुख-देव प्रसाद से मिलने उदयपुर गए। सर सुखदेव ने वहीं पर वर्मा जी को गिरफ्तार करा लिया और कुंभलगढ़ भेज कर नजरबंद कर दिया। मेवाड़-सरकार ने नवंबर, १९३३ में वर्मा जी को डेढ़ वर्ष की नजरबंदी के बाद मुक्त किया, पर उन्हें मेवाड़ से निर्वासित कर दिया।

आंदोलन का पटाक्षेप

बिजोलिया आंदोलन का पटाक्षेप सन् १९४१ में हुआ जबकि मेवाड़ में सर टी० विजय राघवाचार्य प्रधानमंत्री बने। उस समय मेवाड़ प्रजामंडल से पाबंदी उठायी जा चुकी थी और वर्मा जी आदि प्रजामंडल के नेता जेल से मुक्त किए जा चुके थे। राघवाचार्य के आदेश से तत्कालीन राजस्व मंत्री डॉ० मोहनसिंह मेहता बिजोलिया गए और वर्मा जी तथा अन्य किसान नेताओं से बातचीत कर किसानों की समस्या का समाधान करवाया। किसानों को अपनी जमीनें वापस मिल गयीं। वर्मा जी के जीवन की यह प्रथम बड़ी सफलता थी। इस लंबे संघर्ष में बिजोलिया के किसानों को बड़ी-बड़ी कुर्बानियां देनी पड़ीं। सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को जेल के

अलावा अनेक शारीरिक यातनाएं भोगनी पड़ीं। देश के इतिहास में यह अपने ढंग का अनूठा किसान आंदोलन था जो राज्य की सीमाएं लांघकर पड़ोसी राज्यों में भी फैला। इस आंदोलन ने राजस्थान की रियासतों को एक नयी चेतना प्रदान की। आगे जाकर मेवाड़, शाहपुरा और बूंदी आदि रियासतों में जो प्रजामंडल की स्थापना हुई उसकी पृष्ठभूमि यही किसान आंदोलन था। इस आंदोलन ने वर्मा जी जैसे तेजस्वी नेता को जन्म दिया जो आगे जाकर राजस्थान के राजनीतिक आंदोलन के एक प्रमुख कर्णधार बने।

अन्य किसान आंदोलन

बिजोलिया के किसान आंदोलन के दूरगामी परिणाम हुए। राजस्थान सेवा-संघ के नेतृत्व में बिजोलिया की भांति मेवाड़ के अन्य इलाकों में भी पंचायतों की स्थापना हुई। इन पंचायतों का संबंधित क्षेत्रों में इतना प्रभाव बढ़ गया कि उनके निर्णय को जनता सर्वोपरि समझने लगी। इस प्रकार ये पंचायतें अपने-अपने क्षेत्र में समानांतर सरकारें बन गयीं। बिजोलिया आंदोलन की लपटें पड़ोस की जागीर बेगूं में भी पहुंचीं। बेगूं के किसानों की समस्याएं वही थीं जो बिजोलिया के किसानों की थीं। बेगूं के किसान सन् १९२१ में मेनाल नामक स्थान पर इकट्ठे हुए। उन्होंने निश्चय किया कि बिजोलिया की भांति बेगूं में भी लागबाग, बेगार और ऊंचे लगान के विरुद्ध आंदोलन छेड़ा जाए और पथिक जी को आंदोलन का नेतृत्व करने के लिए आमंत्रित किया जाए। पथिक जी ने इस आंदोलन का भार राजस्थान सेवा-संघ के मंत्री श्री रामनारायण चौधरी पर डाला। श्री चौधरी के नेतृत्व में किसानों ने निर्णय किया कि फसल का बंटवारा नहीं किया जाए। भूमि का बंदोबस्त होने के बाद जो लगान निर्धारित किया जाए वही दिया जाए। लागतें और बेगार नहीं दी जाएं। सरकारी कार्यालयों और अदालतों का बहिष्कार किया जाए। बिजोलिया के बाद बेगूं में किसान आंदोलन की शुरुआत से न केवल मेवाड़ के जागीरदार वरन् मेवाड़ सरकार और अंग्रेज सरकार भी चौंक उठी। इन्हीं दिनों महाराणा फतेहसिंह को प्रशासन संबंधी कई अधिकार महाराजकुमार भूपालसिंह को देने पड़े। महाराजकुमार अंग्रेजों की मुट्ठी में थे। इधर बेगूं के आस-पास के सभी जागीरदार रावड़दा के जागीरदार के नेतृत्व में संगठित हो गए। उन्होंने मेवाड़ सरकार की सहायता से आंदोलन को दबाने का निश्चय किया। दमनचक्र शुरू हुआ। गांव-गांव में छोटे और बड़े सभी जागीरदारों ने किसानों की खड़ी फसल को नष्ट करने, जंगल से घास और लकड़ी न लेने देने, मवेशियों को चरनोठ में न चरने देने आदि की दमनपूर्ण कार्य-वाहियां शुरू कर दीं। कई जगह न केवल किसानों को बल्कि उनकी औरतों को भी पिटवाया गया और उनकी बेइज्जती की गयी। किसानों की सभाओं को भंग करने के प्रयत्न किए गए। इस सब दमन के फलस्वरूप बेगूं के किसानों ने बिजोलिया की भांति जमीन को पड़त रख दिया। लगातार दो वर्ष के संघर्ष के बाद बेगूं ठाकुर रावत अनूपसिंह को झुकना पड़ा। वे किसानों से समझौते के लिए तैयार हो गए।

परंतु मेवाड़ सरकार और रेजिडेंट को यह बात नहीं भायी। उन्होंने राजस्थान सेवा-संघ और रावत अनूपसिंह के बीच हुए समझौते को 'बोलशेविक' फैसले की संज्ञा दी। रावत अनूपसिंह को उदयपुर में नजरबंद कर दिया गया एवं ठिकाने पर मुंसरिमात बैठा दी। भ्रष्टाचार और दमन के लिए मशहूर लाला अमृतलाल को बेगूं का मुंसरिम नियुक्त कर दिया। सरकार ने बंदोबस्त आयुक्त श्री ट्रेंच को बेगूं के किसानों की शिकायतों की जांच करने भेजा। मेवाड़ सरकार ने आज्ञा निकाली कि ट्रेंच कमीशन के सामने किसान किसी भी 'बाहरी' आदमी को अपने प्रतिनिधि के रूप में नहीं भेज सकेंगे। ऐसा इस-लिए किया गया कि किसान पंचायत कहीं राजस्थान-सेवा-संघ से सहायता प्राप्त न कर ले। किसानों को राज्य की यह शर्त स्वीकार नहीं हुई। उन्होंने आयोग का बहिष्कार कर दिया। ट्रेंच ने एकतरफा निर्णय दिया। उसने अपने निर्णय में पथिक जी पर किसानों में विरोध की भावना फैलाने और समानांतर सरकार स्थापित करने का आरोप लगाया। ट्रेंच ने केवल दो-चार मामूली लागतों को छोड़ कर शेष सभी लागतों और बेगार को उचित ठहराया। ट्रेंच के फैसला देते ही ठिकाने के मुंसरिम लाला अमृतलाल ने सरकारी सेना की सहायता से लगान वसूल करना शुरू किया। बेगूं पट्टे के किसान ट्रेंच के निर्णय पर विचार करने के लिए गोविंदपुरा में एकत्रित हुए। लगातार पांच माह तक किसान पंचों और ठिकाने के बीच समझौता-वार्ता चलती रही, पर समझौता नहीं हो सका। ट्रेंच तथा लाला अमृतलाल ने गोविंदपुरा में एकत्रित किसानों को तितर-बितर करने की आज्ञा दी। १३ जुलाई, १९२३ को किसानों को सेना ने घेर लिया। सेना ने गोलियां चलायीं जिससे रूपाजी और कृपाजी नामक दो किसान नेता शहीद हो गए। गोली चलने की खबर फैलते ही किसान पंचों की औरतें घटना-स्थल की ओर दौड़ पड़ीं। सिपाही औरतों पर टूट पड़े। उन्हें नंगा कर दिया और कई प्रकार से अपमानित किया गया। इस कांड के बाद ५०० से अधिक किसानों को गिरफ्तार कर बेगूं जेल में बंद कर दिया गया। इस कांड की भारत भर के समाचार-पत्रों में घोर निंदा हुई। 'तरुण राजस्थान' ने तो महाराणा फतेहसिंह से मांग की कि वे अपने उत्तराधिकारी महाराजकुमार भूपाल-सिंह से शासनाधिकार वापस छीन लें। महाराणा स्वयं इस कांड से दुखी थे। उन्होंने मेवाड़ के दीवान प्रकाशचंद्र चटर्जी की ड्योढ़ी बंद कर दी। इन परिस्थितियों में महाराणा फतेहसिंह शासन के प्रति नाराजगी दिखाने के लिए इससे अधिक कुछ कर भी नहीं सकते थे। मेवाड़ सरकार ने 'प्रताप', 'राजस्थान केसरी' और 'नवीन राजस्थान' आदि पत्रों के मेवाड़-प्रवेश पर पाबंदी लगा दी। इस अवसर पर मेवाड़ सरकार की ओर से एक विज्ञप्ति प्रकाशित की गयी जिसमें कहा गया कि 'किसान पंचायत सोवियत ढंग की बोलशेविक' संस्था है और वह किसानों को लगान देने से मना करती है। ट्रेंच कमीशन किसानों से लगान वसूल करने गया तो किसानों ने लाठियों से हमला किया। इस कारण आत्मरक्षा के लिए सेना को बल प्रयोग करना पड़ा। सेना के अत्याचारों से किसानों का आंदोलन कुछ शिथिल होता देख पथिक जी ने निश्चय किया कि वे स्वयं बेगूं जाकर आंदोलन का नेतृत्व करेंगे। आंदोलन पुनः

उभर आया। किसानों ने लगान और बेगार देना बंद कर दिया। जो किसान ठिकाने से भयभीत होकर लगान और बेगार देते थे उनका सामाजिक बहिष्कार किया जाने लगा। यही नहीं, ऐसे किसानों के साथ बेटी-व्यवहार भी बंद कर दिया गया। इस प्रकार किसानों का असहयोग आंदोलन पूर्णता को पहुंच गया। इससे मेवाड़ सरकार और ठिकाने के मुंसरिम लाला अमृतलाल तिलमिला उठे। पथिक जी १० सितंबर, १९२३ को गिरफ्तार कर लिये गए। उन्हें बेगूं से ले जाया गया और उनके पैरों में बेड़ियां डाल दी गयीं।

बेगूं ठिकाने की ओर से पथिक जी पर जो अभियोग लगाए गए थे, वे ये थे : (१) राज्य-द्रोह, (२) वर्जित साहित्य रखना, (३) राज्य-द्रोह-प्रचार में सहायक होना, (४) सरकारी आदेश भंग करना। इन आरोपों को सुनने के लिए सरकार ने एक तीन सदस्यों का कमीशन नियुक्त किया। इस कमीशन ने दिसंबर, १९२३ में मामले की सुनवाई शुरू की और फरवरी, १९२५ में अपना निर्णय दिया। इस निर्णय के अनुसार पथिक जी केवल वर्जित साहित्य रखने के अपराधी माने गए। उन्हें एक वर्ष की कैद और एक हजार रुपये जुर्माने की सजा दी गयी। पथिक जी ने इस निर्णय के विरुद्ध मेवाड़ हाई कोर्ट (महेंद्राज सभा) में अपील प्रस्तुत की। यह अपील ८ न्यायाधीशों की बेंच ने सुनी। हाई कोर्ट ने करीब-करीब कमीशन का निर्णय बहाल रखा। परंतु महाराजकुमार और ब्रिटिश सरकार भी हाई कोर्ट के इस निर्णय से संतुष्ट नहीं हुई। उन्होंने सात उच्चाधिकारियों का एक नया कमीशन नियुक्त किया जिसमें राज्य के मंत्री, इंस्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस और जिला हाकिम आदि शामिल थे। उच्च न्यायालय के निर्णय को अस्वीकार कर इस प्रकार का कमीशन नियुक्त करना केवल मात्र न्याय का मखौल था। इस कमीशन ने अपने आकाओं की इच्छानुसार पथिक जी के विरुद्ध विभिन्न आरोप साबित मानते हुए उनको पांच वर्ष की सजा दी। लंबे समय तक जेल में रहने के बाद पथिक जी २७ अप्रैल, १९२७ को रिहा किए गए।

जब एक ओर पथिकजी एवं उनके साथी बिजोलिया और बेगूं के जागीर इलाकों में किसान आंदोलन का संचालन कर रहे थे तो दूसरी ओर उदयपुर के निकट निकट झाड़ोल के इलाके में स्वनामधन्य स्वर्गीय श्री मोतीलाल तेजावत किसानों को संगठित कर रहे थे। सन् १९२२ में सारे मेवाड़ के किसानों के प्रतिनिधि महाराणा से मिलने उदयपुर में एकत्रित हुए। कई महीनों के इंतजार के बाद तेजावत जी के नेतृत्व में किसान प्रतिनिधि महाराणा से मिल पाए। महाराणा ने यद्यपि कुछ लागतों को माफ करने की घोषणा कर दी परंतु किसानों का यह प्रयत्न कुल मिलाकर निष्फल ही रहा। वे निराश होकर अपने-अपने गांव चले गए। तेजावत जी मगरा जिले के भील क्षेत्र में गए और वहां भीलों को संगठित करना शुरू किया। भीलों में प्रचलित मद्यमान, गोहत्या, कन्या-विक्रय आदि कुप्रथाओं के विरुद्ध उन्होंने जिहाद शुरू किया। मेवाड़ का सारा भील क्षेत्र उनका अनुयायी बन गया। भील उन्हें देवता स्वरूप समझने लगे। उनके नेतृत्व में भीलों ने विभिन्न लागबागों और भारी लगान के विरुद्ध बगावत का झंडा फहराया। इस आंदोलन को कुचलने के लिए सरकारी सेना ने डट कर

गोलियां चलायीं जिसमें सैकड़ों भील मारे गए। विजय अंत में भीलों की हुई। कई लागबागें समाप्त कर दी गयीं और लगान घटा दिया गया।

राजनीतिक जागृति

यों तो मेवाड़ के विभिन्न भागों में लगान, लागबाग एवं बेगार को लेकर बिजोलिया, बेगूं और भोमट जैसे इलाकों में सफल आंदोलन हुए, परंतु मेवाड़ में संगठित राजनीतिक आंदोलन की शुरुआत सन् १९३८ में हुई। इस समय मेवाड़ में महाराणा भूपालसिंह का शासन था। यद्यपि भूपालसिंह ने अपने पिता महाराणा फतेहसिंह की मौजूदगी में ही सन् १९२१ में राज्य-शासन का अधिकतर भार उठा लिया था तथापि उन पर मेवाड़-शासन की पूर्ण जिम्मेदारी महाराणा फतेहसिंह के देहांत के पश्चात् सन् १९३० में आयी। महाराणा भूपालसिंह रेजीडेंट और ए० जी० जी० आदि अंग्रेज अधिकारियों के प्रभाव में थे। भूपालसिंह के शासन-काल में सन् १९२१ से सन् १९३८ तक मेवाड़ में किसी भी क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई। मेवाड़ अब भी मध्यकालीन सामंतवादी अवस्था से गुजर रहा था। वहां की केवल ३ प्रतिशत जनता साक्षर थी। २० लाख की जनसंख्या वाले इस राज्य में एक इंटरमीडियेट कॉलेज था जो हाईस्कूल की कक्षाओं की पूर्ति भी करता था। मिडिल स्कूलों और प्राइमरी स्कूलों की संख्या क्रमशः केवल मात्र १२ और १३८ थी। स्वास्थ्य और दवा-दारू के नाम पर राज्य ५० हजार रुपये की साधारण रकम खर्च करता था। सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति के कारण राज्य की दो-तिहाई जनता निरंकुश सामंतवाद के चंगुल में फंसी हुई थी। किसान आंदोलनों को कुचलने का भरसक प्रयत्न किया गया। इन विकट राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में उदयपुर में मेवाड़ प्रजामंडल की स्थापना हुई। इस नयी जनजागृति के जनक थे बिजोलिया आंदोलन में पथिक जी के सहायक श्री माणिक्यलाल वर्मा।

प्रजामंडल की स्थापना

अपने १८ वर्ष के जवान पुत्र की अकाल मृत्यु की छाया में वर्मा जी एक साइकिल लेकर मेवाड़ की स्वेच्छाचारी सरकार को चुनौती देने के लिए निकल पड़े। वे गुलाबपुरा, शाहपुरा, जहाजपुर, भीलवाड़ा, हमीरगढ़ और चित्तौड़ होते हुए उदयपुर पहुंच गए। राह में पड़ने वाले उपरोक्त सभी स्थानों में उन्होंने प्रजामंडल की स्थापना के लिए उपयुक्त वातावरण बनाया और कार्यकर्ताओं को तैयार किया, जिनमें प्रमुख थे गुलाबपुरा के श्री मथुरालाल, शाहपुरा के श्री रमेशचंद्र ओझा एवं लादूराम व्यास, जहाजपुर के श्री मथुराप्रसाद वैद्य, भीलवाड़ा के श्री रामचंद्र वैद्य, हमीरगढ़ के श्री कल्याणमल सोमानी एवं चित्तौड़गढ़ के श्री सेवालाल अग्रवाल। मेवाड़ की राजधानी उदयपुर पहुंचकर वर्मा जी ने वहां के प्रमुख कार्यकर्ताओं के सामने प्रजामंडल की रूपरेखा रखी। २५ अप्रैल, १९३८ की इस बैठक में भाग लेने वालों में अग्रणी थे—श्री बलवंतसिंह महता, श्री भूरेलाल बया, प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री रमेशचंद्र

व्यास, श्री हीरालाल कोठारी, श्री भवानीशंकर वैद, श्री जमनादास वैद तथा श्री दयाशंकर श्रोत्रिय। बैठक में प्रजामंडल का विधान स्वीकार किया गया। सर्वश्री बलवंतसिंह मेहता, भूरेलाल बया और माणिक्यलाल वर्मा क्रमश: मेवाड़ प्रजामंडल के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और महामंत्री निर्वाचित हुए। प्रजामंडल की स्थापना से मेवाड़ में एक अभूतपूर्व सनसनी फैल गयी। केवल उदयपुर शहर में तीन दिन के अंदर प्रजामंडल के लगभग दो हजार सदस्य बन गए। मेवाड़ के प्रधानमंत्री श्री धर्मनारायण ने वर्माजी को बुलाकर कहा कि वे प्रजामंडल की स्थापना के लिए राज्य की स्वीकृति प्राप्त करें। वर्मा जी ने उत्तर दिया कि राज्य में ऐसा कोई कानून नहीं है जिसके आधार पर प्रजामंडल कायम करने के लिए सरकार की स्वीकृति की आवश्यकता हो। इस पर सरकार ने प्रजामंडल को गैरकानूनी घोषित कर दिया। प्रजामंडल की कार्यकारिणी ने अपने समस्त अधिकार वर्मा जी को देकर उन्हें प्रजामंडल का डिक्टेटर घोषित कर दिया। सरकार ने वर्मा जी को मेवाड़ से निष्कासित कर दिया। प्रजामंडल के लिए यह एक चुनौती थी। वर्मा जी वर्धा पहुंचे और महात्मा गांधी का आशीर्वाद प्राप्त कर अजमेर लौट आए। वहीं उन्होंने मेवाड़ प्रजामंडल का कार्यालय स्थापित किया। वर्मा जी ने सर्वप्रथम 'मेवाड़ का वर्तमान शासन' नामक पुस्तिका प्रकाशित की जिसमें उन्होंने मेवाड़ के प्रतिगामी शासन की कटु आलोचना की और साथ ही मेवाड़ प्रजामंडल पर लगायी गयी पाबंदी हटाने की मांग की। सेठ जमनालाल बजाज ने भी मेवाड़ के प्रधानमंत्री को पाबंदी हटाने के लिए लिखा। इन प्रयत्नों का कोई नतीजा नहीं निकला। यही नहीं, सरकार ने कुरावड़-निवासी सुप्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री प्रो० प्रेमनारायण माथुर को २८ सितंबर, १९३८ को मेवाड़ से निष्कासित कर दिया। अब प्रजामंडल के सामने आंदोलन चलाने के सिवाय कोई मार्ग नहीं रह गया था। विजयदशमी के दिन प्रजामंडल ने सत्याग्रह का शुभारंभ उदयपुर से किया, जहां प्रथम सत्याग्रही प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री रमेशचंद्र व्यास ने घंटाघर के निकट जनता को सत्याग्रह में शामिल होने के लिए आवाहन करते हुए 'मेवाड़ प्रजामंडल जिंदाबाद' के नारे लगाए। व्यास गिरफ्तार कर लिए गए। इसके बाद प्रजामंडल के प्रमुख नेता और कार्यकर्ता सर्वश्री बलवंतसिंह महता, भूरेलाल बया, दयाशंकर श्रोत्रिय, भवानीशंकर वैद, मथुराप्रसाद वैद, अमृतलाल यादव, रामचंद्र वैद, जयचंद रैगर, श्रीमती नारायणीदेवी वर्मा, श्रीमती रमादेवी ओझा, परशराम अग्रवाल, श्रीमती भगवतीदेवी एवं सर्वश्री नंदलाल जोशी, रामसिंह भाटी, भंवरलाल आचार्य, नरेंद्रपालसिंह चौधरी, उमाशंकर द्विवेदी, रूपलाल सोमानी, प्यारचंद विश्नोई आदि एक के बाद एक गिरफ्तार कर लिए गए। इस सत्याग्रह में लगभग २५० व्यक्तियों ने भाग लिया जो या तो दंडित हुए या मेवाड़ से निकाल दिए गए। वर्मा जी सत्याग्रह का संचालन अजमेर से करते रहे। यह सत्याग्रह अक्तूबर, १९३८ से जनवरी, १९३९ तक चलता रहा। २ फरवरी, १९३९ को मेवाड़ सरकार के जासूस वर्मा जी को अजमेर राज्य के देवली नामक स्थान से मेवाड़ की सीमा में घसीट लाए और उन्हें गिरफ्तार कर लिया। पुलिस ने वर्मा जी को नंगा कर एक खंभे से बांध दिया और उन्हें बुरी

तरह पीटा। पिटाई में लगी गहरी चोटों से वर्मा जी के शरीर में जीवन-भर पीड़ा बनी रही। महात्मा गांधी को जब इस घटना की जानकारी हुई तो उन्होंने 'हरिजन' में मेवाड़-पुलिस द्वारा वर्मा जी के साथ किए गए पाशविक व्यवहार की कड़ी भर्त्सना की। उन्होंने वर्मा जी की गिरफ्तारी को गैरकानूनी बताते हुए कहा, "सविनय अवज्ञा करने वालों को याद रखना चाहिए कि वास्तविक संग्राम तो अब आने वाला है। ऐसा प्रतीत होता है कि देशी रियासतें अंग्रेजों द्वारा ब्रिटिश-भारत में सत्याग्रह-आंदोलन के विरुद्ध व्यवहार में लाए गए तरीकों की नकल कर रही हैं। इस बात की संभावना है कि वे उनके भयंकर और भयानकता में और अधिक सुधार करें। उन्हें जनमत का कोई भय नहीं है। परंतु सविनय अवज्ञा करने वाले कैसे भी भयानक तरीके हों, उनसे डरेंगे नहीं।"

वर्मा जी पर देशद्रोह का मुकदमा चलाया गया। उन्हें दो वर्ष की सजा दी गयी। वर्मा जी कुंभलगढ़ के किले में बंद कर दिए गए। इस वर्ष मेवाड़ में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। मेवाड़ प्रजामंडल के जो कार्यकर्ता बाहर थे उन्होंने अकाल-सेवा-समिति की स्थापना की। इस समिति ने जिस निष्ठा और लगन से अकाल सहायता कार्य किया, उसकी सर्वत्र प्रशंसा हुई। इस बीच कुंभलगढ़ जेल में वर्मा जी का स्वास्थ्य चिंताजनक हो गया। राज्य-सरकार ने उन्हें इलाज के लिए अजमेर भेजा और वहां ८ जनवरी, १९४० को उन्हें रिहा कर दिया। साथ ही महात्मा गांधी के आदेशानुसार मेवाड़ प्रजामंडल द्वारा सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया।

प्रजामंडल पर पाबंदी हटी

इन दिनों मेवाड़ के प्रधानमंत्री धर्मनारायण काक महाराजकुमार भगवतसिंह की शादी के प्रश्न को लेकर राजमहल के षड्यंत्र के शिकार बन गए। उनके स्थान पर महाराणा के नये समधी बीकानेर के महाराजा गंगासिंह की सलाह पर सर टी० विजयराघवाचार्य प्रधानमंत्री बनाए गए। इस परिवर्तन से मेवाड़ के राजनीतिक वातावरण में थोड़ा परिवर्तन आया। वर्मा जी के नेतृत्व में प्रजामंडल का एक प्रतिनिधिमंडल नये प्रधानमंत्री से मिला और उनसे प्रजामंडल पर लगी पाबंदी हटाने की मांग की। फलस्वरूप महाराणा के जन्मदिन के अवसर पर २२ फरवरी, १९४१ को प्रजामंडल से पाबंदी हटाने की घोषणा कर दी गयी। धीरे-धीरे प्रजामंडल की साख जमने लगी। प्रजामंडल के कार्यकर्ताओं द्वारा की गयी शिकायतों के आधार पर जिला हाकिम सर्वश्री चंद्रनाथ और लाला प्यारेलाल, स्वास्थ्य विभाग के निदेशक श्री छगननाथ और पुलिस सुपरिंटेंडेंट मदनसिंह आदि को नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया। महाराणा की मूंछ के बाल भ्रष्ट उच्चाधिकारियों की बर्खास्तगी से राज्य की जनता ने राहत की सांस ली। अप्रत्यक्ष रूप से इससे प्रजामंडल की लोकप्रियता बढ़ गयी। राज्य-भर में प्रजामंडल की शाखाएं स्थापित की गयीं। कुछ ही महीनों में प्रजामंडल एक शक्तिशाली संगठन के रूप में उभर गया। नवंबर, १९४१ में वर्मा जी की अध्यक्षता में मेवाड़ प्रजामंडल का प्रथम अधिवेशन उदयपुर में हुआ,

जिसमें आचार्य कृपलानी और श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित जैसे देश के चोटी के नेताओं ने भाग लिया। इस अवसर पर मेवाड़ के राजनीतिक क्षितिज पर श्री मोहनलाल सुखाड़िया के रूप में एक नया नक्षत्र उभर कर आया, जिसने कालांतर में लगातार १७ वर्षों तक राजस्थान के मुख्यमंत्री पद पर रह कर अनूठा कीर्तिमान स्थापित किया। प्रजामंडल के इस अधिवेशन में मेवाड़ में अविलंब उत्तरदायी शासन की स्थापना और जनता के प्रतिनिधियों की बहुमत वाली विधान सभा स्थापित करने की मांग की गयी।

इस समय द्वितीय महायुद्ध एक भयानक स्थिति में पहुंच चुका था। जर्मनी और इटली की सेना मित्र देशों की सेना पर हावी हो रही थी। अंग्रेजों ने भारत को भी महायुद्ध में झोंक दिया था। कांग्रेस ने अंग्रेजों के इस कदम का विरोध किया। विभिन्न प्रदेशों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिया। कांग्रेस ने देश-व्यापी आंदोलन छेड़ने का निश्चय किया। कांग्रेस ने यह भी निर्णय किया कि इस बार भी देशी राज्य इस आंदोलन में भाग लेंगे। ८ अगस्त, १९४२ को बंबई में सारी स्थिति पर विचार करने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति का अधिवेशन बुलाया गया। इस अवसर पर देशी राज्यों के कार्यकर्ताओं को भी आमंत्रित किया गया। महात्मा गांधी ने इन कार्यकर्ताओं को संबोधित करते हुए कहा कि ब्रिटिश भारत में नया नारा 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' और देशी राज्यों में 'राजा लोग, अंग्रेजों का साथ छोड़ो' होगा। मेवाड़ प्रजामंडल की ओर से इस बैठक में श्री माणिक्यलाल वर्मा उपस्थित हुए। बैठक की समाप्ति पर इंदौर के एक कार्यकर्ता ने वर्मा जी से महात्मा गांधी के आवाहान के संबंध में प्रतिक्रिया जाननी चाही तो वर्मा जी ने उत्तर दिया कि "हम तो मेवाड़ी हैं। हर हर महादेव बोलते आए हैं और इस बार भी बोलेंगे।"

सन् १९४२ का आंदोलन

वर्मा जी ने २० अगस्त, १९३२ को प्रजामंडल की ओर से महाराणा को अल्टीमेटम दिया कि वे अंग्रेजों से अपना नाता तोड़ दें अन्यथा प्रजामंडल अविलंब सत्याग्रह-संग्राम छेड़ देगा। अगले दिन ही १२ बजे वर्मा जी गिरफ्तार कर लिये गए और इसके साथ ही मेवाड़ में सत्याग्रह का श्रीगणेश हो गया। उदयपुर में हड़ताल हो गयी, स्कूल-कॉलेज बंद हो गए। नगर 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' और 'मेवाड़ प्रजामंडल की जय' के नारों से गूंज उठा। आंदोलन मेवाड़ के सभी भागों में फैल गया। सैकड़ों कार्यंकर्ता व विद्यार्थी गिरफ्तार हुए। नेताओं को पकड़ कर अज्ञात स्थान पर भेज दिया गया।

सन् १९४४ में चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य (राजा जी) उदयपुर आए। वे 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' आंदोलन से असहमत होकर कांग्रेस से अलग हो गए थे। इनके उदयपुर आगमन से पूर्व ही वर्मा जी को कारागृह से मुक्त कर दिया गया। जब राजा जी की वर्मा जी से मुलाकात हुई तो उन्होंने वर्मा जी को सलाह दी कि देश की बदलती हुई परिस्थितियों में प्रजामंडल को अपना आंदोलन समाप्त कर देना चाहिए।

इस पर वर्मा जी ने कहा कि "आप हमारे नेता नहीं हैं, हमारे नेता हैं महात्मा गांधी। अतः महात्मा गांधी जैसा आदेश देंगे, हम वही करेंगे।" इस प्रकार राजगोपालाचार्य का मेवाड़ का यह मिशन असफल रहा। जब भारत के अन्य भागों में आंदोलन समाप्त हो गया तो मेवाड़-सरकार ने क्रमशः प्रजामंडल के कार्यकर्ताओं को छोड़ना प्रारंभ किया और सन् १९४४ में मेवाड़ के लगभग सभी कार्यकर्ता जेल से रिहा कर दिए गए। पर मेवाड़ में राजनीतिक गत्यावरोध बना रहा।

राजनीतिक सुधार

सन् १९४५ में द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् हुए चुनावों में इंगलेंड में मजदूर दल की विजय हुई। नये प्रधानमंत्री एटली ने १९ फरवरी, १९४६ को स्वतंत्र भारत का विधान बनाने की प्रक्रिया तय करने के लिए एक उच्चस्तरीय मंत्रिमंडल-मिशन भेजने का एलान किया। साथ ही देश के उच्च नेताओं को जेल से रिहा कर दिया गया।

३१ दिसंबर, १९४५ को उदयपुर में पं० नेहरू की सदारत में 'अखिल भारतीय देशी राज्य लोक-परिषद्' का अधिवेशन हुआ जिसमें रियासतों में अविलंब उत्तरदायी शासन स्थापित करने की मांग की गयी। इस अधिवेशन से उत्पन्न जागृति की नयी लहर तथा भारत में तेजी से हो रहे राजनीतिक परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए मेवाड़ सरकार ने भी एक विधान-निर्मात्री समिति का निर्माण किया। इस समिति में प्रजामंडल द्वारा नामजद सदस्य भी शामिल किए गए। इस समिति ने २९ सितंबर, १९४६ को अपनी रिपोर्ट दी। सरकार ने इस समिति की सिफारिशों को मानने से इनकार कर दिया। परंतु जनमत के दबाव से कुछ ही महीनों बाद सरकार को प्रजामंडल द्वारा मनोनीत दो सदस्यों को राज्य के मंत्रिमंडल में लेना पड़ा। ये सदस्य थे सर्वश्री मोहनलाल सुखाड़िया और हीरालाल कोठारी।

फरवरी, १९४७ में महाराणा ने जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों के बहुमत वाली धारासभा स्थापित करने की घोषणा की। पर इस समय देश बहुत आगे बढ़ चुका था। पं० नेहरू केंद्र में अंतरिम सरकार बना चुके थे। ऐसी स्थिति में प्रजामंडल ने महाराणा की इस घोषणा को समय के अनुकूल न मानते हुए ठुकरा दिया। इन्हीं दिनों सर टी० विजयराघवाचार्य को महलों के षड्यंत्र का शिकार होना पड़ा और उन्हें प्रधानमंत्री के पद से इस्तीफा देना पड़ा।

देश की तेजी से बदलती हुई परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए महाराणा ने विख्यात विधि-वेत्ता और बंबई के भूतपूर्व गृहमंत्री श्री के० एम० मुंशी को अपना वैधानिक सलाहकार बनाया। मुंशी ने तुरंत ही मेवाड़ राज्य का विधान तैयार कर लिया। महाराणा ने इस विधान को ज्यों का त्यों स्वीकार कर प्रताप-जयंती के अवसर पर २३ मई, १९४७ को लागू कर दिया। मुंशी जी ने इस विधान में देवस्थान-निधि, प्रताप विश्वविद्यालय की स्थापना, मूलभूत नागरिक अधिकार और स्वतंत्र न्यायपालिका के लिए प्रावधान कर विधान को आदर्शवादी रूप देने का प्रयत्न

किया। पर जहां तक विधान-सभा के स्वरूप और मंत्रिमंडल के गठन और उत्तर-दायित्व का प्रश्न था, विधान अस्पष्ट था। लेखक ने उस समय मेवाड़ प्रजामंडल के मुखपत्र 'प्रजामंडल-पत्रिका' में इस विधान पर टिप्पणी करते हुए लिखा था कि इस विधान में **बहुत कुछ करने की गुंजाइश है, और कुछ नहीं करने की छूट है**। दरअसल यह विधान इतना पेचीदा था जितने कि उसके लेखक स्वयं श्री मुंशी। प्रजामंडल ने इसे अप्रगतिशील और अस्पष्ट बताया तो क्षत्रिय महासभा ने इसे सरकार द्वारा प्रजामंडल के सम्मुख समर्पण की संज्ञा दी। और तो और, महाराणा स्वयं विधान में प्रावधित राज-समिति के स्थापना-संबंधी प्रश्न को लेकर रुष्ट हो गए। विधान में 'राज-समिति' को यह अधिकार दिया गया था कि वह महाराणा को मानसिक दृष्टि से अयोग्य करार देकर उनके उत्तराधिकारी का चुनाव कर ले। उन दिनों राजधानी में अफवाहों का बाजार गर्म था। महाराणा के कानों में जब यह अफवाह पहुंची कि सामंत वर्ग उक्त प्रावधान के अंतर्गत उन्हें हटाकर महाराजकुमार को गद्दी पर बैठाने का षड्यंत्र कर रहा है तो महाराणा चौंक उठे। विशेषतया इसलिए कि 'राज-समिति' के सदस्यों में सामंत वर्ग का बाहुल्य था। उन्होंने प्रसिद्ध विधि-वेत्ता और भारतीय संविधान-समिति के प्रमुख सदस्य सर अलादीकृष्णा स्वामी अय्यर की सलाह लेकर विधान के 'राज-समिति' संबंधी प्रावधान को रद्द कर दिया।[1] जब मुंशी को महाराणा की इस कार्यवाही का पता चला तो वे भौचक्के रह गए। उन्होंने अपने पद से इस्तीफा दे दिया जो महाराणा ने बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार कर लिया। मुंशी-विधान खटाई में पड़ गया।

भोपाल के नवाब का षड्यंत्र

ब्रिटिश मंत्री मिशन के भगीरथ प्रयत्नों के बावजूद सत्ता हस्तांतरित करने के संबंध में कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता न हो सका। फलतः १६ मई, १९४६ को मिशन ने एक अवार्ड के रूप में अपनी योजना घोषित कर दी। देशी रियासतों के संबंध में मिशन ने एलान किया कि वे भारत या पाकिस्तान संघ में शामिल होने अथवा अपना स्वतंत्र एवं सार्वभौम अस्तित्व रखने को आजाद होंगे। ५६२ रियासतों में से इनी-गिनी रियासतों को छोड़कर शेष सभी रियासतें विभाजित भारत की भौगोलिक सीमा में स्थित थीं। इस घोषणा के फलस्वरूप कतिपय राजा, महाराजा और नवाब पाकिस्तान में शामिल होने अथवा अपनी-अपनी रियासत को सार्वभौम राज्य घोषित करने की योजना बनाने लगे। इन परिस्थितियों में उस समय देश के छिन्न-भिन्न होने का गंभीर खतरा उपस्थित हो गया था। नरेंद्र-मंडल (चेंबर ऑफ प्रिंसेज) के प्रमुख भोपाल के नवाब ने इंदौर, जोधपुर, जैसलमेर और जूनागढ़ को पाकिस्तान में शामिल होने के लिए तैयार कर लिया। उधर पाकिस्तान के भावी गवर्नर-जनरल मोहम्मद अली जिन्ना ने सार्वजनिक रूप से एलान कर दिया कि भारत

१. लेखक की महाराणा के निजी सचिव स्व० श्री त्रिवेदी से मुलाकात के आधार पर।

के जो भी नरेश पाकिस्तान में शामिल होंगे उन्हें वे मनोवांछित शर्तें दे देंगे । जोधपुर के महाराजा को तो जिन्ना ने इस संबंध में अपने हस्ताक्षरों सहित 'ब्लैंक-चैक' ही दे दिया । भोपाल के नवाब की योजना यह थी कि भोपाल से लगाकर पाकिस्तान की सीमा से लगने वाली जैसलमेर तक की सभी रियासतें पाकिस्तान में शामिल हो जाएं । इस क्षेत्र में भोपाल, इंदौर, मेवाड़, जोधपुर और जैसलमेर की रियासतें आती थीं । इस योजना की सफलता में मेवाड़ ही एक रुकावट नजर आता था । अन्य रियासतों के राजा पहले ही भोपाल के नवाब की जेब में आ चुके थे ।

महाराणा का देशानुराग

मेवाड़ के महाराणा को समझाने का बीड़ा जोधपुर के युवा महाराजा हनुमंत-सिंह ने उठाया । इस संबंध में मेवाड़ के महाराणा भूपालसिंह ने महाराजा हनुमंत-सिंह को जो जवाब दिया वह भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है । उन्होंने कहा, **"भारतीय उपमहाद्वीप में मेवाड़ का स्थान कहां होगा, इसका निर्णय तो मेरे पूर्वज शताब्दियों पूर्व ही कर चुके । यदि वे देश के प्रति गद्दारी करते तो मुझे भी आज विरासत में हैदराबाद जैसी रियासत मिली होती । पर न तो उन्होंने ऐसा किया और न मैं ऐसा करूंगा । मेवाड़ भारत के साथ था और अब भी वहीं रहेगा ।"**[1] इस घटना के तुरंत बाद ही महाराणा ने भारतीय संघ में शामिल होने की घोषणा कर दी । भोपाल के नवाब और जिन्ना के इस देश-घातक षड्यंत्र को असफल करने में महाराणा ने जो भूमिका अदा की, उसे भारत की भावी पीढ़ियां बड़े ही आदर के साथ स्मरण करेंगी ।

लोकप्रिय सरकार का प्रश्न

सर टी० विजय के प्रस्थान करने के कुछ समय बाद मद्रास के भूतपूर्व गवर्नर सर रामामूर्ति मेवाड़ के प्रधानमंत्री नियुक्त हुए । देश में तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने मेवाड़ में उत्पन्न राजनीतिक गतिरोध को समाप्त करने का प्रयत्न किया । प्रजामंडल के नेताओं से विचार-विमर्श कर मेवाड़ सरकार ने ११ अक्टूबर, १९४६ को विधान में आवश्यक संशोधन किए । यद्यपि इन संशोधनों के बावजूद प्रजामंडल को विधान स्वीकार नहीं था, तथापि उसने इस विधान के अंतर्गत बनने वाली धारा-सभा के चुनाव लड़ना इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि मेवाड़ में शीघ्र ही एक अंतरिम सरकार बनायी जाएगी, जिसमें प्रजामंडल का महत्त्वपूर्ण और वजनदार प्रतिनिधित्व होगा । महाराणा ने ७ मार्च, १९४८ को अपनी वर्षगांठ के अवसर पर एक घोषणा द्वारा प्रजामंडल की मांग को सिद्धांततः स्वीकार कर लिया । इस घोषणा के तुरंत बाद सरकार और प्रजामंडल के बीच वार्ता का दौर शुरू हुआ, जो कई दिनों तक चला । सरकार प्रजामंडल द्वारा

1. के० एम० मुंशी, 'पिलग्रीमेज टू फ्रीडम', पृ० १६२ ।

मनोनीत व्यक्ति को प्रधानमंत्री बनाने के लिए राजी हो गयी। सरकार ने यह भी मान लिया कि मंत्रिमंडल में प्रजामंडल का बहुमत होगा। प्रजामंडल ने प्रधानमंत्री पद के लिए प्रो० प्रेमनारायण माथुर को नामजद किया। सरकार ने उनका नाम भी स्वीकार कर लिया। सौहार्दपूर्ण वातावरण में चल रही इस वार्ता में अचानक ही उस समय गत्यावरोध उत्पन्न हो गया, जब महाराणा और सर एस० वी० रामामूर्ति ने डॉ० मोहनसिंह मेहता को एक निर्दलीय सदस्य के रूप में मंत्रिमंडल में शामिल करने का आग्रह किया। पर किन्हीं कारणों से प्रजामंडल ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। अंत में सरकार को प्रजामंडल की बात स्वीकार करनी पड़ी और डॉ० मेहता की बजाय उदयपुर के एडवोकेट श्री जीवनसिंह चौरड़िया को एक निर्दलीय सदस्य के रूप में मंत्रिमंडल में लेना तय रहा। यह घटना २२ मार्च की है। इस घटना को सर रामामूर्ति और उनके सहयोगियों ने सहज रूप में नहीं लिया। समय के फेर से दमन का सहारा लेना उनके लिए संभव न था। उन्होंने प्रजामंडल के नेताओं के साथ शतरंज की चालें चलना शुरू कर दिया।

राजस्थान-संघ और मेवाड़

मार्च के प्रथम सप्ताह में दक्षिण-पूर्व राजस्थान की रियासतों के एकीकरण के संबंध में रियासती सचिवालय और संबंधित राजाओं के बीच वार्ताओं का दौर शुरू हुआ। इन वार्ताओं के दौरान कतिपय राजाओं ने यह इच्छा व्यक्त की कि यदि उक्त राज्यों के एकीकरण से बनने वाली राजस्थान यूनियन में मेवाड़ भी शामिल हो जाए तो यह नया राज्य एक मजबूत आर्थिक इकाई बन जाएगा। रियासती सचिवालय के सचिव श्री मेनन ने बताया कि भारत सरकार की घोषित नीति के अनुसार मेवाड़ एक स्वायत्त इकाई के रूप में रहने का अधिकारी है फिर भी वे इस संबंध में मेवाड़ सरकार को टटोलने का प्रयत्न करेंगे। राजाओं की भावनाओं का आदर करते हुए मेनन ने ४ मार्च, १९४८ को मेवाड़ के प्रधानमंत्री रामामूर्ति से इस संबंध में चर्चा की तो मेवाड़ प्रजामंडल की मांग के बावजूद रामामूर्ति ने मेवाड़ के प्रस्तावित यूनियन में शामिल होने के प्रस्ताव को यह कहकर नामंजूर कर दिया कि यूनियन बनाने वाली रियासतें चाहें तो मेवाड़ राज्य में शामिल हो सकती हैं। यह बात अन्य राजाओं को स्वीकार नहीं थी। इस प्रकार जहां तक भारत सरकार का प्रश्न था, मेवाड़ के राजस्थान यूनियन में शामिल होने के सवाल पर पटाक्षेप हो चुका था। इसके तुरंत बाद महारावल बूंदी स्वयं महाराणा के पास गए और उनसे प्रार्थना की कि यदि वे राजस्थान में शामिल हो जाएंगे तो बूंदी की इज्जत बच जाएगी। उनका कहना था कि मेवाड़ के प्रस्तावित राजस्थान में शामिल नहीं होने पर कोटा के महा-रावल नये राज्य के राजप्रमुख होंगे जिससे बूंदी की प्रतिष्ठा को धक्का लगेगा। कारण यह था कि कोटा महारावल बूंदी के छुटभैया थे। पर हजार अनुनय-विनय के बावजूद महाराणा ने राजस्थान यूनियन में शामिल होने का प्रस्ताव ठुकरा दिया। पर परिस्थितियों ने पलटा खाया। एक ओर प्रजामंडल अंतरिम सरकार के मनोनीत

प्रधानमंत्री और अन्य मंत्रियों को शपथ दिलाने के लिए दबाव डालने लगा.तो दूसरी ओर रामामूर्ति एवं उनके साथी २२ मार्च, १९४८ की घटना से खिन्न होकर प्रजामंडल के मनसूबों पर पानी फेरने का अवसर तलाश करने लगे। महाराणा को समझाया गया कि मेवाड़ में प्रजामंडल के बहुमत वाली सरकार बन गयी तो प्रजामंडल के नेता न केवल महाराणा की मान-मर्यादा को आंच पहुंचाने का प्रयत्न करेंगे वरन् उनकी प्रीविपर्स और व्यक्तिगत संपत्ति पर भी हमला किए बिना न रहेंगे। महाराणा को सलाह दी गयी कि यदि मेवाड़ राजस्थान में शामिल हो गया तो प्रीविपर्स और व्यक्तिगत संपत्ति के मामले पर प्रजामंडल की अपेक्षा रियासती सचिवालय से अधिक उदार शर्तें प्राप्त हो सकेंगी। महाराणा ने राजस्थान-संघ में शामिल होना सिद्धांततः स्वीकार कर लिया। फिर क्या था ? सर रामामूर्ति एक ओर नये मंत्रिमंडल के शपथ लेने की तारीख को एक या दूसरा बहाना लेकर टालते रहे, दूसरी ओर रियासती सचिवालय से मेवाड़ के राजस्थान-संघ में विलय की शर्तें तय करते रहे। मजे की बात तो यह थी कि राजपक्ष ने प्रजामंडल को रियासती सचिवालय से हो रही वार्ता की भनक तक नहीं पड़ने दी।

मेवाड़ का विलय

इन दिनों धारा-सभा के चुनाव की सरगर्मी चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी। ४ अप्रैल, १९४८ को उदयपुर में २ स्थानों के लिए चुनाव थे। दोनों स्थानों के लिए प्रजामंडल का मुकाबला क्षत्रिय परिषद् के उम्मीदवारों से था। सारे नगर में वातावरण तनावपूर्ण था। उस दिन क्षत्रिय परिषद् के किन्हीं समर्थकों ने एक पोलिंग-बूथ पर क्षत्रिय परिषद् का केसरिया झंडा फहरा दिया। जब प्रजामंडल के विरोध के बावजूद इस झंडे को पोलिंग-बूथ से नहीं हटाया गया तो प्रजामंडल के एक स्वयंसेवक ने प्रजामंडल का तिरंगा झंडा भी पोलिंग-बूथ पर गाड़ दिया। इस पर क्षत्रिय-परिषद् के समर्थकों ने तिरंगे झंडे को उखाड़ कर कुएं में डाल दिया। इस घटना ने शहर के तनावपूर्ण वातावरण में आग में घी डालने का काम किया। शहर में यह खबर बिजली की तरह फैल गयी और देखते ही देखते सारे शहर में हड़ताल हो गयी। यह हड़ताल दूसरे दिन भी जारी रही। इस दिन नगर के प्रमुख बाजारों में भीड़ का जमाव हो गया। प्रजामंडल और क्षत्रिय परिषद् के समर्थकों में नारेबाजी शुरू हो गयी। इसी बीच पुलिस ने आव देखा न ताव, फौरन गोली चला दी। जिसके फलस्वरूप दो विद्यार्थी सर्वश्री आनंदीलाल और शांतिलाल घटना-स्थल पर ही शहीद हो गए और अनेक लोग घायल हो गए। इस घटना के फलस्वरूप प्रजामंडल ने चुनावों का बहिष्कार कर दिया और रामामूर्ति एवं उनकी सरकार से तुरंत इस्तीफे की मांग की। गोली-कांड से उत्पन्न विस्फोटक स्थिति से घबराकर सरकार ने राजधानी में अनिश्चित काल के लिए कर्फ्यू लगा दिया और शहर का नियंत्रण पुलिस की बजाय फौज को सौंप दिया। रामामूर्ति और उनके सहयोगी अंतिम रूप से इस निर्णय पर पहुंच गए कि इस स्थिति में उनके सामने अविलंब राजस्थान-यूनियन में शामिल होने के सिवाय कोई विकल्प

नहीं है। ११ अप्रैल को महाराणा ने राजस्थान-यूनियन में शामिल होने की सूचना विधिवत् रियासती सचिवालय को भेज दी। जब बीकानेर के महाराजा को यह समाचार मिला कि महाराणा अपनी रियासत को संयुक्त राजस्थान में मिलाने जा रहे हैं तो उन्होंने अपने प्रधानमंत्री डॉ० जसवंतसिंह को महाराणा के पास भेजा और कहलाया कि जो मेवाड़ गत १२ शताब्दियों से एक स्वतंत्र रियासत रहा है, वह मेवाड़ अब अपना अस्तित्व क्यों खो रहा है। जसवंतसिंह ने महाराणा को बताया कि मेवाड़ के राजस्थान में शामिल होने के अन्य रियासतों पर दूरगामी परिणाम होंगे।[1] पर महाराणा बहुत आगे बढ़ चुके थे। अब उनके लिए पीछे हटना संभव नहीं था। महाराणा ने महाराजा बीकानेर की सलाह स्वीकार करने में असमर्थता जाहिर की और मेवाड़ को राजस्थान में शामिल करने का अपना संकल्प दोहराया। सरदार पटेल ने मेवाड़ के इस कदम का हृदय से स्वागत किया और महाराणा को बधाई का संदेश भेजा। १८ अप्रैल, १९४८ को भारत के प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने उदयपुर में इस नवनिर्मित 'संयुक्त राजस्थान' राज्य का उद्घाटन किया। इस प्रकार संसार के प्राचीनतम राजवंश के ७४वें उत्तराधिकारी महाराणा भूपालसिंह ने वीर-प्रसविनी भूमि मेवाड़ का नाटकीय ढंग से अस्तित्व समाप्त कर सरदार वल्लभभाई पटेल के शब्दों में "राजस्थान-निर्माण के राणा प्रताप के स्वप्न को साकार कर दिखाया।" विलय के समय मेवाड़ का क्षेत्रफल लगभग ३२,८७० वर्ग किलोमीटर आबादी २० लाख एवं आय १ करोड़ रुपया थी।

महाराणा भूपालसिंह—मूल्यांकन

महाराणा भूपालसिंह के शासनकाल को दो भागों में बांटा जा सकता है—प्रथम सन् १९२१ से १९३८ तक और द्वितीय सन् १९३९ से १९४८ तक, जब मेवाड़ का भूतपूर्व राजस्थान में विलय हुआ। महाराणा के शासन का पूर्वार्द्ध-काल एकदम अप्रगतिशील और प्रतिगामी रहा। जैसा कि ऊपर बताया गया है इस काल में सामंतवादी तत्त्वों का जोर बढ़ गया। उनके जुल्मों के विरुद्ध किसानों ने अनेकों आंदोलन किए, जिन्हें पूरी शक्ति के साथ दबाने का प्रयत्न किया गया। इस काल में न तो शिक्षा के क्षेत्र में और न अन्य किसी क्षेत्र में कोई विकास हुआ। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि इस समय मेवाड़ राजस्थान की पिछड़ी हुई रियासतों में भी सबसे पिछड़ा हुआ राज्य था। सन् १९३८ में सर टी० विजयराघवाचार्य के प्रधानमंत्री नियुक्त होने के बाद मेवाड़ ने करवट ली। उदयपुर के इंटरमीडियेट कालेज को स्नातक और स्नातकोत्तर कालेज में बदल दिया गया। भीलवाड़ा और चित्तौड़गढ़ जैसे नगरों में हाई स्कूल स्थापित किए गए। विभिन्न जिलों के मुख्यालयों पर मिडिल स्कूल स्थापित किए गए। ग्रामीण क्षेत्रों में भी कई जगह प्राइमरी स्कूलों की स्थापना की गयी। कई स्थानों पर एलोपैथिक और आयुर्वेदिक औषधालय खोले गए। कोटा

1. रिचार्ड सेशन, 'कांग्रेस पार्टी इन राजस्थान', पृ० १०९।

और इंदौर राज्यों के सहयोग से चंबल नदी पर बांध बांधने और विद्युत योजना शुरू करने की कार्यवाही शुरू की गदी। जिलों और तहसीलों का पुनर्गठन किया गया। जाब्ता दीवानी, जाब्ता फौजदारी, ताजीरात हिंद और कानून शहादत आदि अधिनियम लागू किए गए। मेवाड़ में पहली बार कानून का राज्य स्थापित किया गया। प्रजामंडल से पाबंदी हटा कर मेवाड़ में राजनीतिक गतिविधियों के संचालन की छूट दी गयी। महाराणा प्रताप के नाम पर चित्तौड़ में विश्वविद्यालय स्थापित करने और विधान सभा के निर्माण करने के संबंध में आवश्यक कार्यवाही शुरू हुई। प्रजामंडल के प्रतिनिधियों को मेवाड़ के मंत्रिमंडल में शामिल किया गया। अंत में प्रजामंडल के बहुमत वाली सरकार के बनने का भी निर्णय लिया गया। पर इस बीच 'भूतपूर्व राजस्थान' का निर्माण हो गया। महाराणा इस नवनिर्मित राज्य के राजप्रमुख बने। पर यह एक अलग कहानी है।

डूंगरपुर राज्य

राजस्थान के दक्षिणी भाग में स्थित डूंगरपुर और बांसवाडा जिलों का इलाका प्राचीन काल से बागड़ के नाम से विख्यात रहा है। सन् ११७५ के लगभग मेवाड़ के महारावल क्षेमसिंह के ज्येष्ठ पुत्र सामंतसिंह ने परिहारों को हराकर बागड़ पर अपना वर्चस्व कायम किया था।[1] इसी बीच कुछ समय के लिए यह इलाका गुजरात के सोलंकियों के हाथ में चला गया। परंतु १२वीं शताब्दी के अंत तक सामंतसिंह के उत्तराधिकारियों ने बागड़ पर स्थायी रूप से अपना अधिकार जमा लिया। वर्तमान डूंगरपुर की नींव महारावल डूंगरसिंह ने सन् १३५८ में रखी।

सन् १४२६ में डूंगरपुर की गद्दी पर महारावल गोपीनाथ बैठा। उसने अपने राज्य की रक्षा हेतु गुजरात के सुल्तान मोहम्मदशाह और मेवाड़ के महाराणा कुंभा से सफलतापूर्वक लड़ाइयां लड़ीं। उसने राजधानी में एक बड़े जलाशय का निर्माण कराया। इस वंश में महारावल उदयसिंह प्रथम बड़ा पराक्रमी राजा हुआ। उसने १२ हजार सवारों के साथ महाराणा सांगा की सेना में शामिल होकर खानवा के मैदान में बाबर से मोर्चा लिया और वहीं वह वीरगति को प्राप्त हुआ।

बागड़ का विभाजन

उदयसिंह के दो पुत्र थे—पृथ्वीराज और जगमाल। महारावल उदयसिंह ने अपने जीते जी राज्य के दो भाग कर दिये। महारावल के देहांत पर पृथ्वीराज डूंगरपुर की गद्दी पर बैठा और जगमाल बांसवाड़ा का स्वामी बना। पृथ्वीराज ने अपने भाई जगमाल को बांसवाड़ा का राज्य सौंपने से इन्कार कर दिया। परंतु गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह और उदयपुर के महाराणा रतनसिंह के दबाव में उसे बांसवाड़ा पुनः जगमाल को देना पड़ा। महारावल पृथ्वीराज ने मेवाड़ के भावी महाराणा उदयसिंह

१. जगदीशसिंह गहलोत, 'राजपूताने का इतिहास', प्रथम जिल्द, पृ० ३९८-३९९।

को बनवीर से बचाने के लिए उसे पन्ना धाय सहित कुछ समय के लिए अपने यहां शरण दी और वहां से उन्हें सुरक्षित कुंभलगढ़ पहुंचाया।[1]

डूंगरपुर और मुगल

पृथ्वीराज की मृत्यु पर उसका पुत्र आसकरण सन् १५४९ में डूंगरपुर की गद्दी पर बैठा। सन् १५७३ में मुगल सम्राट अकबर की सेना ने मानसिंह के नेतृत्व में डूंगरपुर पर आक्रमण किया। आसकरण भाग कर पहाड़ों में चला गया। परंतु ज्यों ही मानसिंह डूंगरपुर से उदयपुर की ओर गया, आसकरण ने पुनः डूंगरपुर पर अधिकार कर लिया। सन् १५७७ में महारावल आसकरण ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली। अकबर ने महारावल आसकरण को डूंगरपुर का फरमान लिख दिया। आसकरण ने अपने नाम से आसपुर नामक कस्बा बसाया।

मेवाड़ की अधीनता

डूंगरपुर के इतिहास में महारावल पुंजराज अथवा पूंजाजी का नाम आदर के साथ लिया जाता है। उसने मुगल बादशाह शाहजहां की ओर से दक्षिण में कई लड़ाइयां लड़ीं और इज्जत प्राप्त की। उसके शासन-काल में मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह ने डूंगरपुर पर सेना भेजी और उसे लूटा। पूंजाजी के पुत्र गिरधरदास के राज्यकाल में डूंगरपुर मेवाड़ के महाराणा राजसिंह के मातहत आ गया। गिरधरदास के पौत्र खुमानसिंह ने मेवाड़ से स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया। महाराणा अमरसिंह की सेना और डूंगरपुर की सेना के बीच सोम नदी पर युद्ध हुआ। खुमानसिंह हार गया। उसने महाराणा की अधीनता पुनः स्वीकार कर ली और १ लाख ७५ हजार रुपये युद्ध की क्षति के रूप में महाराणा को दिये।

खुमानसिंह की मृत्यु के पश्चात् महारावल रामसिंह सन् १७०२ में डूंगरपुर की गद्दी पर बैठा। उसने औरंगजेब से मिल कर डूंगरपुर का फरमान प्राप्त किया और इस प्रकार मेवाड़ से स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया। परंतु सम्राट मोहम्मदशाह के समय डूंगरपुर पुनः मेवाड़ के मातहत आ गया। रामसिंह ने अपने शासन-काल में गुजरात के कई इलाके अपने राज्य में मिला लिए। महारावल रामसिंह का चौथा पुत्र शिवसिंह सन् १७३० में डूंगरपुर राज्य का उत्तराधिकारी बना। उसके शासन-काल में डूंगरपुर राज्य में व्यापार की तरक्की हुई। उसने कई इमारतें और तालाब बनवाए।

अंग्रेजों की सार्वभौमिकता

महारावल जसवंतसिंह द्वितीय के राज्यकाल में लगभग ६ वर्ष तक डूंगरपुर पर सिंधियों का अधिकार रहा। महारावल ने होलकर की सहायता से पुनः अपना

१. तुजुके बाबरी (बेवरिज), पृ० ५७३।

राज्य प्राप्त किया। वह बराबर मराठों को खिराज देता रहा। ११ दिसंबर, १८१८ को जसवंतसिंह ने राजस्थान के अन्य राज्यों की तरह अंग्रेजों से संधि कर उनकी मातहती स्वीकार की। सन् १८२५ में अंग्रेजों ने जसवंतसिंह को गद्दी से हटा दिया और उसके स्थान पर प्रतापगढ़ के महारावल सावंतसिंह के पौत्र दलपतसिंह को डूंगरपुर की गद्दी पर बैठा दिया। परंतु दलपतसिंह जब प्रतापगढ़ का स्वामी बना तो अंग्रेजों ने डूंगरपुर के छुटभैया सांवली के उदयसिंह को डूंगरपुर की गद्दी पर आसीन किया। उदयसिंह ने गदर के समय अंग्रेजों की बड़ी सहायता की और खेरवाड़ा की छावनी के भीलों को बागी नहीं होने दिया। उदयसिंह सन् १८७७ में लॉर्ड लिट्टन के दरबार में तीर्थयात्रा का बहाना कर शामिल नहीं हुआ। उसने अपने राज्यकाल में डूंगरपुर में पाठशालाओं, अस्पतालों और म्युनिस्पैलिटी की स्थापना की। उसने नगर के तालाब पर अपने नाम से एक सुंदर महल भी बनवाया।

सुशिक्षित राज-परिवार

उदयसिंह के देहांत पर उसका पौत्र विजयसिंह सन् १८८७ में डूंगरपुर की गद्दी पर बैठा। महारावल विजयसिंह के तीन सुयोग्य पुत्र हुए। प्रथम पुत्र लक्ष्मणसिंह सन् १९१८ में डूंगरपुर राज्य का स्वामी बना। दूसरा पुत्र वीरभद्रसिंह ब्रिटिश-भारत में उच्च पद पर आसीन रहा। तृतीय पुत्र नगेन्द्रसिंह (आई० सी० एस०) इस समय हेग में इंटरनेशनल कोर्ट ऑफ जस्टिस के सदस्य हैं।

महारावल लक्ष्मणसिंह के राज्यकाल में डूंगरपुर राज्य में बड़ी प्रगति हुई। उन्होंने राज्य में सड़कें बनवायीं और शिक्षा का प्रसार किया। राजधानी में हाई स्कूल की स्थापना की। मेधावी छात्रों को वजीफा देकर उच्च शिक्षा हेतु राज्य से बाहर भेजा। डूंगरपुर में निर्वाचित म्युनिस्पैलिटी की स्थापना की तथा बाल-विवाह एवं वृद्ध-विवाह पर रोक लगायी। एक छोटे से राज्य के स्वामी होते हुए भी लक्ष्मण-सिंह बरसों तक नरेंद्र-मंडल की स्थायी समिति के सदस्य रहे। उन्होंने अखिल भार-तीय राजनीति में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया।

जन-जागृति

डूंगरपुर भील-बाहुल्य क्षेत्र है। इस क्षेत्र में जन-जागृति की शुरुआत १८वीं शताब्दी के अंत में हुई जबकि महर्षि दयानंद सरस्वती द्वारा दीक्षित डूंगरपुर राज्य के निवासी गोविंद गुरु ने बागड़, मेवाड़, ईडर और गुजरात के भीलों को संगठित किया। सम्पसभा ने बेगार-प्रथा के विरुद्ध आवाज उठायी और भील पंचायत की स्थापना की। सन् १९०३ में गुजरात में मानागढ़ की पहाड़ी नामक स्थान पर सम्पसभा का अधिवेशन हुआ जिसमें भाग लेने के लिए पड़ोसी राज्यों के हजारों भील प्रतिनिधि एकत्रित हुए। गोविंद गुरु के भीलों के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर आस-पास के राजा लोग घबरा गए! उन्होंने ए० जी० जी० से सम्पसभा के विरुद्ध कार्य-वाही करने का आग्रह किया। फलस्वरूप अंग्रेजी सेना ने मानागढ़ की पहाड़ी को घेर

लिया और सम्मेलन में भाग लेने वाले भीलों पर गोलियां चला दीं जिससे लगभग १५०० भील शहीद हुए। स्वयं गोविंद गुरु गिरफ्तार कर लिये गए। उन्हें कई वर्षों के बाद जेल से छोड़ा गया परंतु उनके बागड़-प्रवेश पर पाबंदी लगा दी गयी। गोविंद गुरु ने अपना शेष जीवन दोहद के निकट कंबोई नामक ग्राम में गुजारा।

डूंगरपुर में जन-जागृति के दूसरे चरण की शुरुआत श्री भोगीलाल पंड्या ने की। उन्होंने राज्य में शिक्षा-प्रसार की दृष्टि से बागड़-सेवा मंदिर नामक संस्था की स्थापना की, पर राज्य सरकार ने इसे बंद कर दिया। सन् १९३७-३८ में श्री माणिक्य-लाल वर्मा ने राज्य में राजस्थान-सेवा-संघ के तत्वाधान में भीलों में सेवा-कार्य शुरू किया। परंतु वर्मा जब राजनीतिक गतिविधियों में तल्लीन हो गए तो राजस्थान-सेवा-संघ का कार्य श्री भोगीलाल पंड्या द्वारा स्थापित डूंगरपुर-सेवा-संघ ने अपने हाथ में लिया। इस संस्था ने डूंगरपुर राज्य में कई पाठशालाएं, रात्रिशालाएं, प्रौढ़शालाएं और छात्रालय खोले। सन् १९४२ में राज्य ने इस संस्था द्वारा संचालित पाठशालाओं को अपने हाथ में ले लिया और भाषण एवं लेख आदि पर प्रतिबंध लगा दिया।

प्रजामंडल की स्थापना

श्री भोगीलाल पंड्या ने सन् १९४४ में डूंगरपुर राज्य प्रजामंडल का गठन किया। प्रजामंडल ने राज्य के एकतंत्रीय शासन का विरोध करते हुए जनता से आह्वान किया कि वह राज्य की दमनकारी नीति का डटकर मुकाबला करे। अप्रैल, १९४६ में राज्य ने श्री पंड्या को गिरफ्तार कर लिया। उनके साथ २८ सत्याग्रही भी गिरफ्तार किए गए। राज्य ने प्रजामंडल के प्रमुख कार्यकर्ता श्री हरिदेव जोशी और गौरीशंकर उपाध्याय को देश-निकाला दे दिया। सरकार के इन दमनकारी कदमों के विरोध-स्वरूप राज्य-भर में हड़ताल हो गयी। श्री पंड्या ने जेल में आमरण अन-शन कर दिया। अंत में २७ दिन बाद श्री पंड्या को रिहा कर दिया गया और हरि-देव जोशी और श्री गौरीशंकर उपाध्याय के देश-निकाले के आदेश रद्द कर दिए गए। जुलाई, १९४६ में डूंगरपुर राज्य प्रजामंडल का अधिवेशन हुआ जिसकी अध्यक्षता श्री पंड्या ने की। इस अधिवेशन में सर्वश्री माणिक्यलाल वर्मा, हीरालाल शास्त्री और मोहनलाल सुखाड़िया आदि नेताओं ने भाग लिया। अधिवेशन ने एक प्रस्ताव द्वारा राज्य में उत्तरदायी सरकार बनाने की मांग की।

ब्रिटिश-भारत इस समय आजादी के द्वार पर खड़ा था, पर डूंगरपुर में अभी भी दमन जारी था। जून, १९४७ में राज्य ने डूंगरपुर-सेवा-संघ द्वारा संचालित पूना-वाड़ा और रास्तापाल की पाठशालाएं बंद करने का प्रयत्न किया। श्री पंड्या जी पकड़ लिये गए। उनके साथ जेल में बड़ी ज्यादती की गयी। राज्य के इन कदमों से भीलों में अशांति फैल गयी। हजारों भील डूंगरपुर में एकत्रित हो गए। फलस्वरूप पंड्या जी और उनके साथी जेल से छोड़ दिए गए। कुछ ही समय बाद महारावल ने लोक-प्रिय मंत्रिमंडल-निर्माण की ओर कदम उठाया जिसमें सर्वश्री गौरीशंकर उपाध्याय और भीखाभाई भील प्रजामंडल के प्रतिनिधियों के रूप में शामिल हुए।

डूंगरपुर का विलय

ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत की आजादी की घोषणा के साथ ही साथ महारावल लक्ष्मणसिंह ने समझ लिया कि अब छोटी रियासतों का अस्तित्व नहीं रहेगा। महारावल ने डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ की रियासतों को मिलाकर एक स्व-शासित इकाई बनाने की योजना प्रतिपादित की। इसी बीच रियासती मंत्रालय ने राजस्थान के दक्षिण-पूर्व की रियासतों को मिलाकर संयुक्त राजस्थान राज्य के निर्माण का निर्णय ले लिया। महारावल ने विलय-पत्र पर हस्ताक्षर कर ८०० वर्ष पुराने डूंगरपुर राज्य को संयुक्त राजस्थान में मिलाना स्वीकार कर लिया। वे इस नए राज्य के उप-राजप्रमुख बनाए गए। बृहद् राजस्थान के निर्माण पर उनका यह पद समाप्त हो गया। परंतु वे बराबर राजस्थान की राजनीति में सक्रिय भाग लेते रहे। विलय के समय डूंगरपुर राज्य का क्षेत्रफल ३७८१ वर्ग किलोमीटर और आय २,५०,००० रुपए थी।

बांसवाड़ा राज्य

बांसवाड़ा प्राचीन डूंगरपुर राज्य का भाग रह चुका है। डूंगरपुर के महारावल उदयसिंह ने अपने जीवनकाल में ही डूंगरपुर के दो टुकड़े कर अपने दोनों पुत्र—पृथ्वीराज और जगमाल को बांट दिए थे। पृथ्वीराज डूंगरपुर का और जगमाल बांसवाड़ा का स्वामी बना। सन् १५२७ में उदयसिंह की मृत्यु हो गयी तो जगमाल ने पृथ्वीराज से बांसवाड़ा का इलाका मांगा। पृथ्वीराज ने इनकार कर दिया। इस पर जगमाल ने बागड़ प्रदेश में लूट-खसोट शुरू कर दी। अंत में मेवाड़ के महाराणा रतनसिंह और गुजरात के सुलतान बहादुरशाह ने बीच में पड़कर बांसवाड़ा का राज्य पृथ्वीराज से जगमाल को दिलाया। जगमाल ने सन् १५४७ तक बांसवाड़ा पर राज्य किया। वह बड़ा बहादुर था। वह महाराणा सांगा की ओर से खानवा के युद्ध में बाबर की सेना से लड़ चुका था।

जगमाल के पुत्र महारावल प्रतापसिंह ने सन् १५७७ में अकबर की अधीनता स्वीकार की।[1] इससे मेवाड़ के महाराणा प्रताप बड़े खिन्न हुए। उन्होंने बांसवाड़ा पर आक्रमण कर दिया। सोम नदी पर दोनों राज्यों के बीच युद्ध हुआ जिसमें दोनों पक्षों के अनेक योद्धा काम आए। महारावल प्रतापसिंह का पुत्र मानसिंह सन् १५८० में बांसवाड़ा की गद्दी पर बैठा। उसने अपने राज्यकाल में खांदू के उपद्रवी भीलों का दमन किया परंतु वह स्वयं भी एक भील सरदार के हाथों मारा गया।[2]

महारावल उग्रसेन

मानसिंह के कोई पुत्र नहीं था। इस स्थिति का लाभ उठाकर बागड़ का एक

१. बेवरिज, 'अकबरनामा', भाग २, पृ० २७७।
२. 'नेणसी की ख्यात', भाग १, पृ० ८६।

चौहान सरदार रावत मानसिंह बांसवाड़ा का स्वामी बन बैठा । उदयपुर के महाराणा और डूंगरपुर के महारावल के समझाने पर उसने महारावल जगमाल के पौत्र कल्याणमल के पुत्र उग्रसेन को बांसवाड़ा की गद्दी पर बैठाया । परंतु मानसिंह उग्रसेन को बराबर तंग करता रहा । अंत में जोधपुर के राठौड़ों की सहायता से उग्रसेन ने मानसिंह को भगा दिया और सारे बांसवाड़ा-राज्य पर अपना अधिकार कर लिया । रावत मानसिंह ने मुगल-सेना की सहायता से बांसवाड़ा पर कई बार असफल आक्रमण किए । अंत में मानसिंह धोखे से मारा गया । इस घटना से नाराज होकर मुगल सम्राट अकबर ने बांसवाड़ा पर अपना अधिकार कर लिया । परंतु कुछ ही समय बाद उग्रसेन ने बांसवाड़ा पर पुन: अपना कब्जा कर लिया ।

दोहरी अधीनता

महारावल उग्रसेन के पौत्र महारावल समरसिंह ने पुनः मुगलों की अधीनता स्वीकार की ।[1] मुगलों के बल पर उसने अपने पड़ोसी राज्य प्रतापगढ़ का एक हिस्सा दबा लिया । वह उदयपुर के महाराणा को भी कुछ नहीं समझता था । इससे खिन्न होकर महाराणा जगतसिंह ने अपनी सेना बांसवाड़ा भेजी । महारावल ने जुर्माना देकर महाराणा से अपना पिंड छुड़ाया और उसकी अधीनता स्वीकार की ।[2]

समरसिंह का पुत्र कुशलसिंह सन् १६६० में बांसवाड़ा की गद्दी पर बैठा । उसने मेवाड़ से हुई संधि को चुनौती दी । इस पर मेवाड़ के महाराणा राजसिंह ने बांसवाड़ा के कई गांव जप्त कर लिए । बांसवाड़ा पुनः मेवाड़ की मातहती में आ गया । पर मुगल बादशाह औरंगजेब ने जब मेवाड़ पर आक्रमण किया तो मौका पाकर कुशलसिंह ने मुगल-सम्राट से बांसवाड़ा का फरमान सीधा अपने नाम लिखा लिया ।

कुशलसिंह की मृत्यु के बाद उसके पुत्र अजबसिंह ने औरंगजेब के दरबार में जाना शुरू कर दिया । उससे महाराणा राजसिंह बड़ा क्रुद्ध हुआ । परंतु कुछ समय बाद दोनों के बीच समझौता हो गया । औरंगजेब के वर्षों तक दक्षिण में रहने से बांसवाड़ा का संबंध मुगलों से टूट गया । इस बीच बांसवाड़ा के शासक मराठों से सांठगांठ करते रहे । महारावल बिशनसिंह के समय मेवाड़ ने बांसवाड़ा पर सेना भेज कर उसे पुन: अपनी मातहती स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया । बिशनसिंह उदयपुर-दरबार में आता-जाता रहा और मेवाड़ द्वारा लड़ी जाने वाली लड़ाइयों के लिए सेना, खर्च एवं नजराना देता रहा । बिशनसिंह ने मेवाड़ के महाराणा की मातहती से अलग होने का एक बार प्रयत्न भी किया परंतु महाराणा ने बांसवाड़ा पर चढ़ाई कर दी । मजबूर होकर बिशनसिंह को ३ लाख रुपए का हर्जाना मेवाड़ को देना पड़ा ।

१. बेवरिज, 'तुजुके जहांगीरी', भाग १, पृ ३७६ ।
२. 'राजप्रशस्ति' महाकाव्य, सर्ग ८ ।

अंग्रेजों से संधि

इन दिनों बांसवाड़ा राज्य में मराठे और पिंडारियों की लूट शुरू हो गयी। अत: बिशनसिंह ने मराठों के विरुद्ध अंग्रेजों से संधि करने का प्रयत्न किया पर इसी बीच उसका देहांत हो गया। उसके पुत्र महारावल उम्मेदसिंह ने सन् १८१८ में अंग्रेजों से संधि कर उनकी मातहती स्वीकार कर ली और उन्हें खिराज देना शुरू किया। महारावल भवानीसिंह के समय में बांसवाड़ा में भीलों और लुटरों ने उपद्रव किया परंतु महारावल ने उन्हें दबा दिया।

महारावल लक्ष्मणसिंह की नाबालिगी के समय राज्य का प्रबंध अंग्रेज सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। उसके बालिग होने पर अंग्रेज सरकार ने सन् १८५६ में राज्य का प्रशासन पुन: उसे सौंप दिया। लक्ष्मणसिंह के शासनकाल में सन् १८५७ का गदर हुआ। विद्रोही सरदार तांतिया टोपे ने बांसवाड़ा को घेर लिया। महारावल राजधानी छोड़कर जंगल में चला गया। गदर के शांत होने पर महारावल पुन: बांस-वाड़ा पहुंच गया।

अंग्रेजों का दखल

लक्ष्मणसिंह के समय में कुशलगढ़ का राज्य बांसवाड़ा के मातहत कर दिया गया। पर कुछ समय बाद महारावल और कुशलगढ़ के राव के बीच आपस में कुछ कारणों से ठन गयी। अंत में अंग्रेजों ने दखलंदाजी की। उन्होंने महारावल की तोपों की सलामी १५ से घटाकर ११ कर दी और महारावल को कुशलगढ़ में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने से रोक दिया। इस प्रकार कुशलगढ़ बांसवाड़ा से लगभग स्वतंत्र हो गया। लक्ष्मणसिंह के समय बांसवाड़ा की प्रशासनिक और आर्थिक व्यवस्था दय-नीय हो गयी। इस बहाने से अंग्रेजों ने बांसवाड़ा के प्रशासन पर पुन: अपना अंकुश जमा लिया। लक्ष्मणसिंह का देहांत होने पर उसका पुत्र शंभूसिंह सन् १९०५ में बांस-वाड़ा की गद्दी पर बैठा। उसे सन् १९०८ में राज्य-गद्दी छोड़नी पड़ी। अंग्रेजों ने राज्य-प्रबंध अपने हाथ में ले लिया।

शासन-सुधार और राजस्थान में विलय

बांसवाड़ा के अंतिम शासक चंद्रवीरसिंह सन् १९४४ में गद्दी पर बैठे। उन्होंने उदयपुर के रेवेन्यू कमिश्नर डॉ० मोहनसिंह मेहता को राज्य के दीवान के पद पर नियुक्त किया। डॉ० मेहता प्रगतिशील विचारों के प्रशासक थे। उन्होंने बांसवाड़ा के प्रशासन का आधुनिकीकरण किया एवं आर्थिक व्यवस्था को ठीक किया। इन्हीं दिनों बांसवाड़ा के सामाजिक कार्यकर्ता धूलीजी भाई भावसार के प्रयत्नों से प्रजामंडल की स्थापना हुई। कुछ समय बाद प्रसिद्ध समाजवादी कार्यकर्ता श्री भूपेंद्र त्रिवेदी के बंबई से पुन: अपनी जन्मभूमि बांसवाड़ा लौट आने से प्रजामंडल को बड़ा बल मिला। श्री त्रिवेदी के नेतृत्व में प्रजामंडल ने उत्तरदायी शासन की मांग की। राज्य ने कतिपय शासन-सुधारों की घोषणा की। धारा-सभा के चुनाव हुए। प्रजामंडल ने ४५ में से

३५ सीटों पर विजय प्राप्त की। प्रजामंडल द्वारा नामजद दो सदस्य सर्वश्री मोहन-लाल त्रिवेदी और नटवरलाल भट्ट राज्य के मंत्रिमंडल में शामिल किए गए। पर प्रजामंडल इन सुधारों से संतुष्ट नहीं था। उसने कर-विरोधी आंदोलन चलाया। अंत में महारावल ने प्रजामंडल की बहुमत वाली सरकार बनाने की मांग स्वीकार कर ली। श्री भूपेंद्र त्रिवेदी मुख्यमंत्री बनाए गए। इस सरकार ने १८ अप्रैल, १९४८ को पद ग्रहण किया।

मृत्यु-पत्र पर हस्ताक्षर

घटनाचक्र तेजी से घूमा। भारत-सरकार ने छोटी-छोटी रियासतों को मिला कर बड़े संघ बनाने का निर्णय किया। मार्च, १९४९ में दक्षिण-पूर्व राजस्थान की विभिन्न रियासतों के विलयीकरण द्वारा संयुक्त राजस्थान राज्य के निर्माण का सवाल पैदा हुआ तो महारावल ने प्रस्ताव का विरोध किया। जब राज्य के मुख्य सचिव श्री रामसिंह ने रियासती सचिवालय द्वारा भेजा हुआ विलय-पत्र महारावल के सामने हस्ताक्षर हेतु प्रस्तुत किया तो महारावल आग-बबूला हो गए। पर वे घटनाओं के प्रवाह को नहीं रोक सके। उन्होंने बड़े दर्द के साथ यह कहते हुए विलय-पत्र पर हस्ताक्षर किए कि वे अपने मृत्यु-पत्र (डेथ-वारंट) पर हस्ताक्षर कर रहे हैं। बांस-वाड़ा संयुक्त राजस्थान का अंग बन गया। विलय के पूर्व राज्य की आबादी ३ लाख और क्षेत्रफल ५१७० वर्ग किलोमीटर था।

कुशलगढ़ चीफशिफ

कुशलगढ़ बांसवाड़ा के दक्षिण-पश्चिम में एक ठिकाना (चीफशिफ) था। जोध-पुर के राव जोधाजी के वंशधर रामसिंह ने महारावल उग्रसेन को बांसवाड़ा की गद्दी दिलाने में बड़ी सहायता की थी। तभी से रामसिंह के वंशज बांसवाड़ा के एक प्रमुख जागीरदार बन गए। रामसिंह के पौत्र अखेराज को मुगल-सम्राट औरंगजेब ने कुशल-गढ़ की जागीर प्रदान की। अखेराज के ७वें उत्तराधिकारी ठा० जालिमसिंह को मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह ने सन् १७८३ में राव का खिताब देकर सम्मानित किया। देश में अंग्रेजी राज्य की स्थापना होने के कुछ समय बाद बांसवाड़ा के महा-रावल और कुशलगढ़ के राव के बीच कुछ मसलों को लेकर झगड़ा हो गया। फल-स्वरूप अंग्रेजों ने बांसवाड़ा को कुशलगढ़ में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने से रोक दिया। इस प्रकार कुशलगढ़ बांसवाड़ा से लगभग स्वतंत्र हो गया। पर कुशलगढ़ बांस-वाड़ा को खिराज देता रहा।

कुशलगढ़ में राजनीतिक चेतना फैलाने का श्रेय स्व० श्री दाड़मचंद डोशी को है। श्री डोशी सन् १९४२ के 'भारत छोड़ो' आंदोलन में भाग लेने के कारण लगभग ८ माह साबरमती जेल में रह चुके थे। उन्होंने सन् १९४० में कुशलगढ़ में प्रजामंडल की स्थापना की। सन् १९४६ में श्री पन्नालाल त्रिवेदी प्रजामंडल में शामिल हो गए। वे प्रजामंडल के अध्यक्ष बने। सन् १९४८ में कुशलगढ़ में लोकप्रिय मंत्रिमंडल बना,

उसमें श्री भंवरलाल निगम और श्री वर्द्धमान गाड़िया प्रजामंडल-प्रतिनिधि के रूप में शामिल हुए। सन् १९४९ में संयुक्त राजस्थान का निर्माण हुआ। पर कुशलगढ़ के राव ने विधिवत् राजस्थान में शामिल होने से इनकार कर दिया। इस पर वहां की जनता ने आंदोलन किया। मजबूर होकर कुशलगढ़ भी अन्य राज्यों की भांति संयुक्त राजस्थान में शामिल हो गया। कुशलगढ़ चीफशिफ का क्षेत्रफल ८८० वर्ग किलो-मीटर था।

प्रतापगढ़-देवलिया

वागड़ के उत्तर में कांठल नामक प्रदेश था जो कालांतर में प्रतापगढ़ कहलाया। इस राज्य के संस्थापक रावत सूरजमल थे जो मेवाड़ के महाराणा कुंभा के सौतेले भाई क्षेमकरण के पुत्र थे। महाराणा कुंभा और क्षेमकरण के बीच सदा अनबन रही। इसके बाद महाराणा रायमल और क्षेमकरण के पुत्र सूरजमल के बीच भी वैर-भाव रहा। सूरजमल ने मेवाड़ के बड़ी सादड़ी, नाहरमगरा, गिरवा और मेसरोडगढ़ आदि इलाकों पर कब्जा कर लिया। महाराणा रायमल ने राव सूरजमल के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। भांडू के सुल्तान नादिरशाह ने इस लड़ाई में सूरजमल का साथ दिया। पर सूरजमल हार गया। फलस्वरूप महाराणा ने बड़ी सादड़ी और मैसरोडगढ़ के इलाके सूरजमल से छीन लिए। महाराणा रायमल की मृत्यु के बाद महाराणा सांगा मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। महाराणा सांगा और सूरजमल के बीच सुलह रही। सूरजमल ने सन् १५०५ में मेवाड़ की सीमा पर कांठल का देश भीलों से छीनकर एक नया राज्य स्थापित किया।

बाघसिंह का शौर्य

रावत सूरजमल का देहांत होने पर उसका पुत्र बाघसिंह सन् १५२७ में कांठल की गद्दी पर बैठा। बाघसिंह की मेवाड़ के तत्कालीन महाराणा विक्रमादित्य से अन-बन हो गयी। महाराणा ने बाघसिंह की जागीर पर अधिकार कर लिया। बाघसिंह मालवा के सुल्तान के पास चला गया। सुल्तान ने उसे जागीर प्रदान की। परंतु सन् १५३५ में जब गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की तो बाघसिंह अपनी सेना के साथ महाराणा की मदद के लिए चित्तौड़ पहुंच गया। उसने महाराणा विक्रमादित्य और उसके छोटे भाई उदयसिंह को सुरक्षित स्थान पर भेज दिया और मेवाड़ के सरदारों की सलाह से महाराणा का प्रतिनिधि बनकर बहादुरशाह से लड़ा और युद्ध में काम आया।[1] बाघसिंह की स्वामीभक्ति से प्रसन्न होकर मेवाड़ के महा-राणा ने रावत के वंशजों को 'दीवान' के खिताब से विभूषित किया। तभी से बाघ-सिंह के वंशज 'देवलिया दीवान' के नाम से प्रसिद्ध हो गए।

१. 'हरिभूषण काव्य', पंचम सर्ग, श्लोक ४।

मेवाड़ की सहायता

बाघसिंह के उत्तराधिकारी रावत रायसिंह ने बनवीर को मेवाड़ की गद्दी से हटाकर उदयसिंह को मेवाड़ का उत्तराधिकारी बनाने में सहायता की। रायसिंह की सेवा के उपलक्ष्य में महाराणा ने उसे सादड़ी और घरियावद की जागीर प्रदान की। रायसिंह के मरने पर उसका पुत्र बीका सन् १५५२ में गद्दी पर बैठा। उसकी उदयपुर के महाराणा से अनबन हो गयी। अतः उसे सादड़ी की जागीर छोड़नी पड़ी। उसने मेवाड़ के दक्षिण-पूर्व में मीणों, सोनगरा चौहानों और डोडियों से कई इलाके छीन लिये। कहते हैं कि मीणों के साथ हुए युद्ध में मीणों का सरदार मारा गया। उस की पत्नी देऊ अपने पति के साथ सती हो गयी। देऊ ने चिता पर चढ़ते हुए बीका जी से कहा कि मेरा नाम चिरस्थायी रखा जाए। इस पर बीका ने उस स्थान का नाम देवलिया रखकर सन् १५६१ से उसे अपनी राजधानी बनाया। हल्दीघाटी के युद्ध में बीका ने अपने काका कांदल को महाराणा की सेना में भेजा। कांदल इस युद्ध में मारा गया। कुछ वर्षों बाद बीका ने मुगल-सम्राट अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली। बीका का देहांत सन् १५७८ में हुआ।

मुगलों से संबंध

अपने पूर्वजों की तरह रावत तेजसिंह, भानूसिंह और सिंहाजी मेवाड़ के अधीन रहे। सिंहाजी का पुत्र जसवंतसिंह सन् १६२८ में देवलिया की गद्दी पर बैठा। उस समय दिल्ली में मुगल-सम्राट जहांगीर राज्य करता था। जहांगीर के सेनापति महावतखां की महारावत जसवंतसिंह से मित्रता थी। अतः महारावत जसवंतसिंह ने मेवाड़ से स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया। महाराणा को जब जसवंतसिंह की नीयत का पता चला तो उसने जसवंतसिंह को उदयपुर बुलाया। जसवंतसिंह ससैन्य उदयपुर पहुंचा। महाराणा की सेना ने जसवंतसिंह पर आक्रमण कर दिया। जसवंतसिंह अपने एक हजार सैनिकों के साथ युद्ध में काम आया। मेवाड़ की सेना ने देवलिया पर कब्जा कर लिया।

जसवंतसिंह के मारे जाने पर उसका पुत्र हरिसिंह सन् १६२३ में देवलिया की गद्दी पर बैठा। पर देवलिया इस समय मेवाड़ के अधिकार में था। वह मुगल सेनापति महावतखां की मारफत शाहजहां से मिला। शाहजहां ने खिराज लेकर देवलिया का प्रदेश हरिसिंह को दे दिया। हरिसिंह ने मुगल-सेना की सहायता से देवलिया पर पुनः अधिकार जमा लिया। परंतु सम्राट शाहजहां के अंतिम काल में जब उसके शाहजादों के बीच लड़ाई छिड़ी तो हरिसिंह को फिर से महाराणा की मातहती स्वीकार करनी पड़ी।[1] हरिसिंह का सन् १६७५ में देहांत हो गया।

हरिसिंह के पुत्र प्रतापसिंह ने गद्दी पर बैठने के कुछ समय बाद सन् १६९८ में प्रतापगढ़ नामक नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया। प्रतापसिंह मेवाड़

१. जगदीशसिंह गहलोत, 'राजपूताने का इतिहास', जिल्द १, पृ० ५२३।

की मातहती को बराबर चुनौती देता रहा। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र पृथ्वीसिंह प्रतापगढ़ की गद्दी पर बैठा। वह मुगल सम्राट फर्रुखसियर और महाराणा दोनों की मातहती करता रहा।

प्रतापगढ़ और मराठे

१८वीं शताब्दी की शुरुआत में दिल्ली में मुगल-सल्तनत लड़खड़ाने लग गयी थी। इस समय प्रतापगढ़ पर महारावत गोपालसिंह राज्य करता था। उसके शासनकाल में मल्हारराव होल्कर और बाजीराव पेशवा की सेना ने डूंगरपुर को घेर लिया। इस पर गोपालसिंह ने डूंगरपुर पहुंच कर मराठों और डूंगरपुर के महारावत के बीच समझौता कराया। गोपालसिंह ने एक ओर मेवाड़ और दूसरी ओर पेशवा से मित्रता बनाये रखी।

गोपालसिंह की मृत्यु पर सालमसिंह सन् १७५८ में प्रतापगढ़ की गद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल में मल्हारराव होल्कर ने प्रतापगढ़ पर चढ़ाई की। पर उसे निराश होकर लौटना पड़ा। इंदौर के तुकाजीराव होल्कर ने भी प्रतापगढ़ पर आक्रमण किया और वह भी असफल रहा। परंतु मराठों की लूटपाट से मजबूर होकर महारावत को मल्हारराव होल्कर को खिराज देकर संधि करनी पड़ी। सालमसिंह ने मेवाड़ के अरिसिंह की अपने भाई रतनसिंह द्वारा की गयी बगावत को दबाने में सहायता की। फलतः अरिसिंह ने सालमसिंह को घरियावद इलाका बतौर जागीर में दे दिया और उसे रावत राव की उपाधि से विभूषित किया।[1]

अंग्रेजों से संधि

रावत सावंतसिंह के शासनकाल में प्रतापगढ़ में मराठों के उपद्रव बहुत बढ़ गए। इससे तंग आकर सावंतसिंह ने अंग्रेजों से संधि करने का प्रयत्न किया। कई वर्षों बाद सन् १८१८ में अंग्रेजों से संधि हुई। इस संधि के फलस्वरूप प्रतापगढ़ को अंग्रेजों की मातहती स्वीकार करनी पड़ी और अंग्रेजों को खिराज देना पड़ा। सावंतसिंह को अंग्रेजों के दबाव से राज्य का शासन अपने पुत्र दीपसिंह को सौंपना पड़ा। परंतु दीपसिंह के जुल्मों के कारण अंग्रेजों ने उसे प्रतापगढ़ रियासत के बाहर अछेरा के किले में कैद कर लिया, जहां उसका देहांत हो गया।

गदर और प्रतापगढ़

सावंतसिंह के स्थान पर उसका पौत्र दलपतसिंह सन् १८४३ में प्रतापगढ़ की गद्दी पर बैठा। उसने सन् १८५७ के गदर में अंग्रेजों का साथ दिया और अंग्रेजों की मदद के लिए अपनी सेना भी नीमच भेजी। गदर में प्रतापगढ़ के कई हजार भील प्रसिद्ध क्रांतिकारी तांतिया टोपे से मिल गए। उन्होंने प्रतापगढ़ को लूटने का प्रयत्न

१. 'वीर विनोद', भाग २, पृ० १०६४।

किया। परंतु अंग्रेजी सेना के पहुंच जाने से विद्रोही भाग गए। दलपतसिंह की मृत्यु पर उसका पुत्र उदयसिंह सन् १८६३ में प्रतापगढ़ की गद्दी पर बैठा। वह सन् १८६६ में आगरा में गवर्नर-जनरल के दरबार में शामिल हुआ। उदयसिंह के कोई पुत्र नहीं था। अतः उसकी मृत्यु के बाद सबसे नजदीकी रिश्तेदार रघुनाथसिंह उसका उत्तराधिकारी बना। वह सन् १९११ में दिल्ली दरबार में शामिल हुआ। रघुनाथसिंह ने लगभग ४० वर्ष तक राज्य किया।

जनजागरण और विलय

महारावत रघुनाथसिंह के देहांत पर उसका पौत्र रामसिंह सन् १९२३ में प्रतापगढ़ की गद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल में सन् १९३१ में राज्य के कतिपय उत्साही कार्यकर्ता सर्वश्री मास्टर रामलाल, राधावल्लभ सोमानी और रतनलाल ने खादी और स्वदेशी आंदोलन चलाया जिसके फलस्वरूप उन्हें तीन-तीन माह की सजा दी गयी। सन् १९३६ में प्रसिद्ध हरिजन सेवक स्व० ठक्कर बप्पा प्रतापगढ़ राज्य में आए। सन् १९३८ में ठक्कर बप्पा की प्रेरणा से प्रतापगढ़ के एक नवयुवक अमृतलाल पायक ने हरिजन-सेवा-समिति की स्थापना की। श्री पायक के प्रयत्नों से प्रतापगढ़ में सन् १९४६ में प्रजामंडल की स्थापना हुई। देश के आजाद होने के पश्चात् प्रतापगढ़ में लोकप्रिय मंत्रिमंडल बना, उसमें श्री पायक प्रजामंडल के प्रतिनिधि के रूप में शामिल हुए। अप्रैल, १९४८ में जब संयुक्त राजस्थान बना तो प्रतापगढ़ भी उसका एक अंग बन गया और इस प्रकार प्रतापगढ़ राज्य का ५०० वर्ष पुराना अस्तित्व समाप्त हो गया। प्रतापगढ़ राज्य का क्षेत्रफल २२९५ वर्ग किलोमीटर और आबादी लगभग १ लाख थी।

शाहपुरा राज्य

देश के आजाद होने के पूर्व शाहपुरा मेवाड़ राज्य के उत्तर में एक छोटा-सा राज्य था। इसका क्षेत्रफल १००० वर्ग किलोमीटर और आबादी लगभग ६५ हजार थी। जनसंख्या और क्षेत्रफल की दृष्टि से छोटा होते हुए भी शाहपुरा राज्य का इतिहास कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा है। डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ की तरह शाहपुरा राज्य की स्थापना भी मेवाड़ के शिशौदिया वंश के एक सूरमा ने की थी।

संस्थापक सूरजमल

मेवाड़ राज्य ने महाराणा अमरसिंह के दूसरे पुत्र सूरजमल को पलाना की जागीर दी थी। सूरजमल के मरने पर उसका पुत्र सुजानसिंह पलाना (खराड़) में जागीर का उत्तराधिकारी बना। सुजानसिंह मुगल सम्राट शाहजहां की सेवा में पहुंच गया। शाहजहां ने सन् १६३१ में फूलिया की जागीर मेवाड़ से अलग कर सुजानसिंह को दे दी। इस तरह सुजानसिंह ने १४ दिसंबर, १६३१ को एक नये राज्य की स्थापना की। उसने मुगल सम्राट शाहजहां के नाम पर शाहपुरा नामक एक नया

कस्बा बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया। सुजानसिंह एक वीर योद्धा था। उसने मुगलों की ओर से कंधार की लड़ाई में भाग लिया था। सन् १६५४ में शाहजहां ने मेवाड़ पर आक्रमण किया तो उसने अपने सेनापति सादुल्ला खां के साथ सुजानसिंह को भी मेवाड़ भेजा। इससे मेवाड़ का महाराणा राजसिंह सुजानसिंह से नाराज हो गया। महाराणा ने अवसर पाकर ४ वर्ष बाद शाहपुरा पर चढ़ाई की और शाहपुरा राज्य से २२ हजार रुपये दंड के रूप में वसूल किए। शाहजहां के पुत्रों में दिल्ली की गद्दी के लिए छिड़े संघर्ष में सुजानसिंह दाराशिकोह की ओर से उज्जैन में औरंगजेब की सेना से लड़ा, जहां वह अपने पांच लड़कों सहित मारा गया।

सुजानसिंह के बाद उसके पुत्र स्वर्गीय फतेहसिंह का लड़का हिम्मतसिंह सन् १६५६ में शाहपुरा का उत्तराधिकारी बना। उस समय वह केवल ५ वर्ष का था। अवसर का लाभ उठाकर हिम्मतसिंह के काका दौलतसिंह ने मुगल सम्राट से मिलकर शाहपुरा की गद्दी हथिया ली। दौलतसिंह सदैव मुगल बादशाह की सेवा में रहा। सन् १७६६ में औरंगजेब ने जब मेवाड़ पर चढ़ाई की तो दौलतसिंह भी मुगल सेना के साथ था। वह सन् १६८५ में औरंगजेब की ओर से लड़ता हुआ बीजापुर की लड़ाई में मारा गया।

राजा का खिताब

दौलतसिंह की मृत्यु पर उसका पुत्र भारतसिंह शाहपुरा की गद्दी पर बैठा। वह गोलकुंडा के युद्ध में औरंगजेब की ओर से लड़ा था। उसने बसंतगढ़ का किला फतेह किया। इससे खुश होकर औरंगजेब ने भारतसिंह को 'राजा' का खिताब दिया।[1] भारतसिंह ने मेवातियों को दबाने के लिए मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह की सहायता की। इसके उपलक्ष्य में महाराणा ने उसे सन् १७१८ में काछोला परगना की जागीर प्रदान की। भारतसिंह ने अपने जीवन में कई युद्धों का सफल संचालन किया। परंतु उसके अंतिम समय में उसे उसके पुत्र उम्मेदसिंह ने कैद कर लिया। उसका सन् १७२६ में जेल में ही देहांत हो गया।

मेवाड़ से झगड़ा

उम्मेदसिंह एक महत्त्वाकांक्षी शासक था। उसने मेवाड़ से स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया। उसने मेवाड़ के एक सरदार अमरगढ़ के रावत पर चढ़ाई की और उसे मार डाला। इस पर मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह ने उम्मेदसिंह को उदयपुर बुलाया। पर उम्मेदसिंह नहीं गया। इस पर महाराणा ने उसकी जागीर जब्त कर ली और शाहपुरा पर सेना भेजी। इससे घबराकर उम्मेदसिंह उदयपुर पहुंच गया। उसने महाराणा से माफी मांगी और एक लाख रुपया हर्जाने के रूप में दिया। उम्मेदसिंह ने कई अन्य लड़ाइयों में भी भाग लिया। जोधपुर और बीकानेर राज्यों के बीच

१. कविराज बांकीदास, 'ऐतिहासिक बातें', पृ० १२७५।

हुई लड़ाई में उम्मेदसिंह ने बीकानेर का साथ दिया। वह मेवाड़ और मराठों के बीच उज्जैन की लड़ाई में महाराणा की ओर से लड़ता हुआ मारा गया। उम्मेदसिंह अपने दूसरे पुत्र जालमसिंह को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। इसलिए उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र उदोतसिंह को जहर दिलाकर मरवा दिया। वह उदोतसिंह के पुत्र रायसिंह को भी मरवाना चाहता था। पर इसमें उसे सफलता नहीं मिली। अतः उम्मेदसिंह के मरने पर उदोतसिंह का पुत्र रणसिंह ही शाहपुरा की गद्दी पर बैठा। रणसिंह केवल ६ वर्ष ही राज्य करके मर गया।

रणसिंह के स्थान पर भीमसिंह सन् १७७४ में शाहपुरा की गद्दी पर बैठा। उसने २० वर्ष तक शाहपुरा पर राज्य किया। भीमसिंह की मृत्यु पर उसका पुत्र अमरसिंह सन् १७७६ में शाहपुरा का उत्तराधिकारी बना। इन दिनों उदयपुर में डाकुओं का जोर था। महाराणा जवानसिंह की आज्ञा पाकर अमरसिंह ने डाकुओं का सफाया कर दिया। इससे खुश होकर महाराणा ने उसे 'राजाधिराज' की उपाधि से विभूषित किया।

अंग्रेजों की नाराजगी

अमरसिंह के उत्तराधिकारी माधोसिंह को गद्दी पर बैठते ही अंग्रेजों की नाराजगी का शिकार होना पड़ा। अंग्रेजों ने खिराज के प्रश्न को लेकर राज्य का फूलिया परगना जब्त कर लिया। परंतु एक वर्ष बाद मेवाड़ के महाराणा जवानसिंह ने बीच में पड़कर उक्त इलाका पुनः शाहपुरा को दिला दिया। माधोसिंह सन् १८४५ में मर गया।

माधोसिंह के उत्तराधिकारी जगतसिंह को अपने पिता से शाहपुरा की जो विरासत मिली वह कष्टभरी थी। खजाना खाली था। ठिकाना कर्जदार था। मेवाड़ के महाराणा और अंग्रेज सरकार का खिराज नहीं चुक पाया था। परंतु जगतसिंह के शासनकाल में एक बात अच्छी हुई कि अंग्रेजों ने फूलिया परगना की सनद पूरी तौर पर शाहपुरा को दे दी। उस परगने के दीवानी और फौजदारी अधिकार भी शाहपुरा को मिल गए।

गदर में अंग्रेजों से असहयोग

जगतसिंह के कोई संतान नहीं थी। अतः उसके मरने पर कनैछन जागीरदार का पुत्र लक्ष्मणसिंह सन् १८५३ में शाहपुरा की गद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल में सन् १८५७ का गदर हुआ। गदर के दरमियान विद्रोही सिपाहियों का एक जत्था शाहपुरा पहुंच गया। उनका पीछा करता हुआ उदयपुर का पोलिटीकल एजेंट शावर्स भी शाहपुरा पहुंच गया। परंतु शाहपुरा के राजाधिराज लक्ष्मणसिंह ने अंग्रेजों की कोई मदद नहीं की और न किले के दरवाजे ही खोले।[1]

१. शावर्स, 'ए मिसिंग चैप्टर ऑफ दी इंडियन म्यूटिनी', पृ० ३९-४०।

राज्य का विकास-युग

लक्ष्मणसिंह के कोई पुत्र नहीं था। अतः उसकी मृत्यु पर अंग्रेज सरकार की स्वीकृति से धनोप के नाहरसिंह को सन् १८७० में गद्दी पर बैठाया गया। उस समय राज्य की आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी। नाहरसिंह ने धीरे-धीरे राज्य की हालत में सुधार किया। सिंचाई के लिए तालाब बनवाए। स्कूल और अस्पताल खोले। अंग्रेज सरकार ने राज्य की प्रगति से खुश होकर राजाधिराज को ९ तोपों की सलामी दी। बाद में यह सलामी वंश-परंपरागत कर दी गयी। नाहरसिंह के शासनकाल में शाहपुरा को राज्य का दर्जा प्राप्त हुआ। उसने काबुल के युद्ध में अंग्रेजों की सहायता की। प्रथम विश्व-युद्ध में तो उन्होंने अपने छोटे पुत्र सरदारसिंह को अंग्रेजों की सहायतार्थ फ्रांस भेजा।

नाहरसिंह ने सन् १८८३ में आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानंद सरस्वती को शाहपुरा बुलवाया। वह दयानंद का शिष्य बन गया। उसने अपना एक बगीचा भी आर्यसमाज को भेंट किया। उसके शासनकाल में शाहपुरा आर्यसमाज का एक प्रमुख केंद्र बन गया। राजाधिराज नाहरसिंह ने सन् १९१० में मेवाड़ से स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया। परंतु उसका यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ और उसे महाराणा को १ लाख रुपए दंडस्वरूप देना पड़ा। नाहरसिंह ने लगभग ६२ वर्ष तक शाहपुरा पर शासन किया। उसका देहांत सन् १९३२ में हो गया। नाहरसिंह के शासनकाल को शाहपुरा राज्य के विकास-युग की संज्ञा दी जाए तो अनुपयुक्त नहीं होगा।

राष्ट्रीय आंदोलन

नाहरसिंह के देहांत के पश्चात् उसका पुत्र उम्मेदसिंह शाहपुरा की गद्दी का उत्तराधिकारी बना। इन दिनों ब्रिटिश-भारत में चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन की हवा राजस्थान की रियासतों में भी प्रवेश करने लग गयी थी। सुप्रसिद्ध बिजोलिया आंदोलन के कर्मठ नेता श्री माणिक्यलाल वर्मा मार्च, १९३८ में अजमेर से मेवाड़ में प्रजामंडल की स्थापना हेतु एक साईकिल पर सवार होकर निकल पड़े थे। वे जब शाहपुरा से होकर गुजरे तो वहां उन्हें सर्वश्री रमेशचंद्र ओझा और लादूराम व्यास जैसे उत्साही नवयुवक मिल गए। वर्मा से प्रभावित होकर इन नवयुवकों ने शाहपुरा राज्य में प्रजामंडल की स्थापना की। सन् १९४२ में जब सारे देश में 'भारत-छोड़ो' आंदोलन छिड़ा तो शाहपुरा भी पीछे नहीं रहा। प्रजामंडल ने राजाधिराज को अंग्रेजी सत्ता से संबंध तोड़ने का अल्टीमेटम दिया। फलस्वरूप प्रजामंडल के कार्यकर्ता सर्वश्री ओझा, व्यास और लक्ष्मीनारायण कांटिया गिरफ्तार कर लिये गए। उन्हें पहले ढीकोला और फिर अजमेर जेल में रखा गया। शाहपुरा के प्रोफेसर गोकुल लाल असावा ब्रिटिश सरकार द्वारा पहले ही अजमेर जेल में बंद कर दिए गए थे। प्रो० असावा का कार्य-क्षेत्र उन दिनों अजमेर ही था।

लगभग १६ माह बाद प्रजामंडल के कार्यकर्ताओं की रिहाई हुई। सन् १९४६

में ब्रिटिश सरकार द्वारा जनता के प्रतिनिधियों को सत्ता सौंपने की प्रक्रिया शुरू की गयी। शाहपुरा के राजाधिराज ने भी जमाने की हवा को पहचाना। उन्होंने राज्य के निवासी प्रसिद्ध विधानवेत्ता प्रो० गोकुल लाल असावा की अध्यक्षता में राज्य का एक नया विधान तैयार करने के लिए एक समिति नियुक्त की। इसके साथ ही उम्मेदसिंह ने जनवरी, १९४७ में राज्य का भार अपने पुत्र सुदर्शनदेव को सौंप कर 'वानप्रस्थ' ग्रहण कर लिया। उम्मेदसिंह एक प्रगतिशील शासक था। उसके शासन-काल में राज्य में शिक्षा का व्यापक प्रसार हुआ। उसने हाईस्कूल की स्थापना की और शाहपुरा में म्युनिसिपल बोर्ड बनाया।

आदर्श विधान

प्रो० असावा की अध्यक्षता में नियुक्त समिति ने अपना कार्य कुछ ही महीनों में समाप्त कर विधान का एक मसविदा राजाधिराज को प्रस्तुत कर दिया। इस विधान की मुख्य-मुख्य बातें ये थीं :

१. राजाधिराज केवल वैधानिक शासक के रूप में कार्य करेंगे।
२. राज्य में पूर्ण बालिग मताधिकार के आधार पर निर्वाचित विधान सभा की स्थापना की जाएगी।
३. मंत्रिमंडल विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होगा।
४. राज्य में स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना होगी।
५. राज्य के नागरिकों को सभी मूलभूत नागरिक अधिकार प्राप्त होंगे और इन अधिकारों के संबंध में उत्पन्न विवादों का निर्णय न्यायपालिका करेगी।
६. विधान सभा के चुनाव होने तक एक अंतरिम सरकार की स्थापना होगी जिसमें जनता के प्रतिनिधि होंगे।

लोकप्रिय सरकार

राजाधिराज सुदर्शनदेव ने समिति द्वारा तैयार किए गए विधान को पूर्ण रूप से स्वीकार कर उसे १४ अगस्त, १९४७ को राज्य में लागू कर दिया। साथ ही उन्होंने शाहपुरा प्रजामंडल और प्रदेश के जन-नेताओं की सलाह से शाहपुरा राज्य प्रजामंडल के तत्कालीन अध्यक्ष प्रो० गोकुल लाल असावा के नेतृत्व में दो सदस्यों की लोकप्रिय सरकार की स्थापना की। असावा मंत्रिमंडल के दूसरे सदस्य थे—मेजर दौलतसिंह।

कहने की आवश्यकता नहीं कि औंध के बाद शाहपुरा ही एक देशी राज्य था जहां सर्वप्रथम जनतांत्रिक एवं पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना हुई। उस समय शाहपुरा का यह विधान भारत के छोटे और बड़े सभी देशी राज्यों के लिए आदर्श और प्रभावशाली विधान माना जाता था।

इन दिनों भारत में तेजी से राजनीतिक परिवर्तन हो रहे थे। भारत के विभाजन

और उसकी स्वतंत्रता के साथ ही साथ देशी राज्यों के विषय में ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार के साथ उनका 'सार्वभौम सत्ता' का संबंध समाप्त हो जाएगा और उन्हें देश की स्वतंत्र सरकार के साथ नये सिरे से अपने संबंध स्थापित करने होंगे। इस नीति को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने जून, १९४७ में गृहमंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में 'स्टेट्स डिपार्टमेंट' की स्थापना की। ५ जुलाई, १९४७ को सरदार पटेल ने देशी राज्यों से अपील की कि वे केवल तीन विषयों को लेकर स्वतंत्र भारत के संघ में शामिल हो जाएं। ये विषय थे—सुरक्षा, विदेशों से संबंध और आवागमन के साधन। इस अपील के फलस्वरूप हैदराबाद, काश्मीर एवं जूनागढ़ को छोड़कर १५ अगस्त, १९४७ तक भारत की भौगोलिक सीमा में स्थित समस्त देशी राज्य भारतीय संघ में शामिल हो गए। शाहपुरा उन राज्यों में था जो बिना किसी आनाकानी के तुरंत भारतीय संघ में शामिल हो गया।

रियासती विभाग से टक्कर

१५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। इसके साथ ही साथ भारत सरकार के स्टेट्स डिपार्टमेंट ने देशी राज्यों की उपयुक्त प्रशासकीय इकाइयां बनाने और उसके जनतंत्रीकरण का कार्य हाथ में लिया। इस संबंध में भारत सरकार ने एक निर्णय यह लिया कि छोटे राज्यों को या तो पड़ोसी राज्यों में मिला दिया जाए या भौगोलिक दृष्टि से संभव हो तो ऐसे राज्यों के संघ बना दिए जाएं। शाहपुरा राज्य के संबंध में भारत सरकार ने निर्णय लिया कि उसे केंद्र शासित अजमेर प्रांत में मिला दिया जाए। तदनुसार स्टेट्स डिपार्टमेंट ने २६ सितंबर, १९४७ को शाहपुरा के राजाधिराज सुदर्शनदेव को आमंत्रित किया और उन्हें सलाह दी कि वे शाहपुरा को अजमेर प्रांत में शामिल करने के लिए स्वीकृति दें। सुदर्शनदेव ने स्टेट्स डिपार्टमेंट के प्रतिनिधि से कहा कि वे केवल वैधानिक शासक हैं अतः इस संबंध में कोई सहमति देने के पूर्व वे अपने प्रधानमंत्री प्रो० असावा और उनके मंत्रिमंडल से सलाह लेना चाहेंगे। स्टेट्स डिपार्टमेंट एक छोटी-सी रियासत के राजा से इस प्रकार का उत्तर सुनने को तैयार नहीं था। स्टेट्स डिपार्टमेंट के प्रवक्ता ने धमकी-भरे शब्दों में सुदर्शनदेव से कहा कि यदि उन्होंने स्टेट्स डिपार्टमेंट के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया तो इसके भयंकर परिणाम होंगे। प्रवक्ता ने इस संबंध में अलवर के महाराणा के विरुद्ध की गयी कार्यवाही का जिक्र किया। सुदर्शनदेव ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया कि भरतपुर महाराजा पर गंभीर फौजदारी आरोप हैं जबकि उन्होंने ऐसा कोई अपराध नहीं किया है कि जिसके आधार पर अलवर महाराजा की तरह उन्हें भी जेल में भेज दिया जाए। यह कह कर सुदर्शनदेव स्टेट्स डिपार्टमेंट से बाहर निकल आए और अपने निवास-स्थान पर पहुंच कर प्रो० असावा आदि जन-प्रतिनिधियों को स्टेट्स डिपार्टमेंट के साथ हुई अपनी वार्ता से परिचित कराया।[1] प्रो० असावा और

१. श्री सुदर्शनदेव एवं प्रो० असावा से लेखक की मुलाकात के आधार पर।

राजस्थान के अन्य नेता अविलंब ही स्टेट्स डिपार्टमेंट के सचिव श्री मेनन और गृह-मंत्री सरदार पटेल से मिले और उनसे कहा कि शाहपुरा राज्य की मंशा किसी भी तरह भारत सरकार की नीति का विरोध करना नहीं है। वे तो केवल यह चाहेंगे कि राजस्थान के छोटे राज्यों का एक संघ बना दिया जाए और शाहपुरा को भी उस संघ में विलय कर दिया जाए। जन-प्रतिनिधियों की भावनाओं का आदर करते हुए सरदार पटेल ने शाहपुरा और किशनगढ़ राज्यों को अजमेर प्रांत में मिलाने का निर्णय रद्द कर दिया और इसके साथ ही राजस्थान के छोटे राज्यों का एक संघ बनाने का निर्णय लिया।

शाहपुरा राजस्थान में शामिल

२५ मार्च, १९४८ को राजपूताना के दक्षिण-पूर्व में स्थित बांसवाड़ा, बूंदी, डूंगरपुर, झालावाड़, किशनगढ़, कोटा, प्रतापगढ़, शाहपुरा और टोंक राज्यों को शामिल कर 'युनाइटेड स्टेट ऑफ राजस्थान' की स्थापना हुई। इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग १६ हजार वर्गमील, जनसंख्या २४ लाख और वार्षिक आय २ करोड़ रुपए थी। शीघ्र ही मेवाड़ राज्य ने इस नये राज्य में शामिल होने की इच्छा प्रकट की, जिसे भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया। १८ अप्रैल, १९४८ को उदयपुर में राजस्थान-संघ के दूसरे संस्करण का पंडित जवाहरलाल नेहरू के हाथों उद्घाटन हुआ। लगभग एक वर्ष बाद जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर के राज्य भी राजस्थान में शामिल हो गए और ३० मार्च, १९४९ को सरदार पटेल द्वारा बृहद राजस्थान का उद्घाटन हुआ, जिसकी राजधानी जयपुर बनी और राज्यप्रमुख बने जयपुर के महाराजा मानसिंह। उदयपुर के महाराणा भूपालसिंह इस नये राज्य के 'महा राज्यप्रमुख' बनाए गए। इस प्रकार शाहपुरा जैसे छोटे राज्य का ही नहीं वरन् राजपूताना के बड़े राज्यों का भी कुछ ही महीनों के अंदर सदा के लिए अस्तित्व समाप्त हो गया। विधि का विधान विचित्र है। शाहपुरा के तत्कालीन नरेश सुदर्शनदेव की स्टेट्स डिपार्टमेंट से हुई मुठभेड़ के फलस्वरूप घटना-चक्र ने ऐसा मोड़ लिया कि राजस्थान का इतिहास ही बदल गया।

तीसरा अध्याय

राठौड़ वंश

जोधपुर-मारवाड़

राठौड़ों की उत्पत्ति

मरु-देश, मरु-मंडल अथवा मारवाड़ को एक राजनीतिक इकाई का स्वरूप देने का श्रेय राठौड़ों को है। राठौड़ों की उत्पत्ति के संबंध में भिन्न-भिन्न किंवदंतियां प्रचलित हैं। भाटों ने उन्हें दैत्यराज हरिण्यकश्यप की संतान बताया है तो 'जोधपुर राज्य की ख्यात' में उनकी उत्पत्ति गौतम ऋषि के आशीर्वाद से राजा बृहदबल की रीढ़ से होना लिखा है। दयालदास की ख्यात के अनुसार ब्रह्मा के वंशज मल्लराय ने राटेश्वरी देवी के नाम पर अपने पुत्र का नाम रठवर रखा और इसी रठवर के वंशधर रठवर या राठौड़ कहलाए। प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड इस संबंध में अपनी कोई राय रहीं बना पाए। ओझा जी के अनुसार राठौड़ चंद्रवंशी थे। परंतु राठौड़ स्वयं अपने को सूर्यवंशी बताते हैं। राठौड़ों को प्राचीन ग्रंथों में राष्ट्रकूट अथवा राष्ट्रवर भी बताया गया है।

राव सीहा

मारवाड़ के राठौड़ों का मूल पुरुष राव सीहा था। सीहा कन्नौज के स्वामी जयचंद का वंशधर था या बदायूं के राठौड़ चंद्र का, इस बारे में इतिहासकारों में गहरा मतभेद है। नैणसी की ख्यात, जोधपुर राज्य की ख्यात और दयालदास की ख्यात में सीहा को जयचंद का वंशधर बताया है। परंतु सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने उक्त ख्यातों से पूर्ण असहमति जाहिर करते हुए सीहा को बदायूं के राठौड़ चंद्र का वंशधर बताया है। ओझा जी के अनुसार कन्नौज का स्वामी जयचंद राठौड़ न होकर गाहड़वाल था। कुछ भी हो, राव सीहा ने सन् १२४३ के लगभग मारवाड़ की धरती पर अपना पैर जमाया। वह पाली के निकट बीठ गांव में सन् १२७३ में एक लड़ाई में मारा गया।

सीहा के उत्तराधिकारी

राव सीहा के उत्तराधिकारी राव आस्थान ने पाली और भाद्राजूण के इलाके पर अपना अधिकार जमाया। उसने गुहिलों को हराकर खेड़ के इलाके को भी अपने राज्य में मिलाया। आस्थान की मृत्यु के बाद उसका पुत्र धूहड़ खेड़ का स्वामी बना। वह राठौड़ों की कुलदेवी चक्रेश्वरी (नागणेची) की मूर्ति कर्नाटक से लाया। वह सन् १३०९ में तिगड़ी गांव के निकट मृत्यु को प्राप्त हुआ। धूहड़ के उत्तराधिकारी रायपाल ने महबे पर अधिकार किया। रायपाल के वंशधरों में रावल मल्लीनाथ नामक एक प्रतापी शासक हुआ। उसने महबे पर तुर्कों के आक्रमण को असफल किया। उसने महबे का समस्त इलाका अपने अधिकार में कर रावल की उपाधि धारण की।

राव चूंडा

मल्लीनाथ का भाई वीरमदेव महबे के पास गुढ़ा में रहता था। उसकी मल्लीनाथ के पुत्रों से नहीं पटी। अतः वह जोहियावाटी में चला गया। जोहियों ने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया। परंतु वीरमदेव ने जोहियों के साथ अच्छा सलूक नहीं किया। अंत में वह सन् १३८३ में जोहियों के हाथों मारा गया। वीरमदेव के पांच पुत्र थे। उसका एक पुत्र चूंडा (चामुंडराय) बड़ा वीर था। उसने अपने बाहुबल और चातुर्य से मंडोवर पर अधिकार कर लिया। वह राव कहलाने लगा। जोधपुर राज्य की ख्यात के अनुसार चूंडा ने नागोर, सांभर तथा डीडवाना पर अधिकार जमा लिया। नैणसी के अनुसार कुछ समय बाद चूंडा ने पूंगल पर चढ़ाई कर भाटी राणगदे को मार दिया। राणगदे के पुत्रों ने चूंडा से बदला लेने के लिए सुल्तान के शासक की सहायता से नागोर पर आक्रमण किया। राव चूंडा इस लड़ाई में मारा गया। चूंडा अपने जीते जी ही अपने पुत्र कान्हा को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर चुका था। उसका बड़ा पुत्र रणमल चित्तौड़ के महाराणा लाखा की सेवा में चला गया। कान्हा थोड़े समय जिंदा रहा। उसके बाद उसका भाई सत्ता गद्दी पर बैठा। उसने लगभग १२ वर्ष तक मंडोवर पर राज्य किया। पर अंत में रणमल ने मेवाड़ के महाराणा की सहायता से मंडोवर पर कब्जा कर लिया।[1]

रणमल और जोधा

रणमल ने अपना अधिकतर समय मेवाड़ के महाराणा की सेवा में बिताया। रणमल की बहन हंसबाई का विवाह महाराणा लाखा से हुआ था। इस कारण लाखा के पुत्र महाराणा मोकल और मोकल के पुत्र महाराणा कुंभा के समय में मेवाड़ दरबार में रणमल का दबदबा बढ़ गया था। इससे मेवाड़ के सामंतों में रणमल के प्रति ईर्ष्या होना स्वाभाविक था। फलस्वरूप महपा पंवार आदि सामंतों ने षड्यंत्र कर

१. 'वीर विनोद', भाग २, पृ० ८०४।

रणमल को मरवा दिया। रणमल का पुत्र जोधा भाग निकला और मंडोवर पहुंच गया। मेवाड़ के सामंतों ने जोधा का पीछा किया और मंडोवर पर अपना अधिकार कर लिया।[1] जोधा निराश होकर बीकानेर के निकट कावनी ग्राम में जा रहा। उसने मंडोवर पर अधिकार करने के काफी प्रयत्न किए पर उसे सफलता नहीं मिली। अंत में सन् १४५३ के लगभग महाराणा कुंभा की दादी और रायमल की बहन हंसबाई के प्रयत्नों से जोधा पुनः मंडोवर का स्वामी बन सका। जोधा ने मेवाड़ से अपना वैर मिटाने के लिए अपनी पुत्री शृंगारदेवी का विवाह भी कुंभा के पुत्र रायमल से कर दिया।[2]

जोधा द्वारा राज्य का विस्तार

जोधा ने १२ मई, १४५९ को चिड़ियाटूंक पहाड़ी पर एक नये गढ़ की नींव रखी और उसकी तलहटी में अपने नाम से जोधपुर नगर बसाया। उसने मंडोवर के स्थान पर जोधपुर को अपनी राजधानी बनाया। सन् १४६८ में महाराणा कुंभा का ज्येष्ठ पुत्र उदयसिंह अपने पिता को मारकर मेवाड़ का स्वामी बना। इससे मेवाड़ के सामंत उदयसिंह के विरोधी बन गए। राव जोधा को अपने पक्ष में करने की दृष्टि से उदयसिंह ने अजमेर और सांभर का इलाका उसे दे दिया। जोधा ने छापरद्रोणपुर पर अधिकार कर उसे अपने पुत्र बीदा को सौंप दिया। परंतु कुछ समय बाद ही छापरद्रोणपुर के भूतपूर्व स्वामी बरसल ने दिल्ली के सुल्तान बेहलोल लोदी की सहायता से पुनः द्रोणपुर पर अधिकार कर लिया। जोधा बीदा से किसी कारण अप्रसन्न हो गया था। अतः बीदा अपने भाई बीका के पास बीकानेर चला गया। बीका जोधा का सबसे बड़ा पुत्र था। उसने अपने चाचा कांधल और नापा सांखला की सहायता से जांगलू के इलाके पर अधिकार कर बीकानेर के स्वतंत्र राज्य की नींव डाली। अपने भाई को मदद देने के लिए बीका ने द्रोणपुर पर आक्रमण कर बरसल को हरा दिया। बीदा का पुनः द्रोणपुर पर अधिकार हो गया। बीदा अब जोधपुर की बजाय बीकानेर का सामंत बन गया और छापरद्रोणपुर जोधपुर की बजाय बीकानेर राज्य का अंग बन गया।

बीका ने जोधपुर का दावा उठाया

राव जोधा का भाई कांधल सुल्तान बेहलोल लोदी के सूबेदार सारंग खां के हाथों मारा गया। इस पर जोधा और बीका ने मिलकर सारंग खां पर चढ़ाई की। झांसला में दोनों सेनाओं के बीच युद्ध हुआ, जिसमें सारंग खां की हार हुई। वह स्वयं इस युद्ध में मारा गया। इस अवसर पर राव जोधा ने बीका से मांग की कि लाडनू उसे दे दिया जाए। उसने बीका से यह वचन भी मांगा कि जोधपुर राज्य के लिए वह

१. 'प्राचीन जैन लेख संग्रह', भाग २ —राणकपुर का शिलालेख, सं० १४९६।
२. जगदीशसिंह गहलोत, 'राजपूताने का इतिहास', प्रथम भाग, पृ० २१०।

अपना दावा नहीं करे। बीका ने अपने पिता की दोनों बातें स्वीकार कर लीं, पर साथ ही प्रार्थना की कि जोधा का बड़ा पुत्र होने के नाते उसे उसके तख्त, ढाल, तलवार, छत्र और राज्य-चिह्न आदि पूजनीय वस्तुएं मिलनी चाहिए। जोधा ने इन वस्तुओं को देना स्वीकार कर लिया।[1] राव जोधा का ६ अप्रैल, १४८९ को देहांत हो गया। जोधा के कई पुत्र थे, जिनमें बीका सबसे बड़ा था। परंतु उसने जोधपुर राज्य पर अपना दावा उठा लिया था। अतः राव जोधा की मृत्यु पर उसका दूसरा पुत्र सातल गद्दी पर बैठा। सातल ने जैसलमेर और पुंगल के रावल तथा नागोर के खान की सहायता से बीकानेर पर चढ़ाई की। परंतु उसे अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली। सातल अजमेर के सूबेदार मल्लू खां के साथ सन् १४९२ में कोसाणे के निकट हुई लड़ाई में मारा गया। राव सातल के कोई पुत्र नहीं था अतः उसके स्थान पर उसका भाई सूजा जोधपुर की गद्दी पर बैठा।

बीकानेर और जोधपुर में ठनी

सूजा के गद्दी पर बैठते ही राव बीका ने अपने पिता से लिये हुए वादे के अनुसार सूजा से राज्य-चिह्न आदि पूजनीय वस्तुएं मांगी। सूजा ने देने से इनकार कर दिया। इस पर बीका ने जोधपुर पर आक्रमण कर दिया। जोधपुर की सेना बीका का सामना नहीं कर सकी। अतः सूजा की माता हाड़ी जसमांदे बीच में पड़ी। उसने बीका को राज्य-चिह्न आदि पूजनीय वस्तुएं दिलाकर झगड़े का अंत करवाया।[2]

राव गांगा

राव सूजा सन् १५१५ में मर गया। उसका ज्येष्ठ पुत्र बाघा सूजा के जीते जी ही मर गया था। बाघा के दो पुत्र थे—वीरम और गांगा। परंपरा के अनुसार वीरम जोधपुर की गद्दी का हकदार था। परंतु वहां के सामंतों ने गांगा को जोधपुर की गद्दी पर बैठाया और वीरम को सोजत की जागीर प्रदान की। गांगा ने सन् १५२७ की खानवा की लड़ाई में बाबर के विरुद्ध राणा सांगा का साथ दिया। इसके कुछ समय बाद मौका पाकर गांगा ने वीरम से सोजत छीन लिया। तदनंतर सूजा के एक अन्य पुत्र शेखा ने गांगा से जोधपुर छीनने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप गांगा और शेखा के बीच लड़ाई ठन गयी। बीकानेर के राव जेतसी ने गांगा का साथ दिया। लड़ाई में शेखा हार गया और वह स्वयं भी मारा गया। राव गांगा को उसके पुत्र मालदेव ने ९ मई, १५३२ को झरोखे से गिरा कर मार दिया।

राव मालदेव

राव गांगा के स्थान पर मालदेव २१ मई, १५३२ को जोधपुर की गद्दी पर

१. 'दयालदास की ख्यात', जिल्द २, पृ० १८।
२. वही, पृ० २१-२२।

बैठा । गद्दीनशीनी के समय मालदेव के अधिकार में केवल जोधपुर और सोजत के परगने ही थे । मालदेव ने गद्दी पर बैठते ही भाद्राजूण पर चढ़ाई की और वहां के स्वामी वीरा को मार कर भाद्राजूण पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया । इस समय अजमेर पर मेहता के वीरमदेव का अधिकार था । मालदेव ने वीरमदेव से अजमेर देने को कहा । पर वीरमदेव ने इस पर ध्यान नहीं दिया । इस पर मालदेव ने सेना भेज कर मेडता पर अधिकार कर लिया । थोड़े समय बाद मालदेव ने अजमेर पर भी अपना अधिकार कर लिया । वीरमदेव भाग कर शेरशाह सूरी के पास चला गया । सन् १५३६ में मालदेव ने नागोर के खान पर चढ़ाई की और उसे मार कर नागोर पर अपना प्रभुत्व जमा लिया । सन् १५३८ में मालदेव ने सिवाणा पर भी कब्जा कर लिया ।

इस समय मेवाड़ में महाराणा विक्रमादित्य राज्य करता था । उसे महाराणा रायमल के पुत्र पृथ्वीराज के अनौरस पुत्र बनवीर ने मार दिया और वह स्वयं मेवाड़ के सिंहासन पर बैठ गया । बनवीर विक्रमादित्य के पुत्र उदयसिंह को भी मौत के घाट उतारना चाहता था । परंतु स्वामीभक्त पन्ना धाय ने उसे सुरक्षित स्थान पर कुंभलमेर पहुंचा दिया । मेवाड़ के कतिपय सामंतों ने उदयसिंह को वहीं मेवाड़ का महाराणा घोषित कर दिया । सन् १५४० में उदयसिंह ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की और बनवीर को परास्त कर अपने पैतृक राज्य पर अधिकार कर लिया । इस लड़ाई में राव मालदेव ने उदयसिंह का साथ दिया और उसकी सहायतार्थ अपनी सेना भेजी ।

मेवाड़ पर चढ़ाई

मेवाड़ के झाला जेतसिंह की पुत्री स्वरूपदेवी का विवाह मालदेव से हुआ था । मालदेव ने एक बार स्वरूपदेवी की छोटी बहन को देख लिया । मालदेव ने उससे शादी करने के लिए जेतसिंह से आग्रह किया । जेतसिंह को यह प्रस्ताव उचित नहीं लगा । उसने चुपचाप अपनी पुत्री की शादी महाराणा उदयसिंह से कर दी । इस घटना का पता चलने पर मालदेव ने एक बड़ी सेना महाराणा के विरुद्ध भेजी । कुंभलमेर के निकट मेवाड़ और मारवाड़ की सेना का मुकाबला हुआ । मालदेव हार गया ।[1]

हुमायूं के साथ वादाखिलाफी

इस समय दिल्ली में मुगल सम्राट हुमायूं शासन करता था । उसे अफगान सरदार शेरखां ने हरा दिया । शेरखां शेरशाह सूर के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा । हुमायूं की हार का समाचार सुनकर मालदेव ने हुमायूं को सहायता के पैगाम भेजे । हुमायूं मारवाड़ की सीमा के निकट पहुंच गया । परंतु शेरशाह के डर से

१. गो० ही० ओझा, 'जोधपुर राज्य का इतिहास', प्रथम खंड, पृ० २९०-९१ ।

मालदेव ने हुमायूं को न केवल सहायता देने से इनकार कर दिया अपितु उसका पीछा भी किया। हुमायूं अमरकोट की ओर चला गया।

मालदेव की करारी हार

सन् १५४२ में मालदेव ने बीकानेर के स्वामी जेतसिंह को मारकर बीकानेर पर अधिकार कर लिया। शेरशाह की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर बीकानेर का एक मंत्री शेरशाह के पास पहुंचा और उससे सहायता की प्रार्थना की। इस समय मेडता के स्वामी वीरम ने भी शेरशाह से मारवाड़ पर चढ़ाई करने का आग्रह किया। शेरशाह ने एक बड़ी फौज के साथ मारवाड़ की ओर कूच किया। मार्ग में बीकानेर का राव कल्याणमल ससैन्य शेरशाह के साथ हो गया। इधर मालदेव भी एक बड़ी सेना लेकर शेरशाह से मुकाबला करने के लिए चल पड़ा। दोनों सेनाएं एक माह तक एक दूसरे के आमने-सामने जमी रहीं। परंतु दोनों में से किसी ने भी युद्ध के लिए पहल नहीं की। शेरशाह समझ गया कि इन रेतीले टीबों में मालदेव से टक्कर लेना जोखिम-भरा है। इन परिस्थितियों में शेरशाह ने वापस लौटने का मनसूबा बनाया। परंतु सुरक्षित स्थान के अभाव में यह कदम भी उसे खतरे से भरा लगा। उसे एक तरकीब सूझी। उसने मारवाड़ी भाषा में मालदेव के सामंतों की ओर से फर्जी पत्र लिखवाए जिनमें उन्होंने शेरशाह को सूचित किया कि उनकी मालदेव से दुश्मनी है अतः वे युद्ध के समय मालदेव को बादशाह (शेरशाह) के सुपुर्द कर देंगे। इन फर्जी पत्रों को शेरशाह ने ऐसी जगह डलवा दिया जहां मालदेव की उन पर नजर पड़ गयी। मालदेव वहमी तो था ही। उसे अपने सरदारों पर संदेह हो गया। शीघ्र ही उसने पीछे हटना शुरू कर दिया। मालदेव का यह निर्णय उसके सामंत कूपा को मान्य नहीं हुआ। वह अपने १० हजार सैनिकों सहित शेरशाह की सेना पर टूट पड़ा। गिरी नामक स्थान पर कूपा और शेरशाह की सेना के बीच घमासान युद्ध हुआ। पर अंत में राठौड़ हार गए। परंतु युद्ध के दौरान एक बार तो शेरशाह को विजय की आशा छूट चुकी थी। यही कारण था कि युद्ध में विजय होने के बावजूद फरिस्ता के अनुसार शेरशाह कह बैठा कि "एक मुट्ठी भर बाजरे के लिए मैं हिंदुस्तान का साम्राज्य खो देता।" शेरशाह मे अजमेर और जोधपुर पर अधिकार कर लिया। उसने जेतसिंह के पुत्र राव कल्याणमल को बीकानेर का और वीरम को मेडता का स्वामी बना दिया। मालदेव भाग कर सिवाना के पहाड़ी किले में चला गया। सौभाग्य से थोड़े समय बाद ही शेरशाह कालिंजर की लड़ाई में एक आकस्मिक दुर्घटना के कारण मर गया। उसके मरते ही मालदेव ने जोधपुर पर पुनः अपना कब्जा कर लिया।

लड़ाइयों का लंबा सिलसिला

सन् १५५० में मालदेव ने पोकरन और फलोदी पर अधिकार कर लिया। उसने जैसलमेर पर भी आक्रमण किया परंतु वह वहां के किले पर अधिकार नहीं कर सका। राठौड़ों की सेना जैसलमेर के रावल से पेशकशी के रुपए लेकर लौट आयी।

उसने सन् १५५२ में बलोचों से जालोर प्राप्त किया। परंतु थोड़े दिनों बाद उसे जालोर का किला खाली करना पड़ा। इसी बीच मेडता के स्वामी वीरमदेव का देहांत हो गया। उसके स्थान पर जयमल मेडता का स्वामी बना। मालदेव ने मेडता पर चढ़ाई की। जयमल की प्रार्थना पर बीकानेर के राव कल्याणमल ने अपनी सेना जयमल की सहायतार्थ भेजी। मालदेव हार गया और अपनी सेना सहित भाग गया।

अकबर जब दिल्ली के सिंहासन पर बैठा, उस समय मेवात (अलवर) पर शेरशाह के एक गुलाम हाजी खां का अधिकार था। अकबर ने उस पर आक्रमण किया तो हाजी खां भाग कर अजमेर चला गया था। राव मालदेव ने उसके विरुद्ध सेना भेजी। हाजी खां ने मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह और बीकानेर के राव कल्याणमल से सहायता मांगी। दोनों ने हाजी खां के सहायतार्थ सेना भेजी। मालदेव की सेना डरकर बिना लड़े ही अजमेर से लौट गयी। इसी बीच महाराणा और हाजी खां के बीच एक वेश्या रंगराय पातर को लेकर ठन गयी। महाराणा ने हाजी खां पर चढ़ाई कर दी। हाजी खां ने मालदेव से सहायता की प्रार्थना की। मालदेव को महाराणा से बदला लेने का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया। मालदेव ने अपनी सेना हाजी खां के सहायतार्थ भेज दी। दोनों पक्षों में हरमाड़ा नामक स्थान पर युद्ध हुआ। महाराणा की सेना हार गयी। मेडता के स्वामी जयमल ने इस लड़ाई में महाराणा का साथ दिया था। अतः महाराणा के हारते ही मालदेव ने जयमल का पीछा किया। मालदेव का मेडता पर अधिकार हो गया और जयमल को मेडता छोड़ना पड़ा।

हार पर हार एवं मृत्यु

सन् १५५८ में मुगल सम्राट अकबर ने अजमेर और जेतारण पर अधिकार कर लिया। सन् १५६२ में मुगल सेना ने मेडता पर आक्रमण किया। राठौड़ों और मुगलों में मेडता के किले के लिए भयंकर युद्ध हुआ। परंतु मुगल सेना के सामने राठौड़ टिक नहीं सके। मेडता पर शाही सेना का अधिकार हो गया। मालदेव ७ नवंबर, १५६२ को मर गया।

मालदेव का व्यक्तित्व

अबुलफजल के अनुसार मालदेव भारत के शक्तिशाली राजाओं में से एक था। वह बड़ा वीर, महत्त्वाकांक्षी और स्वभाव से उग्र था। जब वह मारवाड़ की गद्दी पर बैठा तो उसके अधिकार में केवल मात्र जोधपुर और सोजत के परगने थे। उसने अपने बाहुबल से न केवल भाद्राजूण, मेडता, अजमेर और सोजत के परगनों पर अधिकार किया परंतु बीकानेर जैसे बड़े राज्य को भी मारवाड़ का अंग बना लिया। परंतु मालदेव में संगठन-शक्ति की कमी थी। वह बड़ा शक्की-मिजाज था और इसी कारण उसने गिरी नामक स्थान पर शेरशाह को परास्त करने का अवसर खो दिया। उसके जीते-जी ही उसकी विशाल सल्तनत लड़खड़ाने लग गयी और

मारवाड़ की शक्ति क्षीण हो गयी ।

चंद्रसेन पर संकट के बादल

राव मालदेव के २५ रानियां और १२ पुत्र थे। मालदेव पर झाली रानी स्वरूपदे का बड़ा प्रभाव था। स्वरूपदे के २ पुत्र थे—उदयसिंह और चंद्रसेन। स्वरूपदे ने मालदेव से कहकर अपने छोटे पुत्र चंद्रसेन को युवराज बनवाया। मालदेव का सबसे बड़ा पुत्र राम था, जिसे उसने निर्वासित कर दिया था। उससे छोटा उदयसिंह था, जिसे मालदेव ने फलोदी की जागीर दे दी। इन परिस्थितियों में मालदेव की मृत्यु होने पर चंद्रसेन मारवाड़ की गद्दी पर बैठा। चंद्रसेन ने गद्दी पर बैठते ही अपने सामंतों को नाराज कर दिया। उन्होंने मालदेव के पुत्र राम, उदयसिंह तथा रायमल में से प्रत्येक को मारवाड़ की गद्दी पर अधिकार करने के लिए आमंत्रित किया। चंद्रसेन के उक्त तीनों भाइयों ने मारवाड़ के विभिन्न इलाकों में लूटमार मचाना शुरू कर दिया। चंद्रसेन ने सेना भेजी। राम और रायमल भाग गए। उदयसिंह की लोहावट नामक स्थान पर चंद्रसेन से मुठभेड़ हुई। उदयसिंह हार कर अपनी जागीर फलोदी चला गया। चंद्रसेन ने फलोदी पर आक्रमण किया। परंतु मारवाड़ के सामंतों ने दोनों भाइयों को समझा-बुझा कर शांत कर दिया। इधर राम बादशाह अकबर के पास चला गया और उससे सहायता की प्रार्थना की। मुगल सेना मई, १५६४ में जोधपुर पर चढ़ आयी। इस बार भी मारवाड़ के सामंतों ने राम को सोजत का परगना दिलवाकर दोनों भाइयों के बीच सुलह करायी।

राठौड़ राज्य छिन्न-भिन्न

सन् १५६५ में अकबर ने हसनकुली खां के नेतृत्व में एक बार और जोधपुर के विरुद्ध सेना भेजी। चंद्रसेन जोधपुर का किला खाली कर भाद्राजूण चला गया। पीछे राठौड़ों ने मुगलों का सामना किया पर वे काम आए। जोधपुर पर मुगलों का अधिकार हो गया। इन दिनों चंद्रसेन का बड़ा भाई उदयसिंह फलोदी से बादशाह की सेवा में चला गया। सन् १५७० में अकबर अजमेर से चल कर नागोर पहुंचा। इस अवसर पर चंद्रसेन उसकी सेवा में उपस्थित हुआ। उसने बादशाह की अधीनता भी स्वीकार कर ली। इसके बावजूद मुगल सेना ने चंद्रसेन से भाद्राजूण छीन लिया। अकबर ने बीकानेर के रायसिंह को जोधपुर का सूबेदार बना दिया। चंद्रसेन सिवाणे की ओर चला गया। परंतु मुगल सेना उसका पीछा करती रही। सिवाणा भी चंद्रसेन के हाथ से निकल गया। कुछ समय बाद चंद्रसेन ने कुछ रकम लेकर पोकरन का इलाका जैसलमेर के रावल को सौंप दिया। अंत में चंद्रसेन सिरोही, डूंगरपुर होता हुआ कोटड़ा पहुंच गया। सन् १५७९ में राठौड़ सामंतों के बुलावे पर चंद्रसेन पुनः मारवाड़ आया। उसने सोजत पर अधिकार कर लिया। कुछ समय बाद चंद्रसेन ने अजमेर के आसपास लूटमार व उपद्रव करना शुरू कर दिया। उसकी शाही सेना से मुठभेड़ हो गयी। चंद्रसेन हार कर पीपलोद के पहाड़ों में जा रहा था और वहीं

जनवरी, १५८१ में उसका देहांत हो गया। मारवाड़ खालसे कर लिया गया। इस प्रकार राव मालदेव द्वारा स्थापित एक बड़ी सल्तनत एक बार तो पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो गयी।

राव चंद्रसेन की मृत्यु के समय उसका ज्येष्ठ पुत्र रायसिंह अकबर की सेवा में था और उससे छोटा उग्रसेन हाड़ाओं की सेवा में बूंदी में था। अतः मारवाड़ के सामंतों ने चंद्रसेन के तीसरे पुत्र आसकरण को चंद्रसेन का उत्तराधिकारी बनाया। इसी बीच उग्रसेन बूंदी से आ गया। उसने आसकरण को मार दिया। इस पर आसकरण के एक सामंत ने वहीं उग्रसेन का काम तमाम कर दिया। अतः सामंतों ने रायसिंह को चंद्रसेन की गद्दी संभालने के लिए आमंत्रित किया। बादशाह ने उसे सोजत का परगना देकर मारवाड़ के लिए विदा किया। सन् १५८३ में बादशाह ने रायसिंह को शिशोदिया जगमाल की सहायतार्थ सिरोही के राव सूरतान से लड़ाई करने भेजा। रायसिंह इस लड़ाई में मारा गया।

मोटा राजा उदयसिंह

चंद्रसेन की मृत्यु के तीन वर्ष बाद तक जोधपुर पर मुगलों का सीधा अधिकार रहा। अकबर ने अगस्त, १५८३ में जोधपुर चंद्रसेन के बड़े भाई उदयसिंह को सौंप दिया, जो कई वर्षों से अकबर के दरबार में रहता था। अकबर ने इस अवसर पर उसे राजा का खिताब भी दिया। उदयसिंह मारवाड़ और मुगल दरबार में 'मोटा राजा' के नाम से प्रसिद्ध था।

उदयसिंह ने अकबर की ओर से कई लड़ाइयां लड़ीं जिसमें मुजफ्फर के साथ अहमदाबाद की ओर कल्ला के साथ सिवाणा की लड़ाई भी शामिल है। उदयसिंह ने सन् १५८७ में अपनी पुत्री मानाबाई का विवाह शाहजादे सलीम से किया। अकबर ने सन् १५९२ में उदयसिंह को लाहोर की व्यवस्था के लिए नियुक्त किया। वह लाहोर में ही ११ जुलाई, १५९५ को मर गया। उसके एक पुत्र किशनसिंह ने किशनगढ़ का राज्य स्थापित किया।

राजा सूरसिंह

उदयसिंह के १६ पुत्र थे। परंतु अकबर ने उसके एक छोटे पुत्र सूरसिंह को उदयसिंह का उत्तराधिकारी नियुक्त किया। सूरसिंह ने सन् १५९७ में जैसलमेर के रावल भीम को हराया। अपने पिता की भांति उसने अकबर की ओर से कई लड़ाइयां लड़ीं। बादशाह ने सूरसिंह की वीरता से प्रसन्न होकर उसे एक नक्कारा भी दिया। कुछ समय बाद बादशाह ने जेतारण और मेडता के कुछ इलाके प्रदान किए। सन् १६०५ में अकबर का देहांत हो गया। उसके स्थान पर उसका पुत्र सलीम जहांगीर के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। जहांगीर ने उसे गुजरात के सूबेदार लालमियां का दमन करने भेजा। सूरसिंह ने लालमियां को हराकर माडव पर अधिकार कर लिया। तदनंतर जहांगीर ने सूरसिंह को खानखाना के साथ दक्षिण में

तैनात किया । इस अवसर पर उनका मनसब भी बढ़ाया गया । जहांगीर ने सन् १६१३ में जब खुर्रम को मेवाड़ पर चढ़ाई करने भेजा तो उसके साथ सूरसिंह भी गया था । जहांगीर ने सूरसिंह की सेवाओं से प्रसन्न होकर सन् १६१५ में उसका मनसब ५ हजार कर दिया । बादशाह ने फलोदी का परगना बीकानेर से छीन कर उसे दे दिया । सन् १६१८ में बादशाह ने दक्षिणियों को दबाने के लिए सूरसिंह को पुनः दक्षिण भेजा । वहीं बुरहानपुर के निकट महकर के थाने में ७ सितंबर, १६१९ में उसका देहांत हो गया ।

सूरसिंह का व्यक्तित्व

सूरसिंह वीर और योग्य शासक था । उसने अपनी बुद्धिमत्ता से जोधपुर पर पुनः अधिकार प्राप्त किया । उसने अपनी पुत्री मनभावती की शादी जहांगीर के पुत्र शाहजादा परवेज से कर मुगल दरबार से गहरा नाता जोड़ लिया । उसने अकबर और जहांगीर से बड़ा सम्मान प्राप्त किया । उसने जोधपुर में अपने नाम से सूरसागर तालाब और जोधपुर का परकोटा बनवाया ।

महाराजा गजसिंह

सूरसिंह के स्थान पर उसका पुत्र गजसिंह ५ अक्टूबर, १६१९ को मारवाड़ की गद्दी पर बैठा । उस समय वह बुराहनपुर में था । वहां से वह महकर के थाने पर गया । कुछ ही दिनों बाद निजाम की सेना ने महकर में शाही सेना को घेर लिया, परंतु गजसिंह ने उसे हरा दिया । उसने दक्षिणियों से कई युद्ध किए । बादशाह ने गजसिंह की बहादुरी से प्रसन्न होकर उसे 'दलथंभन' का खिताब दिया और उसके मनसब में भी वृद्धि की । मई, १६२३ में शाहजादा खुर्रम ने जहांगीर के विरुद्ध विद्रोह कर दिया । इस पर जहांगीर ने शाहजादे परवेज को खुर्रम को दबाने के लिए भेजा । बादशाह ने परवेज के साथ गजसिंह को भी भेजा । दोनों सेनाओं के बीच पाटन के पास हाजीपुर नामक स्थान पर युद्ध हुआ । इस लड़ाई में उदयपुर के महाराणा ने खुर्रम का साथ दिया था । उसने अपने पुत्र भीम के नेतृत्व में खुर्रम की सहायता के लिए एक सेना भी भेजी । लड़ाई में खुर्रम की हार हुई । भीम मारा गया । इस लड़ाई में गजसिंह की सेवाओं से प्रसन्न होकर जहांगीर ने उसे मेडता का परगना प्रदान किया । इन्हीं दिनों गजसिंह के पुत्र अमरसिंह को बादशाह ने नागोर की जागीर भी दी ।

२८ अक्टूबर, १६२७ को जहांगीर का देहांत हो गया । जहांगीर की बेगम नूरजहां के छोटे पुत्र शहरयार को गद्दी पर बैठाना चाहती थी । पर नूरजहां का भाई आसफ खां अपने दामाद खुर्रम को बादशाह बनाना चाहता था । आसफ खां ने शहरयार को लाहोर में हरा दिया और उसे अंधा कर कैद भी कर लिया । उधर खुर्रम ने दक्षिण के सूबेदार खानजहां लोधी को सहायता के लिए आमंत्रित किया । परंतु खानजहां ने खुर्रम की सहायता करने के बजाय जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह

और जोधपुर के राजा गजसिंह की सहायता से मांडू पर अधिकार कर लिया। परंतु शहरयार की हार का समाचार सुनकर खुर्रम के हौसले बढ़ गए। वह अजमेर होता हुआ आगरा पहुंचा और वहां शाहजहां के नाम से ४ फरवरी, १६२८ को दिल्ली की गद्दी पर बैठा। इधर जयसिंह और गजसिंह ने खानजहां का साथ छोड़ दिया। जयसिंह शाहजहां की सेवा में उपस्थित हो गया और गजसिंह जोधपुर चला गया।

कुछ समय बाद गजसिंह शाहजहां दरबार में उपस्थित हुआ। शाहजहां ने जहांगीर द्वारा गजसिंह को दिए गए मनसब बहाल कर दिए। थोड़े समय बाद गजसिंह ने शाही सेना की सहायता से आगरे के आस-पास लूट-पाट करने वाले भोमियों को दबाया। सन् १६२६ में शाहजहां एक बड़ी सेना लेकर खानजहां को दबाने के लिए दक्षिण की ओर रवाना हुआ। इस युद्ध में गजसिंह ने भी शाही सेना की एक टुकड़ी का संचालन किया था। पर गजसिंह को खानजहां के हाथों हार खानी पड़ी। गजसिंह ने सन् १६३१ में आसफ खां के नेतृत्व में बीजापुर की लड़ाई में भी भाग लिया था। इस लड़ाई में भी शाही सेना को सफलता नहीं मिली।

गजसिंह के तीन पुत्र थे—अमरसिंह, जसवंतसिंह और अचल सिंह। यद्यपि अमरसिंह सबसे बड़ा पुत्र था, परंतु गजसिंह ने अनारा नामक पासवान के बहकावे में आकर अमरसिंह को राज्याधिकार से वंचित कर देश से निकाल दिया। अमरसिंह शाहजहां के दरबार में उपस्थित हुआ, जहां थोड़े दिनों में ही उसकी वीरता से प्रसन्न होकर शाहजहां ने उसे राव का खिताब और नागोर की जागीर प्रदान की। जनवरी, १६३८ में शाहजहां ने ईरान के शाह के विरुद्ध कंधार पर सेना भेजी। इस लड़ाई में गजसिंह और अमरसिंह दोनों ही शामिल थे। कंधार से वापस लौटने के बाद गजसिंह आगरे में बीमार पड़ गया। उसने शाहजहां से प्रार्थना की कि उसके पुत्र जसवंतसिंह को मारवाड़ का उत्तराधिकारी बनाया जाए। बादशाह ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। गजसिंह ६ मई, १६३८ को मर गया।

महाराजा जसवंतसिंह

जसवंतसिंह अपने पिता की मृत्यु के समय स्वयं की शादी के लिए बूंदी गया हुआ था। वहां जब उसने गजसिंह की मृत्यु का समाचार सुना तो वह शाहजहां की आज्ञानुसार सीधा शाही दरबार में उपस्थित हुआ। बादशाह ने उसे जोधपुर का स्वामी स्वीकार कर टीके में जोधपुर, सोजत, फलोदी, मेडता और सिवांना आदि इलाके दिए। १३ जनवरी, १६३६ को बादशाह ने अपनी वर्षगांठ के अवसर पर उसे जेतारण का परगना प्रदान किया। जसवंतसिंह ३० अप्रैल, १६४० को जोधपुर में औपचारिक रूप से मारवाड़ की गद्दी पर बैठा। सन् १६४२ में ईरान के शाह शफी ने कंधार पर आक्रमण के लिए अपनी सेना भेजी। शाहजादा द्वारा राजा जसवंतसिंह मिर्जा राजा जयसिंह एवं बूंदी के राव शत्रुशाल के साथ कंधार के लिए रवाना हुआ। इसी बीच शाह शफी मर गया। उसकी मृत्यु के साथ ही उसकी कंधार-आक्रमण की योजना भी समाप्त हो गई। शाही सेना कंधार से लौट आयी।

ईरान के नये शाह अब्बास ने सन् १६४८ में पुनः कंधार पर आक्रमण किया। शाहजादा औरंगजेब के नेतृत्व में शाही सेना ने मुलतान की ओर प्रस्थान किया। जसवंतसिंह भी शाही सेना में शामिल था। ईरान की सेना ने कंधार पर अधिकार कर लिया। शाही सेना कंधार पर चार माह तक घेरा डाले रही परंतु उसे सफलता नहीं मिली। अंत में शाहजादा औरंगजेब अपनी बची-खुची सेना के साथ बादशाह की सेवा में लौट आया। सन् १६५० में जसवंतसिंह ने बादशाह से पोकरण इलाके का फरमान लिखा लिया। पोकरण जैसलमेर के रावल रामचंद्र के अधिकार में था। रामचंद्र ने पोकरण जसवंतसिंह को सौंपने से इनकार कर दिया। इससे बादशाह नाराज हो गया। उसने जैसलमेर का फरमान सबलसिंह भाटी के नाम कर दिया। स्थिति का लाभ उठाकर जसवंतसिंह ने पोकरण पर अधिकार कर लिया।

शाहजादों के बीच उत्तराधिकार की लड़ाई

सन् १६५७ में शाहजहां बीमार हो गया। जब यह समाचार उसके शाहजादों के पास पहुंचा तो उनमें से प्रत्येक हिंदुस्तान का राज्य प्राप्त करने की तैयारी करने लगा। सबसे पहले शाहजादा सूजा बंगाल से एक बड़ी सेना लेकर रवाना हुआ। उसकी बनारस के पास शाही सेना से मुठभेड़ हुई। सूजा भाग गया। उसने बादशाह से क्षमा मांगी। बादशाह ने उसे माफ कर उसकी बंगाल की जागीर बहाल कर दी। दूसरा शाहजादा औरंगजेब दक्षिण में था। वह भी राज्य-प्राप्ति के लिए एक बड़ी सेना तैयार कर रहा था। उसने शाहजादे मुराद को भी अपनी ओर मिला लिया। फरवरी, १६५८ में औरंगजेब बुरहानपुर पहुंचा और वहां से २१ मार्च को राजधानी की ओर अग्रसर हुआ। बादशाह ने महाराजा जसवंतसिंह और कासिमखां को मुराद और औरंगजेब का मुकाबला करने के लिए भेजा। धर्मातपुर नामक स्थान पर दोनों दलों के बीच युद्ध हुआ। शाही सेना हार गयी। जसवंतसिंह स्वयं घायल हो गया। उसे युद्ध से बाहर लाया गया। वह सोजत होता हुआ जोधपुर पहुंच गया। 'वीर विनोद' के अनुसार जसवंतसिंह के जोधपुर पहुंचने पर हाड़ी रानी ने उसके लिए किले के फाटक खोलने से मना कर दिया। उसने कहा कि "मेरा पति लड़ाई से भाग कर आ नहीं सकता। वह तो कोई दूसरा व्यक्ति है। अतः चिता तैयार कराओ। मैं सती होऊंगी।" बाद में समझाने-बुझाने पर रानी ने किले के द्वार खोलने की इजाजत दी और महाराजा को अंदर आने दिया।

इधर औरंगजेब ग्वालियर पहुंचा और वहां युद्ध की तैयारी करने लगा। मई, १६५८ में औरंगजेब ससैन्य आगरे की ओर बढ़ा। धौलपुर के पास समूरगढ़ नामक स्थान पर शाही सेना शाहजादा दारा के नेतृत्व में औरंगजेब की सेना से भिड़ गयी। दारा की हार हुई और वह वहां से दिल्ली होता हुआ लाहोर की ओर चला गया। औरंगजेब आगरा पहुंचा। उसने आगरे के किले पर अधिकार कर शाहजहां को कैद कर लिया और अपने को बादशाह घोषित कर दिया। जसवंतसिंह ने दारा का साथ देने के लिए औरंगजेब से माफी मांगी। औरंगजेब ने उसे क्षमा कर दिया।

इसके थोड़े दिनों बाद जसवंतसिंह बादशाह के दरबार में उपस्थित हो गया। बादशाह ने उसका मनसब बहाल कर दिया।

जसवंतसिंह का विद्रोह

इन्हीं दिनों औरंगजेब को खबर मिली कि सूजा बंगाल से एक बड़ी सेना के साथ चल पड़ा है और बनारस तक पहुंच गया है। औरंगजेब जसवंतसिंह को साथ लेकर एक बड़ी सेना के साथ सूजा से मुकाबला करने रवाना हुआ। कोड़ा के पास दोनों सेनाएं एकत्रित हो गयीं। इस अवसर पर जसवंतसिंह सूजा से मिल गया। उसने शाहजादे मोहम्मद सुल्तान की सेना को बड़ा नुकसान पहुंचाया। वह लूटमार करता हुआ अपने देश की ओर चला गया। फिर भी औरंगजेब शाह सूजा को हराने में सफल हो गया। इधर जसवंतसिंह ने दारा को पत्र भेजा और उसे सहायता का आश्वासन दिया। यह खबर जब औरंगजेब को मिली तो वह अजमेर की ओर प्रस्थान कर गया, जहां मिर्जा राजा जयसिंह ने बीच में पड़कर जसवंतसिंह और औरंगजेब के बीच सुलह करायी। जसवंतसिंह ने अपने अपराध के लिए बादशाह से क्षमा-याचना की। बादशाह ने उसका खिताब और जागीर बहाल कर दी।

शिवाजी से लड़ाई

सन् १६५९ में बादशाह ने जसवंतसिंह को गुजरात का सूबेदार बनाया। पर सन् १६६३ में उसे हटा दिया। इन दिनों दक्षिण में मराठों का जोर बढ़ रहा था। शिवाजी ने कई मुगल थानों पर अपना अधिकार कर लिया था। औरंगजेब ने जसवंतसिंह को शिवाजी पर आक्रमण करने भेजा। जसवंतसिंह ने कुंडाणा नामक स्थान पर मोर्चा लगाया। वह ६ माह तक कुंडाणा के गढ़ पर घेरा डाले रहा, पर वह गढ़ पर अधिकार करने में सफल नहीं हो सका। अंत में दोनों पक्षों में लड़ाई हुई। जसवंतसिंह को सफलता नहीं मिली। फलस्वरूप बादशाह ने जसवंतसिंह को अपने दरबार में बुला लिया। सन् १६६७ में औरंगजेब ने शाहजादा मोअज्जम और जसवंतसिंह को शिवाजी को दबाने भेजा। मिर्जा राजा जयसिंह ने भी दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। परंतु मार्ग में बुरहानपुर में उसका देहांत हो गया। जसवंतसिंह ने औरंगाबाद पहुंचकर शिवाजी और बादशाह के बीच संधि करा दी। संधि की शर्तों के अनुसार शिवाजी ने अपने पुत्र शम्भाजी को शाहजादे की सेवा में औरंगाबाद भेज दिया। बादशाह ने शिवाजी को 'राजा' की उपाधि प्रदान की।

जसवंतसिंह के अंतिम दिन

सन् १६६७ में जसवंतसिंह ने औरंगाबाद में रहते समय किसी कारण अप्रसन्न होकर अपने मंत्री और प्रसिद्ध इतिहासकार मुहणोत नैणसी को कैद कर लिया। सन् १६७० में नैणसी को कैद की हालत में औरंगाबाद से मारवाड़ भेजा गया। परंतु नैणसी ने राह में ही आतमहत्या कर ली। उसी वर्ष जसवंतसिंह दूसरी बार गुजरात

का सूबेदार नियुक्त किया गया। सन् १६७३ में बादशाह ने जसवंतसिंह को काबुल भेजा। उसने पेशावर पहुंचकर पठानों पर नियंत्रण किया। वह ८ नवंबर, १६७८ को जमरूद में मर गया।

जोधपुर पर मुगल आधिपत्य

महाराजा जसवंतसिंह के दो पुत्र उसके जीवनकाल में ही मर गये थे। उसकी मृत्यु के समय उसका कोई पुत्र जिंदा नहीं था। परंतु उसकी दो रानियां गर्भवती थीं। औरंगजेब को जोधपुर को खालसा करने का अच्छा अवसर मिल गया। उसने जोधपुर पर अधिकार करने के लिए आवश्यक व्यवस्था कर दी। कुछ समय बाद औरंगजेब ने जोधपुर का राज्य जसवंतसिंह के बड़े भाई अमरसिंह के पड़पौत्र इंदरसिंह को दे दिया पर वह राज्य में व्यवस्था कायम नहीं कर सका, अतः कुछ ही महीनों बाद बादशाह ने उसे हटा दिया।

उधर जसवंतसिंह की मृत्यु हो जाने पर उसकी गर्भवती रानियां जमरूद से रवाना होकर लाहौर पहुंच गयीं, जहां १९ फरवरी, १६७९ को दोनों रानियों के पुत्र उत्पन्न हुए। इनका नाम अजीतसिंह और दलथंभन रखा गया। पुत्रों के जन्म की सूचना बादशाह को भिजवा दी गयी जो उस समय अजमेर में था। बादशाह को यह सब राठौड़ों का नाटक लगा। उसे विश्वास नहीं हुआ कि जसवंतसिंह की मृत्यु के बाद उसके पुत्र पैदा हुए हैं। बादशाह ने मनसब आदि प्रदान करने के बहाने से नवजात 'राजकुमारों' को दिल्ली बुलवाया। बादशाह दिल्ली पहुंच गया। दो दिन बाद राठौड़ सरदार भी नवजात राजकुमारों के साथ दिल्ली पहुंच गए, जहां वे कृष्णगढ़ की हवेली में ठहरे। राठौड़ों ने पाया कि बादशाह की नीयत साफ नहीं है। अतः राठौड़ दुर्गादास अपने कुछ विश्वासपात्र साथियों के साथ दोनों राजकुमारों को लेकर मारवाड़ की ओर चला गया। दलथंभन राह में ही मर गया। उधर बादशाह ने जसवंतसिंह की रानियों और पुत्रों को नूरगढ़ में पहुंचाने का हुक्म दिया। पर दुर्गादास राजकुमारों को लेकर पहले ही मारवाड़ की ओर रवाना हो गया था। शाही सेना के लोगों ने रानियों के निवास-स्थान को जा घेरा। राठौड़ वीर और रानियां इस छोटी-सी लड़ाई में काम आए।

मेवाड़ द्वारा अजीतसिंह को प्रश्रय

इस समय सारे मारवाड़ पर बादशाह का अधिकार हो गया था। अतः दुर्गादास अजीतसिंह को उदयपुर के महाराणा राजसिंह के पास ले गया। महाराणा ने अजीतसिंह को आश्रय दिया और साथ ही उसे केलवे का पट्टा प्रदान किया। जब औरंगजेब को यह पता लगा तो उसने महाराणा को अजीतसिंह को सौंपने के लिए लिखा। महाराणा ने बादशाह की मांग को ठुकरा दिया।

औरंगजेब की मेवाड़ पर चढ़ाई

बादशाह महाराणा से पहले ही नाराज था। बादशाह किशनगढ़ की राज-

कुमारी चारुमति से शादी करना चाहता था। परंतु महाराणा ने चारुमति को ब्याह लिया। महाराणा ने श्रीनाथजी की मूर्ति को अपने राज्य में स्थापित कर दिया। इसके अलावा उसने बादशाह द्वारा जजिया कर लगाने का भी कड़ा विरोध किया था। इन परिस्थितियों में अजीतसिंह को आश्रय देने से महाराणा से बादशाह की नाराजगी और भी बढ़ गई। उसने ३ सितंबर, १६७६ को एक बड़ी सेना के साथ मेवाड़ पर चढ़ाई की। उसने शाहजादे अकबर को भी महाराणा पर चढ़ाई करने के लिए रवाना किया। इतनी बड़ी सेना का सामना करना महाराणा के लिए संभव नहीं था। अतः महाराणा उदयपुर खाली कर अपने सामंतों के साथ पहाड़ों में चला गया। मुगलों ने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। वे देवारी तक पहुंच गए। पर पूरी शक्ति लगाने के बावजूद मुगलों को मेवाड़-अभियान में सफलता नहीं मिली।

अक्तूबर, १६८० में महाराणा राजसिंह का देहांत हो गया और उसके स्थान पर महाराणा जयसिंह मेवाड़ का उत्तराधिकारी बना। जयसिंह ने यह भली भांति समझ लिया कि मुगलों की विशाल सेना का सामना करना मेवाड़ के लिए आसान नहीं है। उसने पहले शाहजादे मोअज्जम को बादशाह के विरुद्ध बहकाने का प्रयत्न किया। पर जब जयसिंह को इसमें सफलता नहीं मिली तो उसने शाहजादे अकबर को पटाने की कोशिश की। उसने राठौड़ दुर्गादास एवं अपने कुछ विश्वसनीय सामंतों को अकबर के पास भेजा। महाराणा ने अकबर को संदेश दिया कि यदि वह औरंगजेब के स्थान पर बादशाह बनने का प्रयत्न करे तो मेवाड़ और मारवाड़ की सेना उसकी सहायता करेगी। अकबर ने महाराणा का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उसने १ जनवरी, १६८१ को नाडोल में अपने-आपको बादशाह घोषित कर दिया। उसने शाही सेना पर आक्रमण के लिए अजमेर की ओर प्रस्थान किया। इधर औरंगजेब और मोअज्जम भी अजमेर की ओर बढ़े। औरंगजेब ने एक ओर तो अकबर के सेनापति तहव्वुरखां और कई अधिकारियों को अपनी ओर मिला लिया, दूसरी ओर उसने अकबर के साथ एक चाल खेली। उसने एक जाली पत्र अकबर को लिखा कि तुमने राजपूतों को खूब धोखा दिया है। यह पत्र उसने किसी प्रकार राठौड़ दुर्गादास के डेरे के पास डलवा दिया। जिसको पढ़कर राठौड़ दुर्गादास को अकबर पर शक हो गया। दुर्गादास अकबर का सामान आदि लूटकर मारवाड़ की ओर चला गया। यह हालात देखकर शाहजादे के कई सहयोगी औरंगजेब की ओर मिल गए। अपने-आपको कठिन परि-स्थितियों में पाकर अकबर स्वयं मारवाड़ की ओर चला गया। शाहजादे मोअज्जम ने अकबर का पीछा किया। पर इसी बीच दुर्गादास को औरंगजेब के जाली पत्र का भेद जाहिर हो गया। उसने अकबर की सुरक्षा की जिम्मेदारी उठा ली। मुगल सेना ने अकबर का पीछा करना जारी रखा। अकबर मारवाड़ से भाग कर महाराणा की शरण में चला गया। पर वहां भी अपने-आपको सुरक्षित न पाकर वह दुर्गादास राठौड़ के साथ डूंगरपुर, अहमदनगर और बुरहानपुर होता हुआ रायगढ़ पहुंच गया, जहां शंभा ने उसे आश्रय दिया।

इधर मेवाड़ के विरुद्ध लंबे अभियान में औरंगजेब और महाराणा दोनों ही

तंग आ गए । अंत में दोनों के बीच सुलह हो गयी । इस सुलह की एक शर्त यह थी कि महाराणा राठौड़ों की सहायता न करे । फलस्वरूप राठौड़ सरदार अजीतसिंह को मेवाड़ से हटाकर सिरोही ले गए, जहां कालंदरी ग्राम में एक पुष्करणा ब्राह्मण जयदेव ने उसका लालन-पालन किया ।

शाहजादा अकबर के शंभाजी से मिल जाने के कारण औरंगजेब महाराणा से सुलह करते ही दक्षिण की ओर जाने की तैयारी करने लगा । इधर मारवाड़ में राठौड़ों ने जगह-जगह मुगल थानों के विरुद्ध गुरिल्ला युद्ध शुरू कर दिया । सन् १६८६ में मारवाड़ के खींची मुकंददास ने दुर्गादास को लिखा कि यदि वह मारवाड़ लौट आए तो बालक महाराजा अजीतसिंह को प्रगट किया जाए । शाहजादे अकबर ने दुर्गादास को मारवाड़ जाने की इजाजत दे दी और वह स्वयं ईरान के लिए रवाना हो गया । २३ मार्च, १६८७ को सिरोही के पाडली ग्राम में अजीतसिंह को प्रगट किया गया । उपस्थित राठौड़ सरदारों ने उसे नजर पेश की । यहां से राठौड़ सरदार महाराजा को मारवाड़ ले गए । जगह-जगह महाराजा का स्वागत हुआ । इधर राठौड़ दुर्गादास दक्षिण से रवाना होकर शाही प्रदेशों में लूटमार करता हुआ बाड़मेर पहुंच गया । वहां से रवाना होकर वह भींवरलाई नामक स्थान पर अजीतसिंह की सेवा में उपस्थित हुआ ।

महाराजा के प्रगट होने और दुर्गादास के मारवाड़ पहुंचने से राठौड़ों का उत्साह बहुत बढ़ गया । वे मारवाड़ में तैनात मुगल सेना को तरह-तरह से तंग करने लगे । इन घटनाओं से औरंगजेब बड़ा चिंतित हुआ । जोधपुर के आस-पास एकत्रित राठौड़ों ने मुगल सेना पर आक्रमण किया । राठौड़ हार गए । फलतः अजीतसिंह छप्पन (मेवाड़) की पहाड़ियों में जा रहा, जहां महाराणा जयसिंह ने उसे प्रश्रय दिया । इधर मारवाड़ में जगह-जगह मुगल सेना की टुकड़ियों और राठौड़ों के बीच टक्कर होती रही । दुर्गादास ने अजमेर पर आक्रमण किया । स्वयं अजीतसिंह भी २० हजार राठौड़ों के साथ अजमेर पहुंच गया । टॉड के अनुसार अजमेर के हाकिम शफी खां ने महाराजा के सम्मुख उपस्थित हो रत्न तथा घोड़े-हाथी भेंट किए । सन् १६९६ में महाराणा जयसिंह ने अपने भाई गजसिंह की पुत्री की शादी अजीतसिंह से की । इस संबंध से औरंगजेब को अब स्पष्ट हो गया कि अजीतसिंह नकली नहीं, असली है ।

अकबर की पुत्री का बादशाह को सौंपा जाना

शाहजादा अकबर का पुत्र बुलंद अख्तर और पुत्री शफीयतनिस्सा दुर्गादास की देख-रेख में मारवाड़ में थे । शफीयतनिस्सा के युवावस्था में प्रवेश होने के कारण बादशाह चिंतित था । उसने जोधपुर के हाकिम सुजातखां को लिखा कि जिस प्रकार भी हो, अकबर के पुत्र और पुत्री को प्राप्त कर लिया जाए । सुजात खां ने दुर्गादास को बादशाह का संदेश भिजवाया । दुर्गादास ने शाहजादी को बादशाह की सेवा में भेज दिया । इससे बादशाह दुर्गादास पर बड़ा प्रसन्न हुआ । उसने न केवल दुर्गादास

को मनसब प्रदान किया, वरन् अजीतसिंह को भी जालौर, सांचोर और सिवाणा की जागीर प्रदान की। दुर्गादास ने शाहजादे बुलंद बख्तर को भी बादशाह को सौंप दिया और वह स्वयं भी शाही दरबार में गया जहां बादशाह ने उसे ३ हजार का मनसब, अमूल्य आभूषण और कई गांव जागीर में दिए एवं उसे पाटन का फौजदार नियुक्त कर दिया।

बादशाह की दुर्गादास पर क्रूर दृष्टि

यों तो औरंगजेब ने दुर्गादास के साथ ऊपर से अच्छा व्यवहार किया था पर उसकी नीयत साफ नहीं थी। उसने शाहजादे मोहम्मद आजम शाह को मारवाड़ का हाकिम नियुक्त कर गुप्त रूप से आदेश दिए कि किसी भी प्रकार दुर्गादास राठौड़ को पकड़ लिया जाए या मार दिया जाए जिससे कि अजीतसिंह की शक्ति कम हो जाए। शाहजादे ने दुर्गादास को अहमदाबाद बुलाया। दुर्गादास आया पर उसे शक हो गया कि कहीं उसके साथ धोखा होने वाला है। अतः वह अपने साथियों सहित मारवाड़ की ओर प्रस्थान कर गया। मुगल सेना ने उसका पीछा किया। मार्ग में दुर्गादास के पौत्र अनूपसिंह ने शत्रु सेना का मुकाबला किया। अनूपसिंह स्वयं मारा गया। पर इस बीच दुर्गादास वहां से सुरक्षित निकल कर पाटन पहुंचा। वहां से वह अपने परिवार को लेकर अजीतसिंह की सेवा में मारवाड़ पहुंच गया। राठौड़ों ने पुनः मारवाड़ में लूटमार मचा दी। मारवाड़ में बढ़ती हुई अराजकता से तंग आकर औरंगजेब ने अजीतसिंह को मेडता देकर शांत कर दिया। इस समय अजीतसिंह और दुर्गादास के बीच मनोमालिन्य हो गया। दुर्गादास ने शाहजादे आजम की मारफत बादशाह से माफी मांगी। बादशाह ने उसका मनसब बहाल कर उसकी नियुक्ति पुनः पाटन के फौजदार के स्थान पर कर दी। कुछ समय बाद गुजरात में मराठों के आक्रमण से मुगलों की स्थिति कमजोर हो गयी। ऐसी परिस्थितियों में अजीतसिंह और दुर्गादास ने पुनः बगावत का झंडा फहराया। बादशाह ने राठौड़ों पर सेना भेजी। अजीतसिंह को पीछे हटना पड़ा। दुर्गादास दक्षिण में कोलियों के देश में चला गया।

जोधपुर पर अजीतसिंह का अधिकार

फरवरी, १७०७ में औरंगजेब मर गया। यह समाचार मिलते ही अजीतसिंह ने जोधपुर पर आक्रमण कर दिया और वहां के नायब फौजदार को भगाकर अपने पैत्रिक राज्य पर कब्जा कर लिया। अजीतसिंह के जोधपुर पर अधिकार करते ही दुर्गादास भी जोधपुर पहुंच गया, जहां महाराजा ने उसका उचित सत्कार किया। इसके कुछ समय बाद अजीतसिंह ने बीकानेर पर चढ़ाई की। वहां का महाराजा सुजानसिंह इस समय बादशाह की ओर से दक्षिण में नियुक्त था। उसकी अनुपस्थिति में भी बीकानेर के सरदारों ने जोधपुर की फौज का मुकाबला किया और उसके छक्के छुड़ा दिए। जोधपुर की सेना वापस लौट आयी।

जोधपुर पर पुनः मुगलों का अधिकार

अजीतसिंह ने जोधपुर पर अधिकार करते ही कई मस्जिदें तुड़वा दीं और मुसलमानों का अजान देना भी बंद कर दिया। उसने बहादुरशाह की गद्दीनशीनी के अवसर पर अपना कोई प्रतिनिधि भी दिल्ली नहीं भेजा। इससे बहादुरशाह नाराज हो गया। उसने सेना भेजकर जोधपुर पर अधिकार कर लिया। इस समय बहादुर-शाह स्वयं मेडता में था। अजीतसिंह यहीं बादशाह के समक्ष उपस्थित हुआ। बाद-शाह ने उसे महाराजा का खिताब और उचित मनसब प्रदान किया। परंतु जोधपुर उसे पुनः नहीं सौंपा। इससे कुछ समय पूर्व बादशाह ने जयपुर को भी खालसा कर लिया था। जयपुर और जोधपुर से निपट कर वह अपने भाई कामबख्श को दबाने के लिए दक्षिण की ओर रवाना हुआ। अजीतसिंह और जयसिंह भी अपना-अपना राज्य प्राप्त करने की आशा से बादशाह के साथ चले। दुर्गादास भी अजीतसिंह के साथ था।

अजीतसिंह का पुनः मारवाड़ की गद्दी पर बैठना

अजीतसिंह और जयसिंह ने बादशाह से कई बार प्रार्थना करवायी कि उन्हें अपना-अपना वतन सौंप दिया जाए। पर बादशाह से उनको कोई संतोषजनक उत्तर प्राप्त नहीं हुआ। इसी बीच जयसिंह का महाराणा अमरसिंह से सहायता प्राप्त करने की दृष्टि से पत्र-व्यवहार जारी था। महाराणा से सहयोग का आश्वासन प्राप्त होने पर जयसिंह और अजीतसिंह राठौड़ दुर्गादास के साथ बरोड नामक स्थान पर बाद-शाह के खेमे को छोड़कर उदयपुर के लिए रवाना हो गए। बहादुरशाह को जब इस घटना का पता चला तो उसने महाराणा को चेतावनी दी कि वह जयसिंह और अजीतसिंह को आश्रय न दे। पर महाराणा ने बादशाह की चेतावनी पर कोई ध्यान नहीं दिया। जयसिंह, अजीतसिंह और दुर्गादास देवलिया और बड़ी सादड़ी होते हुए उदयपुर पहुंच गए। महाराणा ने अपनी पुत्री चंद्रकंवर की शादी जयसिंह से कर दी। कुछ समय बाद मेवाड़, मारवाड़ और आमेर की संयुक्त सेनाओं ने मारवाड़ पर आक्र-मण किया। इन सेनाओं ने ३ जुलाई, १७०८ को जोधपुर पर अधिकार कर लिया और अजीतसिंह को पुनः मारवाड़ की गद्दी पर बैठाया। इस अवसर पर जयसिंह का अजीतसिंह की लड़की के साथ संबंध किया गया। वर्षा ऋतु के समाप्त होने के पश्चात् जयपुर और जोधपुर की सेना ने सांभर पर अधिकार कर लिया और वहां की आय दोनों ने बराबर-बराबर बांटने का निर्णय किया। कुछ समय बाद तीनों राज्यों की सेना ने आमेर पर भी अधिकार कर लिया और महाराजा जयसिंह को गद्दी पर बैठाया। अंत में बादशाह ने भी अजीतसिंह और जयसिंह को क्रमशः मार-वाड़ और आमेर का स्वामी मान लिया।

दुर्गादास को देश-निकाला

जैसा कि स्वाभाविक था, राजस्थान के राजाओं और मुगल दरबार में दुर्गा-

दास की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ी हुई थी। वह बचपन में ही महाराजा जसवंतसिंह की सेवा में जोधपुर चला गया था। जसवंतसिंह ने उसके बारे में उसके पिता आसकरण से भविष्यवाणी की थी कि दुर्गादास कभी डगमगाती मारवाड़ की नैया को कंधा देगा। उसने मारवाड़ के भावी शासक अजीतसिंह को औरंगजेब के चंगुल से निकाल कर सुरक्षित स्थान पर पहुंचाया। मुगलों द्वारा मारवाड़ का राज्य खालसा किए जाने पर उसने मेवाड़ के महाराणा की सहायता से औरंगजेब से कई युद्ध कर अजीतसिंह को पुनः मारवाड़ की गद्दी पर बैठाया। शाहजादे अकबर के पुत्र और पुत्री को सुरक्षित औरंगजेब को सौंपने के उपलक्ष्य में बादशाह ने उसे तीन हजार का मनसब, एक लाख रुपया और धंधुका और गुजरात के कई परगने जागीर में दिए।[1] मुगल दरबार में मान्यता मिलने से दुर्गादास अपना करीव-करीब स्वतंत्र अस्तित्व बना चुका था। इससे अजीतसिंह मन ही मन दुर्गादास से ईर्ष्या रखता था। अजीतसिंह ने जोधपुर पर अधिकार करते ही दुर्गादास को मारवाड़ से देश-निकाला दे दिया। दुर्गादास महाराणा उदयपुर की सेवा में चला गया, जहां महाराणा ने उसे विजयपुर की जागीर और ५०० रुपये प्रतिदिन देने की व्यवस्था की। कुछ समय बाद उसे रामपुर का हाकिम नियुक्त किया गया, जहां सन् १७१८ में उसकी मृत्यु हो गयी। उसका अंतिम संस्कार क्षिप्रा नदी के तट पर हुआ। दुर्गादास के साथ इस प्रकार का व्यवहार करने से अजीतसिंह की बड़ी अपकीर्ति हुई। इस संबंध में मारवाड़ में निम्न पद प्रसिद्ध है :

"अण घर यही रीत दुर्गा सफरां दागियो।"

—"इम घराने की ऐसी ही रीति है कि दुर्गादास जैसे स्वामीभक्त योद्धा का अंतिम संस्कार मारवाड़ में न होकर क्षिप्रा नदी के तट पर हुआ।"

अजीतसिंह का अजमेर पर आक्रमण

अजीतसिंह ने ईर्ष्यावश पाली के ठाकुर मुकंददास चांपावत को भी धोखे से मरवा दिया था, क्योंकि उसे भी पाली की जागीर और मनसब बादशाह की ओर से प्राप्त हुए थे। अगले वर्ष अर्थात् १७०९ में अजीतसिंह ने अजमेर पर अधिकार करने की योजना बनायी और जयसिंह को सहायता के लिए आमंत्रित किया। जयसिंह ने हां तो कर ली, परंतु न तो जयसिंह ही अजमेर पहुंचा और न उसने सेना ही भेजी। ऐसी परिस्थिति में अजीतसिंह कई दिनों तक शहर के चारों ओर घेरा डाले रहा। उसे अजमेर पर अधिकार करने में सफलता नहीं मिली। वह अजमेर के सूबेदार सुजातखां से पेशकसी के साढ़े चार लाख रुपए लेकर पुनः जोधपुर लौट गया। इस समय बहादुरशाह दक्षिण में था। दिसंबर के अंत में बादशाह दक्षिण से अजमेर की ओर रवाना हुआ। इन दिनों उत्तर में सिक्खों ने विद्रोह कर दिया था। ऐसी परिस्थिति में बादशाह के लिए राजपूताने के राजाओं से समझौता करने के सिवाय कोई चारा नहीं था। अजीतसिंह और जयसिंह भी यही चाहते थे। वे दोनों अजमेर के

१. 'मिरात-ए-अहमदी', जिल्द १, पृ० ३३८।

निकट देवराई नामक स्थान पर बादशाह के डेरे पर उपस्थित हुए। बादशाह ने उन्हें क्षमा कर दिया और खिलअत आदि देकर अपने-अपने वतन जाने की इजाजत दे दी। सन् १७१२ में बादशाह का देहांत हो गया।

अजीतसिंह का आत्मसमर्पण

बहादुरशाह के स्थान पर उसका पुत्र जहांदारशाह गद्दी पर बैठा। परंतु सैयद बंधु हुस्सेनअली खां और अब्दुल्ला खां की सहायता से बहादुरशाह के एक अन्य पुत्र अजीमुस्सान के लड़के फर्रुखसियर ने जहांदारशाह को हराकर अपने-आपको बादशाह घोषित कर दिया। इन दिनों अजीतसिंह ने अपने यहां गो-हत्या और 'अजान' का दिया जाना बंद करवा दिया। साथ ही उसने अजमेर पर भी कब्जा कर लिया। फलस्वरूप फर्रुखसियर ने हुस्सेनअली खां को जोधपुर पर आक्रमण करने भेजा। मुगल सेना सांभर और अजमेर होती हुई मेडता पहुंची। मुगल सेना को आगे बढ़ते हुए देखकर अजीतसिंह ने हुस्सेनअली खां से संधि की प्रार्थना की। हुस्सेनअली खां ने ये शर्तें रखीं: (१) अजीतसिंह अपनी पुत्री का डोला बादशाह के लिए दिल्ली भेजे। (२) उसका पुत्र अभयसिंह हुस्सेनअली खां के साथ शाही दरबार में जाए, और (३) बुलाए जाने पर स्वयं महाराजा भी दरबार में उपस्थित हो।[1] महाराजा ने इन शर्तों को स्वीकार कर लिया और अपने पुत्र अभयसिंह को तुरंत बादशाह के पास भेज दिया। इससे प्रसन्न होकर बादशाह ने अजीतसिंह को गुजरात की सूबेदारी और कुंवर अभयसिंह को नागोर का मनसब दिया। फर्रुखसियर ने ७ दिसंबर, १७१५ को दिल्ली में इंद्रकुमारी से बड़े ठाटबाट से शादी की।

फर्रुखसियर की हत्या

महाराजा द्वारा नियुक्त कर्मचारियों ने गुजरात में बहुत जुल्म किए जिसकी शिकायत बादशाह से होने पर उसने महाराजा को गुजरात की सूबेदारी से हटा दिया। महाराजा वापस जोधपुर आ गया। दिसंबर, १७१८ में फर्रुखसियर ने अजीतसिंह को 'राजेश्वर' का खिताब दिया और साथ ही उसे पुनः गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। १८ फरवरी, १७१९ को अजीतसिंह की सहायता से सैयद बंधुओं ने फर्रुखसियर को कैद कर लिया और उसकी आंखें फोड़ दीं। उसके स्थान पर सैयद बंधुओं ने रफीउदरजात को दिल्ली की गद्दी पर बैठाया। रफीउदरजात ने पहले ही दिन अजीतसिंह की सलाह पर जजिया समाप्त कर दिया। कुछ दिनों बाद अजीतसिंह और सैयद बंधुओं ने फर्रुखसियर को मरवा दिया। इससे अजीतसिंह की बड़ी अपकीर्ति हुई। लोग उसे 'दामादकुश' के नाम से संबोधित करने लगे।

अजीतसिंह का अजमेर खाली करना

रफीउदरजात ने दिल्ली की गद्दी पर बैठने के कुछ ही समय बाद अपना स्वास्थ्य

१. 'इर्विन—लेटर मुगल्स', जिल्द १, पृ० २८५-९०।

ठीक न होने के कारण अपने बड़े भाई रफीउद्दौला को दिल्ली की गद्दी पर बैठाया। पर रफीउद्दौला भी कुछ समय बाद ही मर गया। उसके स्थान पर शाहजादा रोशन अख्तर मोहम्मदशाह के नाम से दिल्ली की गद्दी का उत्तराधिकारी बना। उसनें अजीतसिंह को अहमदाबाद की सूबेदारी प्रदान की। इन दिनों मुगलों की शक्ति कमजोर होती देखकर अजीतसिंह ने मारवाड़ की सीमा से मिले हुए गुजरात के कई गांवों पर अधिकार कर लिया। उसने गुजरात और अजमेर के सूबों में गो-हत्या बंद किए जाने के आदेश प्रसारित लिए। इससे नाराज होकर बादशाह ने अजीतसिंह को गुजरात की सूबेदारी से हटा दिया। उसने हैदरकुली खां को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। इसी तरह उसने अजमेर का सूबा मुजफ्फरअली खां को सौंप दिया। परंतु उसे वहां कामयाबी नहीं मिली और उसने अजमेर की सूबेदारी लौटा दी। बादशाह ने उसके स्थान पर सैयद नसरतयार खां को अजमेर का सूबेदार नियुक्त किया। नसरतयार खां सेना लेकर अजमेर की ओर रवाना हुआ। यह सुनकर अजीतसिंह अजमेर खाली कर मारवाड़ चला गया।

अजीतसिंह झुका

गुजरात और अजमेर की सूबेदारी छीनने के विरोध में महाराजा ने अपनी पुरानी वफादारी की याद दिलाते हुए बादशाह की सेवा में एक अर्जी पेश की। बादशाह ने अजमेर का सूबा पुनः उसे सौंप दिया। अजीतसिंह ने राठौड़ सरदारों को अजमेर का चार्ज लेने के लिए भेजा। राठौड़ों ने बादशाह द्वारा नियुक्त फौजदार और उनके आदमियों को मार डाला। इस पर बादशाह ने अजीतसिंह पर अपनी सेना भेज दी। शाही सेना का आगमन सुनते ही अजीतसिंह बिना लड़े ही जोधपुर चला गया। इसके कुछ दिन बाद मुगल सेना ने सांभर और तारागढ़ के किले पर भी अधिकार कर लिया। अजीतसिंह को बादशाह के सामने झुकना पड़ा। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अभयसिंह को बादशाह की सेवा में भेज दिया।

अजीतसिंह की हत्या

अभयसिंह के दिल्ली में रहते समय सवाई जयसिंह और मुगल सामंतों ने समझाया कि फर्रुखसियर को मरवाने में शामिल होने के कारण बादशाह अजीतसिंह से बहुत नाराज है, अतः उसे चाहिए कि वह अजीतसिंह को मरवा दे, नहीं तो इससे जोधपुर का बड़ा अहित होगा। अभयसिंह ने अपने छोटे भाई बख्तसिंह को अपने पिता महाराजा अजीतसिंह को मरवाने के लिए लिखा। बख्तसिंह ने २३ जून, १७२४ की रात्रि को जनाने में सोते हुए अपने पिता का काम तमाम कर दिया।[1]

अजीतसिंह का व्यक्तित्व

अजीतसिंह को पैदा होते ही जिन कठिनाइयों से गुजरना पड़ा वे अवर्णनीय

१. 'वीर विनोद', भाग २, पृ० ८४२।

हैं। उसने २८ वर्ष तक राज्य से वंचित रहकर औरंगजेब की मृत्यु के बाद सन् १७०७ में मेवाड़ और जयपुर की सहायता से जोधपुर पर पुनः अधिकार किया। यद्यपि राजस्थान के कई राजाओं की तरह अजीतसिंह को भी अपनी पुत्री का विवाह मजबूरीवश बादशाह फर्रुखसियर से करना पड़ा, तथापि वह हिंदू धर्म का कट्टर पक्षपाती था। उसने अपने राज्य में कई मस्जिदें तुड़वा दीं और मुसलमानों का अजान देना बंद करवा दिया। उसने सूबेदार की हैसियत से गुजरात और अजमेर के सूबों में गोवध बंद किए जाने के आदेश भी जारी किए, यद्यपि उसे इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ी। बादशाह ने उससे दोनों सूबों की सूबेदारी छीन ली। महाराजा ने अपने जीवनकाल में दो ऐसे कृत्य किए जिसके लिए उसे इतिहास माफ नहीं करेगा। एक तो स्वामीभक्त दुर्गादास को मारवाड़ से निकाल देना और दूसरे अपने दामाद बादशाह फर्रुखसियर को मरवा देना। उसने अपने कई विरोधियों को छल से मरवाया था और अंत में वह स्वयं भी सवाई जयसिंह और मुगल सामंतों के षड्यंत्रों का शिकार होकर अपने पुत्र द्वारा कत्ल कर दिया गया। अजीतसिंह वीर और साहसी होने के साथ-साथ ही विद्वान और कवि भी था। उसने 'गुणसागर', 'दुर्गापाठ भाषा', 'निर्वाण दोहे' आदि अनेक ग्रंथों की रचना की। उसने जोधपुर में कई महल और मंदिर बनवाये।

अभयसिंह का गद्दी पर बैठना

अजीतसिंह की मृत्यु का समाचार २ जुलाई, १७२४ को दिल्ली पहुंचा। बादशाह ने तुरंत ही अभयसिंह को जोधपुर के स्वामी के रूप में मान्यता दे दी। यही नहीं, उसने २ वर्ष पूर्व मारवाड़ के जप्त किए गए परगनों में से नागोर, केकड़ी, फूलिया, मारोठ और परबतसर आदि परगने भी अभयसिंह को दे दिए। मारवाड़ के सामंतों की इच्छा के विरुद्ध अभयसिंह पहले जोधपुर न जाकर जयसिंह की पुत्री से विवाह करने मथुरा चला गया। इससे कई राठौड़ सरदार अप्रसन्न हो गए और अभयसिंह का साथ छोड़कर मारवाड़ की ओर चले गए।

इधर जोधपुर में राठौड़ सरदार अभयसिंह और बख्तसिंह द्वारा अपने पिता अजीतसिंह की नृशंस हत्या करने के कारण अत्यंत क्षुब्ध थे। उन्होंने अजीतसिंह के दूसरे पुत्र आनंदसिंह और रायसिंह का साथ देकर सोजत आदि परगनों पर अधिकार कर लिया और सारे मुल्क में लूटमार मचा दी। अंत में उन्होंने ईडर पर भी अधिकार कर लिया।

शादी करने के कुछ दिनों बाद अभयसिंह आमेर के ५ हजार सैनिक लेकर जोधपुर पहुंचा। वहां से जालोर और मेडता होता हुआ नागोर पहुंचा, जहां नागोर के स्वामी इंद्रसिंह ने उसका मुकाबला किया। परंतु महाराजा ने उसे हरा दिया। महाराजा ने अपने भाई बख्तसिंह को नागोर की जागीर और राजाधिराज का खिताब प्रदान किया।

ईडर पर मेवाड़ का अधिकार

मेवाड़ के लिए ईडर का सामरिक महत्त्व था। अतः मेवाड़ का महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय ईडर पर अधिकार करना चाहता था। ईडर पर आनंदसिंह और रायसिंह ने अधिकार कर लिया था। सवाई जयसिंह की सलाह पर अभयसिंह ने अपने भाई आनंदसिंह और रायसिंह को मारने की शर्त पर ईडर का इलाका महाराणा के नाम कर दिया। मेवाड़ की सेना ने ईडर पर आक्रमण किया। आनंदसिंह तथा राय-सिंह ने महाराणा के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। अंत में महाराणा ने आनंदसिंह और रायसिंह को ईडर का कुछ इलाका देकर शेष भाग मेवाड़ में मिला दिया।[1]

गुजरात की सूबेदारी

सन् १७३० में बादशाह ने महाराजा अभयसिंह को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। महाराजा अपने भाई बख्तसिंह के साथ ससैन्य गुजरात की ओर रवाना हुआ। इस समय गुजरात का सूबेदार सरबुलंदखां था। सरबुलंदखां ने अभय-सिंह का सामना किया। दोनों सेनाओं में आपस में कई बार भिड़ंत हुई। अंत में दोनों के बीच सुलह हो गयी। सरबुलंदखां आगरे चला गया। इस प्रकार अभयसिंह का गुजरात की सूबेदारी का मार्ग प्रशस्त हो गया। अभयसिंह ने अपने सूबेदारी-काल में अहमदाबाद की जनता पर बड़े जुलम किए। उसने वहां के सेठों पर कई प्रकार के अत्याचार कर लाखों रुपये वसूल किए। उसने पैसा वसूल करने की गरज से रेशम के व्यापारियों को जेल में बंद कर दिया। इससे हिंदुस्तान के विदेशी व्यापार को बड़ा धक्का लगा। उसने सैयदों, शेखों और फकीरों से भी उनकी जागीरों से चौथ लेना शुरू कर दिया। जिससे उनकी हालत खराब हो गयी। अभयसिंह ने सूबे में रखी बहुत-सी सामग्री और तोपें जोधपुर भेज दीं।

बीकानेर पर आक्रमण

सन् १७३२ में अभयसिंह अपने एक मुसद्दी रतनसिंह भंडारी को गुजरात का नायब नियुक्त कर अपने भाई बख्तसिंह के साथ जोधपुर चला गया। सन् १७३३ में बख्तसिंह ने बीकानेर पर अधिकार करने के इरादे से आक्रमण किया। पर बीकानेर की सेना ने बख्तसिंह की सेना के पैर उखाड़ दिए। अभयसिंह जोधपुर से एक बड़ी सेना लेकर बख्तसिंह की सहायता के लिए बीकानेर पहुंचा। परंतु दोनों की सम्मिलित सेना भी बीकानेर को परास्त नहीं कर सकी। अंत में मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह (द्वितीय) ने बीच में पड़कर दोनों में सुलह करायी। अभयसिंह तथा बख्तसिंह अपने-अपने वतन लौट गए।

हुरडा सम्मेलन

इन दिनों मराठों की शक्ति बढ़ती जा रही थी। मराठों के आक्रमणों का

१. गो० ही० ओझा, 'राजपूताने का इतिहास', पृ० ६१०।

मुकाबला करने की दृष्टि से १७ जुलाई, १७३४ को महाराणा जगतसिंह (द्वितीय) की सदारत में हुरडा नामक स्थान पर राजाओं का सम्मेलन हुआ जिसमें जोधपुर, जयपुर, कोटा और बीकानेर आदि के नरेश सम्मिलित हुए। उन्होंने निश्चय किया कि वर्षा के बाद मराठों का मुकाबला करने के लिए सब राजा लोग ससैन्य रामपुरा में एकत्रित होंगे। परंतु राजाओं द्वारा किया गया वह समझौता कागज पर ही रह गया।

गुजरात की सूबेदारी का छीना जाना

महाराजा अभयसिंह की अनुपस्थिति में रतनसिंह भंडारी ने गुजरात में बड़े जुल्म किए। गुजरात के व्यापारियों ने बादशाह के सामने फरियाद की। अतः बादशाह ने सन् १७३७ में अभयसिंह को गुजरात की सूबेदारी से हटा दिया। कुछ समय बाद अभयसिंह और उसके भाई बख्तसिंह में अनबन हो गयी। अभयसिंह ने बख्तसिंह के इलाके पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया। बख्तसिंह ने बीकानेर के महाराजा जोरावरसिंह से सहायता की प्रार्थना की। इसकी सूचना जब अभयसिंह को मिली, तो वह तत्काल जोधपुर लौट गया।

जोधपुर का आत्मसमर्पण

सन् १७४० में अभयसिंह ने पुनः बीकानेर पर चढ़ाई की और बीकानेर के किले को घेर लिया। बख्तसिंह ने जोरावरसिंह को सहायता का आश्वासन दिया। उसने मेडता पर अधिकार कर लिया। बख्तसिंह के परामर्श पर जोरावरसिंह ने जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह को भी सहायता के लिए आमंत्रित किया। जयसिंह तो पहले ही अवसर की तलाश में था। उसने एक बड़ी सेना के साथ जोधपुर पर चढ़ाई कर दी। अभयसिंह तुरंत ही बीकानेर का घेरा हटा अपनी सेना के साथ जोधपुर के लिए रवाना हो गया। इस प्रकार अभयसिंह का बीकानेर पर अधिकार करने का एक और प्रयत्न असफल हो गया। स्वयं अभयसिंह को लेने के देने पड़ गए। उसे जयसिंह के सामने आत्मसमर्पण करना पड़ा और उसे २१ लाख रुपये मुआवजे के रूप में देने पड़े। इस धन में ११ लाख रुपये के वे जेवर भी थे जो जयसिंह ने अपनी पुत्री को अभयसिंह के साथ विवाह के अवसर पर दिए थे।[1]

गगवाना का युद्ध

बीकानेर पर आक्रमण के समय बख्तसिंह को यह आशा थी कि जोरावरसिंह और जयसिंह का साथ देने के कारण जयसिंह उसे अभयसिंह के स्थान पर जोधपुर की गद्दी पर बैठा देगा। परंतु ऐसा कुछ नहीं हुआ। जयसिंह अपना उल्लू सीधा कर जयपुर चला गया। उधर जोधपुर के राठौड़ जयपुर के कछवाहों द्वारा की गयी 'नाक

१. गो० ही० ओझा, 'राजपूताने का इतिहास', भाग २, पृ० ६५५।

कटाई' से अत्यंत क्षुब्ध थे। वे इसके लिए बख्तसिंह को भी जिम्मेदार मानते थे। कई अवसरों पर इस संबंध में राठौड़ सरदारों ने बख्तसिंह पर तानाकशी भी की। इन परिस्थितियों में बख्तसिंह ने पुन: अपने भाई अभयसिंह से मेलजोल कर लिया। उसने कुछ समय बाद जयसिंह से बदला लेने के लिए अजमेर पर अधिकार कर लिया। इसकी सूचना मिलते ही जयसिंह आगरा से रवाना होकर अजमेर की ओर रवाना हुआ। अजमेर के निकट गगवाना नामक स्थान पर दोनों सेनाओं के बीच युद्ध हुआ। बख्तसिंह बड़ी बहादुरी से लड़ा। उसने एक बार तो जयसिंह की सेना के छक्के छुड़ा दिए। पर जयसिंह के मुकाबले उसके साधन सीमित थे। बख्तसिंह ने अभयसिंह को सहायता के लिए लिखा। पर अभयसिंह नहीं गया। उसके मन में यह बात भली भांति बैठी हुई थी कि बख्तसिंह ने जयसिंह को जोधपुर पर आक्रमण करने के लिए उकसाया था। लड़ाई में बख्तसिंह के अधिकांश सैनिक मारे गए। बख्तसिंह हार गया। इस युद्ध में शाहपुरा के राजा उम्मेदसिंह ने जयसिंह की विजय में बड़ा योग दिया।

सन् १७४३ में सवाई जयसिंह का स्वर्गवास हो गया। यह मौका देखकर अभयसिंह ने अजमेर पर अधिकार कर लिया। जयसिंह का उत्तराधिकारी ईश्वरीसिंह मुकाबले के लिए अजमेर की ओर अग्रसर हुआ। परंतु कुछ लोगों ने बीच में पड़कर अभयसिंह और ईश्वरीसिंह के बीच सुलह करा दी।

जोधपुर की हार

बीकानेर के महाराजा जोरावरसिंह का देहांत होने पर बीकानेर के सरदारों ने जोरावरसिंह के चाचा आनंदसिंह के छोटे पुत्र गजसिंह को बीकानेर की गद्दी पर बैठा दिया। अभयसिंह आनंदसिंह के ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह को गद्दी पर बैठाने के पक्ष में था। उसने अमरसिंह की सहायतार्थ एक बड़ी सेना बीकानेर भेजी। बीकानेर की सेना ने डटकर जोधपुर की सेना का सामना किया। अंत में जोधपुर की सेना हार गयी। उसे वापस जोधपुर लौटना पड़ा।

अभयसिंह की मृत्यु

अपने अंतिम दिनों में अभयसिंह ने महाराणा उदयपुर की प्रार्थना पर उसके भानजे माधोसिंह की सहायतार्थ अपनी सेना जयपुर के महाराजा ईश्वरीसिंह के विरुद्ध भेजी। ईश्वरीसिंह इस युद्ध में परास्त हो गया। फलस्वरूप ईश्वरीसिंह को माधोसिंह को टोंक, मालपुरा, निवाई, टोडा आदि परगने देने पड़े। महाराजा अभयसिंह १९ जून, १७४९ को अजमेर में मर गया।

रामसिंह

अभयसिंह की मृत्यु पर उसका पुत्र रामसिंह १३ जुलाई, १७४९ को जोधपुर की गद्दी पर बैठा। वह बचपन से ही ओछे लोगों की संगत में पड़ गया था। उसने

गद्दी पर बैठते ही नगारची आमियां को बहुमूल्य आभूषण, तलवार और कटार, चाकर चांदा को आभूषणों के अलावा जागीर तथा चूड़ीगर शर्फुद्दीन को सिरोपाव आदि दिए। उसने धीरे-धीरे अपने दुर्व्यवहार से कई राठौड़ सरदारों को नाराज कर दिया। रीयां ठाकुर शेरसिंह को रामसिंह ने जोधपुर से इस बात पर निकाल दिया कि उसने रामसिंह को अपनी एक सुंदर चाकर विजया को देने से इनकार कर दिया। अंत में रामसिंह ने स्वयं रीयां जाकर शेरसिंह से विजया को प्राप्त किया और उसे पालकी में बैठा कर अपने साथ ले गया।

थोड़े समय बाद रामसिंह ने उसके काका नागोर के स्वामी बख्तसिंह पर चढ़ाई की। बख्तसिंह ने बीकानेर के महाराजा गर्जसिंह को सहायता के लिए बुलाया। अंत में दोनों के बीच समझौता हो गया। बख्तसिंह ने रामसिंह से ३ लाख रुपए लेकर जालोर का परगना सौंप दिया। बख्तसिंह इस समझौते से संतुष्ट नहीं था। उसने बीकानेर के महाराजा गर्जसिंह और मुगल सेना की सहायता से जोधपुर पर चढ़ाई की। जयपुर के सवाई ईश्वरीसिंह ने रामसिंह का साथ दिया। सूरियावास और पीप्पाड़ में लड़ाई हुई। पर नतीजा कुछ नहीं निकला। सन् १७५० में ईश्वरीसिंह मर गया। इस अवसर का लाभ उठाकर बख्तसिंह ने बीकानेर के महाराजा की सहायता से मेडता पर चढ़ाई कर दी, जहां रामसिंह ठहरा हुआ था। बख्तसिंह ने मेडता, बिलाड़ा और सोजत के परगने ले लिये। परंतु कुछ दिनों बाद रामसिंह ने पुनः मेडता पर अधिकार कर लिया। इस पर महाराजा गर्जसिंह और बख्तसिंह ने मिलकर २१ जून, १७५१ को सीधे जोधपुर पर चढ़ाई की। किले पर बख्तसिंह का अधिकार हो गया।

बख्तसिंह द्वारा जोधपुर पर अधिकार

बख्तसिंह ने रामसिंह के स्थान पर जोधपुर की गद्दी पर बैठते ही मारवाड़ के कई ठिकानों में अनेक हेरफेर किए। उसने अपने भाई रामसिंह को गिरफ्तार कर नागोर के किले में भेज दिया। बख्तसिंह ने उसकी आंखें निकालने की आज्ञा जारी कर दी। इस पर उसने आत्महत्या कर ली। कुछ समय बाद महाराजा रामसिंह ने मराठों की सहायता से अजमेर पर कब्जा कर लिया। इस पर बख्तसिंह ने बीकानेर के महाराजा की सहायता से अजमेर पर आक्रमण किया। इसकी सूचना पाते ही रामसिंह और मराठे बिना लड़े ही अजमेर से भाग गए। २२ सितंबर, १७५२ को बख्तसिंह मर गया। बख्तसिंह बड़ा जालिम और सख्त-मिजाज था। उसने अपने बड़े भाई के इशारे पर अपने पिता की हत्या की। वह अपने दो भाइयों की आत्महत्या के लिए भी जिम्मेदार था। उसने अपने एक वर्ष के शासनकाल में ही कई लोगों के हाथ-पैर कटवा दिए और कइयों को मरवा डाला।

विजयसिंह का गद्दी पर बैठना

बख्तसिंह के स्थान पर उसका पुत्र विजयसिंह ३० जनवरी, १७५३ को

जोधपुर की गद्दी पर बैठा। बख्तसिंह के मरते ही रामसिंह ने जोधपुर की गद्दी प्राप्त करने का एक और प्रयास किया। वह मराठा सरदार आपाजी सिंधिया को लेकर मारवाड़ की ओर रवाना हुआ। इधर विजयसिंह ने महाराजा गजसिंह को सहायता के लिए आमंत्रित किया। गंगारडा नामक स्थान पर दोनों पक्षों में युद्ध हुआ। विजयसिंह हार गया और उसे मेडता लौटना पड़ा। विजयसिंह नागोर पहुंच गया और वहां के पहाड़ों में जाकर शरण ली। मराठे और रामसिंह की सेना ने नागोर और जोधपुर को घेर लिया। अंत में विजयसिंह परेशान होकर बीकानेर पहुंच गया। वहां से वह महाराणा गजसिंह को लेकर जयपुर के महाराजा माधोसिंह से मिलने जयपुर गया। महाराजा माधोसिंह ने विजयसिंह को सहायता देने की बजाय उसको मारने का असफल षड्यंत्र किया। फलतः गजसिंह और विजयसिंह वापस मारवाड़ लौट गए। इसी बीच मारवाड़ के सरदारों ने मराठों से संधि कर ली जिसके अनुसार जोधपुर सहित आधा राज्य विजयसिंह को दे दिया गया और शेष रामसिंह को।

राज्य का विस्तार

सन् १७६५ में महादजी सिंधिया ने मारवाड़ पर चढ़ाई की। उसे महाराजा ने तीन लाख रुपए देकर वापस लौटा दिया। सन् १७७० में मेवाड़ के महाराणा अरिसिंह ने मेवाड़ की गद्दी के एक अन्य दावेदार रतनसिंह को दबाने के लिए गोडवाड का इलाका महाराजा विजयसिंह को सौंप दिया। विजयसिंह रतनसिंह को तो नहीं दबा सका पर वह सदा के लिए गोडवाड का मालिक बन गया। सन् १७७२ में रामसिंह का देहांत हो गया। इस पर महाराजा की सेना ने रामसिंह के इलाके पर अधिकार कर लिया। महाराजा ने सिंध इलाके में अमरकोट पर अधिकार कर लिया। सन् १७८१ में महाराजा ने टकसाल कायम की और अपने नाम से सिक्का चलाया।

सन् १७८६ में महादजी सिंधिया ने जयपुर पर चढ़ाई की। इस अवसर पर विजयसिंह ने जयपुर की सहायतार्थ सेना भेजी। राठौड़ों और कछवाहों की सम्मिलित सेना ने मराठों को भगा दिया। कुछ समय बाद राठौड़ों ने अजमेर भी मरहठों से छीन लिया।

विजयसिंह की मृत्यु

विजयसिंह को अपने राज्यकाल में मरहठों से कई टक्करें लेनी पड़ीं। उन दिनों पूर्वी भारत में अंग्रेजों का आधिपत्य हो चुका था। मरहठों के हमलों से तंग आकर महाराजा विजयसिंह ने लॉर्ड कार्नवालिस से मराठों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए पत्र-व्यवहार किया पर इसका कोई नतीजा नहीं निकला। सन् १७९० में राठौड़ों और कछवाहों की सेना का पाटन नामक स्थान पर मरहठों से युद्ध हुआ। युद्ध के दौरान जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह ने मरहठों से संधि कर ली और वह युद्ध से अलग हो गया। फलतः राठौड़ अकेले पड़ गए और मरहठों ने राठौड़ों से अज-

मेर छीन लिया। उन्होंने मेडता पर भी अधिकार कर लिया। अंत में महाराजा विजयसिंह ने एक बड़ी रकम और अजमेर का सूबा देकर मरहठों से संधि कर ली। ७ जुलाई, १७९३ को महाराजा विजयसिंह का देहांत हो गया।

उत्तराधिकार की लड़ाई

विजयसिंह का बड़ा पुत्र फतेहसिंह निःसंतान मर गया। उससे छोटा भोमसिंह था, वह भी मर गया। भोमसिंह के एक पुत्र भीमसिंह था जो राजपूतों में प्रचलित प्रथा के अनुसार गद्दी का हकदार था। विजयसिंह उससे शुरू से ही नाराज था। वह नहीं चाहता था कि उसके बाद भीमसिंह गद्दी पर बैठे। विजयसिंह की मृत्यु के समय भीमसिंह जैसलमेर में था। विजयसिंह की मृत्यु का समाचार मिलते ही वह रात्रि के समय जोधपुर पहुंच गया। उसे सरदारों का पूरा-पूरा सहयोग मिला और वह २० जुलाई, १७९३ को जोधपुर की गद्दी पर आसीन हुआ। गद्दी पर बैठते ही उसने गद्दी के अन्य दावेदार अपने चाचा शेरसिंह और सावंतसिंह तथा चचाज़ाद भाई सूरसिंह को मरवा दिया। कुछ समय बाद उसे अपने दूसरे चचाज़ाद भाई मानसिंह का सामना करना पड़ा, जो जालोर का स्वामी था और अपने को स्वतंत्र समझता था। सन् १८०१ में जब भीमसिंह जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह की बहन से शादी करने के लिए पुष्कर गया तो पीछे से मानसिंह ने पाली में खूब लूट मचायी। इस पर मारवाड़ की सेना ने जालोर पर आक्रमण किया। मानसिंह और उसके साथी जालोर गढ़ में घुस गये। सेना ने गढ़ को चारों ओर से घेर लिया। अंत में रसद की तंगी आने के कारण मानसिंह ने गढ़ खाली करने का निश्चय किया। उसने महाराजा की सेना के सेनापति इंद्रराज सिंघवी से वार्ता शुरू की। दीवाली के दिन किले को खाली करने की बात तय हुई। किले के भीतर जलंधरनाथ का मंदिर था। जिसका पुजारी आयस देवनाथ था। मानसिंह जलंधरनाथ का बड़ा भक्त था। एक दिन आयस देवनाथ ने मानसिंह से कहा कि यदि वह दीवाली के ६ दिन बाद तक किसी प्रकार गढ़ खाली नहीं करे तो वह जोधपुर का स्वामी बन जायेगा। इस पर मानसिंह ने इंद्रराज को समझा-बुझाकर गढ़ खाली करने की मीआद कार्तिक शुक्ला ६ तक बढ़वा ली। मानसिंह के सौभाग्य से निश्चित तिथि के दो दिन पूर्व ही अर्थात् १९ अक्तूबर, १८०३ को महाराजा भीमसिंह का निःसंतान स्वर्गवास हो गया। अगले दिन ही यह समाचार जालोर पहुंचा। इंद्रराज ने जालोर में उपस्थित सरदारों से सलाह कर यह तय किया कि मानसिंह को ही राजा बना दिया जाये।

मानसिंह

मानसिंह सदलबल ५ नवंबर, १८०३ को जोधपुर में दाखिल हुआ और १७ जनवरी, १८०४ को विधिवत् जोधपुर की गद्दी पर बैठा। कुछ समय बाद स्वर्गीय भीमसिंह की पत्नी से पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम धौंकलसिंह रखा गया। मानसिंह ने इस घटना को अपने विरोधियों का एक प्रपंच मात्र बताया। गद्दी पर बैठते ही

ईस्ट इंडिया कंपनी और महाराजा मानसिंह के बीच परस्पर मैत्री की एक संधि हुई। परंतु मानसिंह द्वारा अंग्रेजों के कट्टर शत्रु यशवंतराव होल्कर से मित्रता करने के कारण अंग्रेजों ने यह संधि रद्द कर दी। इन्हीं दिनों महाराजा ने आयस देवनाथ को बड़े सम्मान के साथ जालोर से जोधपुर बुलाया और उसे अपना गुरु बनाया। धीरे-धीरे आयस देवनाथ महाराजा का प्रधान सलाहकार हो गया। अब मानसिंह ने शेरसिंह और सूरसिंह को मारने वालों को चुन-चुनकर दंड देना शुरू किया। उसने कई एक व्यक्तियों को मरवा दिया और कई एक को कैद कर लिया। उसने उन सब सरदारों को वापस बुला लिया जो महाराजा भीमसिंह के समय मारवाड़ छोड़कर अन्य राज्यों में चले गये थे। उसी वर्ष उसने सिरोही पर सेना भेजकर कब्जा कर लिया।

कृष्णाकुमारी कांड

उदयपुर के महाराणा भीमसिंह की पुत्री कृष्णाकुमारी का संबंध महाराज भीमसिंह से हुआ था। पर भीमसिंह विवाह के पूर्व ही मर गया। अतः महाराणा ने कृष्णाकुमारी की सगाई जयपुर के महाराजा जगतसिंह से कर दी। इस पर मानसिंह ने एतराज किया। पर इस संबंध में न तो महाराणा ने ही ध्यान दिया और न जगतसिंह ने ही। मानसिंह ने जयपुर पर आक्रमण करने के लिए विशाल फौज तैयार की। उसने अपनी सहायता के लिए राव होल्कर को भी आमंत्रित किया। इधर उदयपुर और जयपुर ने भी लड़ाई की तैयारी की। इस झगड़े में पिंडारी नेता अमीर खां पंच बन बैठा। उसने तीनों राज्यों के बीच झगड़ा समाप्त कराने के लिए महाराणा पर दबाव डाला कि वह कृष्णाकुमारी को जहर देकर मरवा दे। महाराणा ने वही किया। इस प्रकार यह झगड़ा शांत हुआ।

धौंकलसिंह से लड़ाई

मानसिंह को शीघ्र ही धौंकलसिंह के पक्षपातियों से जूझना पड़ा। धौंकलसिंह इस समय खेतड़ी ठिकाने में प्रश्रय पा रहा था। बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह और जयपुर के महाराजा जगतसिंह ने धौंकलसिंह का समर्थन किया। मारवाड़ के कई सरदारों ने, जिनमें पोकरण का स्वामी सवाईसिंह मुख्य था, धौंकलसिंह का साथ दिया। सवाईसिंह पिंडारी नेता अमीर खां को धौंकलसिंह की ओर मिलाने में सफल हो गया। बूंदी के महाराव विशनसिंह तथा किशनगढ़ के महाराजा कल्याणसिंह ने मानसिंह का साथ दिया। जगतसिंह एवं सूरतसिंह एक लाख सेना के साथ मारोठ पहुंचे। इस अवसर पर मारवाड़ के कई ठिकानेदार धौंकलसिंह से मिल गए। दोनों पक्ष गिगोली नामक स्थान पर आमने-सामने हुए। पर मानसिंह घबराकर जोधपुर की ओर भाग गया। जयपुर की सेना ने जोधपुर का तोपखाना और खजाना लूट लिया। उन्होंने कई गांवों को भी लूटा। अनंतर नागोर और सोजत पर भी विरोधियों का अधिकार हो गया। अब जगतसिंह और सवाईसिंह ने जोधपुर की ओर प्रस्थान किया। बाद में सूरतसिंह भी जोधपुर पहुंच गया। विरोधी सेना ने जोधपुर पर अधिकार कर

लिया। मानसिंह, आयस देवनाथ और राठौड़ सरदार जोधपुर के सुदृढ़ किले में घुस गये। मानसिंह ने अपने एक प्रतिनिधि द्वारा दौलतराव सिंधिया को सहायतार्थ बुलाया। इसी बीच अमीर खां धौंकलसिंह का साथ छोड़कर मानसिंह की सेना से जा मिला। लगातार ७ माह तक की घेराबंदी और गोलाबारी से किले के अंदर के लोग घबरा गये थे। दोनों पक्षों में समझौते की बात चली। मानसिंह की ओर से राज्य का एक बड़ा भाग धौंकलसिंह को देने के लिए एक प्रस्ताव रखा गया। परंतु सवाई-सिंह इस बात पर अड़ा रहा कि जोधपुर धौंकलसिंह और नागोर मानसिंह को दे दिया जाए। परंतु यह प्रस्ताव मानसिंह ने स्वीकार नहीं किया। अमीर खां जयपुर पर आक्रमण करने के लिए रवाना हुआ। उसकी फागी में जयपुर की सेना से टक्कर हुई जिसमें जयपुर की सेना हार गयी। अमीर खां झोटवाड़े के निकट आ पहुंचा। अब कई अन्य राठौड़ सरदार भी अमीर खां के साथ हो गये। राठौड़ों ने जयपुर के गांवों में लूटमार मचा दी। जब यह समाचार जगतसिंह को मिला तो वह तुरंत जयपुर के लिए रवाना हो गया। सूरतसिंह बीकानेर चला गया। अंत में सवाईसिंह भी अपनी सेना-सहित नागोर प्रस्थान कर गया। १५ सितंबर, १८०७ को जोधपुर शत्रुओं से मुक्त हुआ। मानसिंह ने किले का दरवाजा खोल दिया। उसने अमीर खां को अपना पगड़ी-बदल भाई बनाया तथा उसे नवाब की उपाधि से विभूषित किया। जालोर के कुछ गांव भी उसे दिये। थोड़े दिनों बाद मानसिंह ने षड्यंत्र कर अमीर खां द्वारा सवाईसिंह को मरवा दिया। उसके कई सैनिक भी मारे गये। इस कांड के बाद धौंकल-सिंह के साथी निराश हो गये। उनमें से कई सरदार तो माफी मांग कर पुनः मानसिंह की सेवा में आ गये।

बीकानेर और जयपुर से समझौता

सन् १८०८ में मानसिंह ने सवाईसिंह के प्रबल पक्षपाती बीकानेर के महा-राजा सूरतसिंह पर चढ़ाई की। दो माह तक जोधपुर की सेना गजनेर में पड़ी रही पर वह नगर पर अधिकार नहीं कर सकी। अंत में जोधपुर और बीकानेर के बीच संधि हो गयी। बीकानेर को फलौदी तथा सिंध के कुछ परगने जोधपुर को सौंपने पड़े। अब अमीर खां ने जयपुर राज्य में उपद्रव मचाना शुरू किया। फलस्वरूप महा-राजा जगतसिंह को भी मानसिंह से संधि करनी पड़ी। सन् १८१३ में जगतसिंह की बहन का विवाह मानसिंह के साथ और मानसिंह की पुत्री का विवाह जगतसिंह के साथ हुआ। इसी वर्ष उमरकोट पर पुनः टालपुरिया का अधिकार हो गया।

अंग्रेजों से संधि

अब अमीर खां मारवाड़ में बिगाड़ करने लगा। उसने महाराजा के विश्वास-पात्र आयस देवनाथ और इंद्रराज सिंघवी को मरवा दिया। अंत में अमीर खां जोध-पुर के महाराजा के साढ़े नौ लाख रुपये लेकर रवाना हुआ। आयस देवनाथ और इंद्रराज के मारे जाने से महाराजा इतना दुखी हुआ कि उसने अपना राजपाट अपने

पुत्र छत्रसिंह को सौंप दिया। युवराज छत्रसिंह और ईस्ट इंडिया कंपनी के लॉर्ड हेस्टिंग्स के बीच जनवरी, १८१८ में एक संधि हुई जिसके अनुसार जोधपुर अन्य देशी राज्यों की तरह ईस्ट इंडिया कंपनी के संरक्षण में आ गया। उसकी स्वायत्तता सदा के लिए समाप्त हो गयी। इसके थोड़े समय बाद ही अर्थात् मार्च, १८१८ में छत्रसिह मर गया। अंग्रेजों की सहायता के आश्वासन पर और जोधपुर के सरदारों के अनुरोध पर ३ नवंबर, १८१८ को मानसिंह ने एकांतवास त्यागकर पुनः राज्य-भार संभाला। प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड पश्चिमी राजपूताने का एजेंट नियुक्त हुआ। वह ४ नववंर, १८१९ को जोधपुर आया। महाराजा ने उसका बड़ा आदर किया और उसे कई इनाम दिये।

मानसिंह के अत्याचार

अंग्रेजों को विश्वास में लेने के बाद महाराजा ने गिन-गिनकर उन लोगों को मारना शुरू किया जिनका आयस देवनाथ और इन्द्रराज सिंघवी को मरवाने में हाथ था। उसने आसोप की जागीर खालसा कर ली और अपने विरोधी मुसद्दियों से हजारों रुपये वसूल किए। उसने कई ठिकानों के पट्टे भी जब्त कर लिये। महाराजा के अत्याचार से तंग आकर राज्य के कई सरदार अन्य राज्यों में चले गए। कुछ सरदार ए० जी० जी० के पास अजमेर भी गए। लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला। मानसिंह ने सिरोही पर भी अधिकार करना चाहा; परंतु अंग्रेजों ने उसकी यह चाल सफल नहीं होने दी। उन दिनों मारवाड़-मेरवाड़ के इलाके में मीणों ने आतंक जमा रखा था। अतः महाराजा ने इस इलाके का प्रबंध ८ वर्ष के लिए अंग्रेजों को सौंप दिया।

सन् १८२७ में अंग्रेजों ने आपा साहब भोंसले को नागपुर की गद्दी से हटा दिया। वह नागपुर से भागकर जोधपुर पहुंच गया। मानसिंह ने उसे अपने यहां शरण दे दी। अंग्रेजों ने मानसिंह को आपा साहब को सुपुर्द करने के लिए कहा। परंतु महाराजा ने अंग्रेजों की इस आज्ञा की अवहेलना कर दी। सन् १८३१ में भारत के वायसराय लॉर्ड विलियम बैंटिक ने अजमेर में दरबार किया। राजस्थान के कई राजा दरबार में उपस्थित हुए। परंतु मानसिंह नहीं गया। मालानी में इस समय राठौड़ मल्लीनाथ के वंशजों का अधिकार था। उन्होंने आसपास के इलाकों में लूटमार करना शुरू किया। महाराजा भी मालानी वालों पर अंकुश नहीं लगा सका। अतः अंग्रेजों ने मालानी पर अधिकार कर लिया। यह इलाका सन् १८५४ में मारवाड़ को सौंप दिया गया।

नाथों के जुल्म

इधर धीरे-धीरे आयस भीमनाथ शक्तिशाली होता जा रहा था। उसने दीवान उत्तमचंद मेहता को कैद कर लिया और मार डाला। उसके जुल्मों से तंग आकर कई सरदार जागीरें छोड़कर चले गये। भीमनाथ सन् १८३८ में मर गया। उसके स्थान पर आयस लक्ष्मीनाथ महामंदिर की गद्दी पर बैठा। धीरे-धीरे उसने भी राज्य पर

अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया और महाराजा के सभी अख्तियार काम में लाने लगा। उसने राज्य की अर्थ-व्यवस्था अस्तव्यस्त कर दी। अंग्रेजों को खिराज देना भी मुश्किल हो गया। सरदार लोग नाथों के जुल्मों से पहले ही दुखी थे। उन्होंने ए० जी० सदरलैंड और पोलीटिकल एजेंट लडलो से शिकायतें कीं। इस पर कर्नल सदरलैंड और कप्तान लडलो जोधपुर आये। उन्होंने राज्य में नाथों के दखल को रोकने के लिए महाराजा को समझाया। पर उसने इसे राज्य का आंतरिक मामला वताकर टाल दिया। दोनों अंग्रेज अधिकारी महाराजा से अप्रसन्न होकर अजमेर लौट गए। सदरलैंड ने अजमेर में जोधपुर के सरदारों को बुलाया और घोषणा की कि अंग्रेज सरकार महाराजा को गद्दी से हटा कर नाथों को गिरफ्तार कर लेगी। जब यह समाचार महाराजा को मिला तो उसने सदरलैंड को एक पत्र लिखा कि यदि अंग्रेज सरकार राज्य पर अधिकार करना चाहती है तो उसे फौज भेजने की कोई जरूरत नहीं, वे विना किसी झगड़े के ही राज्य उन्हें सौंप देंगे। सदरलैंड ने मानसिंह के पत्र पर कोई ध्यान नहीं दिया। उसने सेना को मारवाड़ पर आक्रमण करने के आदेश दिये। सदरलैंड और लडलो ससैन्य मेडता और पिपाड़ होते हुए दंतवाड़ा पहुंचे। महाराजा भी सदलबल अंग्रेजी सेना के निकट पहुंच गया। वह सदरलैंड और लडलो से मिला। उसने जोधपुर का किला खाली करना स्वीकार कर लिया। तदनुसार सदरलैंड और लडलो सदलबल गढ़ में घुस गए। अंत में अंग्रेज सरकार और मानसिंह के बीच एक समझौता हुआ। उसमें यह तय हुआ कि महाराजा और सदरलैंड मिलकर राज्य के प्रबंध के लिए जो भी नियम बनायेंगे उनका पालन किया जाएगा। जोधपुर के किले में अंग्रेजी फौज रहेगी। यदि महाराजा ने अपने राज्य का प्रबंध सुचारु रूप से चलाया तो अंग्रेजी फौज जोधपुर के किले से हटा ली जाएगी। इस समझौते के अंतर्गत राज्य का प्रबंध करने के लिए मारवाड़ के खास-खास सरदारों की एक पंचायत नियुक्त की गयी। राज्य के एक मुसद्दी श्री रिछमल लोढ़ा के प्रयत्नों से ६ माह बाद ही अंग्रेज सरकार ने किले को खाली कर दिया और राज्य-प्रबंध पूरी तरह से महाराजा को सौंप दिया। अंग्रेजों के जोधपुर खाली करते ही पुनः नाथों की मनमानी शुरू हो गयी। वे प्रतिदिन नए-नए व्यक्तियों के कान फाड़कर उन्हें नाथ बनाने लगे। अंत में पोलीटिकल एजेंट ने प्रमुख नाथों को गिरफ्तार कर लिया। नाथों की गिरफ्तारी से महाराजा इतना दुखी हुआ कि उसने साधु का भेष धारण कर लिया। वह मंडोवर में ४ सितंबर, १८४३ को मर गया।

मानसिंह ने ४० वर्ष तक जोधपुर पर राज्य किया। वह एक कुटिल शासक था। कर्नल टॉड ने तो उसे धूर्त की संज्ञा दी थी। उसने अंग्रेजों को समय-समय पर नीचा दिखाने में कसर नहीं रखी। उस समय राजपूताने का वही एक शासक था जो सन् १८३२ में लॉर्ड बैंटिक के अजमेर दरबार में शामिल नहीं हुआ। पर वह अपने धर्म-गुरु नाथों के प्रभाव में आकर सामंत-वर्ग और जनता का विश्वास खो बैठा। पर निस्संदेह मानसिंह के राज्यकाल में ही मारवाड़ के सामंत राज्य के वश में आए थे। वह विद्वानों का बड़ा सम्मान करता था। वह स्वयं भी कवि था। उसके समय में कई

ग्रंथ लिखे गए। उसने जोधपुर राज्य की ख्यात लिखवायी जो आज मारवाड़ के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। उसने कर्नल टॉड को मारवाड़ का इतिहास लिखने में भी बड़ी सहायता की।

सन् १८५७ का गदर

मानसिंह की मृत्यु के बाद अहमदनगर के राजा करणसिंह का कनिष्ठ पुत्र तख्तसिंह जोधपुर की गद्दी पर बैठा। उसके गद्दी पर बैठते ही जोधपुर के सामंतों ने फिर सिर उठाया। पर महाराजा ने अंग्रेजो की सहायता से उन्हें पूरी तरह दबा दिया। इससे सामंत लोग न केवल महाराजा से वरन् अंग्रेजों से भी रुष्ट हो गए। उन्हें अंग्रेजों से बदला लेने का अवसर सन् १८५७ में मिला, जबकि भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की अग्नि भड़क उठी। २१ अगस्त, १८५७ को एरनपुरा छावनी में फौज के हिंदुस्तानी दस्तों ने बगावत का झंडा गाड़ दिया। बागी सिपाही आबू पहुंच गए। उन्होंने वहां पर कई अंग्रेज अफसरों को गोलियों से भून दिया। वहां से उन्होंने 'दिल्ली चलो' के नारे लगाते हुए दिल्ली की ओर कूच किया। रास्ते में वे आउवा नामक स्थान पर विश्राम करने ठहरे। यहां पर आउवा के ठाकुर कुशलसिंह चांपावत ने बागी सेना का नेतृत्व स्वीकार कर लिया और क्रांति का शंखनाद कर दिया। आसोप ठाकुर शिवनाथसिंह, गूलर ठाकुर विशनसिंह और आलनियावास ठाकुर अजीतसिंह भी बागियों से आ मिले। विद्रोह को दबाने के लिए अजमेर के चीफ कमिश्नर सर पैट्रिक लॉरेंस ने महाराजा जोधपुर से सहायता मांगी। महाराजा ने ओनाडसिंह पंवार, राव राजमल लोढ़ा, कुशलराज सिंघवी एवं विजयपाल महता आदि के नेतृत्व में बागियों के विरुद्ध सेना भेजी। ८ सितंबर को बिठड़ा नामक स्थान पर महाराजा की सेना और बागियों के बीच जम कर लड़ाई हुई। ओनाडसिंह और राजमल लोढ़ा मारे गए। पर कुशलराज सिंघवी और विजयपाल महता बचे हुए सैनिकों के साथ भाग गए। इसके कुछ दिन बाद जोधपुर का पोलीटिकल एजेंट मेसन एक सेना लेकर आउवा पहुंचा। पर उसकी सेना भी परास्त हो गयी और वह स्वयं मारा गया। इस संबंध में मारवाड़ में एक लोकगीत प्रचलित है जो इस प्रकार है :

ढोल बाजे चंग बाजे भेलो बाजे बांकियो।
एजेंट ने मारकर दरवाजे टांकियो॥
जूझे आउवो। ते ओ जूझे आउवो॥

दूसरे दिन पैट्रिक लॉरेंस स्वयं अजमेर से सेना लेकर आउवा पहुंच गया। पर वह भी भाग खड़ा हुआ। अंत में २० जनवरी, १८५८ को कर्नल होम्स के नेतृत्व में अंग्रेजों ने एक बड़ी सेना के साथ आउवा पर चढ़ाई कर दी। क्रांतिकारी लोग इस बड़ी सेना के सामने नहीं टिक सके। आउवा पर अंग्रेजी सेना का कब्जा हो गया। बगावत में शरीक होने वाले अन्य ठिकानों को भी बरबाद कर दिया गया। इस प्रकार देश के अन्य भागों की तरह जोधपुर राज्य में भी विद्रोहियों का पतन हो गया।

तख्तसिंह सन् १८७३ में मर गया। उसके बाद जसवंतसिंह और जसवंतसिंह के बाद सरदारसिंह सन् १८९५ में, सुमेरसिंह सन् १९११ में और उम्मेदसिंह सन् १९१४ में जोधपुर की गद्दी पर बैठे। उम्मेदसिंह ३३ वर्ष तक राज्य कर सन् १९४७ में चल बसा।

मारवाड़ का विकास-युग

महाराजा उम्मेदसिंह के राज्यकाल में जोधपुर में अंग्रेजों का दखल और दबदबा बहुत बढ़ गया था। उस समय अंग्रेज राज्य के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर विद्यमान थे। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि इस काल में इस विशाल मरुथल प्रदेश की चहुंमुखी प्रगति हुई। थार के इस रेगिस्तान में राज्य ने रेलों का जाल बिछाकर उसको भारत के अन्य हिस्सों से पुख्ता तौर पर जोड़ दिया। शिक्षा के क्षेत्र में भी राज्य ने बड़ी प्रगति की। कालेज, हाई स्कूल और अनेक पाठशालाएं खोली गयीं। राजधानी में एक बड़ा अस्पताल और जिलों में कई डिस्पेंसरियां खोली गयीं। जोधपुर की बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए पीने के पानी की सुदृढ़ आधुनिक व्यवस्था की गयी। शासन को आधुनिक ढांचे में ढाला गया। यह सचमुच मारवाड़ के लिए विकास का युग था।

जन-जागृति का सूत्रपात

जोधपुर में जन-जागृति का सूत्रपात भी महाराजा उम्मेदसिंह के राज्यकाल में हुआ। इस जन-जागृति का श्रेय स्वर्गीय श्री चांदमल सुराना को दिया जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी। मारवाड़ में जन-जागृति की शुरुआत सन् १९२० में तौल आंदोलन को लेकर हुई। वहां १०० तोले का सेर होता था। सरकार ने निर्णय लिया कि ब्रिटिश भारत की तरह मारवाड़ में भी ८० तोले का सेर होगा। सरकार के इस निर्णय को लेकर जनता में रोष फैल गया। मारवाड़-सेवा-संघ नामक संस्था के तत्त्वावधान में आंदोलन चला। शहर में हड़ताल हो गयी। अंत में सरकार झुक गयी। जोधपुर राज्य के इतिहास में जनता की यह पहली विजय थी। इस आंदोलन के प्रमुख सूत्रधार थे श्री चांदमल सुराना। इन्हीं चांदमल सुराना ने कुछ जोशीले युवकों के सहयोग से 'मारवाड़ हितकारिणी सभा' की स्थापना की। संस्था के मंत्री श्री प्रागराज भंडारी, कोषाध्यक्ष श्री तेजराज लूकड़ और कार्यकारिणी के सदस्य सर्वश्री आनंदराज सुराना, भंवरलाल शर्राफ और जयनारायण व्यास थे। कार्यालय-मंत्री का भार शिवकरण जोशी को सौंपा गया।

सन् १९२५ की बगावत

'मारवाड़ हितकारिणी सभा' ने सन् १९२२-२४ में मादा पशुओं की निकासी को लेकर सफलतापूर्वक आंदोलन का संचालन किया। परंतु 'मारवाड़ हितकारिणी सभा' और उसके कार्यकर्ताओं की कसौटी का समय सन् १९२५ में आया। इस सभय

श्री चांदमल सुराना संस्था के अध्यक्ष और श्री किशनलाल बापना मंत्री थे। संस्था के अन्य प्रमुख कार्यकर्ता थे सर्वश्री प्रतापचंद सोनी एडवोकेट, शिवकरण जोशी, जयनारायण व्यास, कस्तूरकरण तेजराज लूकड़, भंवरलाल शर्राफ और श्री आनंदराज सुराना आदि। महाराजा जोधपुर श्री उम्मेदसिंह सपरिवार इंगलैंड जाने वाले थे। इस समय जोधपुर के प्रधानमंत्री सर सुखदेवप्रसाद थे। जनता में सर सुखदेवप्रसाद के विरुद्ध व्यापक असंतोष फैला हुआ था। इस अवसर पर जनता की ओर से २५ फरवरी, १९२५ को महाराजा के सामने इस आशय का एक प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत किया गया कि "इस समय इंगलैंड में इन्फ्लुएंजा फैला हुआ है और महारानी गर्भवती हैं, अतः वे अपनी इंगलैंड-यात्रा स्थगित कर दें।" प्रार्थना-पत्र में आगे कहा गया कि यदि महाराजा को यह प्रार्थन स्वीकार नहीं हो तो वे कम-से-कम सर सुखदेवप्रसाद को अपने पद से हटा दें और शासन का भार महाराज अजीतसिंह को सौंप दें। इस प्रसंग में १६ मार्च को लगभग २००० लोगों की भीड़ ने 'राय का बाग' महल में महाराजा को स्वयं एक ज्ञापन पेश कर मांग की कि महाराजा के विलायत जाने से पूर्व सर सुखदेवप्रसाद को अपने पद से हटा दिया जाए। अगले दिन अर्थात् १७ मार्च, १९२५ को श्री चांदमल सुराना और एडवोकेट श्री प्रतापचंद सोनी ने 'मारवाड़ हितकारिणी सभा' के नाम से एक तार महाराजा को दिया जिसमें पं० सुखदेवप्रसाद को अपने पद से हटाने की मांग की गयी। उक्त कार्यवाही के फलस्वरूप सरकार बौखला उठी। उसने २० मार्च को 'मारवाड़ हितकारिणी सभा' के प्रमुख कार्यकर्ता सर्वश्री चांदमल सुराना, प्रतापचंद सोनी और शिवकरण जोशी को देश-निकाला दे दिया। सरकार ने सभा के अन्य कार्यकर्ता सर्वश्री जयनारायण व्यास, आनंदराज सुराना, कस्तूरकरण, अब्दुल रहमान और बच्छराज व्यास को १० नंबरी करार देकर उन्हें पुलिस-निगरानी में रख दिया। जोधपुर सरकार प्रतापचंद सोनी से तो इतनी खिन्न थी कि उसने न केवल श्री सोनी को देशबदर किया वरन् उसके लड़के मूलचंद को कालेज तक में भर्ती नहीं होने दिया। श्री सुराना आदि के देश-निकाले के विरोध में ६ मई को जोधपुर में 'मारवाड़ हितकारिणी सभा' के तत्त्वावधान में एक सार्वजनिक सभा हुई जिसमें सरकार को इन तीनों कार्यकर्ताओं के निर्वासन-आदेश को रद्द करने की मांग की गयी। परंतु जनता की इस मांग का सरकार पर कोई असर नहीं पड़ा। कुछ महीनों बाद महाराजा विदेश से जोधपुर लौटे। सर्वश्री चांदमल सुराना, प्रतापचंद सोनी और शिवकरण जोशी ने महाराजा से प्रार्थना की कि वे कई महीने निर्वासन में रह चुके हैं, अब उन्हें मारवाड़ में फिर से प्रवेश करने की आज्ञा प्रदान की जाए। इधर श्री जयनारायण व्यास ने ३ नवंबर, १९२५ को महाराजा को एक लंबा पत्र लिखते हुए अपने साथियों और 'मारवाड़ हितकारिणी सभा' की स्थिति स्पष्ट की। व्यास जी की आत्मकथा के अनुसार इस स्पष्टीकरण से संतुष्ट होकर महाराजा ने सबको क्षमा कर दिया। श्री चांदमल सुराना आदि को मारवाड़-प्रवेश की आज्ञा मिल गयी। श्री व्यास और अन्य लोगों पर पुलिस-निगरानी

समाप्त कर दी गयी।[1] इसके साथ ही साथ मारवाड़ की जन-जागृति का एक अध्याय समाप्त हुआ और श्री जयनारायण व्यास के नेतृत्व में दूसरा अध्याय शुरू हुआ।

सितंबर, १९२८ में 'मारवाड़ हितकारिणी सभा' ने 'मारवाड़ लोक-राज्य परिषद्' का पहला अधिवेशन बुलाने का निश्चय किया। जोधपुर सरकार ने प्रस्तावित अधिवेशन पर पाबंदी लगा दी। इस समय श्री जयनारायण व्यास 'तरुण राजस्थान' साप्ताहिक के संपादक थे। यह पत्र व्यावर से निकलता था। श्री व्यास ने जोधपुर सरकार के इस कदम की 'तरुण राजस्थान' में कटु आलोचना की। इसके फलस्वरूप सर्वश्री जयनारायण व्यास, आनंदराज सुराना एवं भंवरलाल शर्राफ को गिरफ्तार कर लिया गया। इन तीनों पर नागोर के किले में एक विशेष अदालत में मुकदमा चलाया गया। अदालत ने श्री जयनारायण व्यास को ६ वर्ष और दूसरे साथियों को ५-५ वर्ष की सजा सुनायी। परंतु वे तीनों मार्च, १९३१ में गांधी-इर्विन समझौते के समय जेल से रिहा कर दिए गए।[2]

जेल से रिहा होते ही श्री व्यास अपने ४० साथियों सहित सन् १९३१ के करांची कांग्रेस अधिवेशन में शामिल हुए। कुछ समय बाद श्री व्यास सविनय अवज्ञा आंदोलन के सिलसिले में गिरफ्तार किए जाकर अजमेर जेल में बंद कर दिए गए। उधर जोधपुर में २६ जनवरी, १९३२ को स्वतंत्रता-दिवस के उपलक्ष्य में श्री छगनराज चौपासनीवाला ने राष्ट्रीय झंडा फहरा कर एक सनसनी पैदा कर दी। इसी वर्ष (सन् १९३२) सर्वश्री छगनराज चौपासनीवाला, अभयमल जैन और नरसिंह दास लूकड़ आदि नवयुवकों ने 'मारवाड़-यूथ लीग' नामक संस्था की स्थापना की। इस संस्था को सरकार ने कुछ समय बाद गैर-कानूनी घोषित कर दिया। श्री चौपासनीवाला को 'देशी राज्य लोक-परिषद्' के दिल्ली-अधिवेशन में राज्य-विरोधी भाषण देने के इल्जाम से मार्च, १९३४ में ६ माह तक शेरगढ़ जेल में बंद रखा गया। इस अरसे में जोधपुर सरकार ने जन-सुरक्षा कानून बनाया। इस कानून के अंतर्गत जेल में बंद किए जाने वाले प्रथम व्यक्ति थे—श्री अचलेश्वर प्रशाद शर्मा। व्यास जी जनवरी, १९३३ में व्यावर जेल से छूटकर आए और आते ही बीकानेर-षड्यंत्र में गिरफ्तार कार्यकर्ताओं की पैरवी में लग गए। इसके बाद वे सीकर, भावलपुर और लुहारु आदि स्थानों पर चल रहे जन-आंदोलनों में व्यस्त रहे।

गणगोर का जुलूस

सन् १९३५ में जोधपुर में गणगोर के जुलूस को लेकर एक ऐसी घटना घटी

१. 'व्यास जी की कहानी—उन्हीं की जबानी', 'प्रेरणा' साप्ताहिक, १० मार्च, १९६८।

२. 'व्यास जी की कहानी—उन्हीं की जबानी', पृ० २५।
श्री किशनपुरी ने अपनी पुस्तक 'मेमोइर्स ऑफ मारवाड़ पुलिस', पृ० १५१ पर व्यास जी को केवल ढाई वर्ष के कारावास एवं ५०० रुपये जुर्माने की सजा और अन्यों को दो-दो वर्ष के कारावास एवं ५० रुपये जुर्माने की सजा देना लिखा है।

जिससे तत्कालीन प्रशासन की मवोवृत्ति का परिचय मिलता है। बात यह हुई कि गणगोर का जुलूस निकलते समय सर्वश्री भानमल जैन और अभयमल जैन शाही गणगोर के सम्मान में खड़े नहीं हुए जिससे पुलिस ने उन्हें पकड़ लिया और महारानी के नोहरे में ले जाकर बांध दिया। दूसरे दिन इसी संबंध में राजमहल के लोगों ने श्री चौपासनीवाला को भी पकड़ लिया। इस घटना से जनता में रोष भड़क उठा। फलस्वरूप तीनों युवक छोड़ दिए गए। इन तीनों ने इस घटना को लेकर महारानी जोधपुर के भाई व कामदार पर नाजायज तौर पर हिरासत में रखने का मुकदमा दायर किया। कई महीनों बाद इस मुकदमे को व्यास जी के बीच-बचाव से उठा लिया गया। निरंकुश सामंतशाही के जमाने में उक्त युवकों का कार्य सचमुच साहस-भरा था।

सर गंगासिंह का प्रसिद्ध पत्र

सन् १९३६ में 'अखिल भारतीय देशी राज्य-परिषद' का अधिवेशन करांची में हुआ। व्यास जी परिषद् के महामंत्री चुने गए। परिषद् के अध्यक्ष डॉ० पट्टाभीसीता-रमैया जोधपुर आए। वहां उन्होंने कई आम सभाओं में भाषण दिए। व्यास जी परिषद् के अधिवेशन में भाग लेकर करांची से सीधे ही बंबई चले गए थे। वहां से वे 'अखंड भारत' नामक पत्र चला रहे थे। इस पत्र की आर्थिक स्थिति अत्यंत खराब थी। महाराजा बीकानेर सर गंगासिंह को जब इस स्थिति का पता चला तो उन्होंने रायसाहब सांघीदास द्वारा व्यास जी को गुमनाम से आर्थिक सहायता का पैगाम भेजा। परंतु व्यास जी ने अज्ञात व्यक्ति की यह खातिर मंजूर करने से स्पष्ट इनकार कर दिया। महाराजा बीकानेर इस घटना से व्यास जी से बड़े प्रभावित हुए। इस संबंध में उन्होंने २१ फरवरी, १९३७ को जो पत्र जोधपुर के तत्कालीन प्रधानमंत्री सर डोनाल्डफील्ड को लिखा वह इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण सामग्री बन गया है। इस पत्र में महाराजा ने कहा, "निस्संदेह श्री जयनारायण व्यास राजशाही की आलोचना करने में सबसे तीखे रहे हैं, लेकिन वे पक्के ईमानदार हैं। उनको कोई भ्रष्ट नहीं कर सकता। वे अपनी राजनीतिक मान्यताओं और आत्मा के प्रति सत्य-निष्ठ हैं। देशी रजवाड़ों में मुश्किल से ही व्यास जैसा पवित्र व्यक्ति पाएंगे जो राजाओं के प्रति जन्मजात घृणा रखते हुए भी ईमानदार हो और देशी राज्यों का शासन ठीक प्रकार से चला कर भलाई करने की क्षमता रखता हो। रियासतों की वे हुकूमतें, जिनकी आज हम निगरानी करते हैं, अंत में हमारे इन्हीं दुश्मनों के हाथ में जाएंगी। ऐसी स्थिति में हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम यह ध्यान रखें कि विरोधी खेमे में से नेक आदमी आगे आएं और जब हम हटें तो ऐसे ही लोग शासन की बागडोर संभालें।" पत्र के अंत में सर गंगासिंह ने कहा, "सिर्फ व्यास ही ऐसे आदमी हैं जो अपने हजारों साथियों पर अपने उच्च आदर्शों का असर रखते हैं। वे हमसे सहमत हों या नहीं, लेकिन उनमें जिम्मेदारी का निश्चय ही मादा है और उनकी

न्यायप्रियता पर भरोसा किया जा सकता है।[1] गंगासिंह जैसे निरंकुश शासक द्वारा व्यास जी के प्रति यह भाव व्यक्त करना व्यास जी की महानता को तो प्रकट करता ही है, पर साथ ही यह सर गंगासिंह की दूरदर्शिता को भी जाहिर करता है।

व्यास जी पर प्रतिबंध

आर्थिक कठिनाइयों के कारण व्यास जी को 'अखंड भारत' बंद कर देना पड़ा। व्यास जी ने फिल्मों में काम करने का निर्णय किया परंतु कुछ मित्रों के आग्रह से उन्होंने यह विचार त्याग दिया। वे बंबई से व्यावर लौट आए और कांग्रेस का संगठन संबंधी कार्य देखते रहे। इसी बीच वे २२ जुलाई, १९३७ को जोधपुर के लिए रेल से यात्रा कर रहे थे कि उन्हें मारवाड़-जंक्शन पर ही रोक लिया गया और उनसे कहा गया कि उनके मारवाड़-प्रवेश पर पाबंदी है। व्यास जी ने इस आदेश का प्रतिरोध किया। पुलिस उन्हें ट्रक में बैठाकर व्यावर ले गयी और उन्हें वहां छोड़ दिया। डॉ० पट्टाभीसीतारमैया और श्री मणीशंकर त्रिवेदी ने जोधपुर के दीवान सर डोनाल्डफील्ड से व्यास जी के मारवाड़ में घुसने पर लगायी गयी पाबंदी हटाने के संबंध में पत्र-व्यवहार किया पर कोई नतीजा कहीं निकला। उधर जोधपुर नगर में सरकार का दमन-चक्र तेज हुआ। 'मारवाड़ की अवस्था' नामक पर्चा निकालने के संबंध में श्री चौपासनीवाला को २ माह की सजा दी गयी। अचलेश्वरप्रसाद शर्मा को राजद्रोह के अभियोग में बालोतरा के मजिस्ट्रेट द्वारा ढाई साल की सजा दी गयी।

लोक-परिषद् की स्थापना

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि जोधपुर में जन-आंदोलन किसी न किसी रूप में सन् १९२०-२१ से होते आ रहे थे। परंतु सन् १९३८ में हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में पारित एक प्रस्ताव के अनुसार अब देशी रियासतों में उत्तरदायी सरकारों की स्थापना हेतु विशुद्ध राजनीतिक संगठन बनने लगे। १६ मई, १९३८ को जोधपुर के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं ने 'मारवाड़ लोक-परिषद्' की नींव डाली। इस संस्था का उद्देश्य था महाराजा जोधपुर की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना। लोक-परिषद् की स्थापना के कुछ ही महीनों बाद पिता की बीमारी के सिलसिले में सरकार ने कतिपय शर्तों के साथ व्यास जी को कुछ समय के लिए जोधपुर राज्य में प्रवेश करने की इजाजत दे दी। फरवरी, १९३९ में जोधपुर सरकार ने व्यास जी के ऊपर लगाए गए सभी प्रतिबंध हटा लिये। इन्हीं दिनों जोधपुर सरकार ने एक सलाहकार-मंडल की स्थापना की। व्यास जी इस सलाहकार-मंडल के सदस्य नियुक्त किए गए। इस वर्ष मारवाड़ में भयंकर अकाल पड़ा। व्यास जी की देख-रेख में लोक-परिषद् के कार्यकर्ता अकाल-राहत-कार्य में जुट गए। इससे लोक-परिषद् की लोकप्रियता बढ़ने लगी। जगह-जगह परिषद् की शाखाएं स्थापित हो गयीं। फरवरी,

1. करणीसिंह, 'बीकानेर घराने का केंद्रीय शक्तियों से संबंध' (अंग्रेजी में), पृ० ३७८।

१९४० में लोक-परिषद् की जोधपुर शाखा ने राजपूताना स्टेट्स पीपुल्स कान्फ्रेंस का एक जलसा बुलाने का निर्णय किया। इस संबंध में परिषद् के अध्यक्ष श्री रणछोड़दास गट्टानी २९ मार्च, १९४० को महात्मा गांधी से मिले। परिषद् की बढ़ती हुई लोकप्रियता से जोधपुर सरकार सहम गयी। उसने मारवाड़ लोक-परिषद् को गैर-कानूनी घोषित कर दिया और व्यास जी सहित ७ कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया। इस आंदोलन में सैकड़ों कार्यकर्ता गिरफ्तार हुए। स्वयं महात्मा गांधी ने 'हरिजन' में जोधपुर सरकार की दमनकारी नीति की भर्त्सना की। अंत में राज्य के एक लोकप्रिय अधिकारी श्री जसवंतराज महता के प्रयत्नों से लोक-परिषद् और सरकार के बीच समझौता हो गया। श्री गंगादास व्यास ने जो इस समय राज्य सरकार के एक कर्मचारी थे, श्री महता और श्री व्यास के मध्य चली समझौता-वार्ता को सफल बनाने में सक्रिय योग दिया। व्यास जी ने लोक-परिषद् को मारवाड़ पब्लिक सोसाइटीज एक्ट के अंतर्गत रजिस्टर करवाना स्वीकार कर लिया। उन्होंने सरकार को विश्वास दिलाया कि परिषद् द्वितीय महायुद्ध के दौरान ऐसी कोई कार्यवाही नहीं करेगी, जिससे युद्ध-कार्यों में बाधा पड़े। दूसरी ओर सरकार ने लोक-परिषद् के महाराजा के तत्त्वावधान में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करने के उद्देश्य को स्वीकार कर लिया। सरकार ने सभी राजनीतिक बंदियों को रिहा कर दिया।

पुनः आंदोलन

इस बदले हुए वातावरण में सरकार ने जोधपुर में नगरपालिका के चुनाव कराए। इन चुनावों में लोक-परिषद् ने बहुमत प्राप्त कर लिया। व्यास जी स्वयं नगरपालिका के अध्यक्ष चुन लिये गए। लोक-परिषद् की बढ़ती हुई लोकप्रियता से से रुष्ट होकर सरकारी क्षेत्रों द्वारा कतिपय समाचार-पत्रों में परिषद्-विरोधी लेख प्रकाशित करवाए गए। चुनी हुई नगरपालिका के कार्यों में सरकार की ओर से बाधाएं डाली जाने लगीं। सर डोनाल्डफील्ड ने अपने एक पत्र में व्यास जी पर यह दोषारोपण किया कि "आपका जनतंत्र में कोई विश्वास नहीं है और आपके विचार नाजी एवं फासिस्ट आदर्शों से अधिक मेल खाते हैं।"[1] इन कारणों से राज्य में राजनीतिक वातावरण पुनः खराब हो गया। सितंबर, १९४१ में सलाहकार-परिषद् के चुनावों की घोषणा की गयी। लोक-परिषद् ने सरकार के रवैये के विरोध में सलाहकार-परिषद् के चुनाव नहीं लड़ने का निर्णय किया। इन्हीं दिनों चंडावल और नीमाज के जागीर इलाकों में कुछ ऐसी घटनाएं घटीं, जिससे परिषद् और सरकार के बीच तनाव बढ़ गया। व्यास जी ने सर डोनाल्डफील्ड को प्रधानमंत्री पद से हटाने और राज्य में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करने की दृष्टि से आंदोलन शुरू कर दिया। २५ मई, १९४२ को व्यास जी और उनके साथियों ने नगरपालिका की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया। उन्होंने परिषद् के विधान को स्थगित

१. सर डोनाल्डफील्ड के बंगलौर से १४ जुलाई, १९२१ को लिखे गए पत्र से।

कर दिया और अपने-आपको परिषद् का पहला डिक्टेटर घोषित कर दिया। व्यास जी परिषद् के एक कार्यकर्ता श्री फतेहराज के साथ २६ मई को गिरफ्तार कर लिये गए। कुछ ही दिनों बाद लोक-परिषद् के सभी खास-खास कार्यकर्ता गिरफ्तार कर लिये गए, जिनमें सर्वश्री मथुरादास माथुर, स्वामी चैनदास, अचलेश्वरप्रसाद शर्मा, छगनराज चौपासनीवाला, रणछोड़दास गट्टानी, भंवरलाल शर्राफ, बालमुकंद बिस्सा, संत लाडाराम, राधाकृष्ण तात, अभयमल जैन, पुरुषोत्तम नैयर और स्वामी कृष्णानंद आदि शामिल थे। देश के विभिन्न भागों में जोधपुर राज्य की इस दमनपूर्ण नीति की निंदा की गयी।

जेल में भूख-हड़ताल

जोधपुर जेल में राजनीतिक बंदियों के साथ दुर्व्यवहार किया गया। उन्हें खराब खाना दिया गया। उन्हें न तो समाचार-पत्र ही मुहैया किए गए और न खुले में सोने की इजाजत दी गयी। इस पर सर्वश्री व्यास जी, चौपासनीवाला, अभयमल जैन, अचलेश्वरप्रसाद शर्मा और बालमुकंद बिस्सा आदि ४१ राजनीतिक बंदियों ने भूख-हड़ताल शुरू कर दी। यह खबर सारे देश में फैल गयी। 'अखिल भारतीय देशी राज्य लोक-परिषद्' के अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू ने श्री द्वारकादास कचरू और महात्मा गांधी ने श्री श्रीप्रकाश को स्थिति का अध्ययन करने हेतु जोधपुर भेजा। इसी बीच भूख-हड़ताल करने वाले एक कार्यकर्ता श्री बालमुकंद बिस्सा का स्वास्थ्य खराब हो गया। उन्हें केंद्रीय कारागृह से अस्पताल ले जाया गया, जहां १६ जून, १६४२ को वे शहीद हो गए। महात्मा गांधी ने जोधपुर में हुई इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना की अपने पत्र 'हरिजन' में कटु आलोचना की। अंत में श्री श्रीप्रकाश ने बीच में पड़कर राजनीतिक बंदियों के साथ जेल में उचित व्यवहार करने की व्यवस्था करायी। ६ अगस्त, १६४२ को महात्मा गांधी व अनेक नेताओं की गिरफ्तारी के साथ ही 'भारत छोड़ो' आंदोलन छिड़ गया। मारवाड़ में भी आंदोलन में तेजी आयी। अब तक संगठन की दृष्टि से जो भी नेता बाहर थे, वे भी गिरफ्तार हो गए। इस आंदोलन के समय श्री गंगादास 'भा' अपने पुत्र श्री तारक प्रसाद व्यास एवं परिवार के सात सदस्यों-सहित जेल गए। अन्य जेल जाने वालों में प्रमुख थे सर्वश्री द्वारकादास पुरोहित, वंशीधर पुरोहित, सुमनेश जोशी, फूलचंद बापणा और बालकृष्ण थानवी।

२१ नवंबर, १६४२ की रात्रि को केंद्रीय कारागृह जोधपुर में राजनीतिक बंदियों को पीटा गया। सर्वश्री व्यास, सुमनेश जोशी, छगनराज चौपासनीवाला एवं मोतीलाल आदि को गंभीर चोटें आयीं। इस दुर्घटना के बाद व्यास जी को कतिपय सत्याग्रहियों के साथ सीवाना के किले में भेज दिया। सर्वश्री मथुरादास माथुर, फतेहराज, गणेशराज व्यास आदि को जालोर किले में और अन्य सत्याग्रहियों को दौलपुरा किले में बंद कर दिया गया। इस आंदोलन में करीब ४०० व्यक्ति जेल गए।

'भारत छोड़ो' आंदोलन के दौरान जोधपुर का युवक वर्ग भी देश के अन्य

भागों के युवा वर्ग से पीछे नहीं रहा। जोधपुर के कतिपय युवकों ने पहली बार सन् १९४२ के अंत में और दूसरी बार सन् १९४३ के शुरू में बम-विस्फोट किए जिससे राजधानी में भारी तहलका मच गया। पुलिस दोनों मामलों में अभियुक्तों का पता चलाने में सफल हो गयी। लगभग २० नौजवानों पर देश-द्रोह के मुकदमे चलाए गए। पहले मुकदमे में देवराज जैन को ५ वर्ष, सोहनमल लोढ़ा और हरमल सिंह को ४-४ वर्ष की एवं दूसरे मुकदमे में परसराम खिवसरा को ८ वर्ष, रामचंद्र बोड़ा, सूरजप्रकाश पापा और सीताराम सोलंखी को ४-४ वर्ष एवं श्यामसुंदर व्यास, ऊगमराज भणोत तथा किस्तूरचंद पुरोहित को ढाई-ढाई वर्ष की सख्त सजा दी गयी। सभी अभियुक्त द्वितीय युद्ध की समाप्ति के बाद १७ अगस्त, १९४५ को जेल से रिहा किए गए।[1]

रिहाई संबंधी विवाद

जोधपुर में सन् १९४२ का आंदोलन काफी लंबा चला। इस कारण संभवतः कुछ कार्यकर्ता थक गए और सरकार से किसी तरह समझौता कर जेल से बाहर जाने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने व्यास जी पर आंदोलन समाप्त करने के लिए दबाव डाला। दूसरी ओर परिषद् के साम्यवादी गुट ने द्वितीय महायुद्ध को जनयुद्ध की संज्ञा दी। जोधपुर के प्रमुख साम्यवादी कार्यकर्ता श्री एच० के० व्यास ने परिषद् के नेताओं से सरकार से समझौता करने का आग्रह किया। पर व्यास जी ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। जालोर किले में बंद लोक-परिषद् के कतिपय साथियों का भी यह मत था कि रूस के लड़ाई में शामिल हो जाने से स्थिति बदल गयी है और अंग्रेजों द्वारा जर्मनी के विरुद्ध लड़ी जाने वाली लड़ाई जनयुद्ध में परिणत हो गयी है। अतः लोक-परिषद् को अपना आंदोलन उठा लेना चाहिए। व्यास जी के प्रमुख साथियों ने तदनुसार एक पत्र श्री व्यास जी को लिखा। पर व्यास जी टस से मस नहीं हुए।

अक्तूबर, १९४३ में बिजोलाई महल में बंद श्री गंगादास व्यास ने प्रजा-परिषद् और सरकार के बीच समझौता-वार्ता शुरू करने के लिए सर डोनाल्डफील्ड को एक पत्र लिखा। इस पर श्री गंगादास और राज्य के इंस्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस के बीच वार्ता हुई। दोनों ने मिलकर सरकार और लोक-परिषद् के बीच समझौता करने का एक आधार तैयार किया। श्री गंगादास व्यास जी से मिले। पर व्यास जी ने आंदोलन समाप्त करने के संबंध में सुझायी गयी शर्तों को ठुकरा दिया। इसके कुछ समय बाद श्री गंगादास 'खेद' प्रकट करने पर जेल से रिहा कर दिए गए। उनकी रिहाई के साथ ही साथ परिषद् के कार्यकर्ताओं द्वारा माफी मांगने का एक दुर्भाग्य-पूर्ण सिलसिला चल पड़ा। इस वातावरण से जेल में बंद परिषद् के चोटी के नेताओं में भी घबराहट पैदा हुई। इन परिस्थितियों में श्री गंगादास सरकार की ओर से कुछ

१. 'जोधपुर-राजपत्र', जिल्द ८०, १८ अगस्त, १९४५, पृ० १५७१।

प्रस्ताव लेकर व्यास जी से मिले। राज्य के आई० जी० पी० ने भी व्यास जी से मुलाकात की। आई० जी० पी० ने व्यास जी से महायुद्ध के संबंध में परिषद् की नीति जानने की इच्छा प्रकट की। व्यास जी ने बताया कि लोक-परिषद् की नीति युद्ध-संबंधी कार्यों में बाधा पहुंचाने की नहीं है। व्यास जी ने कहा कि उन्हें सरकार को तत्संबंधी आश्वासन देने में कोई आपत्ति नहीं है। व्यास जी ने इस आशय का एक पत्र भी प्रधानमंत्री डोनाल्डफील्ड को लिखा।[1] प्रधानमंत्री ने इस पत्र के आधार पर अविलंब ही व्यास जी की रिहाई के आदेश देते हुए जोधपुर गजट में निम्न विज्ञप्ति प्रकाशित की :

"श्री जयनारायण व्यास ने स्वयं की ओर से एवं सन् १९४२-४३ के आंदोलन से संबंधित अपने साथियों की ओर से यह लिखित घोषणा की है कि मारवाड़ लोक-परिषद् भविष्य में सरकार के साथ सहयोग करने को तैयार है। उन्होंने विश्वास दिलाया है कि परिषद् ऐसा कोई कार्य नहीं करेगी जिससे राज्य-सरकार, भारत-सरकार अथवा अन्य राज्यों की सरकारों को कोई एम्बेरेसमेंट हो। परिषद् ने खास तौर पर यह भी स्पष्ट किया कि उसने सरकार के युद्ध-प्रयासों में न तो पहले कभी बाधा डाली है और न अब डालेगी। सहयोग की भावना की कद्र करते हुए महाराजा साहब सपरिषद् यह आदेश प्रदान करते हैं कि श्री जयनारायण व्यास और उनके अन्य साथियों को, जो उक्त घोषणा को स्वीकार करें, तुरंत रिहा कर दिए जाए।"

व्यास जी २८ मई, १९४४ को जेल से रिहा हुए। उन्हें जब प्रधानमंत्री की २४ मई की विज्ञप्ति देखने को मिली तो वे आग-बबूला हो गए। उन्होंने एक प्रेस-विज्ञप्ति जारी करते हुए कहा कि हमने न तो कोई गलती स्वीकार की है और न रिहाई की प्रार्थना की है। हमने केवल मात्र यह कहा है कि हम सरकार के युद्ध-प्रयत्नों में बाधा नहीं डालेंगे और सरकार से सहयोग करेंगे। व्यास जी ने आगे कहा कि यह केवल 'मारवाड़ लोक-परिषद्' की स्वीकृत नीति का स्पष्टीकरण था। कुछ भी हो, परिषद् के अधिकतर कार्यकर्ता सरकार की विज्ञप्ति के आधार पर सरकार को लिखित आश्वासन देकर छूट आए।[2] कुछ ही कार्यकर्ता ऐसे थे जिन्होंने सरकार को किसी प्रकार का आश्वासन देने से इनकार कर दिया। इनमें श्री रणछोड़दास गट्टानी अग्रणी थे।

लोक-परिषद् के नेताओं और कार्यकर्ताओं की रिहाई के बाद यह आशा बंधी थी कि राज्य में शासन-सुधार होंगे, जागीरी जुल्म समाप्त होंगे और नागरिक-अधिकारों की रक्षा होगी। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। ज्यों-ज्यों भारत की आजादी नजदीक दिखाई दी, त्यों-त्यों सामंत-वर्ग समय-समय पर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने लगा। डावडा जैसे नृशंस कांड इस प्रकार के प्रदर्शनों के अंग थे। स्मरण रहे, नागोर जिले के डावडा ग्राम में श्री मथुरादास माथुर के नेतृत्व में आयोजित किसान-सम्मेलन पर

१. व्यास जी की अप्रकाशित जीवनी से।
२. वही।

जागीरदारों ने सशस्त्र हमला किया, जिसमें लाडनू तहसील के श्री चुन्नीलाल शर्मा एवं पांच किसान कार्यकर्ता शहीद हुए। स्वयं श्री माथुर, सर्वश्री किशनलाल शाह चौपासनीवाला और वंशीधर पुरोहित आदि बुरी तरह घायल हुए। परंतु ब्रिटिश-भारत में तेजी से बदलते हुए घटना-चक्र को ध्यान में रखते हुए परिषद् आंदोलन छेड़ना नहीं चाहती थी। एक लंबे समय तक राज्य में राजनीतिक गत्यावरोध की स्थिति बनी रही।

जिन्ना से सांठ-गांठ

लॉर्ड पैथिक लारेंस के नेतृत्व में ब्रिटिश मंत्रिमंडल द्वारा भेजा हुआ एक उच्च स्तरीय प्रतिनिधिमंडल भारत को सत्ता हस्तांतरित करने के संबंध में ९ मार्च, १९४६ को भारत पहुंचा। देश के विभिन्न नेताओं से विचार-विमर्श के बाद इस प्रतिनिधि-मंडल ने घोषणा की कि भारत की स्वतंत्रता के बाद देशी राज्य भारत या पाकिस्तान में शामिल होने अथवा अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखने को आजाद होंगे। महत्त्वाकांक्षी राजाओं के लिए यह एक 'स्वर्ण अवसर' था। सन् १९४७ के शुरू में महाराजा उम्मेद-सिंह का देहांत हो गया। उनके स्थान पर हनुवंतसिंह जोधपुर की गद्दी पर बैठे। हनुवंतसिंह महाराजा धौलपुर के मारफत ६ अगस्त, १९४७ को दिल्ली में भोपाल के नवाब से मिले और उनसे इच्छा प्रकट की कि वे अपने राज्य का पाकिस्तान से संबंध स्थापित करने के संबंध में जिन्ना से मिलना चाहते हैं।[1] नवाब तो पहले ही महाराजा जोधपुर की तलाश में था। नवाब की योजना थी कि भोपाल, इंदौर, उदयपुर, जोध-पुर और जैसलमेर की रियासतों से घिरा हुआ सारा क्षेत्र पाकिस्तान का अंग बन जाए। वह महाराजा जोधपुर को लेकर जिन्ना के निवास-स्थान पर पहुंचा। मुलाकात के दौरान जिन्ना ने महाराजा को बताया कि जो भी रियासतें पाकिस्तान में शामिल होंगी, उनके साथ सम्मानपूर्वक 'संधि' की जाएगी और वे सब स्वतंत्र रहेंगी। जिन्ना ने महाराजा को कहा कि वे जिन शर्तों पर भी पाकिस्तान में शामिल होना चाहते हैं, उन्हें लिखकर दे दें और वे आंख मीचकर उस पर हस्ताक्षर कर देंगे। यही नहीं, उसने महाराजा को इस हेतु अपने हस्ताक्षरयुक्त एक खाली कागज भी दिया।

जिन्ना से आश्वत होकर हनुवंतसिंह ने नवाब के इशारे पर मेवाड़ के महा-राणा से पाकिस्तान में शामिल होने का आग्रह किया। पर महाराणा ने उन्हें दो टूक जवाब दिया। महारावल जैसलमेर पहले ही असमंजस की स्थिति में थे। ऐसी परि-स्थितियों के बीच महाराजा रियासत की नब्ज जानने के उद्देश्य से दिल्ली से जोधपुर पहुंचे। वहां उन्होंने देखा कि जोधपुर के पाकिस्तान में शामिल होने के प्रश्न को लेकर सारा वातावरण दूषित हो चुका है। उन्होंने पाया कि न केवल रियासत का जनमत वरन् सामंत और एक या दो उच्चाधिकारियों को छोड़कर मुसद्दी वर्ग भी मारवाड़ के पाकिस्तान में शामिल होने के विरुद्ध है। ८ अगस्त, १९४७ को महाराजा अपने गुरु

१. 'सरदार पटेल कॉरसपोंडेंस', जिल्द ५, अपेंडिक्स १; पृष्ठ ५१५-१७।

स्वामी माधवानंद को लेकर दिल्ली पहुंचे और महाराजा धौलपुर के निवास-स्थान पर भूपाल के नवाब से विचार-विनिमय किया। पर महाराजा किसी निर्णय पर नहीं पहुंच सके।

जोधपुर भारतीय संघ में शामिल

इसी बीच रियासती मंत्रालय के सचिव वी० पी० मेनन को महाराजा के दिल्ली पहुंचने की सूचना मिली। वे तुरंत होटल इंपीरियल पहुंचे, जहां महाराजा जोधपुर भूपाल के नवाब से मिलकर लौटे ही थे। मेनन ने महाराजा को कहा कि वायसराय लॉर्ड माउंटबेटन उनसे अविलंब मिलना चाहते हैं। दोनों ही तत्काल वायसराय के निवास-स्थान पर पहुंचे। मेनन महाराजा को आगंतुकों के कक्ष में बैठाकर माउंटबेटन से मिले और उनको जोधपुर के पाकिस्तान में शामिल होने के प्रयत्नों के संबंध में ताजा घटनाओं से परिचित कराया। माउंटबेटन ने महाराजा को अपने कमरे में बुलाया और समझाया कि विशुद्ध कानूनी दृष्टि से वे पाकिस्तान में मिलने को स्वतंत्र हैं, परंतु वे पूरी तरह सोच लें कि एक हिंदू बहुमत वाली रियासत के पाकिस्तान में शामिल होने पर वहां की जनता पर क्या प्रतिक्रिया हो सकती है और उसके क्या नतीजे हो सकते हैं। महाराजा ने कहा कि जोधपुर के पाकिस्तान में शामिल होने के लिए जिन्ना मनवांछित रियासतें देने को तैयार हैं और पूछा कि क्या इसी प्रकार की रियायतें भारत सरकार भी देने को रजामंद है। मेनन ने कहा कि वे 'वादों' के आधार पर ही भारत या पाकिस्तान में शामिल होना चाहते हैं तब तो वे भी भारत सरकार की ओर से सभी तरह के 'वादे' कर देंगे, पर इस प्रकार के वादे आगे चलने वाले नहीं हैं। बहुत बहस-मुबाहसे के बाद महाराजा ने भारतीय संघ में शामिल होना स्वीकार कर लिया और 'इंस्ट्रूमेंट ऑफ एक्सेशन' पर हस्ताक्षर कर दिए।[1]

मेनन पर पिस्तौल तनी

इसी बीच माउंटबेटन महाराजा और मेनन को कमरे में छोड़कर बाहर गए ही थे कि महाराजा ने पिस्तौल निकाली और मेनन की ओर तानते हुए कहा कि "मैं तुम्हारे दबाव के सामने झुकने वाला नहीं हूं।" पिस्तौल के सामने अपने-आपको संभालते हुए मेनन ने दृढ़तापूर्वक कहा, "इस प्रकार के बचकाने व्यवहार और गीदड़-भभकी से कोई लाभ नहीं होने वाला है। यदि महाराजा यह सोचते हैं कि मुझे मारने अथवा धमकी देने से जोधपुर का भारतीय-संघ में मिलने का निर्णय रद्द हो जाएगा तो वे भयंकर गलती करते हैं।"[2] यह कुछ हो ही रहा था कि इतने में माउंटबेटन पुनः कमरे में आ गए। उन्होंने जब यह हाल सुना तो सारी घटना को हंसी में परिवर्तित कर दिया और 'इंस्ट्रूमेंट आफ एक्सेशन' को जेब में रखकर महाराजा को विदा

१. वी० पी० मेनन, 'देशी राज्यों के एकीकरण की कहानी', पृ० ११७।
२. वही।

किया। उस दिन जोधपुर के भारतीय संघ में शामिल होने की खबर सुनकर सारे देश ने राहत की सांस ली।

महाराजा हनुवंतसिंह किसी तरह भारतीय संघ में शामिल हो गए पर निरंकुश राजतंत्रवाद का भूत अभी भी उनके सिर पर सवार था। जोधपुर राज्य पर वे अपना एकछत्र शासन चाहते थे। राज्य-सेवाओं के 'मारवाड़ीकरण' करने के नाम पर सब से पहले उन्होंने अक्तूबर, १९४७ में उदार विचारधारा के एक आई० सी० एस० श्री वैंकटाचार्य को प्रधानमंत्री के पद से हटाया और उसके स्थान पर अपने चाचा अजीतसिंह को नियुक्त किया। एक १८ वर्ष के राजपूत युवक को राज्य का गृहमंत्री बनाया। लगभग सारा मंत्रिमंडल सामंतवादी तत्त्वों से भर दिया। पंडित नेहरू ने अपने ४ नवंबर, १९४७ के पत्र द्वारा उक्त घटना के संबंध में गृहमंत्री सरदार पटेल का ध्यान खींचते हुए लिखा :

"जैसा कि आपको ज्ञात है अलवर, भरतपुर और जोधपुर के शासक अपने-अपने राज्यों में जुल्म ढाह रहे हैं। जोधपुर ने तो एक १८ वर्ष के मूर्ख नौजवान को अपना गृहमंत्री बनाया है। वैंकटाचार्य को इन्हीं कारणों से जोधपुर छोड़ना पड़ा। ये राजा लोग बड़े ही मूर्ख हैं और अपने-आपको हानि पहुंचा रहे हैं।"[1]

लोकप्रिय सरकार की ओर

महाराजा के इस कदम का जोधपुर की जनता ने जबरदस्त विरोध किया। राज्य की स्थिति से चिंतित होकर सरदार पटेल ने २८ फरवरी, १९४८ को मेनन को महाराजा को समझाने जोधपुर भेजा। फलस्वरूप श्री जयनारायण व्यास के नेतृत्व में एक मिला-जुला मंत्रिमंडल बना जिसमें लोक-परिषद् और सामंत वर्ग के प्रतिनिधि शामिल किए गए। इस प्रकार के मंत्रिमंडल का सुचारु रूप से चलना संभव नहीं था। मंत्रिमंडल में कई बार हेरफेर हुए। अंत में सितंबर, १९४८ में श्री व्यास के नेतृत्व में नया मंत्रिमंडल बना जिसमें पहली बार लोक-परिषद् का बहुमत हुआ। इस मंत्रिमंडल में व्यास जी के अलावा श्री मथुरादास माथुर और श्री द्वारकादास पुरोहित भी शामिल हुए।

जोधपुर का विलय

इसी बीच देश में घटनाचक्र तेजी से घूमा। छोटे-बड़े सभी देशी राज्यों के संघ बनने लगे। जोधपुर एक स्वतंत्र इकाई के रूप में रहने का अधिकारी था, पर उदयपुर के संयुक्त राजस्थान में शामिल होने के बाद उसका एक स्वतंत्र इकाई के रूप में रहना संभव नहीं था। रियासती सचिवालय चाहता था कि जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर को मिलाकर एक सीमांत राज्य बना दिया जाए। पर यह प्रस्ताव न तो राजाओं को ही मंजूर था और न वहां के नेताओं को ही। दोनों ही पक्ष राजस्थान में

१. 'सरदार पटेल का पत्र-व्यवहार', जिल्द ५, पृ० ४१२।

मिलने को उत्सुक थे । अतः सरदार पटेल ने अपना निर्णय जोधपुर को जयपुर और बीकानेर के साथ राजस्थान में मिलने के पक्ष में दिया । ३० मार्च, १९४९ को जयपुर में सरदार वल्लभभाई पटेल द्वारा राजस्थान यूनियन का उद्घाटन हुआ । इस प्रकार ९,५०,००० वर्ग किलोमीटर में फैली हुई राजस्थान की सबसे बड़ी रियासत 'नौ कोठी मारवाड़' का ६०० वर्ष बाद सदा के लिए अस्तित्व समाप्त हो गया ।

महाराजा का शोक-प्रदर्शन

वृहत् राजस्थान के निर्माण के साथ ही साथ मारवाड़ की कहानी तो समाप्त हो गयी, पर मारवाड़ के अंतिम शासक महाराजा हनुवंतसिंह की कहानी अभी शेष थी । भारत सरकार के आदेशानुसार राजाओं को १५ अगस्त, १९४९ को स्वतंत्रता दिवस के उपलक्ष्य में अपनी-अपनी रियासतों के मुख्य कार्यालयों पर राष्ट्रीय झंडा फहराना था । तदनुसार जोधपुर के कलक्टर ने महाराजा जोधपुर को जिला-मुख्यालय पर झंडा फहराने को आमंत्रित किया । महाराजा आए पर काले रंग का साफा बांध कर । किसी पत्रकार ने महाराजा से पूछा कि इस शुभ दिन यह शोक-सूचक रंग का साफा कैसे ? महाराजा ने उत्तर दिया, "१५ अगस्त आप लोगों के लिए शुभ दिन है । मेरे वंश की तो आज इतिश्री हो चुकी है ।" महाराजा के इस उत्तर में कटु सत्य था ।

दुखद अंत

जोधपुर राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जाने के बाद भी हनुवंतसिंह उन राजाओं में से थे जिन्होंने दिल और दिमाग से राज्य और सत्ता का विसर्जन स्वीकार नहीं किया । सन् १९५० के ग्रीष्मकाल में बड़ौदा के नेतृत्व में विंध्य प्रदेश के जंगलों में एक नये संघ की स्थापना की गयी जिसका उद्देश्य रियासतों के विलयीकरण को चुनौती देना था । भारत सरकार ने बड़ौदा के महाराजा प्रतापसिंह को गद्दी से हटा कर राजाओं के इस प्रयास की भ्रूणहत्या कर दी । महाराजा हनुवंतसिंह केवल 'चेतावनी' मात्र से ही छुट्टी पा गए । पर अभी तक उन्होंने हार स्वीकार नहीं की थी । सन् १९५२ के आम चुनावों में वे सदलबल कूद पड़े । उन्होंने नारा लगाया, "मैं थांसू दूर नहीं ।" इस नारे ने चमत्कार का काम किया । फिर धन, पारंपरिक वैभव और प्रभाव तो था ही । भूतपूर्व जोधपुर रियासत के क्षेत्र में कांग्रेस की करारी हार हुई । युवा महाराजा के जीवन की यह सर्वश्रेष्ठ घड़ी थी । वे अपनी अभूतपूर्व विजय के उल्लास में अपनी प्रेयसी जुबैदा के साथ अपने व्यक्तिगत हवाई जहाज को लेकर जवाई नदी के आस-पास उड़ानें भर रहे थे । यह भी कहा जाता है कि वे जालोर के चुनावों का नतीजा जानने के लिए जालोर जा रहे थे, जहां से श्री जयनारायण व्यास विधान-सभा के लिए खड़े हुए थे । अकस्मात ही उनका जहाज एक पहाड़ी पर गड़े हुए टेलीफोन के खंभे से टकराकर गिर पड़ा और जल गया । महाराजा और जुबैदा इस दुर्घटना के शिकार हो गए और घटना-स्थल पर ही इस दुनिया से चल बसे । इस प्रकार

युवक महाराजा के रंगीन और घटनापूरित जीवन का दुखद अंत हुआ। महाराजा की विशाल शव-यात्रा में शत्रु और मित्र सभी ने भाग लेकर राठौड़ वंश के इस अंतिम शासक के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

जांगलू देश—बीकानेर

राठौड़ों के प्रभुत्व में आने के पूर्व बीकानेर राज्य का इलाका 'जांगलू देश' के नाम से विख्यात था। यह प्रदेश मरुदेश (मारवाड़) के उत्तर में स्थित था। महाभारत-काल में इसे 'जांगलू देश' कहते थे। कुल मिलाकर यह प्रदेश थार के महान् रेगिस्तान का एक अंग था जहां जल और घास की कमी थी पर वायु और धूप की प्रबलता थी। इसीलिए 'शब्द कल्पद्रुम' के अनुसार इस प्रदेश को 'जांगलू देश' कहा जाता था।

बीका का जांगलू-विजय के लिए कूच

मारवाड़ के स्वामी राव जोधा की ६ रानियों से १७ पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें से हाड़ी रानी जसमादे से उत्पन्न नींबा सबसे बड़ा था। परंतु नींबा की मृत्यु राव जोधा के जीते-जी हो ही चुकी थी। जोधा का दूसरा पुत्र बीका था,[१] जो सांखली रानी नौरंगदे से उत्पन्न हुआ था। राजपूत राजवंशों की परंपरा के अनुसार नींबा की मृत्यु के बाद बीका मारवाड़ की गद्दी का वास्तविक हक़दार था। परंतु राव जोधा जसमादे रानी से अधिक प्रेम करता था। अतः वह बीका की बजाय जसमादे के दूसरे पुत्र सांतल को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। एक दिन जोधा को अपनी इच्छा को कार्य रूप में परिणत करने का अवसर मिल गया। दयालदास की ख्यात के अनुसार एक दिन राव जोधा के दरबार में बीका अपने काका कांधल से कुछ कानाफूसी कर रहा था। इस पर जोधा ने ताना मारते हुए कहा कि क्या काका-भतीजा सलाह कर कोई नया मुल्क जीतने जा रहे हैं? बीका को अपने पिता की बात चुभ गयी। वह ३० सितंबर, १४६५ को अपने काका कांधल, भाई जोगा और बीदा, नापा सांखला, पड़िहार बेला और बच्छावत महता वीरसिंह एवं १०० सवार और ५०० प्यादों के साथ जांगलू-विजय के लिए चल पड़ा।[२]

करनी माता का आशीर्वाद

बीका सदलबल मंडोवर होता हुआ देशनोक पहुंचा, जहां उसकी चारण परिवार की देवी-तुल्य करनी जी नामक महिला से भेंट हुई। करनी जी ने उसे आशीर्वाद दिया और भविष्यवाणी की कि वह अपने पिता से भी अधिक शक्तिशाली होगा और कई राजा लोग उसके आधीन होंगे। यही करनी जी मृत्यु के बाद बीकानेर के राठौड़

१. कविराज श्यामलदास, 'वीर विनोद', जिल्द २, पृ० ४७८।
२. 'दयालदास की ख्यात', जिल्द २, पृ० १-३।

वंश की कुलदेवी के रूप में पूजी जाने लगी ।[1]

नये राज्य की स्थापना

बीका देशनोक से चांडासर होता हुआ कोडमदेसर पहुंचा और वहां सन् १४७२ में अपने-आपको राजा घोषित किया ।[2] उसने सांखलों के ८४ गांव अपने अधीन कर लिये और पूंगल के भाटी राव शेखा की पुत्री रंगदे से शादी की । उसने नापा सांखला की सलाह से सन् १४८५ में रातिघाटी नामक स्थान पर एक किले की नींव डाली । इसके ३ वर्ष बाद उसने १२ अप्रैल, १४८८ को किले के पास ही अपने नाम से बीकानेर नगर बसाया और उसे अपने राज्य की राजधानी बनाया ।

जा पर प्रभुत्व

अब बीका ने अपने राज्य का विस्तार करने की ओर ध्यान दिया । बीकानेर के उत्तर-पूर्व के इलाकों में जाटों का प्रभुत्व था । शेखसर के इलाके पर गोदारा जाट पांडू का तथा माडंग पर सारण जाट पूला का अधिकार था । पांडू ने पूला की स्त्री मल्की को उड़वाकर अपने घर में डाल लिया । इस पर पूला ने सिवानी के स्वामी नरसिंह जाट की सहायता से पांडू पर चढ़ाई की । पांडू ने बीका से सहायता की याचना की । बीका ने तुरंत पूला और नरसिंह का पीछा किया । बीका ने द्वंद्व-युद्ध में नरसिंह को तलवार के घाट उतार दिया । अंत में पूला आदि सभी जाटों ने बीका से क्षमा मांगी । जाटों के सब इलाके बीका के अधिकार में आ गये ।[3] इस अवसर पर बीका ने जाटों को यह इज्जत प्रदान की कि बीकानेर के राजा का राजतिलक पांडू के वंशजों के हाथों हुआ करेगा । बीकानेर के राजवंश ने सदैव इस परंपरा को निभाया ।

राज्य का विस्तार

बीका ने सिंघाना पर आक्रमण कर जोहियों को अपने अधीन किया । उसने खिचियों को हराकर उसके गांव अपने राज्य में मिलाये । पूंगल के स्वामी भाटी शेखा ने बीका की अधीनता स्वीकार की । इस प्रकार बीका लगभग सारे जांगलू प्रदेश का शासक बन गया । उसने हिसार के पठान तथा बागड़ों व बिलोचियों को भी हराया ।[4] कहते हैं कि उस समय लगभग एक लाख वर्गमील भूमि पर बीका का प्रभुत्व हो चुका था ।

मोहिल्लों से युद्ध

छापरद्रोणपुर इलाके पर मोहिल्लों का अधिकार था । राव जोधा ने यह

१. 'दयालदास की ख्यात', जिल्द २, पृ० ३ ।
२. श्यामलदास, 'वीर विनोद', जिल्द २, पृ० ४७८ ।
३. पावलेट, 'गजेटियर ऑफ बीकानेर स्टेट', पृ० ४ ।
४. 'दयालदास का ख्यात', जिल्द २, पृ० १२ ।

इलाका मोहिल्ल बरसल से छीन कर अपने पुत्र बीदा को दे दिया। बरसल ने दिल्ली के सुल्तान बहलोल लोदी से सहायता की प्रार्थना की। इस पर सुल्तान ने हिसार के सूबेदार सारंग खां को बीदा पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। सारंग खां सेना लेकर छापरद्रोणपुर पहुंचा तो बीदा ने बिना सामना किए ही द्रोणपुर बरसल को सौंप दिया और स्वयं अपने भाई बीका के पास गया। बीका ने अपने पिता राव जोधा से बीदा की सहायता करने के लिए प्रार्थना की। परंतु जोधा ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। अंत में स्वयं बीका ने एक बड़ी सेना एकत्रित कर बरसल पर चढ़ाई की। मोहिल्लों की हार हुई। छापरद्रोणपुर पर पुनः बीदा का अधिकार हो गया।[1] बीका द्वारा बीदा की सहायता करने के कारण कालांतर में छापरद्रोणपुर बीकानेर की मातहती में आ गया।

बीका का काका कांधल इस समय हिसार के निकट साहबा नामक स्थान पर रहता था और हिसार के इलाके में लूटपाट करता था। इस पर हिसार के फौजदार सारंग खां ने कांधल पर चढ़ाई की। कांधल अपने साथियों सहित मारा गया। जब यह समाचार बीका को मिला तो उसने अपने पिता राव जोधा के साथ सारंग खां पर आक्रमण किया। झांस नामक स्थान पर दोनों पक्षों में युद्ध हुआ जिसमें सारंग खां की हार हुई। वह स्वयं युद्ध में मारा गया।

बीका का त्याग

युद्ध से लौटते हुए जोधा और बीका द्रोणपुर में ठहरे। इस अवसर पर राव जोधा ने बीका से कहा कि तुम मेरे सपूत लड़के हो, अतः मैं तुमसे दो वचन चाहता हूं। एक तो यह कि लाडनू मुझे दे दो और दूसरा यह कि मारवाड़ राज्य पर तुम अपना दावा छोड़ दो। बीका ने अपने पिता की आज्ञा शिरोधार्य करते हुए प्रार्थना की कि मैं आपका बड़ा पुत्र हूं अतः तख्त, छत्र आदि पूजनीय वस्तुएं तथा आपकी ढाल-तलवार मुझे मिलनी चाहिए। जोधा ने बीका की प्रार्थना स्वीकार कर ली।[2] बाद में दोनों ही अपने-अपने राज्य को प्रस्थान कर गए।

पूजनीय वस्तुओं की प्राप्ति

राव जोधा का ६ अप्रैल, १४८९ को देहांत हो गया। उसके स्थान पर उसका पुत्र सांतल गद्दी पर बैठा। वह अजमेर के सूबेदार मल्लू खां के साथ हुई लड़ाई में सन् १४९२ में मारा गया। सांतल के स्थान पर उसका भाई सूजा जोधपुर की गद्दी पर बैठा। उसके गद्दी पर बैठते ही बीका ने अपने पिता राव जोधा द्वारा दिए गए आश्वासन के अनुसार सूजा से राज्य-चिह्न आदि मांगे। परंतु सूजा ने ये वस्तुएं देने से स्पष्ट इनकार कर दिया। इस पर बीका ने एक बड़ी सेना के साथ जोधपुर पर

१. 'दयालदास की ख्यात', जिल्द २, पृ० १४-१५।
२. वही, पृ० १८।

आक्रमण कर दिया । बीका की सेना ने जोधपुर के किले को घेर लिया । अंत में सूजा की माता हाड़ी रानी जसमादे ने बीच में पड़कर सूजा और बीका के बीच समझौता कराया । जोधपुर के राज्य-चिह्न, तख्त, छत्र, ढाल-तलवार आदि वस्तुएं बीका को दे दी गयीं ।[1]

बीका ने खंडेला के स्वामी रिडमल की बहुत-सी भूमि दबा ली । रिडमल ने दिल्ली के सुल्तान की सहायता से बीका पर आक्रमण किया । परंतु बीका ने रिडमल और सुल्तान की सेना को भगा दिया । स्वयं रिडमल भी लड़ाई में मारा गया । बीका का यह अंतिम युद्ध था । वह ११ सितंबर, १५०४ को मर गया ।

बीका का व्यक्तित्व

बीका ने अपने बाहुबल से एक नये राज्य की स्थापना की । वह न केवल एक वीर योद्धा था, बड़ा पितृभक्त भी था । उसने अपने पिता के कहने मात्र से मारवाड़ जैसी बड़ी रियासत के सिंहासन को ठोकर मार दी । उसने अपने भाइयों को भी कई बार संकटों से उबारा और उनकी तन-मन-धन से सहायता की । वह करनी जी का बड़ा भक्त था ।

लूणकरण का राज्य-काल

बीका के देहांत पर उसका ज्येष्ठ पुत्र नरा बीकानेर की गद्दी पर बैठा । परंतु वह कुछ ही समय में मर गया । उसके स्थान पर उसका छोटा भाई लूणकरण २३ जनवरी, १५०५ को गद्दी पर बैठा । उस समय रियासत के विभिन्न भागों में अव्यवस्था फैली हुई थी । राज्य के विभिन्न सामंत अपने-आपको स्वतंत्र समझने लगे थे । लूणकरण ने सितंबर, १५०६ में ददरेवा पर आक्रमण किया । वहां के स्वामी मानसिंह ने ७ माह तक लूणकरण से लोहा लिया । पर अंत में वह परास्त हो गया और स्वयं भी मारा गया । लूणकरण ने ददरेवा बीकानेर में मिला लिया । सन् १५१२ में लूणकरण ने फतहपुर पर चढ़ाई कर वहां के कायमखानियों को हरा दिया । उन्होंने १२० गांव लूणकरण को देकर सुलह कर ली । इसके कुछ समय बाद लूणकरण ने चायलवाड़ा पर आक्रमण कर उक्त इलाके के ४४० गांव भी अपने अधीन कर लिये । सन् १५१३ में नागोर के स्वामी मोहम्मद खां ने बीकानेर पर चढ़ाई की । लूणकरण ने उसे हरा दिया । स्वयं मोहम्मद खां लड़ाई में घायल हो गया । अगले ही वर्ष लूणकरण ने चित्तौड़ के महाराणा रायमल की पुत्री से शादी की ।

कुछ समय बाद जोधपुर के राव गांगा ने नागोर पर आक्रमण किया । नागोर के खान ने लूणकरण से सहायता मांगी । लूणकरण की सहायता से खान ने राव गांगा की सेना को खदेड़ दिया । अंत में लूणकरण ने बीच में पड़ कर राव गांगा और नागोर के खान के बीच सुलह करवा दी । लूणकरण ने जैसलमेर पर भी चढ़ाई की ।

१. 'दयालदास की ख्यात', जिल्द २, पृ० २०-२१ ।

बीकानेर की सेना ने वहां के स्वामी रावल जेतसी को पकड़कर लूणकरण के सामने हाजिर किया। अंत में दोनों पक्षों के बीच समझौता हो गया। लूणकरण ने अपने पुत्रों की शादी जेतसी की पुत्रियों से कर दी।

लूणकरण की हार और मृत्यु

लूणकरण ने कांठलिया, डीडवाना, बागड़, नरहड़ और सिंघाना आदि इलाके अपने राज्य में मिला लिये। अब लूणकरण की महत्त्वाकांक्षा बहुत बढ़ गयी। उसने पूंगल के भाटी हरा, छापरद्रोणपुर के स्वामी उदयकरण के पुत्र कल्याणमल और जोहियों के सरदार तिहुणपाल आदि के साथ एक बड़ी सेना लेकर नारनोल की ओर कूच किया। इस समय नारनोल का शेख नवाब अबीमीरा था। सेना ने मार्ग में छापर-द्रोणपुर पर डेरा डाला। वहां लूणकरण ने छापरद्रोणपुर को अपने राज्य में मिलाने की ठानी। इसकी सूचना कल्याणमल को मिल गयी। द्रोणपुर से लूणकरण आगे बढ़ा और नारनोल से ६ मील की दूरी पर ढोसी नामक स्थान पर अपनी सेना का जमाव किया। नारनोल के नवाब ने लूणकरण से समझौता करने की कोशिश की। पर लूण-करण लड़ाई के लिए उतारू था। अंत में दोनों पक्षों के बीच युद्ध हुआ। युद्ध के दौरान कल्याणमल, भाटी हरा और तिहुणपाल युद्ध से अलग हो गए। फलस्वरूप राठौड़ों की हार हुई। स्वयं लूणकरण अपने तीन पुत्रों-सहित मारा गया।[1]

राव जेतसी

लूणकरण की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र जेतसी (जेतसिंह) अप्रैल, १५२६ में बीकानेर की गद्दी पर बैठा। इसके कुछ ही दिन बाद बाबर और दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी के बीच २१ अप्रैल, १५२६ को पानीपत नामक स्थान पर युद्ध हुआ जिसमें लोदी हार गया और देश में मुगल-साम्राज्य की स्थापना हो गयी।

छापरद्रोणपुर के कल्याणमल ने ढोसी के युद्ध में लूणकरण के साथ धोखा किया था। इसका बदला लेने के लिए जेतसिंह ने गद्दी पर बैठते ही द्रोणपुर पर आक्र-मण किया। कल्याणमल ने भाग कर नागोर के खान के पास शरण ली। जेतसिंह ने राव बीदा के पौत्र सांगा को द्रोणपुर की गद्दी पर बैठा दिया। इसके बाद जेतसिंह ने जोहियों के विरुद्ध सेना भेजी। जोहियों का सरदार तिहुणपाल लाहौर की ओर भाग गया।

मुगलों की हार

इस समय जोधपुर में राव सूजा की मृत्यु पर उसके पुत्र बाघा का लड़का गांगा मारवाड़ की गद्दी पर बैठा। इस पर सूजा के तीसरे पुत्र शेखा ने मारवाड़ की गद्दी हथियाने का प्रयत्न किया। गांगा ने राव जेतसिंह से सहायता मांगी। जेतसिंह ने

१. 'दयालदास की ख्यात', जिल्द २, पृ० ३४-३६।

गांगा की सहायता हेतु एक बड़ी सेना जोधपुर भेजी। शेखा ने नागोर के स्वामी सरखेल खां से सहायता प्राप्त की। गांघाणी के निकट दोनों पक्षों के बीच मुठभेड़ हुई। शेखा की हार हुई। शेखा स्वयं युद्ध में काम आया। इधर दिल्ली में बाबर की मृत्यु होने पर उसका राज्य उसके पुत्रों में विभाजित हो गया। उसके पुत्र कामरान ने लाहौर अपने अधिकार में ले लिया। उसने एक बड़ी सेना के साथ मारवाड़ की ओर कूच किया। वह भटनेर पर अधिकार करता हुआ बीकानेर की ओर अग्रसर हुआ। मुगलों ने बीकानेर के किले पर अधिकार कर लिया। इसी बीच जेतसी ने एक बड़ी सेना एकत्रित की और २६ अक्तूबर, १५३४ को मुगलों की सेना पर आक्रमण कर दिया। मुगल सेना हार गयी। जेतसिंह ने पुनः बीकानेर पर अधिकार कर लिया।[1]

जेतसिंह की हार और मृत्यु

जुलाई, १५३१ में मालदेव अपने पिता राव गांगा को मारकर मारवाड़ का स्वामी बन गया था। वह बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। उसने नागोर, सिवाना आदि स्थानों पर अधिकार कर लिया था। सन् १५४१ के अंत में उसने बीकानेर पर अधिकार करने के लिए एक बड़ी सेना भेजी। इस समय दिल्ली पर शेरशाह का अधिकार हो गया था। जेतसिंह का मालदेव से अकेले मुकाबला करना संभव नहीं था। अतः जेतसिंह का मंत्री नगराज शेरशाह से सहायता प्राप्त करने के लिए दिल्ली पहुंचा। इसी बीच फरवरी, १५४२ में मालदेव की सेना ने बीकानेर पर आक्रमण कर दिया। जेतसिंह की सेना ने सामना किया। पर जेतसिंह की हार हुई। वह स्वयं भी युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ। मालदेव ने बीकानेर के लगभग आधे राज्य पर अधिकार कर लिया।[2]

कल्याणमल का बीकानेर पर अधिकार

मालदेव के आक्रमण के समय जेतसिंह का पुत्र कल्याणमल और परिवार के अन्य सदस्य सिरसा नामक स्थान पर थे। इधर नगराज शेरशाह की सेवा में उपस्थित हुआ और उसने शेरशाह को कल्याणमल की सहायता हेतु सेना भेजने की प्रार्थना की। शेरशाह ने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। वह अपनी सेना लेकर मेडता पहुंचा। मार्ग में सिरसा में कल्याणमल भी उसके साथ हो गया। शेरशाह के आगमन की सूचना मिलते ही मालदेव ने अपने सैनिकों को बीकानेर से बुला लिया। कल्याणमल के सामंतों ने पुनः बीकानेर पर अधिकार कर लिया। अजमेर के निकट शेरशाह और मालदेव की सेना आमने-सामने हो गयी। पर मालदेव को अपने सेनापतियों पर भरोसा नहीं था। अतः वह पीछे हटता ही गया। मालदेव जोधपुर की ओर लौट गया। शेरशाह जोधपुर पहुंच गया। इस पर मालदेव पहाड़ों में भाग गया। जोधपुर

१. 'दयालदास की ख्यात', जिल्द २, पृ० ५४।
२. वही, पृ० ५७।

पर शेरशाह का अधिकार हो गया। जोधपुर में ही शेरशाह ने कल्याणमल को टीका किया। कल्याणमल ने वहां से बीकानेर पहुंच कर अपने पैतृक राज्य की बागडोर संभाली।

मालदेव की हार

मई सन् १५४५ में शेरशाह का देहांत हो गया। इसकी सूचना मिलते ही मालदेव ने पुन: जोधपुर पर कब्जा कर लिया। अब उसने मेडता के स्वामी जयमल पर आक्रमण किया। जयमल ने राव कल्याणमल से मदद मांगी। कल्याणमल ने जयमल की सहायता हेतु एक बड़ी सेना भेजी। मालदेव की सेना हार गयी। मालदेव स्वयं रणक्षेत्र छोड़कर भाग गया। कल्याणमल ने अजमेर के सूबेदार हाजी खां को भी राव मालदेव के विरुद्ध सैनिक सहायता दी। उसने अकबर के भूतपूर्व प्रधानमंत्री बैराम खां को अपने राज्य में शरण दी।

मुगलों की अधीनता

सन् १५७० में मुगल-सम्राट अकबर अजमेर से लौटते हुए नागोर पहुंचा। इस समय मुगलों का दबदबा सारे देश में जम चुका था। राव कल्याणमल अकबर से मिलने नागोर पहुंचा और उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।[1] उसने अपने पुत्र रायसिंह को बादशाह के दरबार में दिल्ली भेजा। अकबर ने राव कल्याणमल को दो हजार का मनसब प्रदान किया। इसके साथ ही साथ बीकानेर राज्य की स्वतंत्रता समाप्त हो गयी। राव कल्याणमल का २५ सितंबर, १५७४ को देहांत हो गया।

महाराजा रायसिंह

राव कल्याणमल के मरने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र रायसिंह बीकानेर की गद्दी पर बैठा। उसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। रायसिंह ने अपने पिता की मौजूदगी में ही अकबर का विश्वास प्राप्त कर लिया था। मुगलों ने मारवाड़ के स्वामी चंद्रसेन को हराकर जोधपुर पर कब्जा कर लिया था। अकबर ने रायसिंह को जोधपुर का सूबेदार नियुक्त किया।

रायसिंह की असफलता

सन् १५७४ में चंद्रसेन ने अपनी रियासत जोधपुर पर पुन: अधिकार करने का प्रयत्न किया। इस समय वह सिवाना के गढ़ में रह रहा था। अकबर ने चंद्रसेन का दमन करने को रायसिंह के नेतृत्व में सेना भेजी। रायसिंह ने सोजत पर अधिकार कर लिया। परंतु दो वर्ष के प्रयत्नों के बावजूद वह सिवाना पर कब्जा नहीं कर

१. जगदीशसिंह गहलोत—'राजपूताने का इतिहास', तृतीय भाग, पृ० १३ के अनुसार बीकानेर के राजघराने ने भी अपनी लड़की की शादी अकबर से की थी। श्री बी० एस० भटनागर ने अपनी पुस्तक 'लाइफ एंड टाइम्स ऑफ सवाई जयसिंह' में भी पृ० ९ पर इस बात का समर्थन किया है।

सका। अंत में बादशाह ने शाहबाज खां को नियुक्त किया। उसने सिवाना पर अधिकार कर लिया।

जालोर और सिरोही पर अधिकार

सन् १५७६ में अकबर ने जालोर के ताज खां और सिरोही के सुरताण देवड़ा को दबाने के लिए रायसिंह को भेजा। ताज खां और सुरताण देवड़ा ने बादशाह की अधीनता स्वीकार कर ली। कुछ समय बाद सुरताण ने पुनः उपद्रव शुरू किया। इस पर रायसिंह मुगल सेना के साथ पुनः सिरोही आया। सुरताण भागकर आबू चला गया। वहां भी रायसिंह ने सुरताण का पीछा नहीं छोड़ा। अंत में सुरताण ने आबू का किला रायसिंह को सौंप दिया। रायसिंह सुरताण को लेकर बादशाह के पास चला गया।

रायसिंह के राज्य का विस्तार

सन् १५८१ में अकबर ने अपने सौतेले भाई हकीम मिर्जा के विद्रोह को दबाने के लिए शाहजादा मुराद के नेतृत्व में जो सेना भेजी उसमें रायसिंह भी शामिल था। नवंबर, १५९१ में अकबर के आदेश पर रायसिंह खानखाना की सहायता हेतु कंधार गया। वह सन् १५८१ में शाहजादा दानयल के साथ अहमदनगर के शासक को दबाने के लिए दक्षिण की ओर भी गया। उसी वर्ष बादशाह ने जूनागढ़ का प्रदेश रायसिंह के नाम कर दिया। सन् १५९७ में बादशाह ने उसे सौराष्ट्र का इलाका और सन् १६०० में नागोर का परगना प्रदान किया।[1] अकबर ने उसे ४००० का मनसब भी प्रदान किया।

जहांगीर द्वारा मनसब में वृद्धि

सितंबर, १६०५ में अकबर मृत्यु-शैया पर था। उस समय आमेर के शासक मानसिंह और खानेआजम की यह योजना थी कि अकबर के मरने पर खुसरो को दिल्ली के सिंहासन पर बैठाया जाए। खुसरो मानसिंह का भानजा[2] और खानेआजम का जमाई था। अकबर को इस षड्यंत्र का पता था। ऐसे वक्त में उसने रायसिंह को बुलाया। कुछ समय बाद ही १५ अक्तूबर, १६०५ को अकबर का देहांत हो गया। उसके मरने पर सलीम जहांगीर के नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठा और इस प्रकार खानेआजम और मानसिंह का षड्यंत्र असफल हो गया। शीघ्र ही जहांगीर ने रायसिंह का मनसब ४००० से बढ़ाकर ५००० कर दिया। इसी समय शाहजादा खुसरो ने विद्रोह कर दिया। जहांगीर ने आगरा की जिम्मेदारी रायसिंह को सौंपकर

१. करणीसिंह, 'बीकानेर घराने का केंद्रीय शक्तियों से संबंध', पृ० ५४-५५।

२. करणीसिंह ने 'बीकानेर घराने का केंद्रीय शक्तियों से संबंध' नामक अपनी पुस्तक में खुसरो को मानसिंह का जमाई बताया है। यह गलत है।

खुसरो को दबाने के लिए पंजाब की ओर प्रस्थान किया। थोड़े दिनों बाद बादशाह ने रायसिंह को बेगमों के साथ पंजाब बुलाया। वह मथुरा तक तो बेगमों के साथ गया। पर वहां से वह खुसरो की गतिविधियों से डरकर बीकानेर को लौट गया। इससे जहांगीर उससे अप्रसन्न हो गया। थोड़े समय बाद रायसिंह जहांगीर के दरबार में उपस्थित हुआ तो बादशाह ने उसे क्षमा कर दिया।

रायसिंह की मृत्यु

रायसिंह के जीते जी उसके बड़े पुत्र दलपतसिंह ने विद्रोह कर दिया था। एक बार तो उसने बीकानेर पर अधिकार भी कर लिया। परंतु अंत में वह शाही सेना द्वारा परास्त हुआ। सन् १६१२ के शुरू में रायसिंह की नियुक्ति दक्षिण में कर दी गयी। वह अपने छोटे पुत्र सूरसिंह को लेकर बुरहानपुर चला गया जहां २२ जनवरी, १६१२ को उसका देहांत हो गया।

रायसिंह अकबर का एक वीर सेनापति था। उसने मुगलों की ओर से कई युद्ध लड़े। मुगल दरबार में उसका बड़ा सम्मान था। उसने अपनी पुत्री की शादी शाहजादा सलीम से कर मुगल दरबार से संबंध दृढ़ किए।[1] अकबर ने उसे हिसार, द्रोणपुर, भटनेर, मारोठ, नागोर, शमशाबाद और जूनागढ़ आदि कई इलाके प्रदान किए। रायसिंह ने बीकानेर में एक विशाल और मजबूत गढ़ बनवाया। उसके मंत्री मेहता कर्मचंद ने रायसिंह के शासनकाल में कई जैन-मंदिरों का जीर्णोद्धार करवाया।

रायसिंह का ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते दलपतसिंह बीकानेर की गद्दी का हकदार था। परंतु रायसिंह का भटियाणी रानी गंगा से विशेष प्रेम होने के कारण उसने दलपतसिंह के स्थान पर उसके पुत्र सूरसिंह को अपना उत्तराधिकारी बनाया। परंतु रायसिंह की मृत्यु होने पर सम्राट जहांगीर ने दलपतसिंह को बीकानेर का स्वामी स्वीकार कर उसे टीका दे दिया। इसके कुछ महीनों बाद बादशाह ने दलपतसिंह को मिर्जा रुस्तम के सहायक के रूप में ठठा भेजना चाहा। पर वह ठठा न जाकर सीधा बीकानेर गया। इससे बादशाह अप्रसन्न हो गया। दलपतसिंह ने अपने भाई सूरसिंह की जागीर के कई गांव जब्त कर लिये। सूरसिंह बादशाह के पास पहुंचा। बादशाह पहले ही दलपतसिंह से नाराज था। उसने बीकानेर का राज्य सूरसिंह के नाम कर दिया और एक बड़ी सेना नवाब जियाउद्दीन खां के साथ दलपतसिंह को हटाने के लिए भेजी। दोनों पक्षों के बीच लड़ाई हुई। जियाउद्दीन खां हार कर भाग गया। इसी बीच सूरसिंह ने बीकानेर के कई सरदारों को अपनी ओर मिला लिया। अतः दूसरे दिन दोनों सेनाओं में मुठभेड़ होते ही दलपतसिंह धोखे से पकड़ लिया गया। उसे अजमेर के किले में बंद कर दिया गया।[2] कहते हैं कि बादशाह ने बाद में उसे मरवा दिया।[3]

१. 'जर्नल ऑफ राजस्थान हिस्टोरिकल रिसर्च', अप्रैल-जून, १९६२, पृ० २२।
२. वीर विनोद, भाग २, पृ० ४८९।
३. तुजक-ई-जहांगीर, जि० १, पृ० २५८।

इस प्रकार दलपतसिंह के स्थान पर सूरसिंह सन् १६१३ में बीकानेर की गद्दी पर बैठा।

षड्यंत्रकारियों को नष्ट करना

सूरसिंह को मालूम था कि उसके पिता रायसिंह के मंत्री कर्मचंद ने रायसिंह को गद्दी से उतारकर दलपतसिंह को गद्दी पर बैठाने के लिए किस प्रकार असफल षड्यंत्र किया था। कर्मचंद के वंशज इस समय दिल्ली में थे। सूरसिंह गद्दी पर बैठते ही दिल्ली गया और कर्मचंद के वंशजों को किसी प्रकार फुसलाकर बीकानेर ले आया और उन्हें दीवान के पद पर नियुक्त कर दिया। दो माह बाद सूरसिंह ने पांच हजार सैनिकों को भेजकर उनके मकानों को घेर लिया। जीने की कोई आशा न देखकर वे परिवार की स्त्रियों को मारकर अपने सहयोगियों के साथ राज्य के सैनिकों पर टूट पड़े और लड़ते हुए मारे गए। सूरसिंह ने कर्मचंद के साथ षड्यंत्र करने वाले पुरोहित मान महेश और बारहट चोथ की जागीर भी जब्त कर ली। इस पर दोनों ने आत्मदाह कर लिया। षड्यंत्र में शामिल सारण परता जाट भी मरवा दिया गया। इस प्रकार सूरसिंह ने अपने पिता के विरोधियों को एक-एक करके मौत के घाट उतार दिया।

मुगल साम्राज्य की सेवा

इन दिनों जहांगीर के बड़े पुत्र शाहजादा खुर्रम ने अपने पिता के विरुद्ध बगावत कर दी। उसने दक्षिण में जाकर उपद्रव करना शुरू कर दिया। बादशाह ने सूरसिंह को दक्षिण में भेजा। उसने वहां जाकर व्यवस्था कायम की। इससे खुश होकर बादशाह ने उसका मनसब बढ़ाकर ३००० कर दिया। २८ अक्तूबर, १६२७ को जहांगीर का देहांत हो गया। शाहजादा खुर्रम जहांगीर के देहांत की सूचना पाते ही आगरा पहुंच गया और शाहजहां के नाम से गद्दी पर बैठ गया। उसने सूरसिंह की बड़ी इज्जत की और उसका मनसब बढ़ाकर ४००० कर दिया। सूरसिंह ने शाहजहां द्वारा संचालित काबुल, ओरछा आदि अभियानों में भाग लिया। उसने खानजहां लोधी के विरुद्ध भी विभिन्न अभियानों में भाग लिया। सन् १६३१ में बुरहानपुर के निकट सूरसिंह का देहांत हो गया।

करणसिंह की सफलताएं

सूरसिंह की मृत्यु पर उसका ज्येष्ठ पुत्र करणसिंह २३ अक्तूबर, १६३१ को बीकानेर की गद्दी पर बैठा। कुछ दिन बाद करणसिंह जब बादशाह की सेवा में उपस्थित हुआ तो बादशाह ने उसे २००० का मनसब प्रदान किया। सन् १६३२ में बादशाह ने करणसिंह को वजीरखां के नेतृत्व में दौलताबाद पर अधिकार करने भेजा। शाही सेना के पहुंचते ही दौलताबाद के स्वामी फतेखां ने माफी मांगी एवं ८ लाख रुपए नकद, हाथी, घोड़े आदि बादशाह की सेवा में भेज दिए। करणसिंह ने शाहजहां

द्वारा शुरू किए गए दक्षिण के कई अभियानों में भाग लिया। वह बादशाह की ओर से बुंदेले के स्वामी झुझारसिंह के विरुद्ध भी लड़ाई में शामिल था। करणसिंह ने सन् १६४४ में नागोर के स्वामी अमरसिंह को और कुछ वर्षों बाद पुंगल के राव सुदर्शन भाटी को हराया। उसने पुंगल के इलाके को शेखा के वंशजों के बीच बांट दिया। सन् १६४८ में बादशाह ने करणसिंह को दौलताबाद का किलेदार नियुक्त किया।

औरंगजेब और करणसिंह

सन् १६५७ में शाहजहां के बीमार पड़ने पर उसके शाहजादों के बीच उत्तराधिकार की लड़ाई शुरू हुई। इस समय करणसिंह शाहजादा औरंगजेब के साथ दक्षिण में नियुक्त था। उत्तराधिकार की लड़ाई में करणसिंह तटस्थ रहा और वह बिना औरंगजेब की आज्ञा के बीकानेर चला गया। २३ जुलाई, १६५८ को औरंगजेब अपने पिता शाहजहां को कैद कर स्वयं बादशाह बन गया। करणसिंह द्वारा उत्तराधिकार की लड़ाई में साथ नहीं देने के कारण औरंगजेब उससे नाराज था। उसने सन् १६६० में करणसिंह पर सेना भेजी। परंतु मुगल सेना के बीकानेर की सीमा में पहुंचते ही करणसिंह अपने दोनों पुत्रों के साथ औरंगजेब के दरबार में उपस्थित हो गया। बादशाह ने उसे क्षमा कर उसका मनसब बहाल कर दिया।[1] सन् १६६६ में बादशाह ने करणसिंह को दिलेर खां के नेतृत्व में चांदा के स्वामी जलाल खां के विरुद्ध भेजा। इसी दौरान बादशाह ने करणसिंह को गद्दी से हटा दिया और उसके स्थान पर उसके ज्येष्ठ पुत्र अनूपसिंह को बीकानेर का स्वामी बना दिया। करणसिंह ने अपने अंतिम दिन औरंगाबाद के पास अपने ही नाम से बसाए हुए करणपुरा नामक गांव में बिताए। वह २२ जून, १६६९ को मर गया।

करणसिंह एक वीर योद्धा था। उसने मुगलों की ओर से कई लड़ाइयां लड़ीं। यद्यपि वह अपने पूर्वजों की भांति मुगलों का एक विश्वस्त सामंत था, तथापि उसमें कभी-कभी राजपूती जाग उठती थी। कहते हैं कि उसने अटक में औरंगजेब द्वारा मुगलों की सेवा में प्रयुक्त हिंदू राजाओं को मुसलमान बनाने के एक षड्यंत्र को असफल कर दिया था। इस पर उक्त राजाओं ने उसे 'जंगलधर बादशाह' के नाम से संबोधित किया।[2] तब से बीकानेर के शासक अपने को 'जंगलधर बादशाह' कहने लगे।

अनूपसिंह

यद्यपि करणसिंह के जीते जी अनूपसिंह बीकानेर का शासक बन गया था,

१. सरकार—'हिस्ट्री ग्रॉफ ग्रौरंगजेब', जिल्द ३, पृ० २६।
२. गौरीशंकर हीराचंद ग्रोझा, 'बीकानेर राज्य का इतिहास', पृ० सं० २४४। बीकानेर-राजवंश के डा० करणीसिंह ने 'बीकानेर घराने का केंद्रीय शक्तियों से संबंध' नामक अंग्रेजी पुस्तक के पृ० ७२-८३ पर इस घटना का विस्तृत वर्णन दिया है। ग्रोझाजी ने दयालदास की ख्यात ग्रौर जयपुर राज्य की एक हस्तलिखित रकात के ग्राधार पर इस घटना का वर्णन देते हुए कहा है कि इस घटना में सत्य का कुछ ग्रंश ग्रवश्य है। संभव है, इसी घटना के कारण ग्रौरंगजेब ने नाराज होकर करणसिंह को गद्दी से हटाया हो।

तथापि उसकी गद्दीनशीनी करणसिंह की मृत्यु के बाद सन् १६६९ में हुई। गद्दी पर बैठते ही अनूपसिंह को मुगल सेना के साथ मराठों से टक्कर लेने दक्षिण में जाना पड़ा। मुगलों द्वारा छत्रपति शिवाजी के विरुद्ध लंबे अभियान में अनूपसिंह ने महत्त्व-पूर्ण भूमिका अदा की। इस उपलक्ष्य में बादशाह ने उसे महाराजा की उपाधि दी। सन् १६६७ में बादशाह ने अनूपसिंह को औरंगाबाद का शासक नियुक्त किया जहां उसने शिवाजी का सफलतापूर्वक मुकाबला किया। कुछ समय बाद अनूपसिंह को औरंगाबाद से हटाकर आदूणी में नियुक्त किया। इन दिनों खारबारा और रायमल-वाली के भाटियों ने महाराजा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। महाराजा के आदेशानु-सार उसके मंत्री मुकंदराय ने एक बड़ी सेना एकत्रित कर इस विद्रोह को दबा दिया। चूरिया के किले पर बीकानेर की सेना का अधिकार हो गया। उसने किले के स्थान पर सन् १६७८ में एक नया किला बनवाया और उसका नाम अनूपगढ़ रखा।

अनूपसिंह के बनमालीदास नाम का एक अनौरस भाई था। वह बादशाह के दरबार में रहता था। उसने बादशाह से बीकानेर का आधा मनसब अपने नाम पर करवा लिया। बनमाली फौज लेकर बीकानेर गया। परंतु अनूपसिंह ने धोखे से उसकी हत्या करवा दी। सन् १६७९ में बादशाह ने अनूपसिंह को फिर दक्षिण में भेजा। उसने शिवाजी के साथ कई लड़ाइयां लड़ीं। अंत में शिवाजी सन् १६८० में मर गया। सन् १६८६ में अनूपसिंह मुगल सेना की ओर से बीजापुर के अभियान में शामिल हुआ। बीजापुर के स्वामी सिकंदर ने आत्मसमर्पण कर दिया। उसी वर्ष औरंगजेब ने अनूपसिंह को शक्कर का प्रशासक नियुक्त किया। अनूपसिंह ८ मई, १६९८ में आदूणी में मर गया।

अनूपसिंह वीर होने के अलावा विद्वान और संगीतज्ञ भी था। उसके दरबार में भावभट्ट जैसे संगीतज्ञ और कई विद्वान आश्रय पाते थे। उसने मुसलमान शासकों के हाथों कई संस्कृत-ग्रंथों को नष्ट होने से बचाया। बीकानेर का प्राचीन ग्रंथागार महाराजा अनूपसिंह की ही देन है। इस ग्रंथागार में महाराणा कुंभा के बनाए हुए संगीत-ग्रंथों का पूर्ण संग्रह विद्यमान है। उसने औरंगजेब के समय में नष्ट किए गए हिंदू मंदिरों की मूर्तियों को बचाकर बीकानेर पहुंचा दिया, जहां वे अभी भी किले के एक मंदिर में सुरक्षित हैं।

अनूपसिंह की मृत्यु पर उसका ज्येष्ठ पुत्र स्वरूपसिंह बीकानेर की गद्दी पर बैठा। उस समय वह केवल ९ वर्ष का था। स्वरूपसिंह २ वर्ष बाद ही शीतला के प्रकोप से मर गया।

स्वरूपसिंह के स्थान पर उसका छोटा भाई सुजानसिंह सन् १७०० में बीका-नेर की गद्दी पर बैठा। औरंगजेब ने उसे दक्षिण में बुलवाया जहां वह १० वर्ष तक बादशाह की सेवा में रहा।

इधर जोधपुर में सन् १६७९ में महाराजा जसवंतसिंह का देहांत होने पर औरंगजेब ने मारवाड़ खालसा कर लिया था। सन् १७०७ में अहमदनगर में

औरंगजेब का देहांत हो गया। इस पर उसके शाहजादों के बीच उत्तराधिकार की लड़ाई शुरू हो गयी। इस परिस्थिति का लाभ उठाकर जसवंतसिंह के लड़के अजीतसिंह ने मेवाड़ की सहायता से जोधपुर पर अधिकार कर लिया। इस समय सुजानसिंह दक्षिण में था। उसकी अनुपस्थिति में अजीतसिंह ने बीकानेर पर भी अधिकार कर लिया। परंतु थोड़े ही समय बाद बीकानेर के जागीरदारों ने सेना एकत्रित कर जोधपुर की सेना से मुकाबला किया। अंत में दोनों पक्षों के बीच संधि हो गयी। जोधपुर की सेना वापिस लौट गयी। इस घटना के तुरंत बाद सुजानसिंह भी दक्षिण से बीकानेर आ गया।

सन् १७३० में भट्टियों और जोहियों ने विद्रोह कर दिया। सुजानसिंह ने भट्टियों को हराकर भटनेर पर अधिकार कर लिया। सन् १७३२ के आस-पास सुजानसिंह ने जीते जी अपना राज-काज अपने पुत्र जोरावरसिंह को सौंप दिया। जोरावरसिंह के राज-काज संभालते ही जैसलमेर के भाटियों ने विद्रोह कर दिया। इस पर जोरावरसिंह फौज लेकर गया। जैसलमेर के स्वामी उदयसिंह ने जोरावरसिंह के सम्मुख हथियार डाल दिए एवं बीकानेर की अधीनता स्वीकार कर ली। उसी वर्ष जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के छोटे भाई नागोर के स्वामी बख्तसिंह ने बीकानेर पर आक्रमण किया। परंतु जोरावरसिंह ने बख्तसिंह के दांत खट्टे कर दिए। यह समाचार सुनकर स्वयं अभयसिंह ने एक बड़ी सेना के साथ बीकानेर पर आक्रमण किया। बीकानेर की सेना ने दृढ़तापूर्वक मुकाबला किया। अंत में मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह (द्वितीय) ने बीच में पड़कर दोनों पक्षों के बीच सुलह करा दी। अभयसिंह और बख्तसिंह अपने-अपने वतन को लौट गए।

जोरावरसिंह

सुजानसिंह की मृत्यु के बाद जोरावरसिंह २४ फरवरी, १७३६ को नियमानुसार बीकानेर की गद्दी पर बैठा। उसने गद्दी पर बैठते ही बीकानेर के सीमावर्ती गांवों से मारवाड़ का नाजायज कब्जा हटा दिया। इस समय जोधपुर के महाराजा अभयसिंह और उसके छोटे भाई बख्तसिंह के बीच अनबन हो गयी थी। अभयसिंह ने नागौर पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया। बख्तसिंह ने जोरावरसिंह से सहायता की प्रार्थना की, जिसे जोरावरसिंह ने स्वीकार कर लिया। जब अभयसिंह को यह पता चला तो वह ससैन्य जोधपुर लौट गया।

सन् १७४० में मारवाड़ की सेना ने फिर बीकानेर पर चढ़ाई की। बख्तसिंह ने जोरावरसिंह को संदेश दिया कि इस लड़ाई में वह जोरावरसिंह का साथ देगा। अभयसिंह देशनोक होता हुआ बीकानेर में घुस गया और वहां की जनता को लूटा। जोरावरसिंह ने अपने सामंतों और सेना को बीकानेर के किले के अंदर एकत्रित किया। मारवाड़ की सेना किले को घेरे रही। बख्तसिंह ने अपने एक प्रतिनिधि को जयपुर के स्वामी सवाई जयसिंह के पास भेजा। जयसिंह ने अपने सेनापति राजमल खत्री को एक बड़ी सेना के साथ जोधपुर भेजा। कुछ दिनों बाद जयसिंह ने स्वयं ३ लाख सेना

के साथ जोधपुर पर चढ़ाई की। यह समाचार पाते ही अभयसिंह बीकानेर के किले की घेरावंदी उठाकर जोधपुर की ओर चल दिया। अंत में जयसिंह और अभयसिंह के बीच संधि हो गयी। अभयसिंह को पेशकशी के रूप में जयसिंह को २१ लाख रुपये देने पड़े। इस प्रकार जयसिंह और बख्तसिंह की सहायता से बीकानेर जोधपुर के हाथों में पड़ने से बच गया। जोरावरसिंह ने सिरढ़, चंगोई, हिसार और फतेहाबाद पर अपना अधिकार जमाया। जोरावरसिंह १५ मई, १७४६ को निःसंतान अनूपपुर में मर गया।

महाराजा गजसिंह

जोरावरसिंह के कोई संतान न होने के कारण उसके चाचा आनंदसिंह का ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह बीकानेर की गद्दी का हकदार था। परंतु बीकानेर के कतिपय सामंतों और मुसद्दियों ने अमरसिंह के छोटे भाई गजसिंह को १७ जून, १७४५ को बीकानेर की गद्दी पर बैठा दिया। इस पर अमरसिंह जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के पास चला गया। अभयसिंह ने अमरसिंह की सहायतार्थ एक बड़ी सेना बीकानेर पर भेजी। स्वरूपदेसर के निकट जोधपुर और बीकानेर की सेना में युद्ध हुआ। पर अंत में जोधपुर की सेना हार गयी। इस प्रकार गजसिंह की स्थिति मजबूत हो गयी। उसने विद्रोही विदावतों को दबा दिया और उनमें से कइयों को मरवा डाला। उसने नागोर के स्वामी बख्तसिंह के निमंत्रण पर जोधपुर पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया। पर अंत में मल्हारराव होल्कर ने बख्तसिंह और अभयसिंह के बीच समझौता करवा दिया। गजसिंह स्वदेश लौट आया।

इन्हीं दिनों जोधपुर में अभयसिंह के देहांत पर रामसिंह गद्दी पर बैठ गया था। बख्तसिंह और रामसिंह के बीच अनबन थी। बख्तसिंह ने गजसिंह और मुगल सेना की सहायता से जोधपुर पर आक्रमण किया। जयपुर के महाराजा ईश्वरीसिंह ने रामसिंह का साथ दिया। सूरियावास नामक स्थान पर दोनों पक्षों में भीषण युद्ध हुआ। दोनों ओर की बड़ी हानि हुई। अंत में ईश्वरीसिंह और मुगल सेनापति युद्ध छोड़कर अपने-अपने स्थानों को चले गए। ऐसी स्थिति में गजसिंह, बख्तसिंह और रामसिंह भी अपने-अपने स्थान को लौट गए। सन् १७५१ में बख्तसिंह ने गजसिंह की सहायता से जोधपुर पर एक बार और आक्रमम किया। इस बार बख्तसिंह का जोधपुर पर अधिकार हो गया और वह रामसिंह के स्थान पर मारवाड़ का स्वामी बन बैठा। कुछ समय बाद ही मराठों की सहायता से रामसिंह ने जोधपुर जीतने का पुनः प्रयत्न किया। पर गजसिंह के बख्तसिंह की सहायता के लिए आ जाने से मामला आगे नहीं बढ़ा। सन् १७५२ में बादशाह ने हिसार का परगना गजसिंह को दे दिया। बादशाह ने गजसिंह से अपने वजीर सफदरजंग को दबाने के लिए सेना मांगी। गजसिंह ने सेना भेज दी। इससे बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने गजसिंह को ७ हजार का मनसब और महाराजाधिराज की पदवी प्रदान की। बादशाह ने उसे 'माहीमरातिब' भी दिया।

जोधपुर के महाराजा बख्तसिंह की २६ अगस्त, १७७२ को मृत्यु हो गयी। उसके स्थान पर उसका पुत्र विजयसिंह जोधपुर का स्वामी बना। अब रामसिंह ने मराठों की सहायता से एक बार फिर जोधपुर की गद्दी प्राप्त करने का प्रयत्न किया। गजसिंह ने विजयसिंह का साथ दिया। मराठों ने जोधपुर को घेर लिया। विजयसिंह मारवाड़ छोड़कर बीकानेर चला गया। विजयसिंह और गजसिंह सवाई माधोसिंह की सहायता प्राप्त करने के लिए जयपुर पहुंचे। वहां माधोसिंह ने विजयसिंह को मरवाने का षड्यंत्र रचा, परंतु माधोसिंह को कामयाबी नहीं मिली। इस बीच मराठों ने २० लाख रुपए की पेशकशी प्राप्त कर जोधपुर का घेरा उठा दिया। विजयसिंह पुनः जोधपुर चला गया। विजयसिंह की प्रार्थना पर गजसिंह ने जोधपुर को आर्थिक सहायता भी दी। गजसिंह विजयसिंह की सहायतार्थ खिवसर भी गया और वहां के सामंत जोरावरसिंह को दबाया। इधर दाऊद पुत्रों ने अनूपगढ़ पर अधिकार कर लिया। इस पर गजसिंह ने अनूपगढ़ पर आक्रमण किया और उस पर पुनः अधिकार जमाया।

उधर गजसिंह के बड़े पुत्र राजसिंह ने विद्रोह कर दिया। वह कई वर्ष देशनोक में रहा और अंत में जोधपुर चला गया जहां महाराजा विजयसिंह ने उसे आदर के साथ अपने पास रखा। गजसिंह के लिखने पर विजयसिंह ने राजसिंह को बीकानेर भेज दिया। गजसिंह ने धोखे से उसे पकड़वा दिया। कुछ समय बाद गजसिंह बीमार हो गया। उसने अपने जीने की आशा न देख कर राजसिंह को जेल से अपने पास बुलवाया और सरदारों के सामने राजकाज उसके सुपुर्द कर दिया। इसके चार दिन बाद ही २५ मार्च, १७८७ को गजसिंह का देहांत हो गया।

राजसिंह और प्रतापसिंह की हत्या

गजसिंह के स्थान पर राजसिंह ४ अप्रैल, १७८७ को बीकानेर की गद्दी पर बैठा। वह गद्दी पर बैठने के कुछ ही दिन बाद मर गया। कहते हैं कि उसे उसके भाई ने जहर देकर मरवा दिया।[1] राजसिंह के स्थान पर उसका लड़का प्रतापसिंह गद्दी पर बैठा। उसकी नाबालिग अवस्था होने के कारण राज्य की देखभाल उसका चाका सूरतसिंह करता था। उसके गद्दी पर बैठने के पहले ही वर्ष में सूरतसिंह ने उसका गला घोंटकर मार दिया।[2]

महाराजा सूरतसिंह

प्रतापसिंह की मृत्यु के बाद सूरतसिंह स्वयं २१ अक्तूबर, १७८७ को बीकानेर का स्वामी बन गया। उसे शीघ्र ही चूरू के ठाकुर शिवसिंह, राजपुर के स्वामी महीखान बहादुर और नोहर के नाहटों के विद्रोह का सामना करना पड़ा। उसने

१. कर्नल टॉड, 'राजस्थान', जिल्द २, पृ० ११३८।
२. वही, पृ० ११४०।

विद्रोहियों को सख्ती से दबा दिया। सूरतसिंह ने जोधपुर और जयपुर के साथ संबंधों में सुधार किया।

राज्य का विस्तार

सन् १७९९ में मराठा सेनापति लकवादादा ने जयपुर से चौथ वसूल करने के लिए सेना भेजी। मराठों के निमंत्रण पर इस अभियान में 'जाझ फिरंगी' नाम से मशहूर जार्ज टॉमस भी ससैन्य शामिल हुआ। दोनों पक्षों की जयपुर के निकट टक्कर हुई जिसमें जयपुर की सेना की पराजय हुई। जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह ने मराठों से संधि करने के प्रयत्न शुरू किए ही थे कि प्रतापसिंह की प्रार्थना पर बीकानेर की सेना जयपुर पहुंच गयी। यह देखकर मराठों की सेना वापस लौट गयी। जयपुर की सहायता करने के कारण टॉमस सूरतसिंह से नाराज हो गया। अतः उसने बीकानेर पर आक्रमण कर दिया। परंतु सूरतसिंह द्वारा टॉमस को २ लाख रुपए देने का वादा करने से झगड़ा टल गया। पर सूरतसिंह पूरी रकम अदा नहीं कर सका। अतः टॉमस ने पुनः बीकानेर पर आक्रमण कर दिया। उसने फतेहाबाद आदि स्थानों पर अधिकार कर लिया। इसी बीच बीकानेर की सहायता के लिए पटियाला के सिक्ख राजा से सहायता प्राप्त हो गयी। अब टॉमस ने युद्ध जारी रखना उचित नहीं समझा। वह झज्जर को लौट गया। सन् १८०२ में बीकानेर की सेना ने खान से खानगढ़ और सन् १८०४ में भट्टियों से भटनेर छीन लिया। सूरतसिंह ने भटनेर का नाम हनुमानजी के नाम पर हनुमानगढ़ रख दिया।

बीकानेर और जोधपुर में मेल

सन् १८०७ में सूरतसिंह ने जोधपुर के महाराजा मानसिंह से फलोदी छीन लिया। सूरतसिंह मानसिंह के विरुद्ध गिगोली के युद्ध में मारवाड़ की गद्दी के दावेदार धौंकलसिंह की ओर से शामिल हुआ। इस युद्ध में जोधपुर के महाराजा मानसिंह की पराजय हुई। मानसिंह जोधपुर भाग गया। इसके कुछ समय बाद ही मानसिंह ने बीकानेर पर आक्रमण किया। सूरतसिंह को मानसिंह से संधि करनी पड़ी। उसको फलोदी तथा सिंध के जीते हुए ६ परगने तथा ३ लाख रुपए मानसिंह को देने पड़े। सन् १८१३ में जोधपुर के धर्मगुरु आयस देवनाथ ने बीच में पड़कर जोधपुर और बीकानेर के महाराजाओं के बीच पुनः मेल कराया।

राज्य की दुर्दशा

सन् १८१४ में सूरतसिंह ने अमरचंद सुराना के नेतृत्व में फौज भेजकर चूरू पर चढ़ाई की। वहां का स्वामी शिवसिंह अचानक मर गया। अमरचंद ने चूरू पर अधिकार कर लिया। महाराजा ने प्रसन्न होकर अमरचंद सुराना को राव की उपाधि प्रदान की। इससे राज्य के सरदारों में अमरचंद के प्रति ईर्ष्या हो गयी। वह शीघ्र ही एक षड्यंत्र का शिकार हो गया और मार डाला गया। यह एक विचित्र

संयोग की बात थी कि उसी समय जोधपुर राज्य का सुप्रसिद्ध सेनापति और मुसद्दी इंद्रराज सिंघवी भी दरबारियों के षड्यंत्र का शिकार हो गया और मार डाला गया। सन् १८१६ में पिंडारी नेता जमीर खां ने बीकानेर राज्य में बड़ा उत्पात मचाया। भट्टियों और जोहियों ने भी सिर उठाया। शिवसिंह के उत्तराधिकारी पृथ्वीसिंह ने सीकर की सहायता से चूरू इलाके में उपद्रव शुरू कर दिए। राज्य के अन्य जागीरदार भी एक के बाद एक स्वतंत्र हो रहे थे। एक तरह से बीकानेर राज्य का अस्तित्व ही खतरे में लगने लगा।

अंग्रेजों से संधि

इन दिनों भारत के कई भागों में अंग्रेजों का प्रभुत्व जम चुका था। अतः सूरतसिंह ने अंग्रेजों की शरण में जाना उचित समझ अपने प्रतिनिधि ओझा काशीनाथ को अंग्रेजों से संधि करने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी के चार्ल्स मेटकाफ के पास भेजा। ९ मार्च, १८१८ को ईस्ट इंडिया कंपनी की ओर से चार्ल्स मेटकाफ और महाराजा की ओर से ओझा काशीनाथ ने ९ मार्च, १८१८ को एक संधि पर हस्ताक्षर किए। इस संधि के अनुसार बीकानेर ने अंग्रेजों की सार्वभौमिकता स्वीकार कर ली। इस प्रकार बीकानेर मुगलों की मातहती से निकलकर अंग्रेजों की मातहती में आ गया। अंग्रेजों ने बीकानेर राज्य की सुरक्षा और विद्रोही जागीरदारों को दबाने में सहायता देने का आश्वासन दिया। सूरतसिंह ने संधि के तहत राज्य के विद्रोही ठाकुरों को दबाने के लिए अंग्रेजों से सहायता की प्रार्थना की। फलतः अंग्रेजी सेना ने बीकानेर में प्रवेश किया। उसने सिद्धमुख, जसाणा, बिरकाली, सरसला, जारिया, सुलखणिया, सुजानगढ़ और चूरू के ठाकुरों को परास्त कर उक्त इलाकों पर बीकानेर का पुनः प्रभुत्व स्थापित करा दिया। मादरा का किला भी अंग्रेजों ने सिक्खों से पुनः बीकानेर को हस्तांतरित करवा दिया। सूरतसिंह ने अंग्रेजों से भटनेर के अंतर्गत टीबी के कतिपय गांव प्राप्त करने का भी प्रयत्न किया। परंतु उसे सफलता नहीं मिली। सूरतसिंह २४ मार्च, १८२८ में मर गया।

महाराजा रत्नसिंह

सूरतसिंह के स्थान पर उसका पुत्र रत्नसिंह ५ अप्रैल, १८२८ को बीकानेर का स्वामी बना। गद्दी पर बैठते ही रत्नसिंह ने गवर्नर-जनरल के आदेशानुसार जोधपुर की गद्दी के दावेदार धौंकलसिंह के बीकानेर राज्य में प्रवेश करने पर पाबंदी लगा दी। सन् १८२९ में बीकानेर के सरकारी सांडों के टोले को जैसलमेर के भाटी पकड़कर ले गए। इस पर सूरतसिंह ने जैसलमेर के विरुद्ध सेना भेजी। पर उसे सफलता नहीं मिली। अंत में उदयपुर के महाराणा जवानसिंह ने मध्यस्थता कर दोनों के बीच सुलह करा दी। इस विवाद में महाराणा की ओर से उसके विश्वासपात्र सेठ जोरावरमल बापना ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। सन् १८२९ में महाजन के ठाकुर ने आस-पास के इलाके में काफी आतंक मचाया। अतः रत्नसिंह ने सेना

भेजकर महाजन पर अधिकार कर लिया। इसी प्रकार उसने अन्य इलाकों में लूटपाट मचाने वाले कई अन्य सरदारों का भी दमन किया। सन् १८३१ में दिल्ली के बादशाह अकबरशाह (द्वितीय) ने महाराजा को 'माही मरतब' प्रदान किया। सन् १८३६ में वह गयाजी की यात्रा पर गया। वहां उसने बीकानेर के सरदारों से पुत्रियों को न मारने की प्रतिज्ञा करवायी। सन् १८३९ में महाराजा ने अपने पुत्र सरदारसिंह का विवाह उदयपुर के महाराजा सरदारसिंह की पुत्री महताब कुमारी से किया। अगले ही वर्ष उदयपुर के महाराणा सरदारसिंह ने रत्नसिंह की पुत्री गुलाब कुमारी से शादी की।

सन् १८४२ में महाराजा दिल्ली के गवर्नर-जनरल से मिला। सन् १८४५ में अंग्रेजों और सिक्खों के बीच लड़ाई में महाराजा ने अंग्रेजों के सहायतार्थ सेना भेजी। डूंगरसिंह-जवाहरसिंह नामक डाकुओं ने लंबे समय से बीकानेर और अन्य पड़ोसी राज्यों में आतंक जमा रखा था। डूंगरसिंह और उसके कई साथी पकड़कर अंग्रेजों को सौंप दिए गए, जिन्हें उन्होंने आगरा जेल में बंद कर दिया। डूंगरसिंह के एक डाकू साथी मानसिंह ने सन् १८४७ में आगरा जेल पर हमला कर डूंगरसिंह को छुड़ा लिया। अब डूंगरसिंह और जवाहरसिंह ने पुनः लूट-मार शुरू कर दी। उन्होंने कई लोगों को उड़ाकर उनसे फिरोती वसूल की। उन्होंने नसीराबाद स्थित अंग्रेजी फौज का खजाना लूट लिया। अंत में बीकानेर की सहायता से कप्तान शा ने गरसीसर नामक ग्राम में जवाहरसिंह और उसके साथियों को गिरफ्तार कर लिए। इस प्रकार डाकुओं के दल का सफाया हो गया। सन् १८४८ में महाराजा का विश्वसनीय दीवान महाराव हिंदूमल मेहता मर गया। इससे महाराजा को बड़ा दुख हुआ।[1] उसी वर्ष महाराजा ने सिक्खों के विरुद्ध अंग्रेजी सेना की एक बार फिर सहायता की। सन् १८४९ में अंग्रेजों ने बीच में पड़कर बीकानेर, भावलपुर तथा जैसलमेर के सीमा संबंधी झगड़े को समाप्त करवाया। महाराजा रत्नसिंह ७ अगस्त, १८५१ को मर गया।

महाराजा सरदारसिंह

रत्नसिंह के स्थान पर उसका पुत्र सरदारसिंह १९ अगस्त, १८५१ को बीकानेर की गद्दी पर बैठा। उसने गद्दी पर बैठते ही अनेक सामाजिक सुधार किए। विवाह आदि कार्यों में फिजूलखर्ची रोकने के लिए कई आदेश जारी किए। व्यापारी लोग गरीब लोगों का पैसा हजम करने के लिए दिवाला निकाल देते थे। महाराजा

१. गो० ही० ओझा, 'बीकानेर-राज्य का इतिहास', भाग २, पृ० ४०२-४०३।
हिंदूमल उस वेद मेहता परिवार का वंशज था जो राव बीका के साथ जोधपुर से आया था। हिंदूमल ने अपनी योग्यता के बल पर बीकानेर की ओर से मुगल-दरबार में वकील का और बाद में बीकानेर के प्रधानमंत्री का पद प्राप्त किया। महाराजा रत्नसिंह ने उसकी अमूल्य सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे वंश-परम्परागत रूप से 'महाराव' की उपाधि से विभूषित किया।
—करणीसिंह --'बीकानेर घराने का केंद्रीय शक्तियों से संबंध', पृ० १४५।

ने कानून बनाकर व्यापारियों के इस व्यवहार पर सख्त अंकुश लगा दिया। मृत्यु-भोज में शामिल होने वालों की संख्या सीमित कर दी गयी। राज्य-कर्मचारियों पर यह अंकुश लगा दिया कि वे अपने यहां मृत्यु-भोज के अवसर पर 'लापसी' के अलावा कुछ नहीं बनाएंगे। अंग्रेजी सरकार के आदेश पर महाराजा ने अपने राज्य में सती-प्रथा एवं जीवित-समाधि लेने पर रोक लगा दी।

सन् १८५५ में ठाकुर ईश्वरीसिंह ने अपनी जागीर चूरू पर पुनः अधिकार कर लिया। इस पर महाराजा ने सेना भेजकर ईश्वरीसिंह को परास्त किया। स्वयं ईश्वरीसिंह भी मारा गया।

गदर में अंग्रेजों की सहायता

सन् १८५७ में अंग्रेजों के विरुद्ध भारतीय सेना में देशव्यापी विद्रोह भड़क उठा। महाराजा सरदारसिंह ने इस विद्रोह में अंग्रेजों के सहायतार्थ अपनी सारी शक्ति लगा दी। उसकी सेना हांसी, सिरसा और हिसार में पहुंची जहां भारतीय सेना की टुकड़ियां विद्रोह में शामिल हो गयी थीं। महाराजा की सेना में लगभग पांच हजार घुड़सवार एवं सिपाही शामिल थे। इस अभियान का नेतृत्व स्वयं महाराजा ने किया। बीकानेर की सेना को कई स्थानों पर छोटी-मोटी सफलताएं मिलीं। परंतु बाठूल नामक स्थान पर उसे विद्रोहियों के हाथ करारी मात खानी पड़ी। इस लड़ाई में बीकानेर के कई सरदार मारे गए। हांसी में ज्वर फैलने से भी बीकानेर की सेना के कई सिपाही और अधिकारी मारे गए। विद्रोह के दौरान महाराजा ने कई अंग्रेज परिवारों को अपने राज्य में शरण देकर उनके प्राणों की रक्षा की। राजस्थान के राजाओं में केवल मात्र बीकानेर का महाराजा ही ऐसा था जो अंग्रेजों के सहायतार्थ विद्रोह को दबाने स्वयं गया। महाराजा की इन सेवाओं से प्रसन्न होकर अंग्रेज सरकार ने उसे टीबी परगने के ४१ गांव दे दिए जिनके लिए कई वर्षों से बीकानेर का दावा चल रहा था।

गदर से ४० वर्ष पूर्व अमीरखां के आतंक, भट्टियों एवं जोहियों के उपद्रव और छोटे-बड़े जागीरदारों के विद्रोह के कारण राज्य के अधिकांश भागों में महाराजा का नियंत्रण प्रायः समाप्त-सा हो गया था। ऐसी कठिन परिस्थितियों में उस समय सन् १८१८ की संधि के अंतर्गत अंग्रेजी सेना ने इन तत्त्वों का दमन कर बीकानेर राज्य को छिन्न-भिन्न होने से बचाया था। इतिहास की इस पृष्ठभूमि में महाराजा बीकानेर द्वारा सन् १८५७ में अंग्रेजों का साथ देकर उनकी सद्भावना प्राप्त करना स्वाभाविक था। महाराजा को भय था कि यदि अंग्रेज चले गए तो बीकानेर रियासत में सन् १८१८ के पूर्व की स्थिति की पुनरावृत्ति होगी और रियासत छिन्न-भिन्न हो जाएगी।

११ मार्च, १८६२ को अंग्रेज सरकार द्वारा देश के अन्य राजाओं की तरह बीकानेर को भी वास्तविक उत्तराधिकारी के अभाव में वंश-परंपरा के अनुसार गोद लेने का अधिकार दिया गया। महाराजा सरदारसिंह के राज्यकाल में राज्य की

आर्थिक दशा शोचनीय हो गयी थी। उसने स्थिति को सुधारने के लिए शासन में अनेक फेर-बदल किए। अपने २० वर्ष के राज्यकाल में उसने १८ दीवान बदले। अब अंग्रेजों ने राज्य के अंदरूनी मामले में भी दखल करना शुरू कर दिया। सन् १८६८ में महाराजा की इच्छा के विरुद्ध अंग्रेजों ने सुजानगढ़ में गवर्नर-जनरल के एजेंट के सहायक का कार्यालय खोल दिया और इस पद पर पी० डब्ल्यू० पावलेट को नियुक्त किया। अगले वर्ष उन्होंने पं० मनफूल नामक आई० सी० एस० को बीकानेर के दीवान के पद पर थोप दिया। परंतु न तो राज्य की कानून और व्यवस्था की स्थिति में सुधार हुआ और न आर्थिक स्थिति ही ठीक हुई। इसी बीच महाराजा सरदारसिंह १६ मई, १८७२ को मर गया।

महाराजा डूंगरसिंह

महाराजा सरदारसिंह के निःसंतान मरने पर उत्तराधिकार की समस्या पैदा हो गयी। इस समय बीकानेर की गद्दी के दो दावेदार थे : महाराज लालसिंह का पुत्र डूंगरसिंह और महाराज मुकंदसिंह का पुत्र जसवंतसिंह। इन दोनों बालकों का लालन-पालन स्वयं महाराजा सरदारसिंह की देखरेख में हुआ था। अंत में मेवाड़ के महाराणा शंभूसिंह की सिफारिश पर अंग्रेजी सरकार ने डूंगरसिंह को महाराजा सरदारसिंह का उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया। वह ११ अगस्त, १८७२ को बीकानेर की गद्दी पर बैठा। यद्यपि उस समय वह बालिग हो गया था, परंतु राजकार्य का अनुभव नहीं होने के कारण राज्य का शासन पोलिटिकल एजेंट कप्तान बर्टन की अध्यक्षता में एक कौंसिल द्वारा होता रहा। कुछ महीनों बाद अंग्रेजी सरकार ने शासन की समस्त जिम्मेदारी महाराजा को सौंप दी। महाराजा ने अपने पिता महाराज लालसिंह को स्टेट कौंसिल का सभापति नियुक्त किया। सन् १८७६ में काबुल की दूसरी लड़ाई में महाराजा ने अंग्रेजों की सहायतार्थ ८०० ऊंटों का काफिला भेजा। सन् १८७९ में अंग्रेज सरकार ने अन्य राज्यों की तरह बीकानेर से भी नमक-उत्पादन के संबंध में इकरारनामा किया, जिसके अनुसार लूणकरणसर और छापर के अलावा अन्य स्थानों पर नमक बनाना बंद कर दिया गया। इसके एवज में अंग्रेज सरकार ने बीकानेर को ६ हजार रुपये वार्षिक हर्जाना देना स्वीकार किया।

शासन-सुधार

सन् १८८३ में रेखवृद्धि के प्रश्न को लेकर बीकानेर के जागीरदारों में असंतोष भड़क उठा। परंतु यह असंतोष अंग्रेजों की सहायता से दबा दिया गया। रेख की रकम और भी बढ़ा दी गयी। कई जागीरदार जेल में भेज दिए गए। पर इस अवसर पर भारत के वायसराय लॉर्ड डफरिन ने अपने पत्र ३१ दिसंबर, १८८३ द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि भविष्य में वे अपने राज्य का शासन पोलिटिकल एजेंट कप्तान टालबेट

की सहायता और सलाह से चलाएंगे ।[1] भारत सरकार ने पोलिटिकल एजेंट का कार्यालय भी सुजानगढ़ से बीकानेर में तबदील कर दिया। कप्तान टालवेट की सलाह पर महाराजा ने कच्छ के अमर मोहम्मद को बीकानेर का दीवान नियुक्त किया। महाराजा ने अपने शासनकाल में अनेक शासन-सुधार किए। राज्य में एक नयी दंड-संहिता लागू की गयी। दीवानी और फौजदारी अदालतें स्थापित की गयीं। चुंगी महकमे का पुनर्गठन किया गया। बीकानेर में डाकखाना खोला गया व बिजली की व्यवस्था की गई। कई स्थानों पर स्कूल और अस्पताल खोले गए। पहली बार बजट बनाने का सिलसिला शुरू किया। महाराजा ने गत तीन पीढ़ियों से बढे हुए ऋण राज्य को मुक्ति दिलायी एवं फिजूलखर्ची रोकी। उसने अपने पीछे एक सुदृढ़ आर्थिक से व्यवस्था छोड़ी, जिसका लाभ उसके उत्तराधिकारी ने उठाया। उसने राज्य में और राज्य के बाहर अनेक मंदिर बनाए। पर इसी बीच पोलिटिकल एजेंट और महाराजा के बीच कुछ नियुक्तियों को लेकर मतभेद पैदा हो गए। इस पर भारत के तत्कालीन वायसराय लॉर्ड डफरिन ने २ फरवरी, १८८७ को महाराजा को पत्र लिखा कि वह राज्य का शासन-संचालन बिना पोलिटिकल एजेंट के चला रहा है और इस प्रकार वह लॉर्ड रिपन द्वारा उस पर लगाए गए अंकुशों की अवहेलना कर रहा है। लॉर्ड डफरिन ने पत्र के अंत में सख्त चेतावनी देते हुए कहा कि यदि महाराजा ने पोलिटिकल एजेंट की बिना सहमति के राज्य में महत्त्वपूर्ण नियुक्तियां कीं अथवा कोई परिवर्तन किए तो ब्रिटिश सरकार को ऐसे सख्त कदम उठाने पड़ेंगे जो उनके हित में नहीं होंगे।[2] राज्य के अंदरूनी मामलों में अंग्रेजों द्वारा दखल देने का इससे बड़ा क्या उदाहरण हो सकता है ? महाराजा पोलिटिकल एजेंट की कठपुतली बन गया। वह १९ अगस्त, १८८७ को निःसंतान मर गया।

महाराजा गंगासिंह

महाराजा डूंगरसिंह के कोई संतान नहीं होने से उसने अपने छोटे भाई गंगासिंह को भारत सरकार की स्वीकृति से गोद रख लिया। अतः महाराजा के देहांत पर गंगासिंह ३१ अगस्त, १८८७ को बीकानेर की गद्दी पर बैठा। इस समय गंगासिंह की आयु ७ वर्ष से भी कम थी। भारत सरकार ने राज्य के शासन-प्रबंध के लिए बीकानेर के तत्कालीन रेजिडेंट कर्नल थोर्टन की अध्यक्षता में रीजेंसी कौंसिल की स्थापना की। महाराजा की नाबालिगी में राज्य के अंदरूनी मामलों में पोलिटिकल एजेंट का दखल पहले से भी अधिक बढ़ गया। वह छोटे-छोटे मामलों में भी महाराजा से कैफियत तलब करने लगा। इसी बीच महाराजा ने पहले बीकानेर और बाद में मेयो कालेज में शिक्षा पायी। सन् १८९८ में महाराजा १८ वर्ष का हो गया। अतः ब्रिटिश सरकार ने उसे राज्य का शासन-प्रबंध सौंप दिया। परंतु महाराजा के अधिकारों पर ए० जी० जी० ने एक गुप्त पत्र द्वारा निम्न पाबंदियां लगा दीं :

१. डॉ० करणीसिंह—'बीकानेर घराने का केंद्रीय शक्तियों से संबंध', पृ० ३६६।
२. वही, पृ० ३६७।

१. महाराजा की नाबालिगी के समय रीजेंसी कौंसिल द्वारा लिया गया कोई भी निर्णय बिना पोलिटिकल एजेंट की स्वीकृति के नहीं बदला जाएगा ।

२. बिना पोलिटिकल एजेंट की स्वीकृति के प्रशासन में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया जाएगा ।

३. किसी भी महत्त्वपूर्ण मामले में महाराजा पोलिटिकल एजेंट की सलाह के बिना काम नहीं करेंगे ।

सन् १८१८ की संधि की नवीं धारा में यह कहा गया है कि महाराजा और उसके उत्तराधिकारी अपने राज्य के खुद मुख्तार राजा होंगे तथा राज्य में अंग्रेजी हुकूमत का हस्तक्षेप नहीं होगा । उक्त शर्तों के बावजूद महाराजा के बालिग होने पर उन्हें राज्य का शासन-प्रबंध सौंपते हुए भी महाराजा के अधिकारों पर अंकुश लगा दिया । राज्य के अंदरूनी मामलों में अंग्रेजों के दखल का इस बात से अंदाज लगाया जा सकता है कि एक जागीरदार को रियासत के बाहर जाने की इजाजत देने के लिए भी महाराजा को पोलिटिकल एजेंट की स्वीकृति लेनी पड़ती थी । यही नहीं, पोलिटिकल एजेंट न्यायालय के फैसलों में भी दखल किया करता था । प्रशासन के ढांचे में साधारण से साधारण तब्दीली करने के लिए ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति लेनी पड़ती थी । महाराजा ने सन् १८९९ में सरकार के ढांचे में कुछ तब्दीलियां करनी चाहीं । इस कार्य के लिए ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति प्राप्त करने में उसे चार वर्ष लग गए । ब्रिटिश सरकार ने बीकानेर राज्य में अपनी मनमानी शर्तें लाद कर राज्य में तार की लाइन बिछवा दी और तारघर खोल दिए ।

महाराजा का सफल प्रतिरोध

सन् १९०४ में विदासर, अजीतपुरा और गोपालपुरा के जागीरदारों ने महाराजा के विरुद्ध विद्रोह फैलाने का प्रयत्न किया । महाराजा ने एक जांच आयोग नियुक्त किया । इस आयोग ने उक्त जागीरदारों को दोषी पाया । आयोग की रिपोर्ट पर महाराजा ने विदासर ठाकुर की जागीर ३ वर्ष के लिए अधिगृहीत कर ली और उस पर ५ वर्ष के लिए निगरानी बैठा दी । महाराजा ने विदासर के जागीरदार का दरबार में दर्जा भी घटा दिया । अजीतपुरा के ठाकुर को गद्दी से हटा दिया । उसकी जागीर का पट्टा उसके लड़के के पक्ष मैं कर दिया । गोपालपुरा के ठाकुर रामसिंह का एक गांव सुलखानिया जब्त कर लिया । शेष जागीर पर मुन्सरमात बैठा दी । उक्त जागीरदारों ने भारत के गवर्नर-जनरल लॉर्ड कर्जन के सामने महाराजा की आज्ञा के विरुद्ध प्रतिवेदन प्रस्तुत किया । भारत सरकार ने महाराजा द्वारा दी गयी सजा को घटाने का निर्णय लिया । इस पर महाराजा ने वायसराय से कड़ा विरोध प्रगट किया । अंत में भारत सरकार को झुकना पड़ा और उसने महाराजा का निर्णय बहाल रखा । अंग्रेजों द्वारा राज्य के अंदरूनी मामलों में दखल करने के विरुद्ध महाराजा की यह पहली महत्त्वपूर्ण विजय थी ।

ब्रिटिश सरकार की सेवा

महाराजा ने जहां समय-समय पर भारत सरकार की दखलंदाजी की कार्य-वाहियों के विरुद्ध विरोध प्रकट किया, वहां उसने विभिन्न लड़ाइयों में ब्रिटिश सरकार को सक्रिय सहयोग देकर अपनी खैरख्वाही का परिचय भी दिया। सन् १९०० में महा-राजा स्वयं अपनी सेना के साथ चीन की लड़ाई में अंग्रेजों की ओर से शामिल हुआ। सन् १९०२ में सोमाली लैंड के अभियान में महाराजा ने अंग्रेजों की सहायतार्थ गंगा रिसाला भेजा। उसी वर्ष में सम्राट एडवर्ड सप्तम की गद्दीनशीनी के अवसर पर महाराजा इंगलैंड गया, जहां उसे सम्राट ने चीन-युद्ध में भाग लेने के उपलक्ष्य में 'चायना' मैडल प्रदान किया और साथ ही उसे 'प्रिंस आफ वेल्स' का अंगरक्षक भी नियुक्त किया।

पोलिटिकल एजेंट के पद की समाप्ति

महाराजा ने अंग्रेज सरकार को युद्ध में समय-समय पर सहायता पहुंचाकर एवं अपने संपर्क और व्यवहार से ए० जी० जी०, वायसराय तथा स्वयं सम्राट का विश्वास प्राप्त किया। फलस्वरूप महाराजा की प्रार्थना पर सन् १९१० में अंग्रेज सर-कार ने पोलिटिकल एजेंट का पद समाप्त कर दिया और बीकानेर राज्य को पश्चिमी राजपूताना के राज्यों के रेजिडेंट के अंतर्गत कर दिया। महाराजा सन् १९१० में सम्राट जॉर्ज पंचम की गद्दीनशीनी के उत्सव में शामिल हुआ। इस अवसर पर कैंब्रिज विश्वविद्यालय ने उसे एल० एल० डी० की डिग्री प्रदान की। जॉर्ज पंचम के दिल्ली-आगमन के अवसर पर महाराजा ने १२ दिसंबर, १९११ के दरबार की व्यवस्था करने में सक्रिय भाग लिया।

महाराजा और विश्वयुद्ध

अगस्त, १९१४ में यूरोप में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया। बीकानेर की ओर से गंगा रिसाला इस युद्ध में शामिल हुआ। ऊंटों के इस रिसाले ने युद्ध में स्वेज नहर के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। महाराजा स्वयं कुछ समय के लिए इस रिसाले के साथ थे। लड़ाई की समाप्ति पर ब्रिटिश सरकार ने महाराजा की सेवाओं से प्रसन्न होकर उसकी व्यक्तिगत सलामी १७ तोपों से बढ़ाकर १९ तोपें कर दी। उन्हें अन्य उपाधियों से भी विभूषित किया।

साम्राज्य सम्मेलन में प्रतिनिधित्व

सन् १९१७ में लंदन में ब्रिटिश सरकार ने एक साम्राज्य सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में भारत सरकार के एक नुमाइंदे की हैसियत से महाराजा बीकानेर ने भी भाग लिया। इस अवसर पर महाराजा इंपीरियल वार-कैबिनेट की बैठकों में भी शामिल हुए। अपने इंगलैंड-प्रवास के दौरान महाराजा ने लंदन के 'टाइम्स' नामक समाचार-पत्र को एक भेंट में बताया कि ब्रिटिश सरकार का भारत को स्वायत्तता की

ओर ले जाने की दिशा में आवश्यकता से अधिक सतर्कता रखना उतना ही खतरनाक है जितना कि बिना सावधानी बरते जल्दी-जल्दी में कोई सुधार करना। उसने कहा कि भारतीय नरेश ब्रिटिश झंडे के नीचे वैधानिक तरीकों से भारत की प्रगति देखकर खुश होंगे।[१] इंगलैंड से वापस लौटते हुए १५ मई, १९१७ को महाराजा ने रोम से भारत-सचिव आस्टिन चेंबरलिन को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने ब्रिटिश सरकार को सलाह दी कि वह यह घोषणा करे कि उनकी नीति उचित समय पर भारत को 'स्वायत्तता' प्रदान करने की है। महाराजा ने अपने पत्र में देशी राज्यों के हितों की रक्षा हेतु शासकों की एक परिषद् बनाने का भी सुझाव दिया।

नवंबर, १९१८ को प्रथम महायुद्ध का अंत हुआ। मित्र राष्ट्रों की विजय हुई और शांति सम्मेलन की तैयारी होने लगी। शांति सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि-मंडल में महाराजा गंगासिंह भी शामिल हुआ। इस शांति सम्मेलन के अवसर पर महाराजा ने श्रमिकों के काम करने के घंटों को सीमित करने के प्रस्ताव को भारत की देशी रियासतों पर लागू न करने की वकालत की। उनका कहना था कि ऐसा करने से देशी रियासतों की स्वायत्तता पर असर पड़ेगा।[२] विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने २८ जून, १९१९ को वर्सेलीज नामक स्थान पर संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किए। भारत की ओर से हस्ताक्षर करने वालों में महाराजा गंगासिंह भी शामिल थे। महाराजा ने भारत की ओर से कई बार राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशंस) की बैठकों में भी भाग लिया। सन् १९३० में तो उन्होंने भारतीय प्रतिनिधि-मंडल का नेतृत्व भी किया। इसी वर्ष भारत की राजनीतिक समस्या का हल ढूंढ़ने के लिए ब्रिटिश सरकार ने लंदन में गोलमेज-सम्मेलन बुलाया। भारत के नरेशों की ओर से अन्य राजाओं के अलावा महाराजा ने भी भाग लिया। भारत में संघीय शासन-व्यवस्था के स्थापित करने के ब्रिटिश प्रस्ताव का स्वागत करते हुए महाराजा ने भारत की और उसके साथ ही भारतीय नरेशों की महानता में भी विश्वास प्रकट किया।[३]

शासन-सुधार

इधर बीकानेर राज्य में महाराजा ने १९०२ में महकमा खास को सचिवालय में बदल दिया। सचिवों की नियुक्ति की गयी जो सीधे महाराजा के प्रति उत्तरदायी थे। दीवान का पद समाप्त कर दिया गया। इसी वर्ष महाराजा ने प्रीवीपर्स अलग कर दिया, जो राज्य की आय का ५ प्रतिशत था। सन् १९१० में महाराजा ने चीफ कोर्ट की स्थापना की जिसमें चीफ जज और दो अन्य जजों की नियुक्तियां की गयीं। महाराजा ने उर्दू के स्थान पर हिंदी का प्रचलन किया। १९१३ में महाराजा ने एक प्रतिनिधि-सभा स्थापित की। इस प्रतिनिधि-सभा में कुल ३५ सदस्य थे। इनमें निर्वा-

१. करणीसिंह—'बीकानेर घराने का केंद्रीय शक्तियों से संबंध', पृ० २०७।
२. वही, पृ० २१५।
३. वही, पृ० २४०।

चित सदस्य राज्य की कतिपय नगरपालिकाओं द्वारा चुने जाते थे, जिनमें स्वयं में नामजद सदस्यों का बहुमत था। सन् १९१७ में प्रतिनिधि-सभा का नाम बदल कर विधान-सभा कर दिया और उसके निर्वाचित सदस्यों की संख्या १० से १५ कर दी। सन् १९३७ में निर्वाचित सदस्यों की संख्या १५ से २० कर दी गयी और इस प्रकार विधान-सभा की सदस्यता ४५ कर दी। उसी वर्ष महाराजा ने नगर-परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या और अधिकारों में वृद्धि की। सन् १९२० में महाराजा ने सहकारी समितियों का कानून बनाया और इसी वर्ष उक्त कानून के अंतर्गत बीकानेर राज्य में पहली सहकारी समिति बनायी गयी।

शिक्षा और चिकित्सा-सेवाओं का विस्तार

सन् १९२१ में महाराजा नरेंद्र-मंडल के प्रथम चांसलर बनाए गए। इस पद पर वे लगातार ५ वर्ष तक रहे। सन् १९२२ में महाराजा ने चीफ कोर्ट के स्थान पर हाई कोर्ट की स्थापना की। सन् १९२८ में महाराजा ने पंचायत एक्ट बनाया और राज्य में पंचायतें स्थापित कर उन्हें दीवानी, फौजदारी एवं प्रशासकीय अधिकार प्रदान किए।

महाराजा ने अपने राज्यकाल में बीकानेर राज्य में शिक्षा का समुचित विस्तार किया। सन् १९३३ में उन्होंने एक डिग्री कालेज की स्थापना की। उसने बनारस विश्वविद्यालय की स्थापना में महत्त्वपूर्ण आर्थिक सहयोग किया और वे कई वर्षों तक उसके प्रो० चांसलर एवं चांसलर बने रहे। महाराजा ने बीकानेर में एक विशाल अस्पताल स्थापित किया जो उस समय देशी रियासतों के महत्त्वपूर्ण अस्पतालों में से एक था। महाराजा ने राजधानी में एक जलप्रदाय योजना कार्यान्वित कर बीकानेर की कठिन समस्या का समाधान किया।

महाराजा गंगासिंह के राज्यकाल में बीकानेर में रेलवे का जाल बिछ गया। पहली रेलवे लाइन जोधपुर से बीकानेर के बीच सन् १८९१ में निर्मित हुई। महाराजा की मृत्यु के समय सन् १९४३ में राज्य में कुल ८८४ मील लंबी रेलवे लाइन बन चुकी थी। यातायात के क्षेत्र में बीकानेर जैसी पिछड़ी हुई रियासत के लिए यह एक क्रांति ही थी।

सतलज और बीकानेर

बीकानेर राज्य की लगभग सभी भूमि थार के महान् रेगिस्तान का भाग होने के कारण बंजर और रेतीले टीलों से ओतप्रोत थी। राज्य में कोई नदी नहीं होने एवं बारिश के अत्यधिक कम होने के कारण न केवल पैदावार की कमी थी, वरन् पीने के पानी की भी कठोर समस्या थी। इन समस्याओं को हल करने की दिशा में पहला प्रयत्न महाराजा डूंगरसिंह के शासनकाल में सन् १८८४ में हुआ, जबकि महाराजा ने भारत सरकार के द्वारा पंजाब सरकार से सतलज नदी से निकाली गयी अबोहर नहर को बीकानेर राज्य में लाने की प्रार्थना की। पर पंजाब सरकार ने

बीकानेर की इस प्रार्थना को ठुकरा दिया। सन् १८९९ और १९०० में राज्य में लगातार दो भयंकर दुष्काल पड़े। इन दुष्कालों की विभीषिका को देखकर भारत सरकार की आंखें खुल गयीं। सन् १९०१ में भारत के वायसराय लॉर्ड कर्जन ने सर कालिन स्काट मौनक्रिफ की अध्यक्षता में दुष्काल-पीड़ित क्षेत्रों में सिंचाई-साधन उपलब्ध कराने के संबंध में एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने अपना प्रतिवेदन सन् १९०३ में प्रस्तुत किया। समिति की सिफारिशों पर विचार करने के बाद भारत सरकार इस निर्णय पर पहुंची कि नदियों के पानी का उपयोग क्षेत्रीय भावनाओं से ऊपर उठकर अधिक से अधिक जनता के लाभ के लिए करना चाहिए।

बीकानेर का दावा स्वीकार

सन् १९०३ में महाराजा गंगासिंह ने स्टैंडले नामक अंग्रेज इंजीनियर को राज्य का मुख्य अभियंता नियुक्त कर राज्य का सर्वे कराया। इस इंजीनियर ने अपने सर्वे द्वारा सिद्ध कर दिया कि राज्य का एक बड़ा भाग सतलज नदी के कमांड क्षेत्र में आता है। भारत सरकार ने सन् १९०५ में सतलज नदी घाटी परियोजना तैयार करवायी। इस योजना में राज्य का उत्तरी भाग सतलज के कमांड क्षेत्र में शामिल कर लिया गया। परंतु भावलपुर राज्य ने इस योजना का इस आधार पर कड़ा विरोध किया कि इंडसबेसिन की नदियां बीकानेर में होकर नहीं गुजरतीं, अत: अंग्रेजी और अमेरिकन 'राइपेरियन ला' के अनुसार बीकानेर राज्य सतलज नदी घाटी परियोजना से लाभान्वित होने का हकदार नहीं है। भावलपुर के प्रतिवेदन पर टिप्पणी करते हुए पंजाब के वित्त-आयुक्त सर लेविस तूपर ने लिखा कि किसी नदी के पानी पर किसी राज्य के संपूर्ण स्वामित्व का दावा केवल इसी आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उक्त नदी उस राज्य में गुजरती है। यह कहकर सर लेविस ने सतलज नदी के पानी में बीकानेर के दावे की पुष्टि कर दी। प्रांतीय भावना से ऊपर उठकर इस प्रकार की समस्याओं को अखिल भारतीय दृष्टिकोण से देखने वाले सर लेविस जैसे अधिकारी विरले ही होते हैं। परंतु भावलपुर अपने दावे पर अड़ा रहा और वर्षों तक कोई समझौता नहीं हो सका। बीकानेर राज्य ने पश्चिमी राजपूताने के रेजीडेंट के मारफत भारत सरकार को २ फरवरी, १९१६ को एक विस्तृत स्मरण-पत्र दिया जिसमें भावलपुर द्वारा उठाए गए सभी मुद्दों का, जिनमें राइपेरियन स्टेट के सिद्धांत वाला मुद्दा भी शामिल था, सतर्क उत्तर दिया गया। पर इसी बीच पंजाब का रुख भी बदल गया और दूसरा महायुद्ध शुरू हो गया। पर महाराजा गंगासिंह इन सब कठिनाइयों के बावजूद निराश नहीं हुए। वे इस योजना की स्वीकृति के लिए सतत प्रयत्नों में जूझे रहे।

त्रिपक्षीय समझौता

भारत सरकार ने १७ अक्तूबर, १९१८ के अपने स्मरण-पत्र द्वारा इस निर्णय की सूचना दी कि सतलज नदी के पानी का उपयोग अंग्रेजी राज्य और देशी राज्यों

की सीमा में बिना भेद-भाव के किया जाना चाहिए। भारत सरकार ने इस स्मरण-पत्र में स्पष्ट कर दिया कि कोई कारण नहीं कि बीकानेर को सतलज नदी के पानी से केवल इसीलिए वंचित कर दिया जाए कि वह राइपेरियन स्टेट नहीं है।'[1] अंत में ४ सितंबर, १९२० को भारत सरकार के तत्त्वावधान में पंजाब, भावलपुर (अब पाकिस्तान में) और बीकानेर राज्यों के बीच समझौता हो गया। तत्काल बीकानेर रियासत के लिए यह एक भीमकाय योजना थी, जिसके अनुसार १३० किलोमीटर लंबी पक्की नहर, २५५ किलोमीटर की रेलवे लाईन और अनेक मंडियों, पाठशालाओं, पुलिस स्टेशन और अन्य कार्यालयों का निर्माण करना था। उस वक्त इस योजना पर साढ़े पांच करोड़ की लागत का अनुमान लगाया गया था। महाराजा गंगासिंह द्वारा उस समय इतनी बड़ी योजना का भार उठाना उनके अदम्य साहस और दूरदर्शिता का प्रतीक था। यह योजना सन् १९२७ में पूरी हुई। इस योजना के फलस्वरूप बीकानेर राज्य की लगभग साढ़े तीन लाख एकड़ भूमि सिंचित क्षेत्र में आयी। जनता ने महाराजा गंगासिंह की स्मृति को अमर बनाने के लिए नहर का नाम 'गंग नहर' दिया।

दूरगामी परिणाम

महाराजा गंगासिंह द्वारा बीकानेर राज्य के रेगिस्तान को लहलहाते खेतों में परिवर्तित करने के प्रयत्न 'गंग नहर' तक ही सीमित नहीं थे। वह भाखरा बांध-परियोजना में बीकानेर को भागीदार बनाने में सफल रहा, यद्यपि यह परियोजना उसकी मृत्यु के बाद कार्यान्वित हुई। महाराजा की इन सफलताओं ने २९ जनवरी, १९५५ के उस अंतर्राज्यीय समझौते की ठोस नींव रखी जिसके अनुसार राजस्थान रावी और व्यास नदी के ५२ प्रतिशत पानी का हकदार बना। राजस्थान की भावी पीढ़ियां महाराजा के इन अमूल्य प्रयत्नों के लिए चिरकाल तक ऋणी रहेंगी।

सामाजिक चेतना

बीकानेर राज्य में सामाजिक चेतना की लहर पैदा करने का श्रेय चूरू के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० कन्हैयालाल ढूंढ और उसके सुयोग्य शिष्य स्व० स्वामी गोपालदास को जाता है, जिन्होंने सन् १९०७ में चूरू में सर्वहितकारिणी सभा स्थापित की। इस संस्था ने चूरू में लड़कियों के शिक्षा हेतु 'पुत्री पाठशाला' और अछूतों की शिक्षा के लिए 'कबीर पाठशाला' स्थापित कर न केवल चूरू में वरन् समूचे बीकानेर में हलचल पैदा कर दी। इस संस्था ने बीकानेर राज्य में ही नहीं, जयपुर राज्य के अनेक गांवों में पाठशालाएं, पुस्तकालय और वाचनालय खोले। स्वामी गोपालदास और पं० चंदनमल बहड़ इसी संस्था के माध्यम से राज्य के राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन में उतरे।

१. करणीसिंह—'बीकानेर घराने का केंद्रीय शक्तियों से संबंध', पृ० २६५।

चूरू में २६ जनवरी, १९३० में सर्वश्री बहड़ [illegible]दास ने अपने अन्य सहयोगियों के साथ चूरू के सर्वोच्च शिखर धर्मस्तूप पर तिरंगा झंडा फहराकर राज्य में एक बड़ा धमाका कर दिया। फलस्वरूप महाराजा गंगासिंह ने श्री बहड़ आदि को चूरू नगरपालिका की सदस्यता से निलंबित कर दिया। अंत में पं० मदन-मोहन मालवीय की समझायश पर महाराजा ने उन्हें पुन: बहाल किया।

यद्यपि महाराजा गंगासिंह ने बीकानेर जैसे पिछड़े राज्य का अपने शासनकाल में चहुंमुखी विकास किया, तथापि नागरिक-स्वतंत्रता के मामले में वह एक निरंकुश शासक था। उसकी दमनपूर्ण नीति का अंदाज इस घटना से लगाया जा सकता है कि बीकानेर में सन् १९२१ में 'प्रिंस ऑफ वेल्स' के सम्मान में किए गए आम जलसे से दो विद्यार्थियों को डंडे लगवाकर इसलिए निकलवा दिया कि वे सहज भाव से ही खादी की टोपी पहन कर दर्शकों में बैठे हुए थे। महाराजा ने सन् १९२८ में स्वर्गीय सेठ जमनालाल बजाज को राज्य में प्रवेश करने से रोक दिया। उस समय राज्य में भाषण एवं लेखन पर भारी अंकुश लगा हुआ था। यही नहीं, राज्य में किसी भी प्रकार की सामाजिक अथवा शैक्षणिक प्रवृत्तियां चलाना भी जोखिम से भरा हुआ था। महाराजा की इन नीतियों के कारण राज्य के शिक्षित समाज का अंदर ही अंदर दम घुट रहा था। सन् १९३१ में महाराजा ने खाद्यान्नों पर कर लगाया। उसके इस कदम ने राज्य के कुछ साहसी कार्यकर्ताओं को खुले में आने के लिए मजबूर किया। चूरू के स्वामी गोपालदास और पं० चंदनमल बहड़ एवं उनके साथियों ने बीकानेर के इतिहास में पहली बार इस टैक्स के विरुद्ध संगठित अभियान आरंभ किया और चूरू में एक सार्वजनिक सभा की। इधर भादरा के श्री सत्यनारायण एडवोकेट ने भी राज्य की दकियानूसी नीति के विरुद्ध आवाज उठायी। दिल्ली के 'प्रिंसली इंडिया' और 'रियासत' एवं अजमेर के 'त्याग भूमि' आदि समाचार-पत्रों में राज्य के दमन संबंधी समाचार प्रकाशित हुए। महाराजा गंगासिंह इस समय दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए लंदन गया हुआ था और वहां भारत को ब्रिटिश झंडे के नीचे स्वायत्तता प्रदान करने की वकालत कर रहा था। पं० चंदनमल बहड़ और उनके साथियों ने राज्य द्वारा किए जा रहे जुल्मों का एक ज्ञापन तैयार किया। उस पर हजारों लोगों के हस्ताक्षर करवाए एवं उसे छपवाकर न केवल बीकानेर राज्य में वरन् लंदन में चल रहे गोलमेज सम्मेलन एवं अन्य स्थानों में भी वितरित करवाया। भला महाराजा गंगासिंह बीकानेर की रियाया की यह हरकत कैसे बरदाश्त करते ?

बीकानेर षड्यंत्र केस

राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मामलों में दखल रखने वाला महाराजा गंगासिंह बीमारी का बहाना कर गोलमेज सम्मेलन की समाप्ति के पूर्व ही पहले स्टीमर से बीकानेर लौट आया। महाराजा और उसके दीवान सर मनुभाई मेहता की व्यक्तिगत देखरेख में चंदनमल बहड़ और सत्यनारायण शर्राफ आदि व्यक्तियों के खिलाफ

राजद्रोह के अभियोग में तहक़ीकात शुरू हुई। १३ जनवरी, १९३२ को चंदनमल बहड़ और सत्यनारायण शर्राफ गिरफ्तार कर लिये गए। बाद में तहकीकात के दौरान स्वामी गोपालदास (चूरू) और प्यारेलाल सारस्वत (चूरू), बद्रीनाथ सरावगी (राजगढ़), खूबराम शर्राफ (मादरा) और सोहनलाल शर्मा (चूरू) भी पकड़ लिये गए। १३ अप्रैल, १९३२ को सेशंस जज श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी की अदालत में उक्त अभियुक्तों के विरुद्ध राजद्रोह के अभियोग में मुकदमा प्रारंभ हुआ। बीकानेर के सुप्रसिद्ध एडवोकेट रघुवरदयाल गोयल और उसके साथ मुक्ताप्रसाद ने इस मुकदमे में अभियुक्तों की ओर से पैरवी कर अदम्य साहस का परिचय दिया। अदालत ने न्याय का नाटक कर अभियुक्तों को तीन माह से लगा कर सात वर्ष तक की कड़ी सजाएं दीं। स्मरण रहे, इस मामले में स्वामी गोपालदास ने अदालत की कार्यवाही में भाग लेने से इनकार कर दिया था। यह मामला बीकानेर षडयंत्र-केस के नाम से विख्यात हुआ। महाराजा गंगासिंह की इस मामले में सारे देश में और समाचार-पत्रों में तीखी आलोचना हुई।

लाला सत्यनारायण शर्राफ ३ जुलाई, १९३६ को सजा काटकर रिहा हुआ। उसने पुन: राजनीतिक गतिविधियां शुरू कर दीं। वह १६ मार्च, १९३७ को राज्य से निर्वासित कर दिया गया। इसी बीच मघाराम वैद्य ने ४ अक्तूबर, १९३६ को बीकानेर-प्रजामंडल की स्थापना की। महाराजा ने कुछ ही महीनों बाद मघाराम को ६ वर्ष के लिए राज्य से निर्वासित कर दिया। इसी तरह प्रजामंडल के मनोनीत मंत्री स्वामी लक्ष्मणदास को भी निर्वासित कर दिया गया।

प्रजा-परिषद् की स्थापना

२२ जुलाई, १९४२ को बीकानेर षड्यंत्र केस के ख्याति-प्राप्त एडवोकेट रघुवरदयाल गोयल ने बीकानेर राज्य प्रजा-परिषद् की स्थापना कर बीकानेर राज्य में संगठित रूप से राजनीतिक आंदोलन का श्रीगणेश किया। परिषद् की स्थापना का उद्देश्य था महाराजा की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना। राजस्थान के लगभग सभी राज्यों में इस प्रकार की राजनीतिक संस्थाएं सन् १९३८-३९ में स्थापित हो चुकी थीं। पर महाराजा गंगासिंह को सन् १९४२ में भी यह बरदाश्त नहीं था। महाराजा ने एक सप्ताह बाद ही गोयल को गिरफ्तार कर राज्य से निर्वासित कर दिया। इस प्रकार प्रजा-परिषद् एक बार तो पैदा होते ही कालग्रस्त हो गयी। गोयल जयपुर चला गया। २९ सितंबर, १९४२ को गोयल ने राज्य द्वारा लगायी गयी पाबंदी तोड़कर बीकानेर राज्य में प्रवेश किया। वह तुरंत गिरफ्तार कर लिया गया। उसे सुरक्षा कानून के अंतर्गत १ वर्ष की सजा दी गयी। कुछ समय बाद गोयल के दो साथी गंगादास कौशिक और दाऊदयाल आचार्य भी इसी संबंध में जेल में रख दिए गए। इन्हीं दिनों सरदार शहर के एक संभ्रांत नागरिक नेमीचंद आंचलिया ने अजमेर से प्रकाशित 'राजस्थान' में एक लेख लिखा जिसमें उसने बीकानेर राज्य में चल रहे दमन की आलोचना की। राज्य सरकार ने उसे गिरफ्तार कर

लिया और राजद्रोह का मुकदमा चला। अदालत ने आंचलिया सात साल की कठोर सजा दी।

झंडा सत्याग्रह

सन् १९४२ के दिसंबर में बीकानेर में झंडा-सत्याग्रह हुआ। इस आंदोलन में भाग लेने के फलस्वरूप किशनगोपाल गुट्टड महाराज, रामनारायण शर्मा और भिक्षा-लाल बोहरा को भिन्न-भिन्न सजाएं दी गयीं। इन्हीं दिनों दूधवखारा का श्री हनुमान-सिंह सरकारी सेवा त्यागकर प्रजा-परिषद् में शामिल हो गया। हनुमानसिंह ने अपने गांव में प्रजा-परिषद् की एक शाखा स्थापित की और गांव-गांव में परिषद् का संदेश पहुंचाने का काम शुरू किया। इस पर वहां के जागीरदार ने जो राज्य का एक उच्चाधिकारी भी था, हनुमानसिंह एवं उसके कई किसान साथियों को पुलिस की सहायता से अपने घरों और खेतों से बेदखल कर खानाबदोश कर दिया। हनुमानसिंह पर राजद्रोह का मुकदमा चलाकर उसे ५ वर्ष की सजा दे दी। इस पर उसने अनशन शुरू कर दिया। सरकार ने उसके मर जाने के भय से उसे अनशन के ५०वें दिन रिहा कर दिया।

महाराजा गंगासिंह का व्यक्तित्व

महाराजा गंगासिंह का २ फरवरी, १९४३ को ६३ की अवस्था में देहांत हो गया और उसके साथ ही बीकानेर राज्य में एक युग का पटाक्षेप हो गया।

महाराजा गंगासिंह निःसंदेह आधुनिक बीकानेर राज्य का निर्माता था। वर्षों के अथक परिश्रम और सूझबूझ द्वारा बीकानेर राज्य में सतलुज का पानी लाकर तो वह सचमुच भगीरथ हो गया। महाराजा ने अपनी कुशाग्र बुद्धि और प्रभाव से राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था। उसने एक ओर जहां राजा, महाराजा, विभिन्न वायसराय और भारत सरकार के उच्चाधिकारियों से निकट के संबंध बनाए वहां दूसरी ओर उसने लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी जैसे चोटी के राष्ट्रीय नेताओं से भी व्यक्तिगत संपर्क स्थापित किया। वह एक मंझली रियासत का शासक होते हुए भी नरेन्द्र-मंडल (चैंबर ऑफ प्रिंसेस) का प्रथम चांसलर चुना गया और लगातार ५ वर्ष तक उस पद पर रहा। उसने प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर भारत सरकार के एक प्रतिनिधि की हैसियत से वरसेलीज की संधि पर हस्ताक्षर किए। संक्षेप में यह कहा जाए तो अनुपयुक्त नहीं होगा कि महाराजा ने अपने जीवन-काल में अपने व्यक्तित्व के कारण बीकानेर को भारत ही नहीं वरन् विश्व के मानचित्र पर लाकर रख दिया। पर महाराजा के व्यक्तित्व का एक दूसरा पहलू भी था। सन् १९१७ में लंदन में हुए साम्राज्य सम्मेलन से लौटते महाराजा ने रोम से तत्कालीन भारत-सचिव आस्टिन चेंबरलिन को एक नोट भेजते हुए लिखा कि भारत के शिक्षित वर्ग में स्वराज की आकांक्षा होना स्वाभाविक है, अतः ब्रिटिश सरकार को भारत को साम्राज्य के अंतर्गत स्वराज देने में देर नहीं

करनी चाहिए। परंतु महाराजा की स्वयं की रियासत में चिड़िया तक नहीं चहक सकती थी। जिन लोगों ने साहस बटोरकर राज्य के जुल्मों के विरुद्ध थोड़ी भी आवाज उठायी तो उन्हें बुरी तरह से कुचल कर रख दिया। यही कारण था कि महाराजा के जीवन-काल में प्रजा-मंडल अथवा प्रजा-परिषद जैसी कोई संस्था अपने पैर नहीं जमा पायी। वास्तव में महाराजा गंगासिंह राज्य के बाहर जनतंत्र का पुजारी, पर राज्य के भीतर निरंकुशवाद का जीता-जागता नमूना था। वह एक 'बेनीवोलेंट डिक्टेटर' अर्थात् उदार तानाशाह था। वह बीकानेर के राठौड़ राजवंश का चमकता हुआ सितारा एवं अपने जमाने में रियासती भारत का निरंकुश परंतु सर्वोत्तम शासक था।

महाराजा सार्दूलसिंह

महाराजा गंगासिंह के निधन पर उसका ४१ वर्षीय पुत्र सार्दूलसिंह बीकानेर की गद्दी पर बैठा। राजकाज में भली भांति प्रशिक्षित और अनुभवी होते हुए भी सार्दूलसिंह के लिए गंगासिंह जैसे विराट् व्यक्तित्व वाले महाराजा का उत्तराधिकारी बनना एक टेढ़ी खीर था। देशी राज्यों और भारत सरकार के बीच पत्र-व्यवहार का माध्यम ए० जी० जी० और पोलिटिकल एजेंट हुआ करते थे। महाराजा गंगासिंह ने सन् १९१९ में अपने प्रभाव द्वारा पोलिटिकल एजेंट की कड़ी को समाप्त करवा दिया था। परंतु महाराजा गंगासिंह की मृत्यु के तुरंत बाद भारत सरकार ने निर्णय लिया कि अब बीकानेर राज्य भी अन्य राज्यों की भांति पोलिटिकल एजेंट के मारफत ही ए० जी० जी० एवं भारत सरकार से पत्र-व्यवहार करेगा। भारत सरकार ने सार्दूलसिंह को तब तक बीकानेर के शासक के रूप में मान्यता नहीं प्रदान की जब तक कि महाराजा ने भारत सरकार के इस निर्णय को स्वीकार नहीं कर लिया। यही कारण था कि महाराजा गंगासिंह की मृत्यु के एक माह से भी अधिक समय के बाद ८ मार्च, १९४३ को भारत सरकार ने महाराजा सार्दूलसिंह को बीकानेर के महाराजा के रूप में मान्यता दी। भारत सरकार देशी रियासतों के शासकों के साथ समय-समय पर इस प्रकार की चोट करती रहती थी। शायद राजाओं को यह याद दिलाने के लिए कि सार्वभौम सत्ता वास्तव में सार्वभौम है।

नये महाराजा ने गद्दी पर बैठते ही राज्य में राजनीतिक वातावरण सुधारने की दृष्टि से रघुवरदयाल गोयल, गंगादास कौशिक, दाऊदयाल आचार्य, भिक्षालाल बोहरा, रामनारायण शर्मा और गुट्टड महाराज आदि राजनीतिक बंदियों को फरवरी, १९४३ में रिहा कर दिया। परंतु नेमीचंद आंचलिया को तभी रिहा किया गया जब उसने जेल में आमरण अनशन शुरू कर दिया।

पुनः दमन

राजनीतिक बंदियों की रिहाई के बावजूद नये महाराजा ने बीकानेर राज्य प्रजा-परिषद को मान्यता नहीं दी। महाराजा और रघुवरदयाल गोयल के बीच

२६ अगस्त, १६४४ को इस संबंध में लंबी वार्ता हुई। परंतु कोई नतीजा नहीं निकला। गोयल उसी रात को गिरफ्तार किया जाकर लूणकरणसर में नजरबंद कर दिया गया। परिषद् के महामंत्री गंगादास और प्रमुख कार्यकर्ता दाऊदयाल आचार्य भी सुरक्षा कानून के अंतर्गत गिरफ्तार किए जाकर जेल में बंद कर दिए गए। गोयल ने अपनी नजरबंदी के खिलाफ हाईकोर्ट में आवेदन-पत्र दिया। परंतु हाईकोर्ट की सुनवाई के पूर्व ही उसे ११ जून, १६४५ को पुनः राज्य से निर्वासित कर दिया गया। सन् १६४५ के जून में दूधबखारा किसान आंदोलन ने फिर जोर पकड़ा। मघाराम वैद्य एवं रामनारायण शर्मा एक बार फिर जेल में डाल दिए गए। इस प्रकार राज्य में दमन का दौर चलता रहा।

३१ दिसंबर, १६४५ को पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में अ० भा० देशी राज्य लोक-परिषद् का अधिवेशन हुआ। बीकानेर की स्थिति का जिक्र करते हुए पं० नेहरू ने अपने भाषण में कहा कि जहां शादी की कुमकुम-पत्री तक राज्य द्वारा सेंसर की जाती हो, पर्दे की ओट में जनता पर भीषण अत्याचार किए जाते हों और उसके प्रतिवाद में मनगढ़ंत दलीलें दी जाती हों उस राज्य के शासक इंसान नहीं हैवान हैं। बीकानेर राज्य की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का इससे बढ़िया और सुंदर चित्रण और कौन कर सकता था? इस सम्मेलन में रघुवरदयाल गोयल, मघाराम वैद्य, गंगादास कौशिक और हनुमानसिंह दूधबखारा आदि कार्यकर्ताओं ने भाग लिया। गोयल उदयपुर अधिवेशन में भाग लेकर जयपुर आया। पर वहां की सरकार ने भी उसको राज्य से निर्वासित करने की आज्ञा दे दी। फलतः गोयल अलवर पहुंचा और वहां बीकानेर प्रजा-परिषद् का कार्यालय स्थापित किया। वहीं से उसने गंगादास कौशिक, चौ० हंसराज, चौ० कुंभाराम, स्वामी करनानंद और चंपालाल रांका आदि उत्साही कार्यकर्ताओं के सहयोग से प्रजा-परिषद् के कार्य का संचालन किया। रांका इन दिनों कलकत्ता में 'आज का बीकानेर' नामक पत्र का संपादन कर रहा था।

किसान परिवार पर जुल्म

इधर हनुमानसिंह दूधबखारा की प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने के लिए महाराजा ने सेना की एक टुकड़ी भेजकर उसे गिरफ्तार कर लिया। उसकी चल एवं अचल संपत्ति जब्त कर ली गयी। उसकी माता, चार भाई और चार भाभियों को दो-दो वर्ष की सजा दे दी गयी। हनुमानसिंह की दोनों पत्नियों को बीकानेर राज्य से निर्वासित कर दिया गया। हनुमानसिंह को अनूपगढ़ के किले में बंद कर दिया, जहां उसने ६५ दिन तक अनशन किया। ७ दिन तक तो उसने पानी भी नहीं पिया। अंत में उसके बेहोश हो जाने पर उसे रिहा कर दिया गया।

२५ जून, १६४६ को प्रजा-परिषद् का प्राण रघुवरदयाल गोयल पाबंदी तोड़ कर राज्य में घुस गया। उसे गिरफ्तार कर जेल में बंद कर दिया गया। चौधरी कुंभाराम इसके पूर्व ही पकड़ लिया गया था। ३० जून को रायसिंह नगर में प्रजा-परिषद् का सम्मेलन आयोजित किया गया। सम्मेलन का अध्यक्ष था बीकानेर षड्यंत्र

केस का भूतपूर्व अभियुक्त श्री सत्यनारायण शर्राफ। १ जुलाई, १९४६ को रायसिंह-नगर स्टेशन पर रेल से उतरकर परिषद् के कार्यकर्ता हाथ में तिरंगे झंडे लिये हुए सम्मेलन में शरीक होने जा रहे थे। पुलिस इन कार्यकर्ताओं से झंडे छीन कर उन्हें घसीटते हुए रेस्ट-हाउस की ओर ले गयी। जनता रेस्ट-हाउस की ओर उमड़ पड़ी। जनता की इस भीड़ का नेतृत्व तिरंगा झंडा लिये बीरबलसिंह नामक एक नौजवान कर रहा था। पुलिस ने भीड़ पर गोली चला दी। बीरबलसिंह वहीं शहीद हो गया। कई अन्य व्यक्ति घायल हुए।

एक ओर बीकानेर में महाराजा का दमन-चक्र चल रहा था और दूसरी ओर देश में राजनीतिक परिस्थितियां तेजी से बदल रही थीं। देश को सत्ता हस्तांतरित करने के संबंध में ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि के रूप में तीन वरिष्ठ मंत्रियों का एक मिशन २३ मई, १९४६ को भारत में पहुंच चुका था। भारत की आजादी की घड़ियां निकट आ रही थीं। महाराजा के सामने अपने रवैये को बदलने के सिवाय कोई रास्ता नहीं था। १८ जुलाई, १९४६ को गोयल और चौ० कुंभाराम जेल से रिहा कर दिए गए। बीकानेर नगर में प्रजा-परिषद् का कार्यालय पुनः स्थापित हो गया।

समझौते की ओर

३१ अगस्त, १९४६ को महाराजा द्वारा राज्य में शासन-सुधार करने की दृष्टि से दो समितियां नियुक्त की गयीं। पहली समिति राज्य का नया संविधान बनाने के लिए और दूसरी मतदाताओं की योग्यता निर्धारित करने और निर्वाचन-क्षेत्र तैयार करने के लिए। उक्त समितियों के प्रतिवेदन प्राप्त होने पर महाराजा ने दिसंबर, १९४७ में एक नया संविधान लागू किया। राज्य में एक अंतरिम सरकार बनाने एवं संविधान के अंतर्गत धारा-सभा के लिए चुनाव कराने के संबंध में राज्य के प्रधानमंत्री और परिषद् के कतिपय कार्यकर्ताओं के बीच वार्तालाप होने के बाद १६ मार्च, १९४८ को एक समझौता सम्पन्न हुआ। इस समझौते की मुख्य-मुख्य धाराएं निम्न थीं :

१. अपने स्वाधिकार से बीकानेर राज्य भारतीय यूनियन की एक अलग इकाई के रूप में रहे।
२. धारा सभा के चुनावों के लिए मतदाताओं की योग्यता में आवश्यक सुधार किए जाएं।
३. राज्यसभा के अधिकारों में कमी की जाए।
४. १० सदस्यों के मंत्रिमंडल में, जिसके अध्यक्ष रायबहादुर कुं० जसवंतसिंह दाउदसर होंगे, प्रजा-परिषद् के हरदत्त सिंह चौधरी, गौरीशंकर आचार्य, सरदार मस्तानसिंह और कुंभाराम आर्य शामिल होंगे।

इस मंत्रिमंडल ने १८ मार्च, १९४८ को पद-ग्रहण किया। प्रजा-परिषद् ने

इस समझौते को ठुकरा दिया । उसका कहना था कि महाराजा ने मंत्रिमंडल में प्रजा-परिषद् के सदस्यों को शामिल करने के पूर्व उसको विश्वास में नहीं लिया । परिषद् ने एक प्रस्ताव द्वारा परिषद् के सदस्यों को मंत्रिमंडल से बाहर आने का आदेश दिया और साथ ही २३ सितंबर को होने वाले धारा-सभा के चुनावों के बहिष्कार का भी निर्णय लिया । कुछ समय बाद प्रजा-परिषद् से संबंधित मंत्रियों का कतिपय मुद्दों को लेकर महाराजा और अन्य मंत्रियों से मतभेद हो गया । फलतः वे इस्तीफा देकर बाहर आ गए । इस प्रकार राज्य में एक बार फिर राजनीतिक गतिरोध उत्पन्न हो गया । अ० भा० देशी राज्य लोकपरिषद् की 'राजपूताना प्रांतीय सभा' के अध्यक्ष गोकुल भाई भट्ट और महामंत्री हीरालाल शास्त्री 'बीकानेर राज्य लोक-परिषद्' के दोनों गुटों में समझौता कराने की दृष्टि से बीकानेर आए । उन्होंने लोक-परिषद् के तत्कालीन कार्यकारिणी समिति के स्थान पर एक तदर्थ समिति स्थापित की जिसके अध्यक्ष रामचंद्र चौधरी एवं महामंत्री चंदनमल वैंद बने । ये दोनों एवं कुंभाराम चौधरी आगे जाकर राजस्थान सरकार के मंत्री बने ।

२ सितंबर, १९४६ को केंद्र में पं० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अंतरिम सरकार बनी । इस समय भारत के वायसराय लॉर्ड वेवल थे । ९ दिसंबर, १९४६ को संविधान-परिषद् ने अपना कार्य शुरू किया । देशी राज्यों ने मंत्रिमंडल-मिशन योजना सिद्धांततः स्वीकार कर ली थी । अतः संविधान-परिषद् में उनके प्रतिनिधित्व के सवाल पर विचार करने हेतु नरेंद्र-मंडल ने एक समझौता-समिति मनोनीत की । इसी प्रकार की एक समिति संविधान-परिषद् ने भी नामजद की ।

महाराजा का बहिर्गमन

अप्रैल, १९४७ में दोनों समझौता-समितियों में राज्यों के प्रतिनिधित्व एवं उनके संविधान-परिषद् में शामिल होने के बारे में समझौता हो गया । जब यह समझौता नरेंद्र-मंडल की स्थायी समिति में अनुमोदनार्थ रखा गया तो स्थायी समिति में मतभेद उत्पन्न हो गया । नरेंद्र-मंडल के चांसलर भूपाल के नवाब के नेतृत्व में राजाओं का एक शक्तिशाली गुट यह चाहता था कि देशी राज्य के प्रतिनिधि संविधान-परिषद् में तब ही अपने प्रतिनिधि भेजें जबकि संविधान-परिषद् संघीय सरकार के संविधान पर चर्चा शुरू करे । राजाओं का दूसरा गुट बीकानेर के महाराजा सार्दूलसिंह के नेतृत्व में यह चाहता था कि वे अविलंब ही संविधान-परिषद् में शरीक हो जाएं । स्थायी समिति ने महाराजा सार्दूलसिंह का सुझाव अस्वीकार कर दिया । इस पर महाराजा ने स्थायी समिति से बहिर्गमन कर दिया । साथ ही महाराजा ने राजाओं से अविलंब ही संविधान-परिषद् में अपने प्रतिनिधि भेजने की अपील की । महाराजा की इस कार्यवाही से राजाओं में खलबली मच गयी । अंत में स्थायी समिति ने बीच का रास्ता निकाला । राजाओं को छूट दे दी गयी कि वे जब चाहें तब संविधान-परिषद् में अपने-अपने प्रतिनिधियों को भेज दें । महाराजा बीकानेर की इस कार्यवाही को देश के नेताओं ने बड़ा सराहा । बीकानेर राज्य की ओर से सर

के० एम० पन्नीकर ने २८ अप्रैल, १९४७ को संविधान-परिषद् में अपना स्थान ग्रहण किया।

इधर मार्च, १९४७ की शुरुआत में देश में राजनीतिक स्थिति ने विकट रूप धारण कर लिया। मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि अंतरिम सरकार में शामिल हो गए, परंतु लीग ने संविधान-परिषद् में शामिल होने से इनकार कर दिया। फलतः कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मतभेद और उग्र हो गए। लॉर्ड वेवल पर से कांग्रेस का भरोसा उठ गया। ब्रिटिश सरकार ने उसके स्थान पर लॉर्ड माउंटबेटन को भारत का नया वायसराय नियुक्त किया। उसने २४ मार्च, १९४७ को अपना पद ग्रहण करते ही प्रमुख राजनीतिक दलों एवं प्रतिनिधियों से विचार-विमर्श करना शुरू किया। उसे इस निर्णय पर पहुंचने में देर नहीं लगी कि भारत का विभाजन अवश्यंभावी है। माउंट-बेटन की सलाह पर ब्रिटिश सरकार ने भारत के विभाजन के निर्णय की घोषणा करते हुए कहा कि वह १५ अगस्त, १९४७ को नव-निर्मित राष्ट्र पाकिस्तान की सत्ता मुस्लिम लीग को और शेष भारत की सत्ता कांग्रेस को सौंप देगी। जहां तक देशी राज्यों का प्रश्न था, ब्रिटिश सरकार अपने पहले के निर्णय पर दृढ़ रही कि ब्रिटिश शासन के समाप्त होते ही देशी राज्यों पर सार्वभौम सत्ता के रूप में केंद्रीय सत्ता का नियंत्रण समाप्त हो जाएगा। पर उसने देशी राज्य के शासकों से यह अपेक्षा की कि वे अपने स्वयं के हित में पाकिस्तान अथवा भारत में शामिल हो जाएं। ब्रिटिश सर-कार के इस निर्णय से भारत की एकता को एक बड़ा खतरा उपस्थित हो गया। इन नाजुक परिस्थितियों में भारत सरकार ने रियासती विभाग की स्थापना की। सरदार वल्लभभाई पटेल उक्त विभाग के प्रभारी मंत्री बने। पटेल ने अविलंब देशी राज्यों के शासकों से भारतीय संघ में शामिल होने की अपील करते हुए घोषणा की कि केवल सुरक्षा, विदेशी मामलात और यातायात आदि विषयों को छोड़कर शेष विषय राज्यों में निहित होंगे। महाराजा सार्दूलसिंह ने ८ जुलाई, १९४७ को एक प्रेस-विज्ञप्ति द्वारा पटेल की घोषणा का स्वागत करते हुए अपने साथी नरेशों से अपील की कि वे देश की इस नाजुक घड़ी में कांग्रेस का समर्थन कर देश को मजबूत बनाने में सहयोग दें।

लॉर्ड माउंटबेटन ने २५ जुलाई, १९४७ को नरेंद्र-मंडल की बैठक में भाषण देते हुए देशी राज्यों के शासकों से अपील की कि वे अपने-अपने राज्यों की भौगोलिक व अन्य परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए भारत या पाकिस्तान में शामिल हो जाएं। माउंटबेटन की अपील का राजाओं पर बड़ा असर हुआ। परंतु इसके बावजूद त्रावणकोर और हैदराबाद ने अपने-आपको स्वतंत्र राज्य घोषित करने की इच्छा प्रकट की। जूनागढ़ के नवाब ने तो पाकिस्तान में शामिल हो जाने की घोषणा तक कर दी। भोपाल के नवाब और जोधपुर के महाराजा भी पाकिस्तान में शामिल होने की योजना बनाने लगे।

इन कठिन परिस्थितियों में बीकानेर के महाराजा सार्दूलसिंह और बड़ौदा के महाराजा गायकवाड़ ने पहल कर ७ अगस्त को 'इंस्ट्रूमेंट ऑफ एक्सेशन' पर हस्ताक्षर

कर दिए। इसका नतीजा यह हुआ कि १५ अगस्त के पूर्व ही भारतीय संघ की भौगोलिक सीमा में स्थित हैदराबाद और जूनागढ़ के शासकों को छोड़कर अन्य सभी रियासतों के शासक एक-एक कर भारतीय संघ में शामिल हो गए। यह महाराजा बीकानेर के साहसपूर्ण एवं देशभक्ति से प्रेरित कदम का फल था कि देश छिन्न-भिन्न होने से बच गया। स्वयं सरदार पटेल ने महाराजा सार्दूलसिंह के प्रति आभार प्रकट करते हुए अपने एक पत्र में लिखा कि महाराजा ने देश की इस नाजुक घड़ी में राजाओं को समुचित नेतृत्व प्रदान कर देश की बड़ी सेवा की है।

फिरोजपुर हैडवर्क्स

ब्रिटिश सरकार की घोषणा के अनुसार पंजाब का भी सांप्रदायिक आधार पर बंटवारा होना था। वायसराय ने इसके लिए सुप्रसिद्ध ब्रिटिश न्याय-शास्त्री रेडक्लिफ की सदारत में एक आयोग की नियुक्ति की। उस समय यह आशंका पैदा हो गयी थी कि फिरोजपुर हैडवर्क्स पाकिस्तान में चला जाएगा एवं इसके फलस्वरूप सतलज के पानी में बीकानेर के हितों को गहरा धक्का लगेगा। महाराजा के आदेश पर राज्य के प्रधानमंत्री के० एम० पन्नीकर, प्रसिद्ध कानूनवेत्ता जस्टिस टेकचंद बक्षी और मुख्य अभियंता कंवरसेन ने सरदार पटेल, माउंटबेटन और पंजाब सीमा के समक्ष राज्य का पक्ष बड़ी खूबी से प्रस्तुत किया। कंवरसेन ने अपनी पुस्तक 'एक अभियंता के संस्मरण' में पृष्ठ १२१ पर इस प्रकरण का जिक्र करते हुए बताया कि वह एवं पन्नीकर महाराजा के आदेशानुसार ११ जुलाई, १९४७ को माउंटबेटन से मिले और उनके सामने निम्न विचार प्रकट किए :

"हमारे स्वामी (महाराजा बीकानेर) ने हमसे आपको यह संदेश पहुंचाने के लिए कहा है कि यदि फिरोजपुर हैडवर्क्स और गंगनहर पाकिस्तान में जाती हैं तो महाराजा के सामने पाकिस्तान में शामिल होने के अलावा और कोई चारा नहीं रहेगा।"

उक्त संदेश का तत्काल असर हुआ। रैडक्लिफ ने १७ अगस्त, १९४७ को अपने निर्णय की घोषणा की। फिरोजपुर हैडवर्क्स और गंगनहर भारत के अंग बने रह गए।

बीकानेर का विलय

देश के आजाद होने के साथ ही साथ देशी राज्यों के एकीकरण का सिलसिला शुरू हुआ। जहां तक राजस्थान की रियासतों का प्रश्न था, सबसे पहले १८ मार्च, १९४८ को अलवर, भरतपुर, धौलपुर और करोली के राज्यों को मिलाकर मत्स्य-यूनियन की रचना की गयी। इसके तुरंत बाद २५ मार्च, १९४८ को डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, शाहपुरा, कोटा, बूंदी, झालावाड़, टोंक और किशनगढ़ राज्य का विलय कर संयुक्त राजस्थान नामक राज्य का निर्माण किया गया। कोटा इस राज्य की राजधानी और कोटा के महारावल राजप्रमुख बने। प्रधानमंत्री के पद के लिए

प्रो० गोकुल लाल असावा मनोनीत किए गए। प्रो० असावा अपने मंत्रिमंडल का निर्माण भी नहीं कर पाए थे कि उदयपुर राज्य के संयुक्त राजस्थान में मिलने की चर्चा चल पड़ी। उदयपुर के महाराणा ने आगे होकर नये राज्य में शामिल होने की इच्छा प्रकट की। दूरदर्शी महाराजा बीकानेर ने समझ लिया कि यदि मेवाड़ का राजस्थान में विलय हो गया तो राजस्थान की अन्य रियासतों को अपना अस्तित्व कायम रखना असंभव होगा। अतः महाराजा ने अपने प्रधानमंत्री जसवंतसिंह दाउदसर को उदयपुर भेजकर महाराणा को यह समझाने का प्रयत्न किया कि भारत सरकार की नीति के अनुसार मेवाड़ राज्य भारत की एक स्वायत्त इकाई के रूप में रहने का अधिकारी है, अतः उसे अपना अस्तित्व खोने की कोई आवश्यकता नहीं है। पर महाराणा ने अपने निर्णय को बदलने में अपनी असमर्थता जाहिर की। १८ अप्रैल, १९४८ को मेवाड़ के संयुक्त राजस्थान में विलय होने के साथ ही उदयपुर इस राज्य की राजधानी बना और महाराणा उदयपुर राजप्रमुख। भारत सरकार के रियासती सचिवालय ने अब अपना शिकंजा राजस्थान की शेष चार रियासतों जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर की ओर बढ़ाया। बीकानेर महाराजा ने सरदार पटेल द्वारा राजाओं को दिए गए आश्वासनों का स्मरण दिलाते हुए भारत सरकार के इस कदम का कड़ा विरोध किया। पर भारत सरकार इन राज्यों का भी विलय करने के लिए कटिबद्ध थी। भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'श्वेत पत्र' के अनुसार यदि मेवाड़ जैसी रियासत का, जिसका कि अपना शानदार इतिहास था और जहां का राजवंश संसार के प्राचीनतम राजवंशों में था, विलय हो सकता है तो कोई कारण नहीं कि देश की अन्य रियासतें अपना अस्तित्व बनाए रखें। ३० मार्च, १९४९ को सरदार पटेल ने संयुक्त राजस्थान के तीसरे संस्करण का उद्‌घाटन किया। चारों रियासतें राजस्थान में विलय कर दी गयीं। इस वृहद् राजस्थान की राजधानी जयपुर बनी। ७ अप्रैल, १९४९ को बीकानेर का प्रशासन राजस्थान सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। इस प्रकार ५०० वर्ष पुराने बीकानेर राज्य का अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हो गया। न जांगलू देश ही रहा और न 'जंगलधर बादशाह' ही।

राजस्थान में विलय के पूर्व बीकानेर राज्य का क्षेत्रफल ६० हजार वर्ग किलोमीटर, जनसंख्या १२ लाख और वार्षिक आय लगभग २ करोड़ थी।

किशनगढ़

राजपूताना में तीसरा राठौड़ राज्य किशनगढ़ था। जोधपुर के मोटा राजा उदयसिंह के १६ पुत्र थे। उनमें से एक किशनसिंह था। उदयसिंह का छोटा पुत्र होने के कारण किशनसिंह ने समझ लिया था कि उसके मारवाड़ राज्य का उत्तराधिकारी बनने का कोई प्रश्न नहीं है। अतः वह अपने कतिपय साथियों के साथ मारवाड़ से निकल पड़ा। मुगल सम्राट् अकबर ने उसे हिंडौन का इलाका जागीर में दे दिया। परंतु सन् १६०५ में अकबर की मृत्यु होने पर उसने हिंडौन छोड़ दिया। उसने सेठोलाव नामक स्थान जीतकर उसे अपनी जागीर का सदर मुकाम बनाया। उसने

सन् १६११ में सेठोलाव के निकट अपने नाम से किशनगढ़ बसाया और उसे अपनी राज-धानी बनाया। मुगल सम्राट् जहांगीर ने उसे किशनगढ़ का स्वामी स्वीकार कर उसे महाराजा की उपाधि एवं समुचित मनसब प्रदान किया।

किशनसिंह का कत्ल

मोटा राजा उदयसिंह सन् १५९५ में ही लाहौर में मर गया था। अकबर ने उसके एक पुत्र सूरसिंह को मारवाड़ राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया था। सूरसिंह के दीवान गोविंददास ने किशनसिंह के एक भतीजे को मरवा डाला था। यह बात किशनसिंह को बड़ी खटकती थी। दोनों भाई जहांगीर के मेवाड़ के सफल अभियान के बाद मई, १६१५ में अजमेर में मिले। इस अवसर पर किशनसिंह ने सूरसिंह को अपने भतीजे के मारने के अपराध में गोविंददास को समुचित दंड देने की प्रार्थना की। पर सूरसिंह ने जब इस ओर ध्यान नहीं दिया तो किशनसिंह के आदमी रात्रि को गोविंदास के तंबू में घुस गए और उसका काम तमाम कर दिया। इतने में गोविंददास के आदमी जाग गए। उन्होंने उसी क्षण किशनसिंह को परमधाम पहुंचा दिया।[1] इस समय किशनसिंह की उम्र केवल ४० वर्ष थी।

मुगल साम्राज्य की सेवा में

किशनसिंह के स्थान पर उसका १७ वर्षीय पुत्र सहसमल्ल गद्दी पर बैठा। उसने १३ वर्ष राज्य किया। वह मुगलों की सेवा में दक्षिण में गया हुआ था, जहां वह १६२८ में जाफराबाद नामक स्थान पर निःसंतान मर गया। उसके स्थान पर उसका छोटा भाई जगमालसिंह गद्दी पर बैठा। वह अपने भाई भारमल के साथ जाफराबाद गया। वहां पर नवाब अमानुल्ला के साथ हुई लड़ाई में दोनों ही भाई मारे गए। इस प्रकार एक ही वर्ष में राठौड़ वंश के तीन भाई एक ही स्थान पर स्वर्ग सिधारे। जगमालसिंह के स्थान पर उसका सबसे छोटा भाई हरिसिंह गद्दी पर बैठा। उसने लगभग १६ वर्ष राज्य किया। वह सन् १६४४ में निःसंतान मर गया।

वीर योद्धा रूपसिंह

हरिसिंह के स्थान पर उसके भाई भारमल का पुत्र रूपसिंह गद्दी पर बैठा। मुगल बादशाह शाहजहां ने उसे १००० का जात और ७०० सवार का मनसब प्रदान किया। वह मुगलों की ओर से पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में बदख्शां के बादशाह के विरुद्ध लड़ाई में शामिल हुआ। उसने इस युद्ध में बड़ी वीरता दिखाई और पठानों से उनका झंडा छीन लिया। उसने इस झंडे को अपने राज्य का झंडा बना दिया। उसने ईरानियों को भी हराया। वह चित्तौड़ के आक्रमण में शाहजहां की ओर से शामिल हुआ। रूपसिंह की वीरता से प्रभावित होकर शाहजहां ने उसका मनसब

1. गो० ही ओझा, 'जोधपुर-राज्य का इतिहास', भाग १, पृ० ३८०-३८१।

हजार जात और ४ हजार सवार तक बढ़ा दिया। बादशाह ने उसे मेवाड़ के पुर एवं मांडल के परगने भी दिए। वह सन् १६५८ में मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकार के युद्ध में दाराशिकोह की ओर से लड़ते हुए मारा गया। उसने अपने नाम से रूपनगढ़ बसाया और जीवन भर वहीं रहा। रूपसिंह किशनगढ़ के राठौड़ वंश का सबसे छोटा प्रभावशाली राजा था। मुगल दरबार में उसका बड़ा सम्मान था।

चारुमति का विवाह

महाराजा रूपसिंह की लड़की चारुमती (चंचल कुमारी) बड़ी सुंदर थी। औरंगजेब चारुमती के साथ शादी करना चाहता था। पर चारुमति मेवाड़ के महाराणा राजसिंह की ख्याति से प्रभावित थी। वह राजसिंह के साथ शादी करना चाहती थी। उसने राजसिंह को इस संबंध में एक पत्र लिखा। महाराणा सेना के साथ किशनगढ़ आया और चारुमती के साथ शादी कर उसे मेवाड़ ले गया। औरंगजेब हाथ मलता रह गया।

रूपसिंह के स्थान पर उसका ३ वर्षीय पुत्र मानसिंह गद्दी पर बैठा। यद्यपि औरंगजेब रूपसिंह द्वारा दाराशिकोह का साथ देने के कारण किशनगढ़ वालों से नाराज था तथापि उसने मानसिंह के साथ अच्छा व्यवहार किया। मानसिंह के बड़े होने पर औरंगजेब ने सन् १६७० में उसे १२ परगने देकर शाहजादे मोअज्जम के साथ बंगाल भेजा। वह पंजाब, काबुल और औरंगाबाद के मुगल अभियानों में शामिल हुआ। वह सन् १७१० में मर गया।

सात हजारी मनसब

मानसिंह के बाद उसके स्थान पर उसका लड़का राजसिंह गद्दी पर बैठा। इसने मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकार की लड़ाई में मोअज्जम की ओर से भाग लिया। जिसमें वह बुरी तरह घायल हो गया। मोअज्जम बहादुरशाह के नाम से दिल्ली के तख्त पर आरूढ़ हुआ। बहादुरशाह ने उसे समय-समय पर बड़ा सम्मानित किया। उसने उसे ७ हजारी जात का मनसब प्रदान किया एवं सरवाड़ और मालपुरा के परगने दिए। वह सन् १७४८ में मर गया। बहादुरशाह राजसिंह का बड़ा सम्मान करता था। यही कारण था कि उसने एक छोटी-सी रियासत के स्वामी को वह इज्जत दी जो भारत के बड़े-बड़े राजाओं को दी जाती थी।

राज्य का विभाजन

राजसिंह के बाद उसका पुत्र सांवतसिंह किशनगढ़ राज्य का स्वामी बना। उस समय वह दिल्ली में था। पीछे से उसके छोटे भाई बहादुरसिंह ने राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। इस गृह-कलह से दुखी होकर सांवतसिंह वृंदावन चला गया और वहीं ईश्वर-भक्ति में लीन हो गया। अंत में सन् १७५६ में दोनों भाइयों के बीच समझौता हुआ, जिसके अनुसार किशनगढ़ राज्य दो भागों में विभक्त किया

गया । रूपनगढ़ का इलाका सांवतसिंह के पुत्र सरदारसिंह को दिया गया । शेष किशनगढ़ का इलाका बहादुरसिंह के अधिकार में बना रहा । सांवतसिंह का अधिकतर समय वृंदावन में बीता । उसने नागरीदास के उपनाम से भक्ति-रस से प्रेरित २६५ काव्य-ग्रंथों की रचना की । आज भी 'नागरीदास' हिंदी के महान् कवियों में गिना जाता है । वह सन् १७६४ में मर गया ।

रूपनगढ़ का पुनः विलय

महाराजा बहादुरसिंह ने सन् १७४८ से सन् १७८१ तक किशनगढ़ पर राज्य किया । उसने अपने राज्यकाल में राज्य की सुरक्षा-हेतु किले का परकोटा और किले के चारों ओर नहर का निर्माण किया । उसने जोधपुर, जयपुर और मेवाड़ के शासकों से अच्छे संबंध स्थापित किए । उधर रूपनगढ़ का महाराजा सरदारसिंह सन् १७६७ में मर गया था । उसके स्थान पर बहादुरसिंह का पुत्र बिड़दसिंह रूपनगढ़ की गद्दी पर बैठा । परंतु बहादुरसिंह की मृत्यु के बाद बिड़दसिंह किशनगढ़ का भी स्वामी हो गया । इस प्रकार सन् १७८१ में रूपनगढ़ पुनः किशनगढ़ राज्य का अंग बन गया । बिड़दसिंह सांवतसिंह की भांति कृष्ण-भक्त था । अतः वह जीवनपर्यन्त वृंदावन में ही रहा और उसकी अनुपस्थिति में उसका पुत्र प्रतापसिंह राजकाज चलाता रहा । वह सन् १७८८ में वृंदावन में मर गया ।

अंग्रेजों से संधि

बिड़दसिंह की मृत्यु पर उसका पुत्र प्रतापसिंह विधिवत् किशनगढ़ की गद्दी पर बैठा । वह सन् १७९७ में मर गया । उसके स्थान पर उसका तीन वर्षीय पुत्र कल्याणसिंह गद्दी पर बैठा । उसके राज्यकाल में जागीरदार स्वच्छंद हो गए । उस समय मुगल-सत्ता लड़खड़ा रही थी । फिर भी कल्याणसिंह दिल्ली के नाममात्र बादशाह अकबर (द्वितीय) के दरबार में ही रहता था । मुगल-साम्राज्य का सितारा अस्त होते देख एवं जागीरदारों के विद्रोह से परेशान होकर कल्याणसिंह ने सन् १८१७ में ईस्ट इंडिया कंपनी से समझौता कर लिया और अंग्रेजों की मातहती स्वीकार कर ली । कल्याणसिंह दिल्ली छोड़कर अजमेर आ गया । परंतु जागीरदारों ने कल्याणसिंह के पुत्र मोखमसिंह को राजा घोषित कर दिया और किशनगढ़ नगर को घेर लिया । अंत में सन् १८३२ में कल्याणसिंह ने मोखमसिंह को किशनगढ़ का राजा स्वीकार कर लिया और वह स्वयं पुनः दिल्ली चला गया । मोखमसिंह ने जागीरदारों को दबाने का प्रयत्न किया । पर उसे भी सफलता नहीं मिली । वह सन् १८४१ में निःसंतान मर गया । मोखमसिंह की मृत्यु पर महारानी ने पोलिटिकल एजेंट की स्वीकृति से कचोलिया के पृथ्वीसिंह को गोद लिया । पृथ्वीसिंह ने राज्य में शांति और व्यवस्था कायम की । वह सन् १८७९ में मर गया ।

राज्य का विकास

पृथ्वीसिंह के स्थान पर उसका बड़ा पुत्र सार्दूलसिंह गद्दी पर बैठा । उसने

राज्य के प्रशासन में अनेक सुधार किए । उसके शासनकाल में सोमयज्ञ कॉटन मिल्स, कॉटन प्रेस व अनेक छोटे-मोटे कारखाने खुले । उसने अपने पुत्र मदनसिंह के नाम पर किशनगढ़ में एक नयी मंडी स्थापित की एवं राज्य में कई पाठशालाएं खोलीं । उसके राज्यकाल में सन् १८९९ में राज्य में भयंकर अकाल पड़ा । इस अकाल में सार्दूलसिंह ने सस्ते अनाज की दुकानें खुलवायीं और गरीबों के लिए मुफ्त खाने की व्यवस्था की । ब्रिटिश सरकार ने उसे जी० सी० एस० आई० की उपाधि से सम्मानित किया । वह सन् १९०० में मर गया ।

सार्दूलसिंह के स्थान पर उसका पुत्र मदनसिंह किशनगढ़ का स्वामी बना । उस समय वह १६ वर्ष का था । अतः राज्य का शासन-प्रबंध रेजीडेंट की देखरेख में एक शासन-परिषद् ने किया । उसे सन् १९०५ में राज्याधिकार प्राप्त हुए । उसने दिसंबर, १९१२ में दिल्ली दरबार में भाग लिया जहां उसे अंग्रेज सरकार ने के० सी० आई० ई० की उपाधि दी और परंपरागत १५ तोपों की सलामी बढ़ाकर उसे १७ तोपों की सलामी प्रदान की । उसने द्वितीय महायुद्ध में भाग लिया । उसने किशनगढ़ नगर में एक हाई स्कूल की स्थापना की एवं भवन बनाए, जिसमें यज्ञनारायण अस्पताल का भवन मुख्य था । उसने बिजली-घर भी बनवाया । उसने अपनी होशियारी मात्र से भारत सरकार से नमक के मुआवजे के रूप में १२ हजार रुपए वार्षिक प्राप्त किए । वह सन् १९२६ में निःसंतान मर गया । मदनसिंह के स्थान पर उसके काका का लड़का यज्ञनारायण गद्दी पर बैठा । वह सन् १९३९ में मर गया । यज्ञनारायणसिंह के दोनों पुत्र उसके जीवनकाल में ही मर गए थे । अतः महारानी ने अपने पति की इच्छानुसार जोरावरपुरा के सुमेरसिंह को गोद लिया । वायसराय और सम्राट् द्वारा स्वीकृति देने पर सुमेरसिंह को २४ अप्रैल, १९३९ को विधिवत् किशनगढ़ का शासक घोषित किया गया । वह उस समय केवल १० वर्ष का था । अतः राज्य का शासन जयपुर के पोलिटिकल एजेंट के हाथ सौंप दिया गया ।

जन-जागृति

किशनगढ़ राज्य में जन-जागृति पैदा करने का श्रेय कांतिचंद्र चौथाणी को है । उसने राज्य-सेवा में रहते हुए भी सन् १९३० में उपकारक-मंडल की स्थापना की । इस संस्था ने अपाहिजों और असहाय लोगों एवं समय-समय पर हड़ताली मजदूरों की सेवा की । चौथाणी ने राज्य में हरिजनों के बच्चों के लिए शिक्षा-व्यवस्था करने में बड़ा योग दिया । चौथाणी के सार्वजनिक प्रवृत्तियों में भाग लेने के कारण राज्य-प्रशासन ने उसे नौकरी से हटा दिया । उसने ब्रिटिश-भारत के कई क्रांतिकारियों को अपने यहां छिपाए रखा । उसने खादी का प्रचार किया और सन् १९३९ में किशन-गढ़-प्रजामंडल की स्थापना में योग दिया । प्रजामंडल के प्रथम अध्यक्ष और मंत्री क्रमशः जमालशाह और महमूद बने । प्रजामंडल ने सन् १९४२ की अगस्त-क्रांति के समय आंदोलन चलाया । पर राज्य में कोई गिरफ्तारी नहीं हुई । कुछ समय बाद राज्य से मूंग की निकासी को लेकर प्रजामंडल ने सत्याग्रह शुरू किया । क्रांतिचंद और

उसके पुत्र को डेढ़-डेढ़ वर्ष की सजा हुई। दोनों ६ माह बाद रिहा किए गए। राज्य में प्रजामंडल को सशक्त बनाने में चांदमल मेहता और पुरुषोत्तमलाल शर्मा एडवोकेट ने महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया। राज्य ने विधान-सभा की स्थापना की। प्रजामंडल ने चुनाव लड़ा और उसने चुनावों में बहुमत प्राप्त किया। इसी प्रकार सन् १९४३ में राजधानी में नगरपालिका के चुनाव हुए। उसमें भी प्रजामंडल ने बहुमत प्राप्त किया।

राज्य का विलय

सुमेरसिंह को ५ जून, १९४७ को शासनाधिकार प्राप्त हुए। उस समय देश की राजनीतिक स्थिति बदल चुकी थी। ब्रिटिश सरकार ने १५ अगस्त, १९४७ से भारत को स्वतंत्र करने की घोषणा कर दी थी। उसने देशी रियासतों को यह सलाह दी कि वे अपनी-अपनी सुविधानुसार भारत अथवा पाकिस्तान राज्य में शामिल हो जाएं। महाराजा किशनगढ़ ने १५ अगस्त, १९४७ से पूर्व ही एक संधि-पत्र पर हस्ताक्षर कर किशनगढ़ को भारतीय संघ का अंग बना दिया। किशनगढ़ राज्य का क्षेत्रफल केवल २२२२ वर्ग किलोमीटर और वार्षिक आय १८ लाख रुपये थी। केंद्रीय सरकार द्वारा प्रतिपादित नीति के अनुसार इस प्रकार की छोटी रियासतें अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रख सकती थीं। अतः भारत सरकार ने किशनगढ़ को पड़ोसी राज्य अजमेर प्रांत में मिलाने का निर्णय लिया। महाराजा सुमेरसिंह ने इस निर्णय को स्वीकार कर विलय-पत्र पर हस्ताक्षर भी कर दिए। परंतु इसी बीच भारत सरकार ने दक्षिण-पूर्व राजस्थान की रियासतों को मिलाकर संयुक्त राजस्थान-संघ बनाने का निर्णय लिया। किशनगढ़ की जनता भी अजमेर में विलय की अपेक्षा नये संघ में मिलने को उत्सुक थी। अतः भारत सरकार ने पहले के विलय-पत्र को रद्द कर किशनगढ़ को अन्य राज्यों के साथ इस नवनिर्मित राज्य में मिलाना स्वीकार कर लिया। महाराजा किशनगढ़ ने १५ अप्रैल, १९४८ को नये विलय-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। ३० मार्च, १९४९ को बृहद् राजस्थान राज्य का उद्घाटन हुआ, तब किशन-गढ़ भी स्वतः इस बड़े राज्य का अंग बन गया। किशनगढ़ एक छोटा-सा राज्य था जो अपनी हिकमत अमली के कारण जयपुर, जोधपुर और मेवाड़ जैसे बड़े राज्यों के बीच में स्थित होते हुए भी लगभग ३४० वर्ष तक अपना अस्तित्व कायम रखने में सफल हुआ। यह बात दूसरी है कि तेजी से बदलते हुए हालात में देश की बड़ी से बड़ी रियासतों की तरह किशनगढ़ का भी अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हो गया।

चौथा अध्याय

यदुवंश

उत्तर मड किवाड़ जैसलमेर

जैसलमेर का भाटी वंश अपने-आपको द्वापर युग में उत्पन्न यदुवंशी भगवान कृष्ण की संतान मानता है। भाटियों के इस दावे में सच्चाई हो या नहीं पर यह स्पष्ट है कि मेवाड़ के शिशौदियों की भांति जैसलमेर के भाटी भी भारत के प्राचीन-तम राजवंश में से हैं। ईसा की छठी शताब्दी के अंत में यदुवंश का शालिवाहन नामक शासक पंजाब पर राज्य करता था।[1] शालिवाहन का पुत्र बलंद और बलंद का पुत्र भाटी हुआ जो बड़ा प्रतापी था। भाटी के नाम पर यदुवंश की भाटी-शाखा चली। भाटी के पुत्र मंगलराव को गजनी के बादशाह ढूंढी ने पंजाब से निकाल दिया। मंगल-राव ने सन् ६४३ के लगभग पश्चिमी रेगिस्तान में जाकर शरण ली, जहां पर बाराह, मुट्ठा, लंगा, चुन्ना और लोदरा राजपूत रहते थे। मंगलराव के पौत्र केहर ने अपने पुत्र तन्नू के नाम पर वर्तमान जैसलमेर के १२० किलोमीटर पश्चिम में तन्नोट का किला बनवाया और उसे अपनी राजधानी बनाया।

तन्नोट में कत्लेआम

केहर के बाद उसका सबसे बड़ा पुत्र तन्नू गद्दी पर बैठा। उसने बाराह के इलाकों में लूट-पाट की और मुलतान के लंगाहों को हराया। तन्नू का पुत्र विजयराज (प्रथम) अपने पिता की अत्यंत वृद्धावस्था के कारण उसके जीवनकाल में ही गद्दी पर बैठ गया था। विजयराज के शासनकाल में बाराह और लंगाह राजपूतों ने तन्नोट पर चढ़ाई की। परंतु विजयराज ने उन्हें हरा दिया। इससे खिन्न होकर उक्त राजपूतों ने भटिंडा के राजा के सहयोग से षड्यंत्र कर विजयराज को उसके पुत्र देवराज की

१. जगदीशसिंह गहलोत—'राजपूताने का इतिहास', प्रथम भाग, पृ० ६५७।

शादी करने के बहाने भटिंडा बुलाया और वहीं धोखे से विजयराज और उसके ८०० भाटी सैनिकों को मौत के घाट उतार दिया। वहां से वे तन्नोट पहुंचे। विजयराज के वयोवृद्ध पिता तन्नू ने शत्रुओं का सामना किया। पर वह हार गया और स्वयं भी युद्ध में मारा गया। शत्रुओं ने जीत के बाद तन्नोट में जनता का कत्लेआम किया। परंतु विजयराज का पुत्र देवराज भटिंडा से बच निकला।

लोद्रवा पर अधिकार

अपने पिता और दादा के मारे जाने के पश्चात् देवराज लगभग १० वर्ष तक गुप्त रूप से बाराहों के देश में घूमता रहा। सयाना होते ही देवराज ने अपने नाना से एक भूखंड प्राप्त किया और वहां उसने देरावल नामक किला और ग्राम बसाया और उसे अपने इलाके का सदर मुकाम बनाया। देवराज ने धीरे-धीरे अपने राज्य का विस्तार किया। उसने लंगाहों से बहुत सारी भूमि छीन ली और लोदरा राजपूतों से लोद्रवा लेकर उसे अपने राज्य की राजधानी बनाया। उसने अपने को महारावल की उपाधि से विभूषित किया। वह ६० की उम्र में चन्ना राजपूतों द्वारा धोखे से मार डाला गया। उसने अपने राज्यकाल में रामगढ़ के इलाके में देवासर और तन्नुसर तलाब बनवाए।

देवराज की मृत्यु पर उसका लड़का मूंघ और मूंघ के पश्चात् उसका पुत्र बच्छराज लोद्रवा की गद्दी पर बैठा। बच्छराज की मृत्यु पर सन् १०४३ में उसका पुत्र दुसाज गद्दी पर बैठा। उसके दो पुत्र थे—जैसलदेव और विजयराज। दुसाज की मृत्यु पर उसकी इच्छानुसार उसका छोटा पुत्र विजयराज (द्वितीय) लोद्रवा की गद्दी पर बैठा। उसने मुसलमानों के हमलों को रोका। इसलिए उस इलाके के पंवार और सोलंकी सरदारों ने उसे 'उत्तर भड़ किवाड़ भाटी' अर्थात् 'उत्तरी भारत के प्रहरी' की उपाधि दी। विजयराज (द्वितीय) के बाद उसका पुत्र भोजदेव सन् ११७१ के आसपास गद्दी पर बैठा। अब भोजदेव के चाचा जैसलदेव ने गजनी के बादशाह मौहम्मद शहाबुद्दीन गोरी की सहायता से लोद्रवा पर आक्रमण किया। भोजदेव हार गया और युद्ध में मारा गया। इस प्रकार लोद्रवा जैसलदेव के हाथ आ गया।

जैसलमेर की नींव

जैसलमेर ने गद्दी पर बेठते ही लोद्रवा से १० मील दूर एक छोटी-सी पहाड़ी पर किला बनवाया और उसके निकट ही अपने नाम से जैसलमेर की स्थापना की।[१] वह लोद्रवा से अपनी राजधानी जैसलमेर ले आया। जैसलदेव ने अपने राज्य का

१. ख्यातों में जैसलमेर की नींव वि० सं० १२१२ श्रावण शुक्ला १२ बुधवार तदनुसार १२ जुलाई, ११५५ को रखी जाना लिखा है। यदि यह सही है तो जैसल ने इस नगर की स्थापना लोद्रवा का स्वामी होने के पूर्व डाली होगी। वैसे जैसलमेर राज्य के पुराने इतिहास के संबंध में टॉड और गहलोत द्वारा दिए गए संवत् या सन् आम तौर पर वास्तविकता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते।

व्यापक विस्तार किया। देरावल, पूंगल, चोपटन व शक्कर उसके राज्य के भाग थे। उसने जैसलमेर के निकट जैसलसर नामक तालाब भी बनवाया। उसने अपने बड़े पुत्र केलन को राज्य से निर्वासित कर दिया।

महारावल जैसलदेव की मृत्यु पर उसका दूसरा पुत्र शालिवाहन (द्वितीय) जैसलमेर का स्वामी बना। शालिवाहन के पुत्र बीजलदेव ने अपने पिता के जीते-जी जैसलमेर की गद्दी हड़प ली। परंतु बीजलदेव दो माह बाद ही एक आपसी झगड़े में में मारा गया। बीजलदेव के स्थान पर महारावल जैसल का ज्येष्ठ पुत्र केतन सन् १२०० में गद्दी पर बैठा। उसके राज्यकाल में बल्लोचों ने जैसलमेर पर हमला हमला किया। परंतु केलन ने उन्हें हरा दिया। केलन सन् १२१८ में मर गया।

कैलन के स्थान पर चाचकदेव (प्रथम) जैसलमेर की गद्दी पर बैठा। उसने अमरकोट के सोडा राजपूत और चन्ना राजपूतों को हराया। चाचकदेव के स्थान पर उसका छोटा पौत्र करणसिंह सन् १२५० में गद्दी पर बैठा। उसने नागोर के सूबेदार को लड़ाई में हराया। वह सन् १२७० में मर गया। उसके स्थान पर उसका पुत्र लाखणसेन गद्दी पर बैठा। उसे चार वर्ष बाद ही जैसलमेर के सरदारों ने गद्दी से उतार कर उसके लड़के पुण्यपाल को जैसलमेर की गद्दी पर बैठा दिया। उसे भी उक्त सरदारों ने एक वर्ष बाद ही गद्दी से उतार दिया और उसके स्थान पर करण-सिंह के बड़े भाई जैतसिंह को गद्दी पर बैठाया।

जैसलमेर का शाका

जेतसिंह सन् १२७५ में जैसलमेर की गद्दी पर बैठा। इस समय दिल्ली पर सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी राज्य करता था। मुल्तान और ठठा सुल्तान के अधिकार में थे। एक बार मुल्तान और ठठा का शाही खजाना दिल्ली भेजा जा रहा था। उक्त खजाने को जेतसिंह के पुत्र मूलराज ने लूट लिया। इस पर अलाउद्दीन खिलजी ने सन् १३०३ में अपनी सेना जेसलमेर पर भेजी। यह सेना लगभग १२ वर्ष तक जैसलमेर को घेरे रही। घेरे के दौरान सन् १३११ में जेतसिंह का किले में ही देहांत हो गया। उसके स्थान पर उसका ज्येष्ठ पुत्र मूलराज गद्दी पर बैठा। अब किले में रसद की कमी होने लगी। मूलराज ने 'शाका' करने का निर्णय लिया। सैकड़ों स्त्रियां अग्नि में जलकर भस्म हो गयीं। ७०० भाटी योद्धा किले के द्वार खोलकर खिलजी की सेना पर टूट पड़े। मूलराज और उसका भाई रतनसिंह इस शाके में मारा गया। जैसलमेर के किले पर खिलजी का अधिकार हो गया। परंतु २ वर्ष बाद मुसलमान सेना ने अपने आप ही किला खाली कर दिया। कुछ समय बाद रतनसिंह के पुत्र घड़सी ने दिल्ली जाकर सुल्तान नसीरुद्दीन से जैसलमेर प्राप्त कर लिया। वह सन् १३६६ में मर गया। उसने अपने जीवन-काल में जैसलमेर के निकट घड़सीसर तालाब बनवाया।

घड़सी के कोई संतान नहीं थी। अतः उसके स्थान पर मूलराज का पुत्र दूदा जैसलमेर का स्वामी बना। दूदा के मरने पर उसका पुत्र केहर (द्वितीय) सन् १३७१

में गद्दी पर बैठा। उसने ५५ वर्ष तक राज्य किया। केहर की मृत्यु पर उसका ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मण और लक्ष्मण के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र बैरसी गद्दी पर बैठा। उसने मेवाड़ से मंडोर प्राप्त करने में मारवाड़ के स्वामी राठौड़ जोधा की सहायता की। बैरसी के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र चाचक (द्वितीय) जैसलमेर का उत्तराधिकारी बना। वह सोढ़ों द्वारा धोखे से मार दिया गया।

बीकानेर से टक्कर

चाचक के उत्तराधिकारी देवीदास ने गद्दी पर बैठते ही अपने पिता के शत्रुओं से बदला लिया। उसने अमरकोट के सोढ़ा राणा मांडण को मारकर उसकी संपत्ति लूटी। उसने चन्ना व बलोचों का दमन किया। उसके शासनकाल में राव बीका ने पूंगल के इलाके में एक किला बनाना शुरू किया। बीका पूंगल के भाटी शेखा का जंवाई था। अतः शेखा स्वयं बीका को पूंगल की सीमा में किला बनाने से रोकने में अपने आपको असमर्थ पा रहा था। अंत में देवीदास ने केहर के एक पुत्र कलिकरण के नेतृत्व में बीका पर सेना भेजी। भाटी हार गए। परंतु वे बीका की सेना को तंग करते रहे। अंत में बीका ने वर्तमान बीकानेर के निकट किला बनवाया।[१] देवीदास सन् १४९६ में मर गया।

देवीदास के स्थान पर उसका ज्येष्ठ पुत्र जेतसिंह (द्वितीय) जैसलमेर की गद्दी पर बैठा। उसने अनावश्यक ही एक चारण के सामने अपनी बहादुरी की डींग हांकते हुए बीकानेर के महाराजा लूणकरण को चुनौती दी। फलतः लूणकरण ने जैसलमेर पर चढ़ाई की। राजोवाई में दोनों पक्षों के बीच लड़ाई हुई। जेतसिंह हार गया और पकड़ा गया। लूणकरण ने जैसलमेर को खूब लूटा। अंत में सुलह होने पर जेतसिंह छोड़ दिया गया।[२] इसी बीच उसका एक छोटा लड़का लूणकरण अफगानिस्तान से सहायता लेने कंधार पहुंचा। वहां से वह कंधारियों को लेकर जैसलमेर आया। तब तक न केवल बीकानेर से संधि हो चुकी थी, वरन् महारावल जेतसिंह भी मर चुका था।

आधा शाका एवं शुद्धि

जेतसिंह के स्थान पर लूणकरण सन् १५२८ में जैसलमेर की गद्दी पर बैठा। सन् १५४० में जब हुमायूं शेरशाह से हार कर जैसलमेर की ओर आया तो लूणकरण ने उसकी कोई सहायता नहीं की। हुमायूं अमरकोट की ओर चला गया। सन् १५५० में कंधार का पदच्युत अमीरअली खां जैसलमेर आया। महारावल ने उसका बड़ा सत्कार किया। पर अली खां ने धोखे से जैसलमेर पर अधिकार करना चाहा। दोनों पक्षों में युद्ध हुआ जिसमें लूणकरण, उसके चार भाई और तीन लड़के मारे गए।

१. गो० ही० ओझा, 'राजपूताना का इतिहास', भाग १, पृ० ९४-९५।
२. वही, पृ० ११६।

रानियों के सतीत्व की रक्षा हेतु उन्हें कत्ल कर दिया गया। इस घटना को जैसलमेर में आधा 'शाका' की संज्ञा दी गयी। इस युद्ध में स्वयं अली खां भी मारा गया। उसके ३ हजार सैनिक काम आए और २ हजार अन्य कंधारी दूसरे रोज कत्ल कर दिए गए। लूणकरण ने अपने पिता के राज्यकाल में शुरू किए गए जेतबंध के काम को पूरा किया। जेतबंध की प्रतिष्ठा के अवसर पर उसने सिंध के उन भाटियों को आमंत्रित किया जो मुसलमान बन चुके थे। उनमें से अधिकांश ने जलसे में शामिल होकर पुनः हिंदू धर्म ग्रहण कर लिया। शुद्धीकरण की दिशा में शायद यह सबसे पहली घटना थी।

लूणकरण के मारे जाने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र मालदेव सन् १५५० में गद्दी पर बैठा। उसके राज्यकाल में उसने दो बार जोधपुर के राव मालदेव के विरुद्ध लड़ाइयां लड़ीं। पर वह दोनों बार हार गया। वह १८ नवंबर, १५६१ में मर गया।

मुगलों से संबंध

रावल मालदेव की मृत्यु पर उसका ज्येष्ठ पुत्र हरराज जैसलमेर का स्वामी बना। उसने सन् १५७० में जयपुर के राजा भारमल के मारफत बादशाह अकबर की अधीनता स्वीकार की। उसने अपनी लड़की की शादी भी बादशाह से कर दी।[1] सन् १५७६ में हरराज ने जोधपुर के राव से चंद्रसेन से पोकरण ले लिया। उसने कोटड़ा व बाड़मेर के जागीरदारों को भी अपने अधीन कर लिया। अमरकोट का राणा सोढ़ा भी जिंदगी भर हरराज के दरबार में रहा। हरराज सन् १५७७ में मर गया। 'ढोला मारवण' नामक सुप्रसिद्ध काव्य की रचना उसी के राज्यकाल में हुई।

महारावल हरराज के स्थान पर उसका पुत्र भीमसिंह गद्दी पर बैठा। उसकी लड़की की शादी शाहजादा सलीम से हुई। सलीम जहांगीर के नाम से दिल्ली के तख्त पर बैठा तो उसने अपनी इस बेगम का नाम 'मलिका-ए-जहां' रखा।[2] भीमसिंह सन् १६१३ में मरा।

पोकरण पुनः मारवाड़ में

भीमसिंह की मृत्यु पर उसका छोटा भाई कल्याणदास भीमसिंह के दो माह के बच्चे नाथूसिंह की हत्या करवाकर सन् १६१३ में जैसलमेर की गद्दी पर आरूढ़ हुआ। मुगल बादशाह जहांगीर ने सन् १६१६ में उसे दिल्ली बुलाकर टीका किया और साथ ही महारावल के खिताब से भी सम्मानित किया। वह सन् १६२७ में मर गया। उसके स्थान पर उसका पुत्र मनोहरदास गद्दी पर बैठा। वह सन् १६३५ में निःसंतान मर गया। अतः उसके स्थान पर रावल मालदेव का एक वंशज रामचंद्र जैसलमेर का उत्तराधिकारी बना। परंतु उसकी क्रूरता के कारण कुछ ही महीनों में

१. अकबरनामा, भाग २, पृ० ५१८।
२. वीर विनोद, पृ० १७६३।

जैसलमेर के भाटी सरदारों ने जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह की सहायता से उसे गद्दी से उतारकर उसी परिवार के सबलसिंह को जैसलमेर का स्वामी बना दिया। इस सहायता के बदले में सबलसिंह ने पोकरण का इलाका महाराजा जसवंतसिंह को लौटा दिया। वह सन् १६५९ में मर गया।

जैसलमेर का विस्तार

सबलसिंह के स्थान पर उसका लड़का अमरसिंह गद्दी पर बैठा। उसके राज्यकाल में बलोचियों ने रोहड़ी पर आक्रमण किया। पर उसने उनको हरा दिया। उसने राज्य के उत्तर-पश्चिम भाग में चन्ना राजपूतों का दमन कर शांति स्थापित की। गहलौत के अनुसार बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह ने जैसलमेर पर हमला किया, पर अमरसिंह ने बीकानेर की सेना को परास्त कर दिया। इस लड़ाई में पूंगल के ठाकुर ने महारावल का साथ नहीं दिया। अत: अमरसिंह ने पूंगल को खालसा कर लिया।[1] उसने कोटड़ा और बाड़मेर के राठौड़ों को हराकर उन्हें अपना मातहत बनाया। उसने मुगल बादशाह औरंगजेब से पोकरण, फलोदी और मालानी की जागीर प्राप्त की। इस प्रकार अमरसिंह ने जैसलमेर राज्य का यथेष्ट विस्तार किया। उसने असरसर नामक तालाब बनवाया एवं अमरशाही तोल प्रचलित किया। उसने अपनी पुत्रियों की शादी के लिए बराड टैक्स लगाया जिससे जनता में असंतोष फैल गया। उसके दीवान रघुनाथ सीहड़ ने इस टैक्स का विरोध किया तो महारावल ने उसे मरवाकर उसकी संपत्ति पर अधिकार कर लिया। रघुनाथ सीहड़ जनता में इतना लोकप्रिय था कि उसकी हत्या के विरोध में राइका जाति जैसलमेर राज्य छोड़कर चली गयी। महारावल सन् १७०१ में मर गया।

जैसलमेर राज्य का विस्तार

अमरसिंह की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र जसवंतसिंह गद्दी पर बैठा। उसके राज्यकाल में जोधपुर ने बाड़मेर और फलौदी एवं बीकानेर ने पूंगल छीन लिया। इसी तरह सतलज के आस-पास का इलाका दाऊद खां शिकापुरी ने दबा लिया। जसवंतसिंह के स्थान पर उसका पौत्र बुद्धसिंह सन् १७०७ में गद्दी पर बैठा। परंतु उसे सन् १७२१ में उसके काका तेजसिंह ने मरवा डाला और खुद गद्दी पर बैठ गया। इस पर बुद्धसिंह के भाई अक्षयसिंह ने महारावल के भाई हरिसिंह की सहायता से तेजसिंह का काम तमाम कर दिया। परंतु इस झगड़े में स्वयं हरिसिंह मारा गया। सामंतों ने तेजसिंह के नाबालिग पुत्र सवाईसिंह को राज्य का शासक

१. जगदीशसिंह गहलौत—'राजपूताना का इतिहास', प्रथम भाग, पृ० ६७७। रा० ब० गो० शं० हीराचंद ओझा ने अपने 'बीकानेर राज्य के इतिहास' में और डा० करणीसिंह ने 'बीकानेर राज्य का केंद्रीय शक्तियों से संबंध' नामक पुस्तक में इस लड़ाई के बारे में कोई जिक्र नहीं किया है। गहलौत ने भी उक्त घटना की जानकारी का स्रोत नहीं बताया है।

घोषित कर दिया। इसी बीच अक्षयसिंह ने सेना एकत्रित कर जैसलमेर किले पर आक्रमण कर दिया। वह सवाईसिंह को मारकर सन् १७२३ में जैसलमेर की गद्दी पर बैठा। अक्षयसिंह के राज्यकाल में दाऊदखां के पौत्र बहावलखां ने देरावल व आस-पास का इलाका जैसलमेर से छीनकर बहावलपुर के नये राज्य की स्थापना की। इस प्रकार सन् १७०१ से १७६१ के बीच जैसलमेर राज्य का बहुत बड़ा भूभाग उसके हाथ से निकल गया। अक्षयसिंह सन् १७६१ में मर गया।

क्रूर दीवान सालमसिंह

अक्षयसिंह के स्थान पर उसका ज्येष्ठ पुत्र मूलराज गद्दी पर बैठा। उस समय राज्य के भाटी सरदारों ने राज्य में लूटपाट मचा रखी थी। मूलराज के दीवान मेहता स्वरूपसिंह टावरी (महेश्वरी) ने भाटियों को दबाना शुरू किया। इसी तरह उसने मूलराज के ज्येष्ठ पुत्र रायसिंह का जेब-खर्च भी कम कर दिया। इस पर राय-सिंह ने एक दिन भाटी सरदारों की सलाह से स्वरूपसिंह को मूलराज की उपस्थिति में खुले दरबार में कत्ल कर दिया। स्वयं मूलराज को राजमहलों में नजरबंद कर दिया गया। इस पर जंझनिमाली के ठाकुर जोरावरसिंह भाटी ने भाटियों की एक सेना एकत्रित कर जैसलमेर के किले से महारावल मूलराज को मुक्त कराया और रायसिंह को राज्य से निर्वासित कर दिया। महारावल मूलराज ने स्वरूपसिंह के ११ वर्षीय पुत्र सालमसिंह को अपना दीवान बनाया। बड़ा होने पर सालमसिंह बड़ा अत्याचारी साबित हुआ। उसमें अपने पिता की हत्या का बदला लेने की भावना उमड़ रही थी। जोरावरसिंह भाटी ने उसे समझाने का प्रयत्न किया तो कृतघ्न सालमसिंह ने जोरावरसिंह को ही देश से निर्वासित करवा दिया। इस पर जोरावर-सिंह भी विरोधी भाटियों से मिल गया। एक बार सालमसिंह जोधपुर से जैसलमेर लौट रहा था तो मौका पाकर जोरावरसिंह व अन्य भाटियों ने मार्ग में उसे दबोच लिया। पर सालमसिंह जोरावरसिंह के पांवों पड़ गया और इस प्रकार अपनी जान बचाने में सफल हो गया। उसने तुरंत ही जोरावरसिंह को राज्य का प्रधान सामंत बनवा दिया, पर थोड़े ही दिन बाद सालमसिंह ने उसे जहर देकर मरवा दिया। राजकुमार रायसिंह इसके पूर्व ही जैसलमेर लौट चुका था। सालमसिंह ने रायसिंह व उसके दो पुत्र अभयसिंह और जालमसिंह को एक किले में बंद कर दिया था। सालम-सिंह ने किले में आग लगवा दी जिससे रायसिंह और उसकी स्त्री जलकर मर गए। परंतु दोनों बच्चे बच गए। उन दोनों को भी सालमसिंह ने जहर देकर मरवा दिया। इस प्रकार सालमसिंह अपने पिता की हत्या करने वाले रायसिंह को सपरिवार नष्ट करने में सफल हो गया। वह इतना जालिम और क्रूर था कि स्वयं महारावल मूल-राज उसके सामने अपने-आपको निःसहाय पाता था। १२ दिसंबर, १८१८ को महा-रावल ने राजस्थान के अन्य राजाओं की तरह एक संधि द्वारा अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार की। वह सन् १८१९ में मर गया।

मूलराज के स्थान पर उसके अंधे पुत्र जेतसिंह का पौत्र गजसिंह गद्दी पर

बैठा। वह नाबालिग था। अतः राज्य का शासन-प्रबंध सालमसिंह के हाथ में ही रहा। इस अरसे में उसने जनता को लूटकर करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति बना ली। राज्य में असंतोष की ज्वाला भड़क रही थी। अक्तूबर, १८२३ में जब महारावल उदयपुर से शादी कर लौटा तो उसने आनसिंह भाटी द्वारा सालमसिंह पर हमला करवा दिया। सालमसिंह घायल हो गया। कहते हैं कि उसके ठीक होने के पूर्व ही उसे उसकी स्त्री ने जहर देकर मरवा दिया।[1] महारावल ने सालमसिंह के बड़े लड़के विशनसिंह को जेल में डाल दिया।

बीकानेर द्वारा आक्रमण

सन् १८३४ में भाटियों की लूट-खसोट से तंग आकर बीकानेर ने जैसलमेर पर आक्रमण कर दिया। जैसलमेर से १६ किलोमीटर दूर वाराणसी नामक स्थान पर भाटियों और राठौड़ों में लड़ाई छिड़ गई। अंत में महाराणा उदयपुर ने बीच में पड़कर दोनों पक्षों में सुलह करवायी। राजस्थान के राजाओं के बीच यह अंतिम लड़ाई थी। सन् १८३० में अफगान युद्ध में गजसिंह ने अंग्रेजों के सहायतार्थ ऊंट भेजे। इस पर लड़ाई समाप्त होने के बाद अंग्रेजों ने सिंध के टालपुर मीरों से कतिपय इलाके जैसलमेर को वापस कराए। गजसिंह २९ जून, १८४६ को निःसंतान मर गया।

गजसिंह के स्थान पर उसके छोटे भाई केशरीसिंह का पुत्र रणजीतसिंह गद्दी पर बैठा। उस समय वह केवल साढ़े तीन वर्ष का था। उसके राज्यकाल में उसका पिता केशरीसिंह ही शासन-प्रबंध का संचालन करता रहा। सन् १८५७ के गदर में कई अंग्रेज जान बचाने के लिए जैसलमेर आ गए थे, उन्हें महारावल ने अपने यहां शरण दी थी। रणजीतसिंह सन् १८६४ में निःसंतान मर गया।

दुष्काल और कर्जदारी

रणजीतसिंह के स्थान पर उसका छोटा भाई बैरीशाल गोद लिया गया, पर उसने गद्दी पर बैठने से इनकार कर दिया। ए० जी० जी० आदि की समझायश और आग्रह के बाद गजसिंह के मरने के १६ माह बाद वह १९ अक्तूबर, १८६५ को गद्दी पर बैठा। उस समय वह १६ वर्ष का था। राज्य का शासन-प्रबंध रियासत के दीवान मेहता नथमल महेश्वरी के हाथ में था। सन् १८६८ के भयंकर दुष्काल में राज्य ने जनता की बड़ी सहायता की। बैरीशाल सन् १८९१ में निःसंतान मर गया। उसके शासनकाल में रियासत कर्ज के भार से दब गयी।

रणजीतसिंह की मृत्यु पर लाठी के ठाकुर कुशलसिंह का लड़का श्यामसिंह शालिवाहन (द्वितीय) के नाम से जैसलमेर की गद्दी पर बैठाया गया। उस समय इसकी उम्र केवल ५ वर्ष की थी। राज्य का शासन-प्रबंध जोधपुर रेजीडेंट की देख-

१. मेजर अर्सकिन, 'जैसलमेर स्टेट गजेटियर्स', भाग ३, पृ० १६।

रेख में उसके द्वारा मनोनीत प्रधानमंत्री जगजीवन महता करता था। वह गुजराती था। उसके शासन में जनता सदैव असंतुष्ट रही। अंत में एक युवक ने उस पर तलवार से हमला कर दिया। वह घायल हो गया और अपने पद से इस्तीफा देकर गुजरात चला गया। शालिवाहन अप्रैल, १९१४ में निःसंतान मर गया। उसके स्थान पर उसका भाई लाठी का ठाकुर दानसिंह गद्दी पर बैठा। इसके विरुद्ध एटा के जवाहरसिंह ने जैसलमेर की गद्दी पर दावा किया। ब्रिटिश सरकार ने जवाहरसिंह को जैसलमेर की गद्दी का वारिस स्वीकार कर लिया।

हूरों को पनाह

जवाहरसिंह २६ जून, १९१४ को गद्दी पर बैठा। महायुद्ध की समाप्ति पर ब्रिटिश सरकार ने उसे के० सी० आई० ई० की उपाधि दी। जवाहरसिंह गद्दी पर बैठने के पूर्व राज्य के डकैत विभाग का अधिकारी था। उसने सिंध के मशहूर लुटेरे हूरों को अपने राज्य में शरण दी। हूरों का नेता पीरपगारो महारावल का दोस्त था। सन् १९४४ में ब्रिटिश सरकार के दबाव पर महारावल को हूरों को सिंध-सरकार को सौंपना पड़ा।

जन-चेतना

महारावल शालिवाहन (द्वितीय) श्यामसिंह के समय में लानी टैक्स को लेकर सन् १८९६ में यहां के व्यापारिक वर्ग ने एक आंदोलन छेड़ा। राजधानी में कई दिन तक हड़ताल चली। महारावल ने, जो अपने प्रधानमंत्री के हाथ की कठपुतली था, आंदोलन को दबा दिया। परंतु इसके फलस्वरूप व्यापारिक समाज के कई परिवार जैसलमेर छोड़कर अन्यत्र चले गए, जिससे यहां के व्यापार को बड़ा धक्का लगा। सन् १९१५ में कुछ युवकों ने सर्वहितकारी वाचनालय स्थापित करने का प्रयत्न किया। पर राज्य ने उसे नहीं चलने दिया। नवंबर, १९३० में पंडित जवाहरलाल नेहरू के जन्मदिवस के अवसर पर रघुनाथसिंह मेहता, आईदानसिंह और सागरमल गोपा ने एक विज्ञप्ति निकालकर नेहरू जी के स्वास्थ्य की शुभकामना की। उन्हीं दिनों जैसलमेर में रघुनाथसिंह महता की अध्यक्षता में माहेश्वरी युवक-मंडल की स्थापना हुई। ये कार्यवाहियां राज्य द्वारा गैर-कानूनी मानी गयीं। ये तीनों युवक गिरफ्तार कर लिये गए। सन् १९३७-३८ में शिवशंकर गोपा, जीतमल जगाणी, मदनलाल पुरोहित, मदनलाल जगाणी, लालचंद जोशी आदि नवयुवकों ने लोक-परिषद् की स्थापना की। परंतु महारावल ने कड़ाई के साथ इन नवयुवकों की गतिविधियों का दमन किया। अधिकतर युवकों को जैसलमेर छोड़ना पड़ा लालचंद जोशी को तो ६ माह के लिए जेल में भी रहना पड़ा।

गोपा का बलिदान

सागरमल गोपा सन् १९३०-३१ में जैसलमेर से नागपुर जा चुके थे। पर वे

जैसलमेर की गतिविधियों में बराबर दिलचस्पी रखते रहे। उन्होंने जैसलमेर में 'गुंडा राज' नामक पुस्तिका लिखी जिससे जैसलमेर की हुकूमत उनसे क्षुब्ध हो गई। उसे शीघ्र ही गोपा को गिरफ्तार करने का अवसर प्राप्त हो गया। सन् १९३९ में गोपा के पिता का जैसलमेर में देहांत हो गया। अतः वह जैसलमेर आना चाहता था। उसके मित्र उसे बराबर जैसलमेर में आने से रोकते रहे। उसका रेजीडेंट आदि से भी इस संबंध में पत्र-व्यवहार हुआ। अंत में वह जैसलमेर पहुंच गया। कुछ समय ठहरने के बाद वह २५ मई, १९४१ को जैसलमेर से वापस रवाना होने वाला था कि उसी दिन उसे गिरफ्तार कर लिया गया। उस पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। उसे वर्षों तक बिना सजा दिए जेल में रखा गया। जहां उसे नारकीय यातनाएं दी गयीं। मारवाड़ लोक-परिषद् के संस्थापक सुप्रसिद्ध नेता जय-नारायण व्यास ने ८ मार्च, १९४६ को पोलीटिकल एजेंट को एक पत्र द्वारा वस्तु-स्थिति का पता लगाने का अनुरोध किया। पोलीटिकल एजेंट ने ६ अप्रैल, १९४६ को जैसलमेर आने का कार्यक्रम बनाया। उसके पहले ही ३ अप्रैल की रात्रि को राज्य द्वारा जैसलमेर में यह खबर फैला दी गयी कि गोपा ने अपने शरीर पर तेल डाल कर आग लगा ली है। सारा शहर जेल में गोपा को देखने के लिए उमड़ पड़ा। पर अधिकारियों ने उसके रिश्तेदारों तक को गोपा से नहीं मिलने दिया। वह दिन भर पीड़ा से कराहता रहा। संध्या को उसे अस्पताल में ले जाया गया, पर वहां न तो उसका कोई इलाज किया गया और न किसी से मिलने ही दिया गया। दूसरे रोज अर्थात् ४ अप्रैल, १९४६ को उसने अपना नाम उन अमर शहीदों में लिखा दिया जिनकी कुर्बानियों से कुछ ही समय बाद न केवल देश आजाद हुआ वरन् देश के एक बड़े भूभाग में शासन चलाने वाली राजशाही का ही अंत हो गया। अ० भा० दे० रा० लोक-परिषद् के अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू ने इस घटना को जघन्य कांड की संज्ञा दी और जैसलमेर प्रशासन की कटु आलोचना की। गोपा हत्याकांड के तुरंत बाद जोधपुर लोक-परिषद् के कई कार्यकर्ता जैसलमेर पहुंच गए। जिनमें स्वयं जय-नारायण व्यास और अचलेश्वर प्रसाद शर्मा शामिल थे। उनके आगमन से स्थानीय कार्यकर्ताओं का मनोबल बढ़ गया। प्रजामंडल तेजी से काम करने लग गया। इन दिनों देश में तेजी से राजनीतिक परिवर्तन हो रहे थे। भारत के विभाजन का निर्णय हो चुका था। ब्रिटिश सरकार पाकिस्तान की सत्ता मुस्लिम लीग को एवं भारत की सत्ता कांग्रेस को सौंपने की घोषणा कर चुकी थी।

अगस्त, १९४७ में अपनी रियासत को पाकिस्तान में शामिल करने के संबंध में महारावल जैसलमेर जोधपुर के महाराजा हनुवंतसिंह के साथ मोहम्मद अली जिन्ना से बातचीत करने दिल्ली गया। पर बाद में वी० पी० मेनन और लॉर्ड माउंटबेटन ने उक्त राजाओं की योजना पर पानी फेर दिया। जैसलमेर भारतीय संघ में शामिल हो गया। देश के आजादी हासिल करने के उपलक्ष्य में १५ अगस्त, १९४७ को जैसल-मेर में एक बड़ी सार्वजनिक सभा हुई। उसी वर्ष २ अक्तूबर, १९४७ को महात्मा गांधी के जन्मदिवस पर जुलूस निकाला गया। पर राज्य की पुलिस ने इस शांत जुलूस

पर भी लाठी-चार्ज किया। ३० मार्च, १९४९ को जैसलमेर का राजस्थान में विलय हो गया। जैसलमेर की जनता ने १४०० वर्षों के अंधकारपूर्ण युग से निकलकर एक नये युग में प्रवेश किया। विलय के समय जैसलमेर राज्य का क्षेत्रफल ४१,४४० वर्ग किलोमिटर और जनसंख्या ९३ हजार थी।

करौली

राजस्थान में जैसलमेर के अलावा यदुवंशी क्षत्रियों का दूसरा राज्य था करौली। करौली के यदुवंश का मूल पुरुष विजयपाल था, १०४० में अपने राज्य की राजधानी मथुरा से हटाकर विजय-मंदिर गढ़ (बयाना) में स्थापित की। सन् ११९६ में शहाबुद्दीन गोरी ने विजयपाल के वंशज कंवरपाल से बयाना और तवनगढ़ छीन लिये। फलस्वरूप कंवरपाल रीवा की ओर चला गया। इस कंवरपाल के वंशज अर्जुनपाल ने लगभग १५० वर्ष बाद अपने पूर्वजों के इलाके पर पुनः अधिकार किया। उसने सन् १३४८ में करौली की नींव रखी और उसे अपनी राजधानी बनाया।

मुगलों की अधीनता

मुगल सम्राट् अकबर के समय करौली के महाराजा गोपालदास (प्रथम) ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली। गोपालदास ने मुगलों की ओर से लड़ते हुए दौलताबाद के युद्ध में बड़ी वीरता दिखाई जिससे प्रसन्न होकर अकबर ने उसे दो-हजारी मनसब और नक्कारा प्रदान किया। गोपालदास ने अपने राज्यकाल में मासलपुर के इलाके को अधिकार में कर अपने राज्य का विस्तार किया। उसने बहादुरपुर के मीणों उपद्रव को दबाने में सफलता प्राप्त की। वह सन् १५८९ में मर गया।

गोपालदास (प्रथम) के १३५ वर्ष बाद इसी नाम से गोपालदास (द्वितीय) करौली का एक शासक हुआ जिसका नाम उल्लेखनीय है। वह सन् १७२४ में गद्दी पर बैठा। उसने मुक्तावत और सरमथुरा के यादवों को अपने अधीन कर लिया। उसने ग्वालियर के निकट सिकरवार की पहाड़ी तक अपने राज्य का विस्तार किया। उसने राजधानी के चारों ओर लाल पत्थर का परकोटा बनवाया। उसने अपनी बहन की शादी जयपुर के सवाई जयसिंह से कर अपनी स्थिति मजबूत की। मुगल बादशाह मुहम्मदशाह ने उसे 'माही मरातिब' प्रदान किया। उसके राज्यकाल में राजस्थान के विभिन्न राज्यों में मराठों के धावे और लूटपाट शुरू हो गई थी। परंतु उसने मराठों को समय-समय पर थोड़ा-बहुत खिराज देकर उनके धावों से राज्य की जनता की रक्षा की। वह १३ मार्च, १७५७ को निःसंतान मर गया।

गोपालदास (द्वितीय) के स्थान पर तुरसमपाल गद्दी पर बैठा। उसके राज्य-काल में शिकरवार खांप के बड़गूजरों ने विद्रोह कर करौली पर अधिकार कर लिया। परंतु तुरसमपाल ने कुबारी नदी के किनारे नीयरी गांव पर हुई लड़ाई में शिकरवारों को हरा कर पुनः करौली पर अधिकार जमा लिया।

मराठों के आक्रमण

तुरसमपाल के स्थान पर उसका ज्येष्ठ पुत्र माणकपाल सन् १७७२ में करौली का स्वामी बना। इसके राज्यकाल में रोडजी सिंधिया ने करौली पर आक्रमण किया पर मानकपाल ने उसे परास्त कर दिया। रोडजी स्वयं युद्ध में मारा गया। परंतु कुछ समय बाद मराठों ने राज्य पर फिर आक्रमण किया और सबलपुर पर अधिकार कर लिया। मानकपाल का अधिकतर समय गृह-कलह में ही बीता। उसकी अपने बड़े लड़के अमोलकपाल से सदा अनबन रही। इस गृह-कलह के बीच ही पिता एवं पुत्र दोनों ही सन् १८०४ में चल बसे।

अंग्रेजों से संधि

मानकपाल के स्थान पर उसका छोटा पुत्र हरवक्षपाल गद्दी पर बैठा। सन् १८१२ में मराठों ने करौली पर आक्रमण किया। मानकपाल द्वारा २५ हजार रुपये वार्षिक खिराज देने का वादा करने पर दोनों के बीच संधि हुई। कुछ समय बाद हरवक्षपाल को खिराज के एवज में मांसलपुर व अन्य गांव मराठों को सौंपने पड़े। मराठों से तंग आकर हरवक्षपाल ने ९ नवंबर, १८१७ को एक अहदनामे द्वारा अंग्रेजों की मातहती स्वीकार कर ली। अंग्रेजों ने इस संधि के फलस्वरूप मराठों से मासलपुर वापस महाराजा को दिला दिया। सन् १८२५ में उक्त संधि के बावजूद हरवक्षपाल ने अंग्रेजों के विरुद्ध भरतपुर के दुर्जनशाल को सहायता दी। इस पर अंग्रेज हरवक्षपाल से नाराज हो गए। परंतु उसके माफी मांग लेने से अंग्रेजों ने मामला वहीं समाप्त कर दिया। वह सन् १८३२ में निःसंतान मर गया।

हरवक्षपाल की मृत्यु पर हाड़ौती ठिकाने का प्रतापपाल करौली की गद्दी पर बैठा। हरवक्षपाल की विधवा रानी ने प्रतापपाल का विरोध किया। पर अंग्रेजों ने प्रतापपाल को करौली का राजा स्वीकार कर लिया। हरवक्षपाल की पत्नी और मां करौली छोड़कर भरतपुर चले गए। राज्य के सरदारों में दो दल हो गए। एक राजा के पक्ष में और दूसरा राजमाता के पक्ष में। अंग्रेजों ने इस झगड़े को सुलझाने के कई प्रयत्न किए पर कोई नतीजा नहीं निकला। प्रतापपाल इस गृह-कलह के बीच सन् १८४९ में मर गया।

प्रतापपाल के कोई पुत्र नहीं था। अतः उसके स्थान पर हाड़ौती के नरसिंह पाल को गद्दी पर बैठाया गया। उस समय वह नाबालिग था। अतः अंग्रेज सरकार ने एक अंग्रेज अधिकारी को राज्य का व्यवस्थापक नियुक्त किया। उसने कड़ाई के साथ राज्य में न्याय और व्यवस्था कायम की। नरसिंहपाल बालिग होने के पूर्व ही सन् १८५२ में मर गया।

उत्तराधिकारी का प्रश्न

नरसिंहपाल की मृत्यु के साथ ही साथ राज्य में एक राजनीतिक संकट खड़ा

हो गया। नरसिंहपाल ने अपने जीते-जी एक निकट कुटुंबी भरतपाल को गोद ले लिया था। परंतु अंग्रेजी गवर्नर-जनरल डलहौजी ने देशी राज्यों में गोद की प्रथा को समाप्त कर दिया था। अतः डलहौजी ने करौली को अंग्रेजी राज्य में मिलाने का निर्णय दिया। परंतु गवर्नर-जनरल की परिषद् के दो प्रभावशाली सदस्यों ने डलहौजी के निर्णय का विरोध किया। मामला लंदन तक गया जिसने करौली राज्य के गोद लेने का हक स्वीकार कर लिया। इसी बीच करौली के राज्य के लिए महाराजा के एक अन्य कुटुंबी मदनपाल ने दावा किया। इस पर गवर्नर-जनरल ने भरतपुर, धौलपुर, अलवर और जयपुर के महाराजाओं से सम्मति ली। उन्होंने सर्व सम्मत्ति से मदनपाल को करौली की गद्दी का हकदार ठहराया। फलतः मदनलाल १४ मार्च, १८५४ को करौली की गद्दी पर बैठाया गया। सारे देश में करौली के प्रश्न को लेकर लगातार तीन साल तक बड़ी चर्चा रही। स्वयं करौली राज्य में अंग्रेजों की नीति के विरुद्ध आंदोलन हुआ।

करौली और गदर

सन् १८५७ के गदर में कोटा-राज्य की सेना ने कोटा महाराव को कैद कर लिया था। महाराव ने करौली महाराजा से सहायता की प्रार्थना की। महाराजा ने मलूकपाल के नेतृत्व में एक हजार सेना भेजकर महाराव को बागियों के हाथ से छुड़ाया। बाद में अंग्रेज सेना भी कोटा पहुंच गई। दोनों सेनाओं ने मिलकर विद्रोहियों का सफाया कर दिया। मदनपाल की इस सहायता से प्रसन्न होकर अंग्रेजों ने छोटी-सी रियासत के मालिक मदनपाल को जी० सी० एस० आई० की उपाधि दी। उसकी तोपों की सलामी १५ से १७ कर दी एवं राज्य में बकाया ऋण माफ कर दिया। मदनपाल सन् १८६९ में मर गया।

अंग्रेजों का दखल

मदनपाल के कोई पुत्र नहीं था। अतः उसके स्थान पर उसका भतीजा लक्ष्मणपाल गद्दी पर बैठा। पर वह एक माह बाद ही चल बसा। उसके स्थान पर हाड़ौती का जयपालसिंह गोद आया। वह भी केवल ६ वर्ष राज्य कर नवंबर, १८७५ में मर गया। जयपालसिंह के कोई पुत्र नहीं होने से हाड़ोती के अर्जुनपाल को करौली की गद्दी पर बैठाया गया। उसके समय में कुप्रबंध के कारण राज्य का शासन-प्रबंध उसके हाथ से छीनकर एक अंग्रेज अधिकारी को सौंप दिया गया। महाराजा दिसंबर, १८८६ में निःसंतान मर गया। अर्जुनपाल के स्थान पर उसका भतीजा भंवरपाल गद्दी पर बैठा। उसने ४१ वर्ष राज्य किया। वह शेर के शिकार का बड़ा शौकीन था। उसने ३०० शेर मारे। पर इसके राज्यकाल में राज्य पर कर्जा बहुत अधिक हो गया। अतः करौली का शासन-प्रबंध सन् १९०६ से १९१७ तक अंग्रेजों के हाथ में रहा। वह अगस्त, १९२७ में मर गया।

जन-जागृति

भंवरपाल के स्थान पर उसका भाई भोमपाल गद्दी पर बैठा। उसके राज्य-काल में कु० मदनसिंह ने बेगार-प्रथा, खेती की रक्षा के लिए सुअर मारने की स्वतंत्रता एवं उर्दू के बजाय हिंदी को राजभाषा बनाने के लिए आंदोलन किया। उसने अपनी पत्नी के साथ भूख-हड़ताल शुरू की। राज्य ने उसकी मांगें स्वीकार कर लीं। मदनसिंह अगस्त, १९२७ में राज्य में हैजे से पीड़ित हरिजन लोगों की सेवा करते हुए खुद भी हैजे का शिकार हो गया और मर गया। यद्यपि करौली राज्य में कभी कोई संगठित राजनीतिक आंदोलन नहीं चला तथापि समय-समय पर व्यक्तिगत रूप से कई कार्यकर्ताओं ने कष्ट झेलकर राज्य में सामाजिक और राजनीतिक चेतना पैदा करने का प्रयत्न किया। इन व्यक्तियों में मुंशी त्रिलोकचंद माथुर, ठाकुर ओंकारसिंह, कल्याणप्रसाद गुप्ता, कृष्णप्रसाद भटनागर, भंवरलाल कवि और चिरंजीलाल शर्मा आदि मुख्य थे।

मुंशी त्रिलोकचंद माथुर ने सन् १९३८ में करौली राज्य सेवक-संघ की स्थापना की। माथुर संघ को अपनी प्रवृत्तियों का आधार बनाकर सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में उतरा। सितंबर, १९३८ में माथुर ने स्थानीय कांग्रेस की स्थापना की। उन दिनों प्रांतीय कांग्रेस कमेटी अजमेर में अखाड़ेबाजी चल रही थी। माथुर ने स्थानीय कांग्रेस कार्यकर्ताओं को इन झगड़ों से अलग रखा। अप्रैल, १९३९ में माथुर ने प्रजा-मंडल की स्थापना की। उसी माह प्रजामंडल की एक बैठक हुई, जिसमें राज्य में शासन-सुधार करने, सहकारी समितियां स्थापित करने, किसानों को अपनी जमीन पर मौरूसी हक देने एवं बेगार-प्रथा समाप्त करने आदि विषयों पर प्रस्ताव स्वीकार किये गये।[1] माथुर ने ३० नवंबर, ३९३९ को पूर्वी राजपूताना के राज्यों का एक राजनीतिक सम्मेलन मथुरा में किया जिसका वह संयोजक था। जुलाई, १९४० में माथुर प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के सचिव भी बन गया था। इसके बाद उसका स्वास्थ्य निरंतर खराब होता गया और वह कुछ समय बाद मर गया।

१९४२ की अगस्त-क्रांति में कल्याणप्रसाद गुप्ता को भारत-रक्षा-कानून के अंतर्गत गिरफ्तार किया गया और उसे ३ माह बाद जेल से रिहा किया गया। उस वर्ष करौली के कई नवयुवकों ने भूमिगत रहकर कार्य किया। रत्नाकर भारती और उसके साथियों ने तो जयपुर के मानप्रकाश सिनेमाघर में बम विस्फोट करने का प्रयत्न किया पर उन्हें सफलता नहीं मिली। कुछ दिन बाद यह मंडली पकड़ी गई। पर जुर्म साबित नहीं होने से उन्हें छोड़ दिया गया। प्रजामंडल की गतिविधियों ने १९४६ में जोर पकड़ा, जब चिरंजीलाल शर्मा अखिल भारतीय चर्खा-संघ का कार्य अस्थायी रूप से छोड़कर पुनः करौली आया। शर्मा ने प्रजामंडल-पत्रिका भी निकाली। वह दो वर्ष तक लगातार प्रजामंडल का अध्यक्ष रहा। इसी बीच महाराजा भोमपाल का देहांत हो गया। उसके स्थान पर उसका पुत्र गणेशपाल गद्दी पर बैठा।

१. शोषक, दिवाला १९७५, पृ० ५८९-६००।

करौली का विलय

१५ अगस्त, १९४७ को देश आजाद हुआ और इसके साथ उसका विभाजन भी। केंद्र में पं० नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस सरकार बनी। सरदार वल्लभभाई पटेल गृह एवं रियासती विभाग के मंत्री बने। करौली महाराजा गणेशपाल बिना किसी हील-हवाले के तुरंत भारतीय संघ में शामिल हो गया। पटेल की दूरदर्शिता की बदौलत देशी राज्यों का या तो एकीकरण कर दिया गया अथवा उन्हें पड़ोसी प्रांतों में मिला दिया गया। इसी नीति के फलस्वरूप अलवर, भरतपुर, धौलपुर और करौली को मिलाकर १८ मार्च, १९४८ में मत्स्य-संघ का निर्माण किया गया। यह इस संघ का १५ मई १९४९ को राजस्थान में विलय कर दिया गया। विलय के समय करौली राज्य का क्षेत्रफल ३४७५ वर्ग किलोमीटर, आबादी १,७०,००० और वार्षिक लगभग १० लाख थी।

पांचवां अध्याय

कछवाहा वंश

ढूंढार जयपुर

प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड के अनुसार ढूंढार में कछवाहा राज्य की स्थापना सन् ९६६ में हुई थी। कछवाहा अपने को भगवान राम के पुत्र कुश के वंशज बताते हैं। १०वीं शताब्दी में कछवाहों के तीन परिवार क्रमशः नरवर, ग्वालियर और दुबकुंड में राज्य करते थे। ये कन्नौज के प्रतिहारों के सामंत थे।[1]

नरवर शासक सोडादेव के पुत्र ढोलाराय (दुल्हाराय) ने अपने ससुर रालनसिंह की सहायता से दोसा के बड़गूजरों को हराकर ढूंढार में अपना राज्य स्थापित किया था। दुल्हाराय ने माची, खोह, गेटोर और झोटवाड़ा मीणों से एवं देवती बड़गूजरों से छीनकर अपने राज्य का विस्तार किया। दुल्हाराय के पुत्र काकिलदेव ने सन् १०३६ में मीणों से आमेर छीनकर उसे अपनी राजधानी बनाया। उसकी पांचवीं पीढ़ी में पजवन आमेर का शासक बना। उसने हिंदू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान की भतीजी से शादी की। वह पृथ्वीराज का एक प्रमुख सामंत था। उसने पृथ्वीराज चौहान के नेतृत्व में कई लड़ाइयां लड़ीं और तुर्कों को हराया। वह तराई के युद्ध में मारा गया।

सन् १५२७ में आमेर का शासक पृथ्वीराज कछवाहा मेवाड़ का एक सामंत होने के नाते राणा सांगा के नेतृत्व में खानवा के युद्ध में मुगल सम्राट् बाबर के विरुद्ध लड़ा था। इस लड़ाई में बाबर की विजय हुई और इसके साथ ही साथ बाबर के पैर भारत की भूमि पर जम गए। पृथ्वीराज नवंबर, १५२७ में मर गया। उसके स्थान पर उसका दूसरा पुत्र पूरणमल आमेर का स्वामी बना। पर सन् १५३४ में उसका बड़ा भाई भीमदेव उसे हराकर आमेर की गद्दी पर बैठा। भीमदेव सन् १५३७ में मर गया। उसके स्थान पर उसका लड़का रत्नसिंह आमेर का शासक बना। उसे

१. जगदीशसिंह गहलोत, 'राजपूताने का इतिहास', तृतीय भाग, पृ० ६१।

उसके भाई आसकरण ने मार डाला। पर इसके कुछ ही दिनों बाद १ जून, १५४८ को सरदारों ने आसकरण को गद्दी से उतार कर उसके स्थान पर पृथ्वीराज के चौथे पुत्र भारमल को आमेर की गद्दी पर बैठा दिया।

मुगलों की अधीनता

भारमल (बिहारीमल) को आमेर की गद्दी पर बैठते ही गृह-कलह का शिकार बनना पड़ा। एक ओर उसका भाई आसकरण शेरशाह सूरी के एक सामंत हाजी खां पठान से मिलकर बखेड़ा करता रहा, दूसरी ओर पूरणमल के पुत्र सूरजमल ने मार-वाड़ के शासक मालदेव की सहायता से सामेर की गद्दी हथियाने का प्रयत्न किया। इन विकट परिस्थितियों में भारमल ने मुगल बादशाह अकबर के एक सामंत चगताई खां की मारफत अकबर से सहायता की याचना की। भारमल अकबर की आमेर-यात्रा के समय उसे सांगानेर में मिला। वह अपनी पुत्री की शादी अकबर से करने को तैयार हो गया। अकबर ने अजमेर से लौटते हुए फरवरी, १५६२ में सांभर नामक स्थान पर भारमल की पुत्री हरका से विधिवत शादी कर ली। कोई राजपूत इससे अधिक आत्मसमर्पण नहीं कर सकता।[1] यह दूसरी बात है कि भारमल मुगल बादशाह से अपना पारिवारिक संबंध स्थापित कर अपनी गद्दी बचाने में सफल हो गया। आमेर की राजकुमारी हरका मरियम जमीनी बेगम के नाम से विख्यात हुई। उसकी कोख से उत्पन्न सलीम जहांगीर के नाम से अकबर के बाद दिल्ली का सम्राट् बना। अकबर ने भारमल को ५ हजार का मनसब और राजा की उपाधि प्रदान की। इस प्रकार मेवाड़ आमेर की अधीनता से निकलकर मुगलों के अधीन हो गया।[2] भारमल ने जीवन भर पूरी खैरख्वाही के साथ बादशाह की सेवा की।

भारमल की मृत्यु पर उसका पुत्र भगवंतदास[3] २८ जनवरी, १५७४ में आमेर का शासक बना। उसने भी मुगल बादशाह से संबंध मजबूत करने की दृष्टि से अपनी पुत्री मनभावती (मानबाई) की शादी शाहजादे सलीम से कर दी। मनभावती सुल्ताना निस्सा के नाम से जानी जाने लगी। सलीम आगे जाकर जहांगीर के नाम से मुगल साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना। शाहजादा खुसरो मनभावती के गर्भ से ही उत्पन्न हुआ था। जहांगीर मनभावती को बहुत प्यार करता था। मनभावती ने ६ मई, १६०४ को अफीम खाकर आत्महत्या कर ली। मनभावती के मर जाने का जहांगीर को इतना धक्का लगा कि कई सप्ताह तक न तो उसने खाना खाया और न उसने बाल बनवाए।

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री, पृ० ९७।
२. इकबालनामा जहांगीरी, पृ० ३०३।
३. तुजके जहांगीरी, तारीख फरिस्ता एवं अन्य मुगल-कालीन ग्रंथों में भारमल के बाद भगवानदास का आमेर की गद्दी पर बैठना लिखा है। कर्नल टॉड और विंसेंट स्मिथ का भी यही मत था। परंतु जमुआ रामगढ़ के शिलालेख मि० फा० शु०, क्रम सं० १६६९ (सन् १६१२) के अनुसार भारमल का उत्तराधिकारी भगवंतदास ही था।

भगवंतदास ने अकबर के एक सेनापति की हैसियत से राजस्थान, गुजरात और काश्मीर में अनेक लड़ाइयों में भाग लिया। अकबर ने उसे भी ५ हजार का मनसब प्रदान किया। वह ६ वर्ष तक लाहौर का सूबेदार रहा। वह अकबर के वफादार और योग्य सामंतों में से एक था।

मुगल साम्राज्य का प्रमुख सिपहसालार

भगवंतदास की मृत्यु पर १४ नवंबर, १५८६ को मानसिंह आमेर की गद्दी का उत्तराधिकारी बना। उसने १२ साल की उम्र से ही मुगल साम्राज्य के प्रशासन में हाथ बंटाना शुरू कर दिया था। मेवाड़ को मुगल साम्राज्य के झंडे के नीचे लाने के लिए अकबर ने सर्वप्रथम मानसिंह को ही महाराणा प्रताप को समझाने के लिए भेजा था। वह अपने मिशन में सफल नहीं हुआ। पर इसमें उसका दोष नहीं था। मानसिंह के बाद उसके पिता भगवंतदास और टोडरमल भी महाराणा को अकबर की अधीनता स्वीकार कराने में सफल नहीं हो सके थे।

मानसिंह ने मेवाड़ के महाराणा प्रताप के विरुद्ध हल्दीघाटी के युद्ध में आसफ खां के साथ मुगल-सेना का नेतृत्व किया। वह हल्दीघाटी की लड़ाई तो जीत गया पर मेवाड़ में गोगूंदा से आगे बढ़ने में असफल रहा। इस असफलता से अकबर बड़ा अप्रसन्न हुआ। उसने मानसिंह के प्रति अपनी नाराजगी जाहिर की। कुछ समय के लिए मानसिंह का मुगल दरबार में आना-जाना बंद रहा। पर इस घटना से मानसिंह के सैन्य संचालन के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। उसने मुगल साम्राज्य के एक सिपहसालार के रूप में कई लड़ाइयां लड़ीं और देश के विभिन्न भागों में मुगलों की विजय-पताका फहराई। मानसिंह अकबर के नवरत्नों में से एक था। अकबर उसकी सलाह की बड़ी कदर करता था। वह उसकी वीरता और योग्यता का कायल था और शायद इसीलिए अकबर ने मानसिंह को सारी जिंदगी आमेर से सैकड़ों कोस दूर रखा। वह ७ वर्ष तक काबुल और २० वर्ष बंगाल का सूबेदार रहा। अकबर ने मानसिंह को ७ हजार का मनसब प्रदान किया। मानसिंह ने ५२ वर्ष तक मुगल-साम्राज्य की सेवा की। बुरहानपुर इलाके में स्थित इलिचपुर नामक स्थान पर १७ जुलाई, १६१४ को मृत्यु को प्राप्त हुआ।

मिर्जा राजा जयसिंह

मानसिंह का ज्येष्ठ पुत्र राजा जगतसिंह और जगतसिंह का पुत्र महासिंह अपनी जवानी में ही लड़ाइयों में काम आ गए। महासिंह का उत्तराधिकारी भावसिंह नवंबर, १६२१ में बुरहानपुर की एक लड़ाई में मारा गया। भावसिंह के स्थान पर जयसिंह, जो इतिहास में मिर्जा राजा जयसिंह के नाम से विख्यात हुआ, फरवरी, १६२२ में आमेर का उत्तराधिकारी बना। उसने लगभग ४५ वर्ष तक राज्य किया। वह मुगल सम्राट जहांगीर और शाहजहां का विश्वसनीय सिपहसालार था। उसने मुगलों की ओर से कई लड़ाइयां लड़ीं। सन् १६५७ में जब शाहजहां के लड़कों में

बादशाह के जीते-जी साम्राज्य के उत्तराधिकार के लिए लड़ाई छिड़ी तो जयसिंह ने शाहजहां के बड़े पुत्र दारा का साथ दिया। औरंगजेब की जीत होते देखकर जयसिंह दारा का साथ छोड़कर औरंगजेब से मिल गया।

अपने शत्रुओं पर विजय पाने के बाद औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहां को आगरे के किले में बंद कर दिया और स्वयं को हिंदुस्तान का बादशाह घोषित कर दिया। उसने जयसिंह को दारा द्वारा दिया गया ५ हजार का मनसब बहाल रखा। इस प्रकार जयसिंह औरंगजेब का विश्वास प्राप्त करने में सफल हो गया। सन् १६६४ में औरंगजेब ने जयसिंह को प्रसिद्ध मरहठा शासक शिवाजी के विरुद्ध लड़ने भेजा। जयसिंह और शिवाजी के बीच १३ जून, १६६५ को पुरंदर की संधि हुई जिसके अनुसार शिवाजी ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली। जयसिंह की सलाह पर शिवाजी मुगल दरबार में उपस्थित हुआ, पर बादशाह के व्यवहार से अप्रसन्न होकर शिवाजी अगस्त, १६६६ में आश्चर्यजनक ढंग से आगरा से भाग निकला। औरंगजेब को शक हुआ कि शिवाजी के प्रयाण में जयसिंह और उसके लड़के का हाथ है। इन्हीं दिनों जयसिंह को बीजापुर की लड़ाई में असफलता मिली। इन घटनाओं से औरंगजेब जयसिंह पर बड़ा नाराज हो गया। स्वामीभक्त जयसिंह के लिए इससे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण बात क्या हो सकती थी? वह सन् १६६७ में बुरहानपुर में मर गया। कहा जाता है कि उसे उसके एक लड़के कीर्तिसिंह द्वारा जहर देकर मरवा दिया गया।

मिर्जा राजा रामसिंह

मिर्जा राजा जयसिंह के स्थान पर उसका लड़का रामसिंह आमेर की गद्दी का उत्तराधिकारी बना। शुरू में शिवाजी के प्रयाण के मामले को लेकर औरंगजेब रामसिंह से भी नाराज रहा। पर रामसिंह ने धीरे-धीरे औरंगजेब का विश्वास प्राप्त कर लिया। फिर भी औरंगजेब ने रामसिंह को सदैव आमेर और दिल्ली से दूर रखा। वह उसे कभी आसाम में नियुक्त करता तो कभी अफगानिस्तान में। रामसिंह अप्रैल, १६६८ में मर गया।

विशनसिंह

रामसिंह का पुत्र किशनसिंह उसके जीते-जी दक्षिण में मारा जा चुका था। अतएव उसका पौत्र विशनसिंह आमेर का उत्तराधिकारी बना। वह एक वीर योद्धा था। उसे बादशाह ने मथुरा का फौजदार नियुक्त किया। उसने सिनसिनी, सोगर और जवाहर की गढ़ी आदि स्थानों पर जाटों को इस कदर दबाया कि वे कई वर्षों तक पुनः सिर नहीं उठा सके। उसे मुगल बादशाह ने बयाना और हिंडौन की फौजदारी प्रदान की। उसने टोडाभीम और सोखेर आदि परगनों की जमाबंदी का अधिकार प्राप्त कर अपने राज्य का विस्तार किया।

सवाई जयसिंह का राज्यकाल

विशनसिंह अपने दादा की भांति उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत में दिसंबर, १६९९ को मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसके दो पुत्र थे—जयसिंह और विजयसिंह। ज्येष्ठ पुत्र जयसिंह औपचारिक रूप से २५ जनवरी, १७०० में आमेर की गद्दी पर बैठा। उस समय वह केवल १२ वर्ष का था। औरंगजेब ने जयसिंह के गद्दी पर बैठते ही उसे १५०० का मनसब प्रदान कर शाहजादा आजम के पुत्र बिदारबक्स की सेवा में नियुक्त कर दिया।

बिदारबक्श इस समय दक्षिण के अभियान में व्यस्त था। मुगल सेना दक्षिण में खेलनागढ़ नामक किले को फतेह करना चाहती थी। बिदारबक्स के नेतृत्व में जयसिंह ने किले के कोणकनी दरवाजे की बुर्ज पर कब्जा कर लिया। इससे औरंगजेब बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उसे सवाई की उपाधि से अलंकृत किया। उसने जयसिंह का मनसब १५०० से बढ़ाकर २००० कर दिया।

भाइयों में शत्रुता

सन् १७०७ में अहमदनगर में औरंगजेब की मृत्यु हो गयी। औरंगजेब के तीन लड़के थे, मोअज्जम, आजम और कामबक्श। औरंगजेब ने एक वसीयत द्वारा सल्तनत को तीन हिस्सों में बांटकर अपने तीनों बेटों के नाम कर दिया। पर उसका हर बेटा सारे हिंदुस्तान का बादशाह बनना चाहता था। औरंगजेब की मृत्यु के समय जयसिंह आजम के साथ था तो उसका भाई विजयसिंह मोअज्जम के साथ। जयपुर का राजघराना दो विरोधी खेमों में बंट गया।

उत्तराधिकार की इस लड़ाई में सबसे पहले औरंगजेब के दूसरे पुत्र आजम ने अपने को भारत का बादशाह घोषित किया। फलतः आजम और मोअज्जम के बीच २० जून, १७०७ को आगरा से ३२ किलोमीटर दूर जाजउ नामक स्थान पर भयंकर युद्ध हुआ। इस युद्ध में आजम के कई प्रमुख सेनानी मारे गए या मैदान छोड़कर भाग गए। ऐसी नाजुक घड़ी में जयसिंह ने वही किया जो पचास वर्ष पूर्व उसके पुरखा मिर्जा राजा जयसिंह ने किया था। वह अपने स्वामी आजम का साथ छोड़कर मोअज्जम से जा मिला। आजम लड़ाई में हार गया। वह स्वयं और उसके दोनों बेटे लड़ाई में मारे गए। मोअज्जम ने अपने को 'बहादुरशाह' के नाम से हिंदुस्तान का बादशाह घोषित कर दिया।

मुगलों का आमेर पर अधिकार

अब विजयसिंह और जयसिंह दोनों भाई बहादुरशाह के दरबार में आ गए। पर बहादुरशाह भली भांति जानता था कि एक ओर जहां विजयसिंह ने शुरू से अंत तक उसका साथ दिया, वहां दूसरी ओर अवसरवादी जयसिंह उस समय उसके खेमे में आया जबकि वह जाजउ का युद्ध लगभग जीत चुका था। अतः बहादुरशाह जयसिंह के स्थान पर विजयसिंह को आमेर का राजा बनाना चाहता था। उसने अजमेर

जाते हुए आमेर पर अधिकार करने के अपने निश्चय की सूचना जयसिंह को दी। जयसिंह ने अपनी मां, बहन और परिवार की अन्य महिलाओं को आमेर छोड़कर दोसा चले जाने की सलाह दी। जयसिंह की मां ने हठ किया कि चाहे उसके टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो जाएं पर वह आमेर खाली नहीं करेगी। अंत में जयसिंह के बहुत समझाने-बुझाने पर उसने किला खाली किया। बादशाह ने आमेर पर अधिकार कर उसका नाम मोमीनाबाद रख दिया[1] और विजयसिंह को आमेर राज्य का स्वामी घोषित कर दिया।

महाराणा से प्रार्थना

बहादुरशाह के व्यवहार से निराश होकर जयसिंह ने मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह से सहायता की प्रार्थना की। महाराणा ने सलाह दी कि शुरू में शांतिमय तरीकों से आमेर प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाए। परंतु यदि ये प्रयत्न सफल नहीं हों तो निश्चय ही सब राजपूत राजा लोग मिलकर शक्ति-प्रयोग द्वारा अपना उद्देश्य प्राप्त करेंगे। जयसिंह ने महाराणा को धन्यवाद देते हुछ लिखा कि वह पूर्णरूपेण उनकी सहायता पर निर्भर करेगा।[2] बहादुरशाह अजमेर से दक्षिण की ओर रवाना हुआ। जयसिंह और जोधपुर का स्वामी अजीतसिंह भी उसके साथ थे। दोनों ने राह में बादशाह से कई बार प्रार्थना करवाई कि उन्हें अपना-अपना वतन सौंप दिया जाए। पर उन्हें बादशाह से कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिला। इस पर उन्होंने जोधपुर के प्रसिद्ध सामंत दुर्गादास राठौड़ के साथ बरोड़ नामक स्थान से बादशाह के खेमे को छोड़ उदयपुर जाने का निर्णय लिया। वे तीनों २० अप्रैल, १७०८ को चुपचाप रवाना होकर देवलिया पहुंच गए। इसी बीच बहादुरशाह को उनके इरादों का पता चल गया। बहादुरशाह ने महाराणा को उन्हें अपने यहां आश्रय न देने की चेतावनी दी। पर महाराणा ने बादशाह की इस चेतावनी की कोई परवाह नहीं की।[3] जयसिंह, अजीतसिंह और दुर्गादास देवलिया से बड़ी सादड़ी होते हुए उदयपुर पहुंच गए। इस अवसर पर जयसिंह ने मेवाड़ के महाराणा की लड़की चंद्रकुंवर से शादी करने की इच्छा प्रगट की। महाराणा ने निम्न शर्तों पर लड़की की शादी जयसिंह के साथ करना स्वीकार किया :

१. मेवाड़ की राजकुमारी जयपुर की पटरानी होगी।
२. मेवाड़ की राजकुमारी से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही जयपुर का शासक बनेगा, चाहे वह जयसिंह की दूसरी रानियों के पुत्रों से छोटा ही क्यों न हो।
३. मेवाड़ की राजकुमारी से उत्पन्न लड़की की किसी मुसलमान के साथ

१. अखबारात, १६ जुलहिज्जा, १ मार्च, १७०८।
२. बी० एस० भटनागर, 'लाइफ एंड टाइम ऑफ सवाई जयसिंह', पृ० ४५।
३. श्यामलदास, 'वीर विनोद', भाग २, पृ० ७७३-७४।

शादी नहीं की जाएगी ।

४. किसी त्यौहार पर अथवा युद्ध से लौटने पर जयसिंह सबसे पहले मेवाड़ की राजकुमारी के महल में जायेगा ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये शर्तें कठोर थीं । पर जयसिंह ने मेवाड़ की राजकुमारी के साथ शादी करने में अपना गौरव समझा । उसने सभी शर्तें स्वीकार कर लीं और मेवाड़ की राजकुमारी चंद्रकुंवर के साथ शादी कर ली ।[1]

जयसिंह पुन: आमेर का शासक

महाराणा की सलाह पर उदयपुर से जयसिंह और अजीतसिंह ने बादशाह को प्रार्थना-पत्र भेजे कि उन्हें अपनी-अपनी रियासतें लौटा दी जाएं । पर बादशाह की ओर से कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिला । अत: महाराणा की सदारत में यह निश्चय किया गया कि मेवाड़, मारवाड़ और आमेर की संयुक्त सेनाएं आमेर और मारवाड़ पर कब्जा कर लें । इन सेनाओं ने ३ जुलाई, १७०८ को जोधपुर पर अधिकार कर लिया और अजीतसिंह को मारवाड़ की गद्दी पर बैठाया । इस अवसर पर जोधपुर में जयसिंह ने अजीतसिंह की लड़की के साथ शादी करना स्वीकार कर लिया । इस प्रकार मेवाड़, मारवाड़ और आमेर के राजा न केवल राजनीतिक दृष्टि से वरन् पारिवारिक दृष्टि से भी एक सूत्र में बंध गए ।

जयसिंह और अजीतसिंह में मनोमालिन्य

कुछ दिनों बाद मेवाड़, मारवाड़ और जयसिंह की सेनाओं ने आमेर पर अधिकार कर लिया । जयसिंह पुन: आमेर का शासक बन गया । तीनों राज्यों की सेनाओं ने राठौड़ दुर्गादास के नेतृत्व में सांभर भी जीत लिया । थोड़े समय बाद अजीतसिंह ने अजमेर पर अधिकार करने की योजना बनायी और जयसिंह को लड़ाई में शामिल होने को आमंत्रित किया गया । जयसिंह ने यह निमंत्रण स्वीकार कर लिया । अजीतसिंह की सेना अजमेर पहुंच गयी, परंतु तीन दिन तक इंतजार करने के बावजूद जयसिंह की सेना अजमेर नहीं पहुंची । यहीं से जयसिंह और अजीतसिंह के बीच मतभेद पैदा हो गए जो लंबे समय तक चले । अजीतसिंह का अजमेर-विजय का प्रयत्न असफल रहा । उसके एक वर्ष बाद जयसिंह ने अजमेर पर आक्रमण करने की योजना बनायी और अजीतसिंह से सहायता की प्रार्थना की । पर जैसा कि स्वाभाविक था अजीतसिंह ने जयसिंह का साथ देने से इनकार कर दिया । फलत: जयसिंह ने अजमेर-विजय का अपना विचार त्याग दिया ।

महाराणा का दबदबा

जब बहादुरशाह अपने भाई कामबक्श को हराकर दक्षिण से लौट रहा था

१. श्यामदास, 'वीर विनोद', भाग २, पृ० ७७१ ।

तो मेवाड़ के महाराणा ने संभावित खतरे का मुकाबला करने के लिए जयसिंह को लिखा कि वह अजीतसिंह से पुनः अपने संबंध सुधारे ताकि राठौड़ दुर्गादास और तीनों रियासतों की सेनाएं मुगल सेना का मुकाबला कर सकें। उधर महाराणा ने बहादुर-शाह को कहलाया कि वह दक्षिण से लौटते हुए मेवाड़ की सीमा से नहीं गुजरे।[1] बहादुरशाह ने न केवल महाराणा की बात मान ली वरन् उसने महाराणा को खुश करने के लिए पुर, मांडल, वदनोर और मांडलगढ़ के परगने भी दे दिए जिसके लिए महाराणा अरसे से प्रयत्नशील था। बादशाह ने महाराणा को विश्वास दिलाया कि जयसिंह और अजीतसिंह से वह भी शीघ्र ही सुलह कर लेगा। महाराणा ने बुंदेल के शासक छत्रसाल के द्वारा अजीतसिंह और जयसिंह का बादशाह से समझौता करवा दिया। इस समझौते के अनुसार जयसिंह और अजीतसिंह बादशाह के दरबार में हाथ बांध कर उपस्थित हुए। बादशाह ने दोनों को क्रमशः जयपुर और मारवाड़ का शासक मान लिया। इसी बीच दुर्भाग्य से दिसंबर, १७१० में महाराणा अमरसिंह की मृत्यु हो गयी। राजपूत राजाओं के लिए यह एक बहुत बड़ी क्षति थी। उसने राजस्थान के राजाओं को एक सूत्र में बांधा और आमेर और मारवाड़ के शासकों का तन-मन-धन से साथ देकर उनको पुनः अपनी-अपनी रियासतों का शासक बनाया, अन्यथा ये दोनों रियासतें संभवतया भारत के मानचित्र से सदा के लिए मिट जातीं।

बादशाह द्वारा जयसिंह को आमेर का शासक स्वीकार करते ही विजयसिंह हतोत्साहित हो गया। वह अपने भाई से सुलह करने के इरादे से जयपुर की ओर रवाना हुआ। जयसिंह ने भी उसे कहलाया कि वह जैसा कहेगा, वैसा कर लिया जाएगा। विजयसिंह सांगानेर नामक स्थान पर जयसिंह से मिला जहां छलपूर्वक जयसिंह ने विजयसिंह को गिरफ्तार कर लिया और जयगढ़ के किले में बंद कर दिया।

अमरसिंह की मृत्यु के बाद बहादुरशाह जयसिंह और अजीतसिंह को तरह-तरह से परेशान करने लगा। उसने उनको अपने दरबार में बुलाया। कुछ समय बाद उसने अजीतसिंह की नियुक्ति ढाका और जयसिंह की नियुक्ति अहमदाबाद में की। परंतु ये नियुक्तियां दोनों की शान के खिलाफ थीं। अतः उन्होंने इन नियुक्तियों को स्वीकार नहीं किया और दोनों अपने-अपने वतन के लिए रवाना हो गए। कुछ ही दिनों बाद फरवरी, १७१२ में बहादुरशाह की भी मृत्यु हो गयी।

दिल्ली में परिवर्तन

बहादुरशाह के स्थान पर उसका लड़का जहांदारशाह गद्दी पर बैठा। उसने गद्दी पर बैठते ही जजिया माफ कर दिया। उसने जयसिंह और अजीतसिंह को क्रमशः 'मिर्जा राजा' और 'महाराजा' की उपाधि से विभूषित किया और दोनों को ७-७ हजार का मनसब प्रदान किया। इसी बीच जहांदारशाह के भतीजे फर्रुखसियर

१. 'वीर विनोद', भाग २, पृ० ७८१-७८३।

ने पटना में अपने-आपको बादशाह का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। ३१ दिसंबर, १७१२ को आगरा के निकट जहांदारशाह और फर्रुखसियर के बीच युद्ध हुआ जिसमें फर्रुखसियर विजयी हुआ। फर्रुखसियर ने जयसिंह को 'सवाई' की उपाधि प्रदान की और उसे मथुरा और हिंडौन की फौजदारी भी दी। बादशाह ने अक्तूबर, १७१२ में जयसिंह को मालवा की सुबेदारी प्रदान की।

जाटों से टक्कर

दिसंबर, १७१३ में जयसिंह ने मालवा की सूबेदारी संभाली। उसने आंतरिक अव्यवस्था पर काबू पाया और साथ ही उज्जैन के पास मराठों को परास्त किया। पर वह शीघ्र ही मुगल-दरबार के षड्यंत्र का शिकार हो गया। उसे मालवा से हटना पड़ा। मई, १७१६ में जयसिंह बादशाह फर्रुखसियर के समक्ष उपस्थित हुआ। इस समय आगरा-क्षेत्र के जाटों के सरदार चूड़ामन ने भारी उत्पात मचा रखा था। वह शाही सेना के लिए भेजी जाने वाली रसद और अन्य सामग्री को लूट लिया करता था। उसने आसपास के गांवों में भी लूटमार मचा रखी थी। चूड़ामन पर काबू पाने के लिए बादशाह ने जयसिंह को नियुक्त किया। वह ससैन्य चूड़ामन से मुकाबला करने के लिए रवाना हुआ। उसने थून के किले पर घेरा डाल दिया। थून किले पर चूड़ामन ने अपनी रक्षापंक्ति बनायी थी। जयसिंह ने भुसावल पर अधिकार कर लिया। पर थून पर अधिकार करने में उसे सफलता नहीं मिली। इसी बीच चूड़ामन ने सैयद अब्दुल्ला खां के मारफत बादशाह से समझौता कर लिया। जयसिंह को थून का घेरा उठाना पड़ा।

जयसिंह और सैयद

फरवरी, १७१९ में सैयद बंधुओं द्वारा महाराजा अजीतसिंह की सहायता से फर्रुखसियर गद्दी से उतार दिया गया। साम्राज्य की वागडोर अब सैयद बंधुओं ने संभाली। उन्होंने शाहजादे रफिउदरजात को गद्दी पर बैठा दिया। पर वह तीन माह बाद मर गया। सैयदों ने उसके स्थान पर उसके बड़े भाई रफिउद्दौला को गद्दी पर बैठाया। इन कठिन परिस्थितियों में जयसिंह ने फर्रुखसियर का साथ दिया था। इससे सैयद बंधु जयसिंह से सख्त नाराज हो गए। इसी बीच मुगल दरबार के कतिपय सामंतों ने शाहजादे नेकुसियर को गद्दी पर बैठा दिया। सैयद बंधुओं ने एक बड़ी सेना नेकुसियर को हटाने के लिए आगरा भेजी। आगरा पर सैयद बंधुओं का कब्जा हो गया। इससे जयसिंह को बड़ा धक्का लगा। इस दौरान रफीउद्दौला की मृत्यु हो गयी। उसके स्थान पर १८ सितंबर, १७१९ में मोहम्मदशाह गद्दी पर बैठा। आगरा को जीतकर सैयद बंधुओं ने जयसिंह से समझौता करना चाहा। इस संबंध में अजीतसिंह जयसिंह से मिला। अजीतसिंह ने जयसिंह को विश्वास दिलाया कि बादशाह उसके राज्य और उपाधियों में कोई कमी नहीं करेगा। इस अवसर पर जयसिंह ने अजीतसिंह की पुत्री सूर्यकुमारी से शादी करना भी स्वीकार कर लिया। यह शादी

मई, १७२० में संपन्न हुई। इस प्रकार जयपुर और जोधपुर के बीच एक बार फिर निकट के संबंध स्थापित हो गए।

सैयद बंधुओं का पतन

मोहम्मदशाह के गद्दी पर बैठने के कुछ समय बाद निजाम ने विद्रोह कर दिया। बादशाह ने सैयद हुसेन अली के साथ दक्षिण की ओर कूच किया। पर राह में बादशाह के कुछ व्यक्तियों ने टोडाभीम पर हुसेन अली को कत्ल कर दिया। इससे सैयद-परिवार और बादशाह के बीच तनाव बढ़ गया। दोनों ने जयसिंह को अपने-अपने पक्ष में पटाने की कोशिश की, पर जयसिंस ने बादशाह का साथ दिया। हसनपुर के पास सैयद अब्दुल्ला खां और बादशाह की सेना में युद्ध हुआ। अब्दुल्ला खां की हार हुई और वह पकड़ लिया गया।

जाटों की हार

सैयद बंधुओं के पतन के साथ ही साथ मुगल-दरबार में जयसिंह का सितारा बुलंद हो गया। उसे आगरा का सूबेदार नियुक्त किया गया। बादशाह और सैयद बंधुओं की लड़ाई में चूड़ामन जाट ने सैयद बंधुओं का साथ दिया था। अतः बादशाह ने जयसिंह को चूड़ामन जाट को दबाने के लिए भेजा। परंतु जयसिंह के थून पहुंचते ही चूड़ामन ने आत्महत्या कर ली। जब जयसिंह थून के निकट पहुंचा तो जाटों ने उसका मुकाबला किया पर अंत में थून का पतन हो गया। चूड़ामन के पुत्र मोखमसिंह ने भाग कर जोधपुर में अजीतसिंह की शरण ली। जयसिंह ने चूड़ामन के भतीजे बदनसिंह को चूड़ामन का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। बदनसिंह ने न केवल बादशाह की वरन् जयसिंह की भी अधीनता स्वीकार कर ली।

अजीतसिंह की हत्या

उधर अजीतसिंह द्वारा मोखमसिंह को शरण देने से बादशाह नाराज हो गया। उसने अजीतसिंह के विरुद्ध सेना भेजी। शाही सेना के आने पर अजीतसिंह ने सांभर और अजमेर खाली कर दिया। अंत में अजीतसिह झुक गया। उसने जयसिंह की मारफत समझौता करने के लिए अपने लड़के अभयसिंह को दिल्ली भेजा। बादशाह ने उसे वहीं रोक लिया। थोड़े समय बाद अभयसिंह ने अपने भाई बख्तसिंह के द्वारा अजीतसिंह की हत्या करवा दी। कहते हैं कि इस षड्यंत्र के पीछे बादशाह और स्वयं जयसिंह का हाथ था,[1] यद्यपि कतिपय इतिहासकार इस मामले में जयसिंह को निर्दोष मानते हैं। कुछ भी हो, अजीतसिंह की हत्या में जयसिंह का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष समर्थन अवश्य था, नहीं तो अजीतसिंह की मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद जयसिंह अपनी लड़की की शादी अभयसिंह से नहीं करता।

१. रेऊ, 'मारवाड़ का इतिहास', प्रथम भाग, पृ० ३२७०।

मालवा की सूबेदारी

इस समय मालवा, गुजरात और राजस्थान में मरहठों का आतक छाया हुआ था। स्वयं मुगल बादशाह मरहठों की इस कार्यवाही से चिंतित था। मालवा का सूबेदार राजा गिरधर बहादुर मरहठों द्वारा मारा गया। बादशाह ने उसके स्थान पर भवानीराम को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। उसने मरहठों को मालवा से निकालने का प्रयत्न किया। परंतु उसे सफलता नहीं मिली। बादशाह ने भवानीराम के स्थान पर जयसिंह को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। इसके पूर्व भी जयसिंह सन् १७१३-१४ में मालवा का सूबेदार रह चुका था। पर मालवा में इस समय परिस्थिति बड़ी कठिन थी। मरहठों ने मांडू पर अधिकार कर लिया। जयसिंह भी मांडू की ओर रवाना हुआ जहां उसकी मरहठों से टक्कर हुई। अंत में दोनों पक्षों के बीच बातचीत के बाद यह तय हुआ कि मरहठे मांडू खाली कर देंगे और बादशाह की ओर से मालवा और गुजरात की चौथ के रूप में मरहठों को क्रमशः ११ लाख और १४ लाख रुपए सालाना दिए जाएंगे। ठीक इसी समय अर्थात् सितंबर, १७३० में बादशाह ने जयसिंह को मालवा की सूबेदारी से हटा दिया और उसके स्थान पर बंगासखान को सूबेदार नियुक्त किया। उसने मालवा से मरहठों को भगाने का प्रयत्न किया परंतु वह अपने कार्य में पूर्णतः असफल रहा। इस पर बादशाह ने उसके स्थान पर पुनः जयसिंह को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया।

जयसिंह अक्तूबर, १७३२ में उज्जैन पहुंच गया। उसने बादशाह की सहमति से मेवाड़ से समझौता किया जिसके अनुसार मालवा से मरहठों को निकालकर उक्त प्रदेश पर मेवाड़ और जयपुर का संयुक्त शासन स्थापित करना था। इस समझौते के अनुसार नवंबर, १७३२ में मेवाड़ की सेना उज्जैन पहुंच गयी। परंतु किन्हीं कारणों से मेवाड़ को अपनी सेना वापस बुलाने को कहा गया। मेवाड़ ने अपनी सेना उज्जैन से हटा ली और इस प्रकार इस समझौते का अंत हुआ। मरहठे मालवा में घुस गए। जयसिंह ने बुंदेलखंड की ओर प्रयाण किया। होल्कर और सिंधिया की सेना ने जयसिंह को घेर लिया। जयसिंह को मरहठों से समझौता करना पड़ा। उसे होल्कर को ६ लाख रुपए नकद देने पड़े। इन घटनाओं से जयसिंह को बड़ी निराशा हुई। वह रामगढ़ लौट गया।

भाई और भानजे की हत्या

सवाई जयसिंह की मालवा की अंतिम सूबेदारी के पूर्व राजस्थान में एक ऐसी घटना घटी जिससे जयसिंह की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा। जयसिंह की बहन की शादी बूंदी के हाड़ा राव बुद्धसिंह से हुई थी। बुद्धसिंह की इस कछवाहा रानी से उसके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम भवानीसिंह था। भवानीसिंह के बारे में ऐसी अफवाह फैलायी गई कि वह बुद्धसिंह का पुत्र नहीं है। दुर्भाग्य से इसकी पुष्टि स्वयं बुद्धसिंह ने कर दी। इस पर क्रोधित होकर जयसिंह ने ८ वर्ष के शिशु अपने भानजे

को ही मार डाला[1] और बुद्धसिंह से वादा ले लिया कि भविष्य में उसकी किसी रानी से पुत्र होगा तो उस बच्चे को वह जयसिंह के हवाले कर देगा। इस घटना से दुखित होकर कछवाह रानी ने खाना-पीना बंद कर दिया। इस पर बुद्धसिंह ने यह स्वीकार कर लिया कि भवानीसिंह उसी का पुत्र था। इसके कुछ दिनों बाद बुद्धसिंह की चूड़ावत रानी से एक लड़का हुआ। जयसिंह ने समझौते के अनुसार उस पुत्र को लेना चाहा। पर बुद्धसिंह ने इनकार कर दिया। इस पर जयसिंह ने बूंदी पर आक्रमण कर दिया और राव बुद्धसिंह को गद्दी से हटाकर उसके स्थान पर करवाड़ा ठाकुर के पुत्र हाड़ा दलेलसिंह को बूंदी का राजा बना दिया। इस पर बुद्धसिंह ने यह प्रयत्न किया कि जयसिंह के स्थान पर उसके छोटे भाई विजयसिंह को जयपुर की गद्दी पर बैठा दिया जाए। जयसिंह ने विजयसिंह को कई वर्षों से जयगढ़ में बंद कर रखा था। जब जयसिंह को बुद्धसिंह के इस तथाकथित षड्यंत्र का पता चला तो उसने विजयसिंह को कत्ल कर दिया।[2] बूंदी के स्वामित्व के प्रश्न को लेकर एक बार फिर जयसिंह और बुद्धसिंह की सेना में पंचोला नामक स्थान पर भीषण युद्ध हुआ जिसमें जयपुर की सेना को भयंकर नुकसान हुआ पर अंत में हार बुद्धसिंह की हुई। वह उदयपुर चला गया जहां महाराणा ने उसे सम्मान के साथ रखा। इधर बुद्धसिंह की कछवाहा रानी ने मरहठों को बूंदी में आमंत्रित किया। मरहठों ने बूंदी जीत लिया और बुद्धसिंह को पुनः बूंदी का शासक घोषित कर दिया। पर मरहठे बूंदी से रवाना हुए ही थे कि जयपुर की फौज ने बूंदी पर कब्जा कर लिया और दलेलसिंह को पुनः गद्दी पर बैठा दिया। राव बुद्धसिंह सन् १७३९ में मर गया। उसके दो लड़के—उम्मेदसिंह और दीपसिंह अभी छोटे थे। इसी बीच मरहठों ने सारे मालवा को रौंद डाला। मुगल सूबेदार मालवा खाली कर दिल्ली पहुंच गया।

राजाओं का मराठा-विरोधी सम्मेलन

मरहठों की बढ़ती हुई शक्ति से राजस्थान के राजा सहम गए। वे इस निष्कर्ष पर पहुंच गए कि मुगल सल्तनत मरहठों से मुकाबला नहीं कर सकती। अतः उदयपुर के महाराणा जगतसिंह द्वितीय की सदारत में १६ जुलाई, १७३४ को हुरडा नामक स्थान पर राजस्थान के राजाओं का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में उपस्थित राजाओं में एक समझौता हुआ कि मरहठों से मुकाबला करने के लिए सभी राजा ससैन्य बारिश के बाद रामपुरा में इकट्ठे होंगे और मरहठों को मालवा से निकालने का प्रयत्न करेंगे। परंतु राजाओं के अपने-अपने स्वार्थ थे। यह समझौता कार्यरूप में परिणत नहीं हो सका। फलतः राजस्थान के कई शासकों ने मरहठों का मुकाबला करने के लिए बादशाह की सेना का साथ देने का निर्णय किया। बादशाह ने एक सेना वजीर कमरुद्दीन खां के नेतृत्व में मालवा और बुंदेलखंड भेजी। परंतु इस

१. 'वंशभास्कर', जिल्द ४, पृ० ३१२२-२३।
२. वही, पृ० ३१३४-३५।

सेना की बुरी तरह हार हुई। दूसरी सेना खानेदौरान के नेतृत्व में मालवा की ओर रवाना हुई। इस सेना में जयसिंह, अभयसिंह और दुर्जनशाल आदि राजपूत राजा लोग शामिल थे। फरवरी, १७३५ में रामपुरा के आस-पास मुगल सेना और होल्कर और सिंधिया की सेना आमने-सामने आ गयीं। मरहठे मुगल सेना को चीरते हुए कोटा, बूंदी की सीमा में घुस गए और जयपुर की ओर कूच करने लगे। जयसिंह भागकर अपने राज्य को बचाने के लिए जयपुर पहुंच गया।[1] जयसिंह की सलाह पर खानेदौरान ने मरहठों से समझौता कर लिया जिसमें उसने मालवा की चौथ के रूप में मरहठों को २२ लाख रुपये देना स्वीकार कर लिया। परंतु मुगल दरबार में एक शक्तिशाली तबका था जो मरहठों के साथ सुलह करने के विरुद्ध था। अतः बादशाह के लिए निर्णय लेना कठिन हो गया। पर जयसिंह अपने प्रयत्नों से निराश नहीं हुआ। उसने मरहठा सरदार बाजीराव पेशवा को अपने खर्चे पर बातचीत के लिए आमंत्रित किया। बाजीराव अक्तूबर, १७३५ में पूना पहुंचा। जयसिंह और पेशवा के बीच कई महीनों के विचार-विनिमय के बाद एक विस्तृत समझौता हुआ। परंतु बादशाह ने इस समझौते को आंशिक रूप से ही स्वीकार किया। उसने बाजीराव को एक जागीर और ७ हजार का मनसब तो प्रदान कर दिया परंतु मालवा की सूबेदारी नहीं सौंपी। इस पर पेशवा ने समझौता अस्वीकार कर दिया। उसने दिल्ली पर अचानक हमला बोल दिया। इससे बादशाह और भी अधिक रुष्ट हो गया। उसने मरहठों के विरुद्ध लड़ाई लड़ने का निर्णय लिया। साथ ही उसने सवाई जयसिंह को मालवा और आगरा की सूबेदारी से हटा दिया। निजाम के नेतृत्व में शाही सेना ने भोपाल की ओर कूच किया। सिरोज के निकट शाही सेना की मरहठों से टक्कर हुई जिसमें निजाम की करारी हार हुई। उसे ६ जनवरी, १७३८ को दुराहा सराय नामक स्थान पर पेशवा से संधि करनी पड़ी जिसके अनुसार पेशवा को मालवा की सूबेदारी सौंपनी पड़ी और साथ ही बादशाह से ५० लाख रुपए दिलाने का वादा किया। पेशवा इसके तुरंत बाद कोटा से १० लाख रुपये का वादा लेकर दक्षिण में चला गया।

नादिरशाह का आक्रमण

इसी बीच ईरान के नादिरशाह ने हिंदुस्तान पर आक्रमण कर दिया। वह दिल्ली में घुस गया। उसने ५१ दिन तक दिल्ली को लूटा और कत्लेआम मचाया। पेशवा ने मेवाड़ और अन्य हिंदू राजाओं को नादिरशाह के विरुद्ध लड़ने के लिए तैयार किया। परंतु नादिरशाह वापस अपने वतन को लौट गया। इन्हीं दिनों बाजीराव पेशवा और खानेदौरान की मृत्यु हो गयी। जयसिंह का इन दोनों से गहरा संबंध

१. 'जर्नल ऑफ राजस्थान', इंस्टीट्यूट ऑफ हिस्टोरिकल रिसर्च, मार्च, १९६६ में प्रकाशित कृष्ण-स्वरूप राजोरा के एक लेख के अनुसार जयसिंह मरहठों से मिल गया और उसने मरहठों को बादशाह की सामरिक शक्ति के बारे में बता दिया।

था। अतः उनकी मृत्यु से जयसिंह को गहरा धक्का लगा।

धौलपुर का समझौता

बाजीराव की जगह उसका लड़का नानाजीराव नया पेशवा बना। मरहठों और मुगल बादशाह के बीच युद्ध की स्थिति बनी रही। दोनों पक्षों में समझौता कराने की दृष्टि से जयसिंह नये पेशवा से धौलपुर के निकट फतेहाबाद नामक स्थान पर मिला। लंबी चर्चा के बाद समझौते की शर्तें तैयार की गयीं। ये शर्तें इस प्रकार थीं : (१) बादशाह पेशवा को मालवा का सूबा दे देगा। (२) मरहठे मुगलों के इलाकों में किसी प्रकार की अशांति नहीं फैलाएंगे। (३) पेशवा बादशाह के प्रति वफादार रहेगा। पर देश में राजनीतिक परिस्थितियां तेजी से बदल गयीं। मुगल-साम्राज्य बिखरने लगा। मरहठों में भी मतभेद खड़े हो गए अतः उक्त समझौता धीरे-धीरे अर्थहीन हो गया।

जोधपुर का आत्मसमर्पण

जैसा कि पूर्व में बताया गया है जयसिंह और जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के बीच एक अर्से से मनोमालिन्य बना हुआ था। इधर महाराजा अभयसिंह और उसके भाई नागौर के स्वामी बख्तसिंह के बीच अनबन हो गई। अभयसिंह एक लंबे अर्से से बीकानेर पर अधिकार करना चाहता था। सन् १७४० में अभयसिंह ने बीकानेर को घेर लिया। बख्तसिंह ने बीकानेर का साथ दिया। उसने देखा कि जोधपुर का राज्य प्राप्त करने के लिए उसके लिए यह अच्छा अवसर है। उसकी सलाह पर बीकानेर के राजा जोरावरसिंह ने जयसिंह को सहायता के लिए आमंत्रित किया। जयसिंह स्वयं बहाने की तलाश में था। उसने शीघ्र ही अपनी फौज बीकानेर का घेरा तोड़ने के लिए भेज दी। वह स्वयं एक बड़ी फौज लेकर अजमेर की ओर रवाना हुआ। उसकी प्रार्थना पर महाराणा जगतसिंह ने कोटा, प्रतापगढ़ और डूंगरपुर के शासकों के साथ ८० हजार सेना लेकर अजमेर की ओर कूच किया। अब अभयसिंह अकेला पड़ गया। उसने अपने आपको इन कठिन परिस्थितियों में पाकर बीकानेर की घेराबंदी उठा दी। उसने २५ जुलाई, १७४० को जयसिंह के साथ एक संधि की जो एक प्रकार से आत्मसमर्पण था। उसने जयसिंह को पेशकशी के २१ लाख रुपये दिए। इस धन में ११ लाख रुपये के वे जेवर भी थे जो जयसिंह ने अपनी पुत्री को अभयसिंह के साथ विवाह के अवसर पर दिए थे। इस संधि के फलस्वरूप बीकानेर पर आए संकट के बादल टल गए। उधर जयसिंह को भी मनोरथ सिद्ध हो गया। पर बख्तसिंह को न जोधपुर की गद्दी मिली और न अन्य कोई लाभ हुआ। उल्टे उसे राठौड़ों की नाककटाई करवाने में राठौड़ सरदार ताने देने लगे।[1] इस पर बख्तसिंह पुनः अपने भाई अभयसिंह से जा मिला और ढूंढार पर आक्रमण कर दिया। उसकी

१. 'जोधपुर की ख्यात', चतुर्थ भाग, पृ० ३३१०।

अजमेर के निकट गगवाना नामक स्थान पर जयपुर की सेना से ११ जून, १७४१ को टक्कर हुई। वीर राठौड़ों ने जान की बाजी लगा दी। पर आखिर बख्तसिंह की छोटी-सी फौज कहां तक लड़ती। उसकी सेना का सफाया हो गया। स्वयं बख्तसिंह को कई घाव लगे। वह वापस मारवाड़ लौट गया। जयपुर की इस विजय का श्रेय शाहपुरा के उम्मेदसिंह को था। महाराणा जगतसिंह ने दोनों के बीच पुनः मेलजोल कराने का प्रयत्न किया। पर उसे कामयाबी नहीं मिली।[1] अगस्त, १७४३ में बादशाह ने भी दोनों के बीच समझौता कराने की दृष्टि से जयसिंह को अपने दरबार में बुला भेजा। पर बीमारी के कारण उसका दरबार में उपस्थित होना संभव नहीं हुआ और इसी बीच वह २१ सितंबर, १७४३ को इस असार संसार से चल बसा।

जयसिंह का व्यक्तित्व

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डॉ० रघुवीरसिंह के शब्दों में जयसिंह का चरित्र उस युग की सारी भली-बुरी प्रवृत्तियों तथा समकालीन गुण-दोषों का एक मिश्रण था।[2] उसने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए अनेक जघन्य अपराध किए जिससे वह भयंकर अपकीर्ति का भागी बना। उसने अपने छोटे पुत्र ईश्वरीसिंह को गद्दी पर बैठाने के लिए अपने बड़े पुत्र शिवसिंह और उसकी मां की हत्या की। वह अपनी मां और भाई विजयसिंह की हत्या करने से भी नहीं चूका। उसने जोधपुर पर वर्चस्व स्थापित करने के लिए अपने श्वसुर महाराजा अजीतसिंह को उसके अपने ही पुत्र बख्तसिंह द्वारा मरवा दिया। यही नहीं, जयसिंह ने अपने ८ वर्ष के भानजे बूंदी के राजकुमार भवानीसिंह की हत्या कर अपने माथे पर कलंक का टीका लगाया।

बूंदी के राजकवि और सुप्रसिद्ध इतिहासकार सूर्यमल मिश्रण ने अपने ग्रंथ 'वंशभास्कर' में जयसिंह को निम्न शब्दों में दोषी ठहराया है :

जो निज धर्म रच्यौ कूरमहिये।
क्यों तब कर्म अधर्म इति कियौ ॥
हत्यो प्रथम शिवसिंह स्वयं सुत।
जो हुता सजनि निज नित हुत ॥
पुनि जननि निज स्वर्ग पठाई।
नटवर विजयसिंह बलि भाई ॥
पुनि भानेज सत्य जो होतो।
अरु असत्य शिशु होतऊ सो तो ॥
पुनि संग्राम रामपुर स्वामी।
हत्यो दगा रचि होय हरामी ॥

जयसिंह न केवल एक कूटनीतिज्ञ वरन् पूरा अवसरवादी भी था। औरंगजेब

१. 'वीर विनोद', भाग २, पृ० १२२९।
२. डॉ० रघुवीरसिंह, 'पूर्व आधुनिक राजस्थान', पृ० १६९।

के शाहजादे मोअज्जम और आजम के बीच उत्तराधिकार की लड़ाई में मोअज्जम का पलड़ा भारी देखकर वह आजम को छोड़कर मोअज्जम से जा मिला। जोधपुर के महाराजा से वादा करके भी उसने अजमेर की घेराबंदी में जोधपुर का साथ नहीं दिया। सन् १७३२ में मरहठों को निकालने के लिए मेवाड़ से वह समझौता करके भी मुकर गया। मेवाड़ की राजकुमारी से शादी करने के लिए उसने महाराणा द्वारा रखी गयी ऐसी शर्तें स्वीकार कर लीं जो दोनों राजवंशों के भावी कलह और बरबादी का कारण बनीं।[1] सन् १७३४ में हुरड़ा नामक स्थान पर मरहठा आक्रमणों का सामना करने के लिए राजस्थान के राजाओं के साथ हुए समझौते को तोड़ने में जयसिंह अग्रणी था। नवंबर सन् १७३४ में खानेदौरान के मरहठा विरोधी अभियान में अन्य राजाओं के साथ शामिल होकर वह अंतिम क्षणों में मरहठों से मिल गया। इस प्रकार राजपूत राजाओं में उसका विश्वास उठ गया। जयसिंह की इन सारी कार्यवाहियों का खम्याजा आगे जाकर न सिर्फ जयपुर को वरन् सारे राजस्थान को उठाना पड़ा।

जयसिंह के अंतिम दिन

जयसिंह एक अत्यंत महत्त्वाकांक्षी राजा था। उसने चक्रवर्ती सम्राट् की तरह अश्वमेध यज्ञ किया और परंपरा के अनुसार घोड़ा छोड़ा। परंतु यह घोड़ा जयपुर राज्य की सीमा में ही चक्कर लगाकर लौट आया और अश्वमेध यज्ञ संपन्न कर लिया गया। जयसिंह ने अपने पंडितों की सलाह के अनुसार कई यज्ञ इसलिए भी किए कि उसके द्वारा किए गए दुष्कर्मों से उसका छुटकारा हो जाए। परंतु विधाता की लीला विचित्र है। जयसिंह की अधिक उम्र नहीं थी तथापि उसे अपने अंतिम वर्षों में अनेक बीमारियों से जूझना पड़ा और अंत में राजसूय यज्ञ के बीच ही वह मृत्यु को प्राप्त हुआ।

सूर्यमल मिश्रण ने 'वंशभास्कर' में जयसिंह के अंतिम दिनों के बारे में वर्णन करते हुए कहा है कि "जोधपुर को पराजित करने के बाद जयसिंह अपने-आपको अद्वितीय समझने लगा। वह इतना घमंडी हो गया कि उसके व्यवहार से मूर्खता झलकने लगी। वह सदा मद्य और मैथुन की आराधना में डूबा रहता था। उसने मर्यादा की सब सीमाएं लांघ दीं। परिणामस्वरूप उसका शरीर विकृत हो गया। रोग बढ़ता गया। उसके अंग-प्रत्यंग फट गए। उसके शरीर के घावों में उंगली जितने लंबे काले मुंह वाले कीड़े हो गए। वह अपने पापों को याद करके तड़पा करता था और इसी स्थिति में उसका देहांत हो गया।"

सूर्यमल अत्यंत प्रतिष्ठित इतिहासकारों में माना जाता है। उसने 'वंशभास्कर' में जयसिंह द्वारा किए गए अच्छे कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा भी की है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सूर्यमल ने जयसिंह के अंतिम दिनों के बारे में जो लिखा

१. जयसिंह ने अपनी लड़की की शादी कोटा के दलेलसिंह से भी लगभग इसी प्रकार की शर्तों के साथ की थी। —बी० एस० भटनागर, 'लाइफ एंड टाइम्स ऑफ सवाई जयसिंह', पृ० २१४।

वह जान-बूझकर जयसिंह को बदनाम करने की दृष्टि से लिखा था ।

राज्य का विस्तार

अब जरा जयसिंह के जीवन का दूसरा पहलू भी देखिए । औरंगजेब के शहजादों की उत्तराधिकार की लड़ाई में आजम का साथ देने के फलस्वरूप बहादुरशाह ने आमेर पर अधिकार कर लिया । परंतु जयसिंह ने अपने चातुर्य से मेवाड़ के महाराणा का सहयोग प्राप्त कर कुछ ही समय में पुनः आमेर पर अधिकार कर लिया । उसके जीवन-काल में मुगल-साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लग गया था । जयसिंह ने इस स्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाया । उसने अपने राज्य की सीमाएं बढ़ायीं । उसने मलारना, अमरसर, नारायणा, मानगढ़, झिलाय, उनियारा, मनोहरपुर और बरवाड़ा आदि इलाकों को अपने राज्य में मिलाया । यही नहीं, शेखावटी के परगने भी उसके हाथ में आ गए । इस प्रकार जयसिंह एक खानाबदोश की स्थिति से निकलकर एक बड़ा राज्य बनाने में सफल हो गया ।

वेधशालाओं की स्थापना

जयसिंह डिंगल, संस्कृत, पारसी, अरबी तथा तुर्की आदि भाषाओं का ज्ञाता था । वह ज्योतिष का प्रकांड पंडित था । उसने जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, वाराणसी तथा मथुरा में वेधशालाएं स्थापित कर फलित ज्योतिष की गौरवशाली परंपरा में चार चांद लगाए । उसने ज्योतिष की देश-विदेश की परंपराओं का समन्वय करके 'जिजमुहम्मदशाही' के नाम से एक नयी सारणी का निर्माण किया । उस काल में विभिन्न देशों की सारणी की गणना से चंद्रमा का गणित सही नहीं बैठता था । चंद्रग्रहण के समय में कुछ मिनट का अंतर हो जाता था । जयसिंह ने अपनी वेधशालाओं द्वारा गणना करायी और वह उस अंतर को दूर करने में सफल हो गया । ज्योतिष के क्षेत्र में उस काल की यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी ।

जयपुर कला व संस्कृति का केंद्र

जयसिंह के राज्यकाल में जयपुर भारत में ज्ञान-विज्ञान, कला व संस्कृति का एक प्रमुख केंद्र बन गया । जयसिंह ने देश के विभिन्न भागों से कई दुर्लभ पांडुलिपियां प्राप्त कीं । जयपुर का सुप्रसिद्ध पोथीखाना मूलतः जयसिंह की ही देन है । उसके दरबार में पंडित हरिकृष्ण मिश्र, पंडित शिवानंद, श्रीकृष्ण भट्ट, पंडित पुंडरीक रत्नाकर तथा व्रजनाथ शर्मा जैसे प्रकांड पंडित और मुहम्मदशरीफ और मुहम्मद मही जैसे धाकड़ ज्योतिषी रहते थे । जयसिंह स्वयं ने 'यंत्रराज-रचना' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा था । उसके समय में 'रामतत्त्वप्रकाश' और 'रामपूर्णावतार-निरूपण' आदि ग्रंथ लिखे गए । जयसिंह इतिहास में भी बड़ी रुचि लेता था । उसने कछवाहों की वंशावली तैयार करायी और अपने पूर्वजों के बारे में विवरण तैयार कराए ।

जयपुर नगर की रचना

जयसिंह ने जयपुर नगर बसाकर सदा के लिए अपने-आपको अमर कर लिया। २५ नवंबर, १७२७ को पंडित जगन्नाथ सम्राट् की अध्यक्षता में नवग्रह-शांति पूजन के साथ जयपुर नगर की नींव डाली गयी। नगर-निर्माण कार्य की जिम्मेदारी सुप्रसिद्ध नियोजक, वस्तुविद् और मुख्य अभियंता विद्याधर को सौंपी गयी। जयपुर मध्यकालीन युग का न केवल भारत का बल्कि विश्व का सुंदरतम नगर है। जयसिंह ने जयपुर की विभिन्न पहाड़ियों पर किले भी बनवाए थे। रघुनाथगढ़, शंकरगढ़, हथरोई एवं नाहरगढ़ जयसिंह की ही देन हैं। जयसिंह के समय में हिंदू तथा जैन संप्रदायों के अनेक मंदिर बने। इस जमाने में जयपुर एक प्रसिद्ध धार्मिक केंद्र बन गया और उसे छोटी काशी कहा जाने लगा था। जयसिंह ने शिल्पकला को भी खूब प्रोत्साहन दिया। उस समय में जयपुर में हीरे-जवाहरात, सोने के जेवर, वस्त्रों की छपाई आदि अनेक व्यवसाय फले-फूले थे। यदि आज जयपुर राजस्थान की राजधानी और देश का प्रसिद्ध पर्यटन-केंद्र बना है तो उसका बहुत कुछ श्रेय जयसिंह को जाता है।

जयपुर के उत्तराधिकारी का प्रश्न

सवाई जयसिंह के तीन पुत्र थे—बड़ा पुत्र शिवसिंह गैंदी रानी से, ईश्वरीसिंह खींची रानी से और माधोसिंह शिशौदिया रानी से पैदा हुआ था। जयसिंह खींची रानी को विशेष प्रेम करता था, अतः वह चाहता था कि खींची रानी से उत्पन्न ईश्वरीसिंह उसके बाद जयपुर का उत्तराधिकारी बने। पर इसमें दो बाधाएं थीं। वंश-परंपरा के अनुसार जयसिंह का सबसे बड़ा पुत्र होने के कारण शिवसिंह जयपुर की गद्दी का स्वाभाविक हकदार था। उधर महाराणा अमरसिंह के साथ हुए करार के अनुसार शिशौदिया रानी चंद्रकंवर से उत्पन्न माधोसिंह सबसे छोटा राजकुमार होते हुए भी जयपुर की गद्दी का दावेदार था। पंडित श्रीकृष्ण भट्ट द्वारा रचित 'ईश्वर-विलास' महाकाव्य के अनुसार शिवसिंह और उसकी मां को मथुरा में जहर देकर मरवा दिया गया। कहते हैं कि माधोसिंह की हत्या का भी षड्यंत्र रचा गया पर माधोसिंह की मां शिशौदिया रानी को समय पर इसका आभास हो गया और वह माधोसिंह को लेकर अपने मायके मेवाड़ चली गयी। जयसिंह उत्तराधिकार की समस्या हल करने के लिए मेवाड़ के महाराणा से मिलने सन् १७३२ में उदयपुर पहुंचा। महाराणा से हुए एक समझौते के अनुसार जयसिंह ने माधोसिंह को टोंक, फागी और मालपुरा के परगने देना स्वीकार कर लिया। महाराणा ने भी अपनी ओर से माधोसिंह को रामपुरा का परगना दे दिया। इस प्रकार माधोसिंह के लिए एक नये राज्य की रचना कर दी गयी। फलतः कुछ समय के लिए यह विवाद शांत हो गया। जयसिंह ने सन् १७३४ के दरबार में ईश्वरीसिंह को युवराज घोषित कर दिया।

सवाई ईश्वरीसिंह

जयसिंह की मृत्यु पर ३१ जनवरी, १७४३ को ईश्वरीसिंह जयपुर की गद्दी पर बैठा। उसने माधोसिंह को सन् १७३२ में हुए समझौते के अनुसार टोंक, फागी और मालपुरा का इलाका सौंपने से इनकार कर दिया। बूंदी पर पुनः अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए वहां के पदच्युत राव बुद्धसिंह का पुत्र उम्मेदसिंह माधोसिंह से जा मिला। उम्मेदसिंह का पक्षपाती कोटा का महाराव दुर्जनशल भी माधोसिंह के साथ हो गया। माधोसिंह की सहायतार्थ मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह ने दुर्जनशाल और उम्मेदसिंह तथा होल्कर की सहायता से जयपुर पर आक्रमण किया। बनास नदी के ऊपर राजमहल नामक स्थान पर दोनों पक्षों में युद्ध हुआ जिसमें ईश्वरीसिंह विजयी हुआ। उसने इस विजय के उपलक्ष्य में ईश्वरलाट बनायी। परंतु अगस्त, १७४८ में बगरू नामक स्थान पर हुए युद्ध में जयपुर हार गया। इस हार के फलस्वरूप ईश्वरीसिंह को जयपुर के पांच परगने माधोसिंह को देने पड़े। बूंदी का राज्य उम्मेदसिंह को लौटाना पड़ा। साथ ही उसे मरहठों को एक बड़ी रकम देने का वादा करना पड़ा।

ईश्वरीसिंह द्वारा आत्महत्या

बगरू की संधि के कुछ समय बाद वादे के अनुसार मरहठों ने ईश्वरीसिंह से पैसा मांगा। ईश्वरीसिंह मरहठों की इच्छा की पूर्ति नहीं कर सका। मल्हारराव होल्कर जयपुर में मोतीडूंगरी तक पहुंच गया। ईश्वरीसिंह ने जयपुर की सेना को तैयार नहीं पाकर २५ दिसंबर, १७५० को अपने आपको सांप से डंसवा कर आत्महत्या कर ली और इस प्रकार ईश्वरीसिंह का दर्दनाक अंत हो गया। मरहठों ने जयपुर पर कब्जा कर लिया।

सवाई माधोसिंह

युद्ध के तुरंत बाद मरहठों ने माधोसिंह को जयपुर की गद्दी पर बैठाने के लिए आमंत्रित किया। माधोसिंह २९ दिसंबर, १७५० को जयपुर पहुंच गया और जयपुर का शासक बन गया। वह सन् १७५३ में मुगल दरबार में गया जहां बादशाह अहमदशाह ने उसे माही मर्तब प्रदान किया। कुछ समय बाद मरहठों से तंग आकर बादशाह ने रणथंभौर का किला माधोसिंह को सौंप दिया। रणथंभौर की हुकूमत के अंतर्गत हाड़ा राजपूतों के ८ ठिकाने (कोटडिया) थे। माधोसिंह का रणथंभौर पर अधिकार होते ही उसने उक्त कोटड़ियों पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहा। इन कोटड़ियों के जागीरदार कोटा और बूंदी के हाड़ाओं के वंशज थे। अतः उन्होंने जयपुर की अपेक्षा कोटा से संबंध स्थापित करना उचित समझा। कोटा के चतुर फौजदार और सर्वेसर्वा श्री हिम्मतसिंह झाला ने तत्काल ही उक्त कोटड़ियों को कोटा के अंतर्गत रखना स्वीकार कर लिया। इस पर माधोसिंह ने कोटा पर एक बड़ी सेना भेजी। इस समय हिम्मतसिंह झाला मर चुका था। उसके स्थान पर उसके युवक पुत्र

जालिमसिंह ने कोटा की सेना की कमान संभाली। मरहठे जयपुर से पहले ही अप्रसन्न थे। अतः मल्हारराव होल्कर ने कोटा की मदद की। दोनों पक्षों में जनवरी, १७६१ में भटवाड़ा नामक स्थान पर युद्ध हुआ, जिसमें जयपुर की करारी हुई। आठों कोटड़ियों पर सदा के लिए कोटा का प्रभुत्व हो गया।[1]

माधोसिंह ने भरतपुर के जाट शासक जवाहरमल से दो युद्ध लड़े। उसने सन् १७६८ में कामा नामक स्थान पर जाटों को अंतिम रूप से परास्त किया। माधोसिंह ४ मार्च, १७६८ को मर गया।

जयपुर अधःपतन की ओर

माधोसिंह के स्थान पर उसका पुत्र पृथ्वीसिंह ५ वर्ष की उम्र में गद्दी पर बैठा। वह १० वर्ष बाद ही मर गया। पृथ्वीसिंह के स्थान पर उसका भाई प्रतापसिंह जयपुर की गद्दी पर बैठा। मुगल सम्राट् शाहआलम ने १७ जनवरी, १७७६ को प्रतापसिंह को टीका लगाकर उसे जयपुर का शासक स्वीकार किया। जनवरी, १७८६ में महारानी सिंधिया ने जयपुर पर चढ़ाई कर दी। प्रतापसिंह ने आक्रमणकारियों को ६० लाख रुपये देने का वादा कर पिंड छुड़ाया। इस रकम में से ११ लाख रुपए तुरंत दे दिए गए। परंतु शेष रकम वह नहीं चुका सका। अतः जुलाई, १७८६ में मराठों और जयपुर के बीच तोंगा नामक स्थान पर युद्ध हुआ। इस युद्ध में जयपुर ने मारवाड़ की सेना की सहायता से सिंधिया को हरा दिया। परंतु दो वर्ष बाद महारानी सिंधिया ने जयपुर पर पुनः आक्रमण किया। इस बार जोधपुर ने सहायता नहीं दी। प्रतापसिंह हार गया और उसे सिंधिया को आवश्यक रकम चुकानी पड़ी। प्रतापसिंह के ही जीवनकाल में माचेडी के राव प्रतापसिंह नरूका ने जयपुर के कुछ परगने हथिया लिये। नरूका ने कुछ ही वर्ष पूर्व अलवर की स्वतंत्र रियासत स्थापित की थी, जिसे मुगल बादशाह ने भी स्वीकार कर लिया।

सन् १७९९ में अंग्रेजों ने अवध के नवाब वजीरअली खां को गद्दी से हटाकर जेल में डाल दिया। नवाब जेल से भागने में सफल हो गया और महाराजा प्रतापसिंह की शरण में आ गया। परंतु जब अंग्रेजों ने प्रतापसिंह पर दबाव डाला तो उसने नवाब को अंग्रेजों को सौंपकर अपनी कायरता का परिचय दिया। मार्च, १८०० में प्रतापसिंह का होल्कर से मालपुरा नामक स्थान पर युद्ध हुआ जिसमें प्रतापसिंह हार गया। उसने पैसा देकर होल्कर को विदा किया। वह सन् १८०३ में मृत्यु को प्राप्त हुआ।

शर्मनाक झगड़ा

प्रतापसिंह के स्थान पर उसका पुत्र जगतसिंह १७ वर्ष की आयु में जयपुर की गद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल में राजस्थान के राज्यों में एक शर्मनाक झगड़ा खड़ा

१. डॉ० एम० एल० शर्मा, 'कोटा राज्य का इतिहास', पृ० ४४१-४४६।

हो गया, जिसने राजस्थान के तीन बड़े राज्यों—मेवाड़, मारवाड़ और जयपुर—को हिला दिया। मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह की कन्या कृष्णाकुमारी बहुत सुंदर थी। उसकी सगाई का प्रस्ताव मारवाड़ के महाराजा भीमसिंह से किया गया। परंतु भीमसिंह का अचानक देहांत हो गया। तब मेवाड़ की ओर से कृष्णाकुमारी की सगाई का प्रस्ताव जयपुर के महाराजा जगतसिंह से किया गया। उधर मारवाड़ में भीमसिंह का उत्तराधिकारी मानसिंह कृष्णाकुमारी के साथ स्वयं शादी करना चाहता था। इस पर जयपुर और जोधपुर दोनों में ठन गयी। जगतसिंह ने पिंडारी नेता अमीर खां की सहायता से जोधपुर को जा घेरा। पर ऐन मौके पर अमीर खां जोधपुर के मानसिंह से मिल गया। अमीर खां जोधपुर की सेना के साथ जयपुर में आ धमका। जगतसिंह को जोधपुर का घेरा उठाना पड़ा। दोनों रियासतें तबाह हो गयीं और अमीर खां की ओर मुंह ताकने लगीं। अमीर खां अब न केवल जयपुर, जोधपुर बल्कि उदयपुर के बीच पंच बन बैठा। उसने तीनों राज्यों में झगड़ा समाप्त करने के लिए महाराणा पर दबाव डाला कि कृष्णाकुमारी को जहर देकर मरवा दिया जाए। महाराणा ने कृष्णाकुमारी को जहर देकर मरवा दिया। इस प्रकार तीनों राज्यों में लड़ाई तो समाप्त हो गयी पर महाराणा ने कृष्णाकुमारी की हत्या के कलंक का टीका सदा के लिए अपने माथे पर लगा लिया।

वेश्या का वर्चस्व

जगतसिंह जिंदगी-भर राग-रंग में डूबा रहा। वह रसकपूर नामक वेश्या के चक्कर में इस कदर फंस गया कि वह अपने सामंतों से अपेक्षा करने लगा कि वे रसकपूर को महारानी का सम्मान दे। रसकपूर राजकार्य में भी दखल देने लगी। इस बात को लेकर सामंतों में विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी। जगतसिंह को रसकपूर को त्यागना पड़ा और उसे नाहरगढ़ के किले में बंद करना पड़ा।

अंग्रेजों से संधि

जगतसिंह के शासनकाल में सन् १८०६ से १८१३ तक दौलतराव सिंधिया ने कई बार जयपुर पर आक्रमण किए। उसने जयपुर राज्य में भयंकर लूटमार की। जगतसिंह ने मरहठों और पिंडारियों से तंग होकर ईस्ट इंडिया कंपनी से संधि करने का प्रयत्न किया। सन् १८०३ में दोनों के बीच एक संधि भी हुई पर उस पर अमल ही नहीं हो सका। अंत में २ अप्रैल, १८१८ को जगतसिंह और ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच एक और संधि हुई जिसके अनुसार जयपुर ने ईस्ट इंडिया कंपनी की सार्वभौम सत्ता स्वीकार की। बदले में कंपनी ने जयपुर की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया। इसके कुछ समय बाद ही जगतसिंह दिसंबर, १८१८ में चल बसा।

नादर और रूपा बढ़ारण

जगतसिंह की मृत्यु के समय उसके कोई संतान नहीं थी। परंतु जगतसिंह की

भटियाणी रानी गर्भवती थी। इस समय मोहनराम नामक नादर राज्य का एक शक्तिशाली कारिंदा था। उसने स्थिति का फायदा उठाकर नरवर के मोहनसिंह को जयपुर का राजा घोषित कर दिया। वह ब्रिटिश सरकार से स्वीकृति प्राप्त करने में भी सफल हो गया। पर जब २५ अप्रैल, १८७९ को भटियाणी रानी के गर्भ से जयसिंह (तृतीय) का जन्म हुआ तो जयपुर के मुख्य-मुख्य सामंतों ने जयपुर की गद्दी पर मोहनसिंह के स्थान पर जयसिंह को बैठा दिया। अंततोगत्वा अंग्रेजों ने भी जयसिंह को जयपुर का राजा स्वीकार कर लिया। जयसिंह के शैशव-काल में भटियाणी रानी रीजेंट बनी और राव बैरीशाल मंत्री। परंतु राज्य की सारी ताकत इस समय भटियाणी रानी के कामदार झुंथाराम सिंगवी और दासी रूपा वढ़ारन के हाथ में थी। जयसिंह छोटी उम्र में ही ६ फरवरी, १८३५ को मरवा दिया गया। कहते हैं कि इस हत्या में झुंथाराम और उसके गुर्गों का हाथ था।

ब्लेक का कत्ल

जयसिंह (तृतीय) के स्थान पर रामसिंह गद्दी पर बैठा। वह भी नाबालिग था। अतः उसकी मां चंद्रावती रीजेंट बनी और झुंथाराम सिंगवी प्रधानमंत्री। कुछ समय बाद कर्नल आलविस जयपुर आया। उसने झुंथाराम और रूपा बढ़ारन को जेल में डाल दिया और प्रधानमंत्री का पद शिवसिंह को सौंप दिया। यह सूचना लेकर कर्नल आलविस अपने सहयोगी ब्लेक, लुडलो, और मेकनाटन के साथ माजी के महल में गया। वे उसे सूचना देकर वापस लौट रहे थे कि किसी ने आलविस पर हमला कर दिया और उसकी गर्दन में चोट पहुंचायी। ब्लेक ने कातिल को पकड़ लिया। इस पर सारे शहर में अफवाह उड़ गयी कि ब्लेक ने शिशु महाराजा को मार डाला। सारे शहर में विद्रोह की चिनगारी फैल गयी। ब्लेक किशनपोल बाजार के एक मंदिर में जा घुसा, जहां मीणों ने उसे मार डाला। शिवसिंह ने तुरंत शहर में शांति स्थापित की और कातिल मीणों को फांसी लगवा दी। ब्रिटिश सरकार ने जांच के लिए एक कमीशन बैठाया, जिसने झुंथाराम, हुक्मचंद, हिदायतुल्ला, शिवलाल और मानकचंद आदि लोगों को दोषी पाया। उन्हे फांसी की सजा दी गयी।

नव-निर्माण का युग

सवाई रामसिंह सन् १८५१ में वयस्क हो गया। उसे राज्य के समस्त अधिकार दे दिए गए। सन् १८५७ के गदर में रामसिंह ने अंग्रेजों को दिल खोलकर सहयोग दिया, जिसके फलस्वरूप अंग्रेजों ने रामसिंह को कोटकासिम का परगना प्रदान किया। रामसिंह सन् १८६४ में अजमेर दरबार में और १८७७ के दिल्ली दरबार में शामिल हुआ। वह १८ सितंबर, १८८० में निःसंतान मर गया। रामसिंह के शासन-काल में राज्य की बड़ी तरक्की हुई। उसने सन् १८७५ में अमानीशाह के नाले पर बांध बना कर जयपुर की जनता की पीने के पानी की समस्या को हल किया। उसने रामनिवास बाग, म्यूजियम, मेयो हॉस्पिटल, महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट्स, रामप्रकाश थियेटर

आदि महत्त्वपूर्ण इमारतें बनवायीं।

सवाई रामसिंह के स्थान पर इसरदा से कायमसिंह को लाया गया और उसे सवाई माधोसिंह (द्वितीय) के नाम से जयपुर की गद्दी पर बैठाया गया। उसे सन् १८८२ में पूर्ण अख्तियार मिल गए। वह सन् १९०३ और १९११ के दिल्ली-दरबार में शामिल हुआ। उसे सन् १९०८ में एडिनबरा विश्वविद्यालय से एल० एल० डी० की उपाधि प्रदान की गयी। वह ७ सितंबर, १९२२ को निःसंतान मर गया। उसके स्थान पर इसरदा के मोरमुकट सिंह को मानसिंह के नाम से गद्दी पर बैठाया गया। उसे मार्च, १९३१ में राज्य के पूर्ण अधिकार प्राप्त हुए।

जन-जागृति के अग्रदूत सेठी जी

जब हम जयपुर राज्य की जन-जागृति के इतिहास की चर्चा करते हैं तो सहज ही हमारा ध्यान श्री अर्जुनलाल सेठी की ओर जाता है। वे न केवल जयपुर राज्य के बल्कि सारे राजस्थान की जन-जागृति के जनक थे। उन्होंने सन् १९०२ में महाराजा कालेज, जयपुर से बी० ए० पास किया। वे मथुरा और सहारनपुर में कतिपय शिक्षण संस्थाओं में अध्यापक रहे। सन् १९०७ में उन्होंने जयपुर में वर्द्धमान विद्यालय की स्थापना की। इसी वर्ष उन्होंने सूरत-कांग्रेस में भाग लिया जहां वे लोकमान्य तिलक के संपर्क में आए। उन्होंने धीरे-धीरे वर्द्धमान विद्यालय को देश-भर के क्रांतिकारियों के प्रशिक्षण का एक प्रमुख केंद्र बना दिया। वे सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी नेता रासबिहारी बोस के संपर्क में आए। रासबिहारी बोस ने सेठी जी पर राजस्थान में सशस्त्र क्रांति के संगठन का भार डाला। क्रांतिकारियों ने भावी क्रांति के लिए धनोपार्जन करने की दृष्टि से डाके डालना शुरू किया। वर्द्धमान विद्यालय के एक शिक्षक विष्णुदत्त के नेतृत्व में चार विद्यार्थियों—सर्वश्री मोतीचंद, माणकचंद, जयचंद और स्वर्गीय श्री केशरीसिंह बारहट के सुपुत्र जोरावरसिंह ने बिहार के आरा जिले में निमेज के मठ पर डाका डाला। मठ का महंत मारा गया। सरकार ने सेठी जी को न केवल निमेज के महंत की हत्या के मामले में वरन् दिल्ली षड्यंत्र में भी फंसा दिया। सन् १९१४ में निमेज हत्याकांड का फैसला हुआ जिसमें मोतीचंद को फांसी की सजा हुई। सेठीजी इस मामले में बरी तो हो गए परंतु उन्हें जयपुर में नजरबंद रखा गया। यहां से उन्हें मद्रास प्रांत की बेलूर जेल में भेज दिया गया। इस जेल में राजनीतिक बंदियों के साथ दुर्व्यवहार को लेकर सेठी जी ने ७० दिन तक अनशन किया। ७ वर्ष की नजरबंदी के बाद सन् १९२० में सेठी जी को रिहा किया गया।

बेलूर जेल से रिहा होने के बाद सेठी जी ने अजमेर को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। वहां वे मध्यभारत सरकार द्वारा गिरफ्तार कर लिये गए। वे लगभग डेढ़ वर्ष तक मध्यप्रदेश की सिवनी जेल में रहे, जहां से रिहा होने के बाद पुनः अजमेर आए। केंद्रीय नेताओं के आदेश पर उन्होंने अजमेर में कांग्रेस की बागडोर संभाली। सेठी जी क्रांतिकारी विचारों के थे। अजमेर कांग्रेस के एक दल ने जो अपने-आपको गांधीवादी कहता था, सेठी जी की नीतियों का विरोध किया। प्रांतीय कांग्रेस के नेतृत्व के लिए

श्री हरिभाऊ उपाध्याय और सेठी जी में टक्कर हो गयी। सेठी जी हार गए। इस हार की उन पर इतनी प्रतिक्रिया हुई कि वे न केवल राजनीति से अलग हो गए वरन् महात्मा गांधी के कटु आलोचक बन गए। एक बार हरिजन आंदोलन के सिलसिले में महात्मा जी अजमेर आए तो वे सेठी जी से मिलने उनके निवास-स्थान पर पहुंच गए। सेठी जी गद्‌गद हो गए। उनका गांधी जी के प्रति सारा रोष समाप्त हो गया।

सेठी जी हिंदू-मुस्लिम एकता के जबरदस्त हिमायती थे। उन्होंने सांप्रदायिक दंगों में अल्पसंख्यकों की रक्षा-हेतु कई बार अपनी जान की बाजी लगा दी थी। वे २३ दिसंबर, १९४१ को इस संसार से चल बसे। उन्हें अपनी इच्छानुसार एक कब्र में दफनाया गया।

सन् १९२२ में हिंदी को राजभाषा बनाने के लिए जयपुर में एक आंदोलन हुआ, जिसमें कल्याणसिंह खाचरियावास और श्यामलाल वर्मा आदि कार्यकर्ताओं ने भाग लिया। सन् १९३१ में कुछ उत्साही युवकों ने जयपुर प्रजामंडल की स्थापना की। पर यह संस्था एक लंबे समय यक निर्जीव ही बनी रही। इन्हीं दिनों सीकर, तोरावाटी और उदयपुरवाटी में किसानों ने एक अपना संगठन बनाया। उन्होंने जागीरदारों के जुल्मों के विरुद्ध आंदोलन छेड़ा। इस संगठन के मुख्य कार्यकर्ता थे—हरलालसिंह, नेतरामसिंह, घासीराम और तारकेश्वर शर्मा आदि। इस आंदोलन के फलस्वरूप कई स्थानों पर गोलियां चलीं, जिसमें कई किसान मारे गए और कई कार्यकर्ता गिरफ्तार हुए।

खादी संघ की स्थापना

अखिल भारतीय कांग्रेस के कोषाध्यक्ष और महात्मा गांधी के अनन्य साथी सेठ जमनालाल बजाज मूलतः सीकर-निवासी थे। अतः उनका जयपुर से लगाव होना स्वाभाविक था। उन्होंने जयपुर राज्य में खादी का काम फैलाने के लिए श्री बी० एस० देशपांडे को नियुक्त किया। श्री देशपांडे ने राजस्थान में सन् १९२६ में चर्खा-संघ की स्थापना की और राज्य में खादी-उत्पादन के कार्य का थोड़े समय में भारी विस्तार किया। यह देशपांडे की ही देन थी कि जयपुर राज्य में जब-जब भी राजनीतिक आंदोलन चले तो खादी संघ के कार्यकर्ताओं ने आंदोलन में सक्रिय भाग लेकर जेलें भरीं।

वनस्थली विद्यापीठ

इन दिनों श्री हीरालाल शास्त्री जयपुर राज्य में एक उच्च पद पर आसीन थे। उन्होंने श्री अर्जुनलाल सेठी से प्रभावित होकर सन् १९२७ में राज्य सेवा से त्यागपत्र दे दिया। मई, १९२९ में उन्होंने वनस्थली में जीवन-कुटीर नामक संस्था की स्थापना की। इस संस्था को आधार बनाकर शास्त्री ने अक्तूबर, १९३५ में वनस्थली विद्यापीठ की आधारशिला रखी जो कालांतर में स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में

भारतवर्ष की एक प्रमुख संस्था बन गयी।

प्रजामंडल का आंदोलन

सन् १९३६-३७ में जयपुर राज्य प्रजामंडल का पुनर्गठन हुआ। इस कार्य के लिए वनस्थली से श्री हीरालाल शास्त्री को आमंत्रित किया गया और उन्हें प्रजामंडल का प्रधानमंत्री बनाया गया। प्रजामंडल के सभापति बने सुप्रसिद्ध एडवोकेट श्री चिरंजीलाल मिश्र। सन् १९३८ में प्रजामंडल का पहला अधिवेशन जयपुर में हुआ। इसके अध्यक्ष सेठ जमनालाल बजाज थे। उनके अध्यक्ष-पद स्वीकार करने से प्रजामंडल को बड़ा बल मिला। उनके अध्यक्ष-काल में राज्य में अकाल पड़ा। प्रजामंडल के कार्यकर्ता विभिन्न क्षेत्रों में राहत-कार्यों में लग गए। बजाज इन कार्यों की देखभाल करने के लिए वर्धा से जयपुर में आना चाहते थे। पर राज्य ने उनके जयपुर-प्रवेश पर रोक लगा दी। पर इस निषेधाज्ञा के बावजूद बजाज ने जयपुर राज्य में प्रवेश किया। वे १ फरवरी, १९३८ को गिरफ्तार किए जाकर नजरबंद कर दिए गए। बजाज के गिरफ्तार होते ही नागरिक-अधिकारों के प्रश्न को लेकर प्रजामंडल ने संघर्ष छेड़ दिया। सर्वश्री हीरालाल शास्त्री, चिरंजीलाल मिश्र, कपूरचंद पाटनी, बाबा हरिश्चंद्र, हंस डी० राय, रूपचंद सोगानी, टीकाराम पालीवाल, रामकरण जोशी और मुक्तिलाल मोदी आदि प्रमुख कार्यकर्ता गिरफ्तार कर लिये गए। उक्त गिरफ्तारियों के बाद सत्याग्रह का संचालन सर्वश्री दौलतमल भंडारी और देवीशंकर तिवारी ने किया। ६०० कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारियां हुईं। अंत में ७ अगस्त, १९३९ को सरकार और प्रजामंडल के बीच समझौता हो गया। प्रजामंडल की नागरिक-अधिकारों की मांग स्वीकार कर ली गयी। सेठ जमनालाल बजाज एवं प्रजामंडल के अन्य नेता व कार्यकर्ता बिना शर्त रिहा कर दिए गए। इस सत्याग्रह में राजस्थान चर्खा संघ एवं संघ के कर्मठ मंत्री श्री देशपांडे ने बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

'भारत छोड़ो' आंदोलन और जयपुर

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारत की स्वतंत्रता के प्रश्न को लेकर ब्रिटिश सरकार और अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बीच वार्ता टूट गयी। ८ और ९ अगस्त, १९४२ को बंबई में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई। इस बैठक में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध आंदोलन छेड़ने के लिए महात्मा गांधी को संपूर्ण अधिकार दे दिए गए। इस बार उन्होंने देशी राज्यों की जनता को भी संघर्ष में शामिल होने के लिए आह्वान किया। देशी राज्यों के कार्यकर्ताओं की एक अलग बैठक को संबोधित करते हुए महात्मा गांधी ने कहा कि ब्रिटिश भारत में आंदोलन का नारा होगा—'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' और देशी राज्यों में होगा 'देशी राज्यों के शासक, अंग्रेजों का साथ छोड़ो'। कार्यकर्ताओं की इस बैठक में मेवाड़ प्रजामंडल की ओर से श्री माणिक्यलाल वर्मा और जयपुर प्रजामंडल की ओर से श्री हीरालाल शास्त्री उपस्थित थे। बैठक की कार्यवाही की समाप्ति के तुरंत बाद रियासतों में भावी

आंदोलन की रूप-रेखा के संबंध में श्री हीरालाल शास्त्री और श्री माणिक्यलाल वर्मा के बीच जो संक्षिप्त चर्चा हुई उसका जिक्र श्री वर्मा ने अपनी दैनिक डायरी में निम्न शब्दों में किया है[1]—

> "···मैंने श्री हीरालाल शास्त्री से पूछा कि गांधी जी की सलाह के बारे में आपके क्या विचार हैं तो शास्त्री ने उत्तर दिया कि उनकी समझ में यह नहीं आता कि आखिर राजा लोग अंग्रेजों का साथ कैसे छोड़ देंगे !"

श्री शास्त्री ने बंबई से जयपुर लौटते ही राज्य के प्रधानमंत्री सर मिर्जा इस्माइल से राजनीतिक स्थिति पर चर्चा की । जैसा कि शास्त्री जी ने अपनी आत्मकथा 'प्रत्यक्ष जीवन-शास्त्र' में लिखा है, प्रजामंडल का जयपुर सरकार से एक अलिखित समझौता हो गया । श्री शास्त्री के अनुसार समझौते की रूपरेखा इस प्रकार थी :

१. जयपुर में ब्रिटिश-विरोधी और युद्ध-विरोधी प्रचार के लिए राष्ट्रीय झंडे के साथ प्रभात-फेरी व जुलूस निकाले जाएंगे तो राज्य सरकार की ओर से कोई बाधा नहीं पहुंचाई जाएगी ।
२. युद्ध के लिए अंग्रेजों को जयपुर राज्य की ओर से आगे जन-धन की नयी सहायता नहीं दी जाएगी ।
३. ब्रिटिश-भारत में चल रहे इस आंदोलन में सक्रिय भाग लेने वाले कोई भी लोग जयपुर राज्य में आएंगे तो उन्हें प्रजामंडल की ओर से सब तरह की सहायता दी जाएगी और राज्य सरकार उनमें से किसी को भी गिरफ्तार नहीं करेगी ।
४. जयपुर महाराजा की ओर से जनता को उत्तरदायी शासन देने की दृष्टि से कार्यवाही जल्दी से जल्दी शुरू की जाएगी ।
५. महाराजा की ओर से यह सब कुछ होगा तो जयपुर प्रजामंडल की ओर से महाराजा के खिलाफ सीधी कार्यवाही नहीं की जाएगी ।

इस समझौते को श्री शास्त्री की श्री वर्मा से हुई वार्ता की पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए । श्री शास्त्री का शुरू से ही यह मानस बन गया था कि 'भारत छोड़ो' आंदोलन में जयपुर को नहीं उलझाया जाना चाहिए । वे अपने इस दृष्टिकोण को जयपुर प्रजामंडल के अधिकतर कार्यकर्ताओं के गले उतारने में भी सफल हो गए । परंतु जयपुर प्रजामंडल में एक वर्ग ऐसा भी था जो किसी भी मूल्य पर जयपुर राज्य को अखिल भारतीय आंदोलन से पृथक् रखने को तैयार नहीं था । इस वर्ग के नेता थे—बाबा हरिश्चंद्र, सर्वश्री रामकरण जोशी, दौलतमल भंडारी और हंस डी० राय । श्री दौलतमल भंडारी ने १६ अगस्त, १९४२ को श्री शास्त्री आदि नेताओं से भेंट की और उनके सामने अपना दृष्टिकोण रखा । श्री शास्त्री ने श्री भंडारी का तर्क स्वीकार कर लिया और उन्होंने १७ अगस्त, १९४२ की शाम को एक सार्वजनिक सभा

१. शंकर सहाय सक्सेना, 'जो देश के लिए जिये', पृ० १४० ।

में आंदोलन का श्रीगणेश करने का वादा किया। पूर्व-निश्चित कार्यक्रम के अनुसार उक्त तारीख को जयपुर में सार्वजनिक सभा हुई। जनता श्री शास्त्री को सुनने को आतुर थी। श्री शास्त्री रंगमंच पर आए। परंतु उन्होंने अपने लंबे भाषण में आंदोलन छोड़ने की घोषणा करने के बजाय प्रजामंडल द्वारा जयपुर सरकार से हुए समझौते की व्याख्या करना शुरू कर दिया। जनता निराश होकर लौट गयी। असंतुष्ट गुट के नेताओं ने 'आजाद मोर्चा' कायम किया और आंदोलन छेड़ने का एलान कर दिया। आजाद मोर्चे के नेता गिरफ्तार कर लिये गए। इनमें सर्वश्री हरिश्चंद्र बाबा, गुलाबचंद कासलीवाल, दौलतमल भंडारी, चंद्रशेखर और राधेश्याम शर्मा आदि प्रमुख थे। सन् १९३९ की भांति राजस्थान चर्खा-संघ के कार्यकर्ताओं ने आजाद मोर्चे का साथ देकर आंदोलन में जान डाल दी। जयपुर की लाज बच गयी।

जयपुर प्रजामंडल द्वारा सन् १९४२ के 'भारत छोड़ो' आंदोलन में भाग नहीं लेना वर्षों तक विवाद का विषय बना रहा। इस संबंध में राजस्थान अभिलेखागार बीकानेर में जयपुर के तत्कालीन प्रधानमंत्री सर मिर्जा इस्माइल और पोलिटिकल एजेंट मेजर पोलटन तथा भारत के प्रसिद्ध उद्योगपति श्री घनश्यामदास बिड़ला के बीच हुए पत्र-व्यवहार का ब्योरा मिला है, जिससे पता चलता है कि सर मिर्जा श्री बिड़ला को माध्यम बनाकर श्री हीरालाल शास्त्री और जयपुर प्रजामंडल को सन् १९४२ के अखिल भारतीय आंदोलन से अलग रखने में सफल हो गए। सर मिर्जा ने अपनी इस सफलता की डींग मारते हुए २४ अगस्त, १९४२ को पोलिटिकल एजेंट मेजर पोल्टन को अपने एक पत्र में लिखा कि "**इस बात पर विश्वास करने के लिए अच्छे कारण हैं कि जयपुर प्रजामंडल अखिल भारतीय कांग्रेस के साथ आंदोलन में भाग नहीं लेगा।**" श्री बिड़ला ने अपने ११ सितंबर, १९४२ के पत्र में सर मिर्जा को उसकी सफलता पर शाबाशी देते हुए लिखा कि यह आपके ही कारण संभव हुआ है कि जयपुर राज्य में शांत वातावरण रह पाया है, यद्यपि इसमें शक नहीं कि इस कार्य में शास्त्री जी ने बड़ी सहायता की है। मैं बराबर उनसे संपर्क बनाए हुए हूं।[1]

'आजाद मोर्चे' के नेता और कार्यकर्ता कुछ महीनों बाद जेल से रिहा हो गए। देश में बदलते हुए हालातों को ध्यान में रखते हुए महाराजा ने जयपुर राज्य में विधान-सभा और प्रतिनिधि-सभा की स्थापना की। इन्हीं दिनों जयपुर में पी० ई० एन० कान्फ्रेंस हुई जिसमें भाग लेने के लिए पंडित जवाहरलाल नेहरू भी आए। इस अवसर पर पंडित नेहरू के आग्रह पर बाबा हरिश्चंद्र ने 'आजाद मोर्चा' भंग कर दिया। १५ मई, १९४६ को सरकार ने प्रजामंडल के प्रतिनिधि के रूप में श्री देवीशंकर तिवाड़ी को मंत्रिमंडल का एक सदस्य नियुक्त किया। लगभग एक वर्ष बाद प्रजामंडल के एक और प्रतिनिधि श्री दौलतमल भंडारी मंत्रिमंडल में शामिल किए गए। २७ मार्च, १९४७ को जयपुर राज्य में शासन-सुधारों की एक और महत्त्वपूर्ण घोषणा की गयी जिसके अनुसार जयपुर राज्य में एक नया मंत्रिमंडल बनाया गया।

१. प्रो० शंकर सहाय सक्सेना, 'जो देश के लिए जिये', पृ० १४४-४८।

इसमें दीवान सहित ७ मंत्री थे जिनमें से प्रजामंडल के ४ और जागीरदार वर्ग के दो प्रतिनिधि शामिल किए गए। श्री शास्त्री मुख्यमंत्री बने परंतु मंत्रिमंडल की अध्यक्षता महाराजा द्वारा नियुक्त दीवान करता रहा।

जयपुर का विलय

जयपुर राज्य देश के उन कतिपय राज्यों में से था जिसने आगे होकर भारतीय संघ में शामिल होना स्वीकार किया और भारतीय संविधान सभा में अपने प्रतिनिधि भेजे। परंतु नवंबर, १९४८ में जब जयपुर आदि रियासतों का राजस्थान में विलय का प्रश्न उठा तो जयपुर के महाराजा और दीवान सर वी० टी० कृष्णमाचारी ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। वे चाहते थे कि अलवर और करौली को जयपुर में मिलाकर उसे एक अलग इकाई के रूप में रहने दिया जाए। पर न तो राजस्थान का नेतृत्व ही इसके लिए तैयार था और न रियासती मंत्रालय ही। अंत में महाराजा जयपुर इस शर्त पर जयपुर को राजस्थान में मिलाने के लिए तैयार हुए कि जयपुर-नरेश को राजस्थान का राजप्रमुख और जयपुर नगर राजधानी बनायी जाए। रियासती मंत्रालय ने उस समय महाराजा को ऐसा कोई वचन तो नहीं दिया, परंतु कुल मिलाकर हुआ वही जो महाराजा जयपुर चाहते थे। जयपुर राजस्थान की राजधानी बन गया। जयपुर महाराजा जीवनपर्यन्त राजप्रमुख बने। जयपुर के मुख्यमंत्री श्री हीरालाल शास्त्री इस पुनर्गठित राजस्थान के मुख्यमंत्री-पद पर आसीन हुए। ७ अप्रैल, १९४९ को राजपूताना की अन्य रियासतों की तरह जयपुर भी राजस्थान राज्य का एक अंग बन गया। जयपुर राज्य का अस्तित्व समाप्त हो गया।

अलवर

११वीं शताब्दी के अंत में मेवात का स्वामी महेश अजमेर के बीसलदेव चौहान के अधीन हो गया था। महेश के वंशज मंगल को दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान ने हराया था। सुल्तान गयासुद्दीन बलबन के समय मेवातियों ने दिल्ली और आसपास के क्षेत्र में बड़ा उपद्रव मचा रखा था। अतः बलबन ने सन् १२६५ में मेवातियों का इस सख्ती के साथ दमन किया कि मेवाती आगामी १०० वर्षों तक सिर नहीं उठा सके। मेवात में उस समय मेवों का बाहुल्य था। वे मूलतः हिंदू थे। पर १४वीं शताब्दी में मुसलमान बन गए। १४वीं और १५वीं शताब्दी में मेवातियों को दिल्ली के सुल्तानों के अनेक आक्रमणों का सामना करना पड़ा। सन् १४५० में मेवात के शासक अहमद खां ने सुल्तान बहलोल लोदी की अधीनता स्वीकार की। सन् १४८२ में अलावत खां खानदाजा ने अलवर निकुंभ राजपूतों से छीनकर उसे अपनी राजधानी बनाया। उसके पुत्र सुप्रसिद्ध मेव सरदार हसन खां मेवाती सन् १५२६ में पानीपत की लड़ाई में इब्राहीम लोदी की ओर से और सन् १५२७ में खानवा की लड़ाई में राणा सांगा की ओर से बाबर के विरुद्ध लड़ा था। वह खानवा की लड़ाई में १७ मार्च, १५२७ को वीरगति को प्राप्त हुआ। इसके साथ ही मेवात में मेवातियों

के शासन का अंत और मुगलों का आधिपत्य हो गया। शेरशाह सूरी का प्रसिद्ध सेनापति और कुशल प्रशासक हेमू बनिया इसी क्षेत्र में स्थित माछेड़ी नामक स्थान का निवासी था। उसने मुगल बादशाह हुमायूं के दांत खट्टे कर दिए थे। बाद में यही हेमू हुमायूं के उत्तराधिकारी अकबर द्वारा परास्त हुआ और बंदी-अवस्था में मार दिया गया। इसके बाद मेवात पर पुनः मुगलों का पूर्ण आधिपत्य हो गया।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद धीरे-धीरे मुगल सल्तनत कमजोर होती गयी। फलतः जाटों ने मेवात के कई इलाकों पर अधिकार कर लिया। परंतु सन् १७६९ में मुगल सेनापति मिर्जा नजफ खां ने माचेड़ी के राव प्रतापसिंह नरूका की सहायता से अलवर पर पुनः कब्जा कर लिया। यही प्रतापसिंह आगे जाकर अलवर राज्य का एक स्वतंत्र शासक बन गया।

माचेड़ी के नरूका

माचेड़ी के नरूका आमेर के कछवाहों के वंशज थे। आमेर के राजा उदयकरण के दो पुत्र थे। बड़ा पुत्र बरसिंह आमेर की गद्दी का हकदार था। परंतु अपने पिता की इच्छानुसार उसने आमेर की गद्दी पर अपना हक अपने छोटे भाई नरसिंह के पक्ष में छोड़ दिया। बरसिंह को आमेर की ओर से मोजमाबाद की जागीर दी गयी। बरसिंह के पौत्र नरू के नाम पर उसके वंशज नरूका कहलाए। नरू के पुत्र लाला को आमेर के राजा भारमल ने 'राव' की उपाधि दी। लाला की चौथी पीढ़ी में मोजमाबाद का स्वामी कल्याणसिंह हुआ। मेवों को दबाने के उपलक्ष्य में आमेर के राजा रामसिंह ने सन् १७६१ में कल्याणसिंह को अलवर के इलाके में माचेड़ी सहित ढाई गांव दिए। कल्याणसिंह के बाद क्रमशः उग्रसिंह, हाथीसिंह, मुकुंदसिंह, तेजसिंह, जोरावरसिंह और मोहबतसिंह माचेड़ी के स्वामी बने।

राव प्रतापसिंह

मोहबतसिंह की मृत्यु पर उसका पुत्र प्रतापसिंह सन् १७५६ में माचेड़ी की गद्दी पर बैठा। इस समय जयपुर (आमेर) का महाराजा सवाई माधोसिंह प्रथम था। प्रतापसिंह शुरू में माधोसिंह की सेवा में रहा। उसने सबसे पहले उणियारा के उपद्रवी नरूकों का दमन किया। नवंबर, १७५९ में जयपुर और मराठों के बीच काकोड़ नामक स्थान पर हुए युद्ध में राव प्रतापसिंह ने बड़ी वीरता दिखाई। इससे जयपुर के दरबार में प्रतापसिंह का दबदबा बढ़ गया। स्वयं महाराजा उससे सशंकित हो उठा। उसने प्रतापसिंह को मरवाने का षड्यंत्र रचा, पर वह किसी तरह बचकर भरतपुर के राजा सूरजमल जाट की सेवा में चला गया। इस पर माधोसिंह ने उसकी माचेड़ी की जागीर जब्त कर ली। इसके बावजूद सन् १७६८ में मांडवा के युद्ध में राव प्रतापसिंह ने भरतपुर के विरुद्ध जयपुर का साथ दिया। युद्ध में भरतपुर की हार हुई। उसके स्वामी जवाहरसिंह को युद्धक्षेत्र छोड़कर भागना पड़ा। इस युद्ध में प्रतापसिंह की बहादुरी से प्रसन्न होकर माधोसिंह ने उसे माचेड़ी की जागीर लौटा

दी और उसे 'रावराजा' की पदवी से विभूषित किया। इस घटना के कुछ समय बाद सवाई माधोसिंह मर गया। उसके स्थान पर उसका नाबालिग पुत्र पृथ्वीसिंह जयपुर की गद्दी पर बैठा।

नये राज्य की स्थापना

प्रतापसिंह नरूका एक महत्त्वाकांक्षी सामंत था। पृथ्वीसिंह की बाल्यावस्था का लाभ उठाकर उसने मुगलों से संपर्क स्थापित कर लिया। भरतपुर के राजा जवाहरसिंह के विरुद्ध अभियान में प्रतापसिंह ने मुगल सेनापति नजफ खां की बड़ी सहायता की। फलतः नजफ खां की सिफारिश पर बादशाह शाह आलम द्वितीय ने उसे 'रावराजा' की उपाधि, ५ हजारी मनसब और शाही मनसब प्रदान किया। इस प्रकार प्रतापसिंह जयपुर से स्वतंत्र हो गया। २५ नवंबर, १७७५ को प्रतापसिंह ने अलवर भरतपुर के जाट शासक से छीन लिया। अब उसने माचेड़ी के स्थान पर अलवर को अपने राज्य की राजधानी बनाया।

प्रतापसिंह की हार

जयपुर से अलग हो जाने के बावजूद प्रतापसिंह अपने-आपको जयपुर के युवा महाराज पृथ्वीसिंह का 'संरक्षक' समझता था और जयपुर राज्य के शासन-प्रबंध में हस्तक्षेप करता रहता था। इससे जयपुर और प्रतापसिंह के बीच तनाव बढ़ता गया। सन् १७७८ में मुगलों और जयपुर की सेना ने रसिया नामक स्थान पर प्रतापसिंह पर हमला किया। प्रतापसिंह भाग गया। उसकी २० लाख की संपत्ति और तोपें मुगलों के हाथ लगीं। अंत में मुगल सेनापति नजफ खां ने २ लाख हर्जाना लेकर प्रतापसिंह से संधि कर ली।

राज्य का विस्तार

सन् १७७८ में सवाई पृथ्वीसिंह की मृत्यु हो गयी। उसके स्थान पर उसका छोटा भाई प्रतापसिंह जयपुर की गद्दी पर बैठा। प्रतापसिंह नरूका ने पृथ्वीसिंह के एक पुत्र मानसिंह को जयपुर की गद्दी का दावेदार खड़ा कर दिया। उसने मानसिंह को जयपुर की गद्दी पर बैठाने के लिए मरहठों से मिलकर अनेक प्रयत्न किए। पर उसे कामयाबी नहीं मिली। प्रतापसिंह नरूका महादाजी सिंधिया को जयपुर पर आक्रमण करने के लिए उकसाता रहा। फलतः मरहठों और जयपुर के बीच सन् १७८७ में तूगा नामक स्थान पर लड़ाई हुई। जोधपुर की सहायता से जयपुर इस लड़ाई में मरहठों को हराने में सफल हुआ। परंतु जून, १७९० में महादाजी सिंधिया ने पाटन के युद्ध में जयपुर को हराकर तूगा की लड़ाई का बदला चुका लिया। इस वक्त अवसर का लाभ उठाकर प्रतापसिंह नरूका ने जयपुर के कुछ इलाके हस्तगत कर लिये। वह पाटन के युद्ध के कुछ ही महीनों बाद २६ दिसंबर, १७९० को मर गया।

प्रतापसिंह का व्यक्तित्व

राव प्रतापसिंह वीर, साहसी और कूटनीतिज्ञ था। वह एक साधारण जागीरदार होते हुए भी अपने साहस और बल-बुद्धि के कारण एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना करने में सफल हो गया। उसने जयपुर और मरहठों को आपस में लड़ाकर अपने नवस्थापित राज्य की नींव सुदृढ़ कर ली।

राव बख्तावरसिंह

प्रतापसिंह के कोई संतान नहीं थी। परंतु उसने जीते-जी थाना के जागीरदार धीरसिंह के पुत्र बख्तावरसिंह को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। अतः प्रतापसिंह की मृत्यु के बाद बख्तावरसिंह अलवर का स्वामी बना। वह उस समय केवल १५ वर्ष का था। बख्तावरसिंह के गद्दी पर बैठते ही स्वर्गीय राव प्रतापसिंह के एक दीवान रामसेवक ने राज्य में विद्रोह करवा दिया और साथ ही मरहठों को आमंत्रित कर राजगढ़ के दुर्ग पर घेरा डलवा दिया। बख्तावरसिंह ने रामसेवक को मरवाकर आंतरिक विद्रोह को फुर्ती से दबा दिया और साथ ही मरहठों को समझा-बुझाकर राजगढ़ का घेरा उठवा दिया।

अंग्रेजों से संधि

इधर जयपुर के महाराजा सवाई प्रतापसिंह अलवर से इसलिए नाराज था कि उसने जयपुर के कई इलाके दबा रखे थे। महाराजा ने तुकोजी होल्कर की सहायता से खुशालगढ़ और कामा आदि किलों पर पुनः अधिकार कर लिया। यही नहीं सन् १७९३ में बख्तावरसिंह कुचामन से शादी कर लौटते हुए जयपुर ठहरा तो सवाई प्रतापसिंह ने उसे गिरफ्तारी का भय दिखाकर उससे कई इलाके छीन लिये, जो पहले जयपुर के थे। सन् १८०३ में सिंधिया की सेना ने कठूमर के दुर्ग पर अधिकार कर लिया और वहां पर नियुक्त सभी राजपूतों का सफाया कर दिया। इस समय देश में अंग्रेजों का दबदबा बढ़ चुका था। चारों तरफ के संकटों से अपने-आपको घिरा पाकर बख्तावरसिंह ने अंग्रेजों को सहायता के लिए आमंत्रित किया। अंग्रेज इस अवसर का इंतजार कर रहे थे। ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना ने जनरल लेक के नेतृत्व में कठूमर पर आक्रमण किया और मरहठों को भगा दिया। जनरल लेक का मरहठों से दूसरा मुकाबला नवंबर, १८०३ में अलवर से २० मील दूर लासवाड़ी नामक स्थान पर हुआ। मरहठे हार कर भाग गए। अंग्रेजों को इस युद्ध में अलवर की सेना की सहायता मिली। इस उपलक्ष्य में अंग्रेजों ने बख्तावरसिंह को राठ, हरियाणा और मेवात के कुछ इलाके दिए। अलवर के वकील अहमदबक्ष खां द्वारा मिली सहायता के बदले अंग्रेजों ने बसे लुहारू और फिरोजपुर के इलाके का नवाब बना दिया। लासवाड़ी के युद्ध की समाप्ति के बाद १४ नवंबर, १८०३ को अलवर और ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच एक संधि हो गयी, जिसके अनुसार संकट के समय एक-दूसरे को सैनिक एवं अन्य सहायता देना तय हुआ। इस संधि के फलस्वरूप अंग्रेजों ने अलवर

को कई इलाके दिए, जिससे अलवर राज्य का विस्तार हो गया। यही नहीं, अलवर अब जयपुर और मरहठों के हमलों से भी सुरक्षित हो गया।

अंग्रेजों का वर्चस्व

सन् १८११ में तिजारा के मेवों ने उपद्रव किया। इस पर अंग्रेजों ने सेना भेजकर उन्हें दबा दिया। उसी वर्ष बख्तावरसिंह ने खुशालीराम बोहरा को जयपुर का मंत्री बनाने के लिए जयपुर पर सेना भेजी। अंग्रेजों के विरोध करने पर यह सेना वापस बुला ली गयी। पर बख्तावरसिंह की अपनी इस मूर्खतापूर्ण कार्यवाही के कारण उसे अंग्रेजों से १६ जुलाई, १८११ को एक नयी संधि करनी पड़ी जिसके अनुसार उस पर यह पाबंदी लगा दी गयी कि वह बिना अंग्रेज सरकार की स्वीकृति के अन्य राज्यों से राजनीतिक व्यवहार नहीं रखेगा।

सन् १८१२ में बख्तावरसिंह ने जयपुर के कुछ इलाकों पर अधिकार कर लिया। पर जब अंग्रेजों ने धमकी दी कि यदि ये इलाके जयपुर को वापस नहीं लौटाए तो न केवल अंग्रेजों द्वारा अलवर को दिए गए इलाके वापस ले लिये जाएंगे वरन् सारा अलवर राज्य ही अंग्रेजी राज्य में मिला दिया जाएगा। बख्तावरसिंह ने तुरंत ये इलाके पुनः जयपुर को सौंप दिए।[1]

बख्तावरसिंह अपने अंतिम दिनों में मुसलमानों का कट्टर विरोधी हो गया।[2] उसने कई कब्रें खुदवा दीं। विरोध करने वाले फकीरों के नाक-कान कटवा दिए। मस्जिदों में अजान देना बंद करवा दिया। महाराजा की इन हरकतों के विरुद्ध अंग्रेजों के पास शिकायतें पहुंचीं। परंतु उनके द्वारा कोई कार्यवाही करने के पूर्व ही बख्तावर-सिंह ११ फरवरी, १८१५ को इस संसार से चल बसा।

महाराव बन्नेसिंह

महाराव बख्तावरसिंह का कोई औरस पुत्र नहीं था। अतः उसकी मृत्यु पर राजमाता एवं राजपूत सरदारों ने थाना के सलेहसिंह के पुत्र बन्नेसिंह को गोद लेने का निर्णय किया। बन्नेसिंह की उम्र उस समय केवल ७ वर्ष की थी। बख्तावरसिंह की पासवान मूसी से एक लड़का पैदा हुआ था, जिसका नाम बलवंतसिंह था। अहमदबक्ष खां आदि कुछ प्रभावशाली लोग बलवंतसिंह को गद्दी पर बैठाना चाहते थे। अंत में २१ फरवरी, १८१५ को बन्नेसिंह और बलवंतसिंह दोनों ही सम्मिलित रूप से गद्दी पर बैठाए गए। अंग्रेज सरकार ने दोनों के लिए खिलअत भेजते हुए यह आदेश दिया कि शासन बन्नेसिंह के नाम से चलाया जाएगा परंतु राजकाज बलवंत-सिंह करेगा। इस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें हो गयीं। यह व्यवस्था सन् १८२४ तक चलती रही। परंतु इसी बीच दोनों में झगड़े चलते रहे। अंत में अंग्रेज सरकार

१. एचीसन, 'ट्रिटीज, एंगेजमेंट्स एंड सनद्स', जिल्द ३, पृ० ३४६।
२. पावलेट, 'अलवर गजेटियर', पृ० २०।

ने २१ फरवरी, १८२६ को दोनों के बीच यह समझौता करा दिया कि तिजारा, टपूकड़ा और मुंडावर आदि इलाके बलवंतसिंह को दे दिये जाएं। लेकिन यदि बलवंतसिंह निःसंतान मर जाए तो ये इलाके पुनः अलवर में शामिल कर लिये जाएं। बलवंतसिंह सन् १८४५ में निःसंतान मर गया और तिजारा आदि इलाके पुनः अलवर राज्य में शामिल कर लिये गए। अब बन्नेसिंह बालिग भी हो गया था। अतः उसे पूरे अधिकार प्राप्त हो गए।

बन्नेसिंह के शासन-काल में शासन-व्यवस्था बिगड़ने लगी। इस पर अंग्रेजों ने महाराव को शासन-प्रबंध में सुधार लाने के लिए चेतावनी दी। सन् १८३८ में महाराव ने दिल्ली के रेजिडेंट की सलाह से उसके सरिश्तेदार अम्मूजान को दीवान नियुक्त किया। अम्मूजान ने पद संभालते ही राजकाज की भाषा हिंदी के बदले फारसी कर दी। उसने दीवानी तथा फौजदारी अदालतें स्थापित कीं। राज्य में विक्रम संवत् के बजाय हिजरी सन् लागू कर दिया। उसने राज्य की आमदनी भी बढ़ायी। परंतु साथ ही वह स्वयं के लिए नाजायज तरीकों से धन भी बटोरने लगा। महाराव को जब सन् १८५१ में अम्मूजान की इन हरकतों का पता चला तो उसने अम्मूजान व उसके भाइयों को गिरफ्तार कर लिया और उससे ७ लाख रुपये वसूल कर फिर रिहा किया। उसके स्थान पर मिर्जा इस्फजयार अलवर का प्रधानमंत्री बना। पर सन् १८५६ में महाराव ने अम्मूजान को बुलाकर पुनः प्रधानमंत्री बनाया।

सन् १८५७ में देशव्यापी सैनिक-विद्रोह हुआ। इस विद्रोह में आगरा के किले में घिरे हुए अंग्रेजों की स्त्रियों व बच्चों की सहायता के लिए बन्नेसिंह ने पैदल सैनिक, घुड़सवार और तोपें भेजीं। परंतु अलवर की इस सेना से अंग्रेजों को विशेष राहत नहीं मिली। इस सेना को अचनेरा के पास विद्रोही सैनिकों ने घेर लिया। अलवर की सेना के कई अफसर व सैनिक मारे गए। इसी बीच ११ जुलाई, १८५७ को बन्नेसिंह मर गया।

बन्नेसिंह ने अपने राज्य-काल में शेख सादी का सचित्र गुलिस्तां १ लाख रुपये खर्च कर तैयार करवाया। उसने सन् १८४२ में अलवर में एक हाईस्कूल स्थापित किया। उसने कई महल बनवाए और रूपारेल नदी पर सीलीसेढ़ नामक बांध बनवाया।

महाराव शिवदानसिंह

बन्नेसिंह के स्थान पर उसका पुत्र शिवदानसिंह १५ जुलाई, १८५७ को अलवर की गद्दी पर बैठा। उस समय उसकी आयु केवल १२ वर्ष की थी। बन्नेसिंह के राज्यकाल में मुसलमान कर्मचारी राज्य-दरबार में छा गए थे। महाराव की नाबालिगी में अम्मूजान का दबदबा और भी बढ़ गया। महाराव स्वयं राजपूतों और हिंदुओं से घृणा करता था और मुसलमान बालक-बालिकाओं से घिरा रहता था। यही नहीं, शिवदानसिंह ने मुसलमान बनकर अम्मूजान की पुत्री से शादी करने की सोची। परंतु इस योजना के कार्यान्वित होने के पूर्व ही राजपूतों ने बीजवाड़ा के

जागीरदार लखधीरसिंह के नेतृत्व में एक रात्रि को अम्मूजान के घर को घेर लिया। राजपूतों ने अम्मूजान और उसके रिश्तेदारों को गिरफ्तार कर राज्य के बाहर निकाल दिया। जब ए० जी० जी० को इन घटनाओं की सूचना मिली तो उसने लखधीरसिंह की अध्यक्षता में रीजेंसी कौंसिल की स्थापना की। परंतु थोड़े समय बाद पोलिटिकल एजेंट इम्पी ने रीजेंसी कौंसिल को भंग कर राज्य के समस्त अधिकार अपने हाथ में ले लिये। इम्पी ने राज्य की आय बढ़ाकर २० लाख तक कर दी। उसने राज्य में बंदोबस्त करवाया और अपने नाम से एक तालाब भी बनवाया।

अंग्रेजों का दखल

सन् १८६३ में शिवदानसिंह बालिग हो गया और उसे शासन के पूरे अधिकार प्राप्त हो गए। अब वह फिर अम्मूजान की सलाह से शासन चलाने लगा। मुसलमान पुनः राजकाज में छा गए और महाराव स्वयं ऐश-आराम में पड़ गया। महाराव ने ड्यूक ऑफ एडिनबरा के अलवर आगमन पर लाखों रुपये खर्च किए। वैसे भी महाराव बहुत खर्चीला था। अतः राज्य पर लाखों का कर्ज हो गया। उसने कई जागीर और माफियां जब्त कर लीं। उसने राजपूतों की बॉडीगार्ड सेना में कमी कर दी। इन सब बातों से जागीरदारों में अशांति फैल गयी। उन्होंने खेडली के जागीरदार जवाहरसिंह के नेतृत्व में रामदल नामक एक संगठन बनाया और उसके द्वारा महाराव का संगठित विरोध किया। अंग्रेजों ने महाराव और जागीरदारों के बीच समझौता कराने का प्रयास किया। परंतु महाराव ने एक नहीं सुनी। अतः अंग्रेज सरकार ने कैप्टेन क्रेडल की अध्यक्षता में ५ सरदारों की एक राज्य-परिषद् नियुक्त की, जिसे शासन के सब अधिकार दे दिए गए। इस प्रकार महाराव के अधिकार छिन गए। महाराव ने कुछ जागीरदारों से मिलकर अंग्रेजों का विरोध किया। इस पर अंग्रेजों ने धमकी दी कि यदि उसने अपना वतीरा नहीं बदला तो उसे अलवर से निकाल दिया जाएगा। इस पर महाराव शांत हो गया।[1] महाराव ११ अक्तूबर, १८७४ को मर गया।

महाराजा मंगलसिंह

महाराव शिवदानसिह के कोई पुत्र नहीं होने से थाना के हरदेवसिंह का पुत्र मंगलसिंह ४ दिसंबर, १८७४ को अलवर की गद्दी पर बैठाया गया। उस समय वह केवल १५ वर्ष का था। उसकी नाबालिगी के दौरान पोलिटिकल एजेंट और राज्य-परिषद् शासन चलाती रही। सन् १८७५ में राजकुमारों की शिक्षा के लिए अजमेर में मेयो कालेज की स्थापना हुई। महाराव मंगलसिंह को विद्या-अध्ययन हेतु मेयो कालेज अजमेर भेजा गया। वह उस कालेज में भर्ती होने वाला पहला विद्यार्थी था। परंतु वह साल-भर बाद ही कालेज छोड़कर अलवर लौट आया। सन् १८८७ में

१. 'वीर विनोद', पृ० १३६०।

उसने अलवर में एक जनाना अस्पताल बनवाया। अगले ही वर्ष अंग्रेज सरकार ने महाराजा को वंश-परंपरागत महाराजा की उपाधि से विभूषित किया। मई, १८९२ में महाराजा के इशारे पर राज्य-परिषद् के एक सदस्य कुंजबिहारीलाल की हत्या कर दी गयी। इसके अगले ही दिन महाराजा स्वयं नैनीताल में मर गया।

महाराजा जयसिंह

मंगलसिंह के स्थान पर उसका पुत्र जयसिंह २३ मई, १८९२ को अलवर राज्य का उत्तराधिकारी बना। अलवर राज्य के संस्थापक राव प्रतापसिंह नरूका की मृत्यु के बाद लगातार यह पांचवां शासक था जो वयस्क अवस्था में अलवर की गद्दी पर बैठा। जयसिंह की उम्र इस समय केवल १० वर्ष की थी। अतः राज्य का शासन-प्रबंध पोलिटिकल एजेंट की देख-रेख में एक रीजेंसी कौंसिल को सौंपा गया। जयसिंह को शिक्षा हेतु मेयो कालेज अजमेर में भर्ती करा दिया गया। रीजेंसी कौंसिल ने अपने ८ वर्ष के शासन-काल में राज्य की आर्थिक व्यवस्था सुदृढ़ बनायी और राज्य में जयेंद्र बैंक की स्थापना की।

सामाजिक सुधार

१० दिसंबर, १९०३ को बालिग होने पर महाराजा को शासनाधिकार प्राप्त हुए। महाराजा ने शासन-प्रबंध संभालते ही न्यायपालिका को कार्य-पालिका से पृथक कर दिया। उसने राज्य में बाल-विवाह और अनमेल विवाह पर रोक लगाकर एक ऐसे सुधार का श्रीगणेश किया जो आगे जाकर शारदा-एक्ट के रूप में देश के सामने आया। उसने मृत्यु-भोज पर रोक लगा दी। उसने इस रोक का राजघराने में भी कड़ाई से पालन किया।

बांधों का निर्माण

रूपारेल नदी के पानी के उपयोग के संबंध में अलवर और भरतपुर राज्यों के बीच एक लंबे समय से विवाद चल रहा था। जयसिंह सन् १९०५ में भारत सरकार के माध्यम से इस विवाद का हल निकलवाने में सफल हुआ। इससे अलवर राज्य की यथेष्ट भूमि को सिंचाई का लाभ हुआ। महाराजा ने ५० लाख रुपए की लागत से जयसमंद, प्रेम सिंधु, मानसरोवर और हंस-सरोवर आदि बांध बनवाकर राज्य में सिंचाई के साधनों का व्यापक विस्तार किया। भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने महाराजा के इस कार्य की प्रशंसा करते हुए फरवरी, १९२० में कहा था कि महाराजा ने अनेक बांध बनवाकर अलवर राज्य को अकाल के भय से मुक्त कर दिया है।

शासन-सुधार

सन् १८३८ में महाराव बन्नेसिंह और उसके दीवान अम्मूजान ने राज्य की

भाषा हिंदी से बदलकर फारसी (उर्दू) कर दी थी। महाराजा जयसिंह ने ७० वर्ष बाद सन् १९०८ में उर्दू के स्थान पर राजभाषा पुनः हिंदी कर दी। वह मातृभाषा हिंदी का कट्टर पक्षपाती था। उसने यह आज्ञा जारी कर दी कि देवनागरी (हिंदी) से अनभिज्ञ किसी व्यक्ति को राज्य-सेवा में न लिया जाए। इस आज्ञा के फलस्वरूप राज्य में छोटे-बड़े सभी कार्यालयों में हिंदी में कामकाज होने लगा। महाराजा के राज्य में ग्राम-पंचायतों का जाल बिछा दिया गया। उसने पंचायतों को दीवानी तथा फौजदारी अधिकार देकर उन्हें सशक्त बनाने का प्रयत्न किया। उसने अलवर नगर में सड़कों, बगीचों और विभिन्न सरकारी भवनों के नाम शुद्ध हिंदी में रखे।

महाराजा ने जनवरी, १९२९ में अपनी गद्दीनशीनी के २५ वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में रजत-जयंती मनायी। इस अवसर पर अन्य आयोजनों के अलावा गोवर्धन-मठ के जगतगुरु शंकराचार्य के सान्निध्य में महाविष्णु-यज्ञ किया गया। जगतगुरु ने महाराजा को 'राजऋषि' की उपाधि से विभूषित किया। इन दिनों अलवर में एक औद्योगिक तथा कृषि-प्रदर्शनी लगायी गयी।

किसान आंदोलन

अलवर राज्य में जन-जागृति की शुरुआत किसान-आंदोलनों से शुरू हुई। राज्य में जंगली सूअरों को नाज़ खिलाकर रोंधों में पाला जाता था। ये सूअर किसानों की खड़ी फसलों को बरबाद कर देते थे। इनके मारने पर राज्य ने पाबंदी लगा रखी थी। सूअरों के उत्पात से दुखी होकर सन् १९२१ में किसानों ने आंदोलन किया। महाराजा को झुकना पड़ा। रोंधों को उठा दिया गया और सूअर मारने की इजाजत दे दी गयी।

नामूचाना हत्याकांड

सन् १९२४ में राज्य ने लगान में वृद्धि कर दी। किसानों ने लगान-वृद्धि के विरुद्ध जगह-जगह प्रदर्शन किए। २४ मई, १९२५ को अलवर से २५ मील दूर नीमूचाना नामक गांव में लगान-वृद्धि के विरोध में किसानों और बिस्वेदारों ने एक सभा का आयोजन किया। राज्य की सेना ने गांव को घेरकर गोली चलाना शुरू कर दिया। फलस्वरूप सैकड़ों स्त्री-पुरुष और बच्चे मारे गए। बाद में सेना ने गांव में आग लगाकर झोंपड़ों और पशुओं को जला डाला। सारे देश में इस कांड की कड़ी निंदा की गयी। महात्मा गांधी ने इस कांड को जलियांवाला कांड से भी अधिक बीभत्स बताते हुए इसे 'डायरिज़्म डबल डिस्टिल्ड' की संज्ञा दी। इस कांड से महाराजा जयसिंह की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा को राज्य और उसके बाहर भी बड़ा धक्का लगा।

सामाजिक चेतना

इन दिनों स्व० पं० हरिनारायण शर्मा ने अस्पृश्यता-निवारण संघ, वाल्मिकी सभा और आदिवासी सेवा-संघ जैसी स्वयंसेवी संस्थाएं स्थापित कर राज्य में सामा-

जिक चेतना का श्रीगणेश किया। शर्मा ने अपना मंदिर हरिजन प्रवेश के लिए खोल दिया। रियासतों में उस जमाने में इस प्रकार की घटनाएं असाधारण मानी जाती थीं। शर्मा के प्रयत्नों से हिंदी के प्रचार के लिए राज्य-भर में हिंदी-परिषदें गठित हो गयी थीं। शर्मा ने राज्य में खादी-उत्पादन के कार्य को भी आगे बढ़ाया।

सांप्रदायिक दंगे

महाराव बन्नेसिंह के जमाने से ही राज्य में मुसलमानों का प्रभाव आवश्यकता से अधिक बढ़ गया था। राज्य के कई महत्त्वपूर्ण ओहदों पर मुसलमान नियुक्त थे। राज्य-भाषा हिंदी से बदलकर फारसी बना दी गयी थी। यही नहीं, राज्य में विक्रमी संवत् के स्थान पर हिजरी सन् चालू कर दिया गया था। महाराजा जयसिंह ने इस व्यवस्था में तेजी से परिवर्तन करना शुरू किया। इससे राज्य में मुसलमानों का प्रभाव क्षीण होने लगा। फिर राज्य-भाषा उर्दू के स्थान पर हिंदी कर देने से मुसलमानों के राज्य-सेवा में प्रवेश करने के अवसरों पर भी असर पड़ा। फलतः राज्य के मुसलमानों में असंतोष बढ़ गया।

सन् १९२३ में राज्य के मुसलमानों ने अंजुमन-ए-खादिम-उलमूल-इस्लाम नामक संस्था स्थापित की। कहने को तो यह संस्था शैक्षणिक थी परंतु काम इसके सांप्रदायिक थे। सन् १९२५ में तिजारे में और सन् १९२९ में हरसाणे में मेवों द्वारा भूमिकर में कमी करने और सूअरों को मारने की इजाजत देने आदि मांगों को लेकर जो उपद्रव किए गए उसके पीछे इस संस्था का हाथ था।

१७ मई, १९३२ को बहादुरपुर में मुहर्रम बनाने के नाम पर लगभग ४० हजार मेव एकत्रित हुए और वहां उपद्रव करना शुरू कर दिया। इसके बाद २९ मई को अलवर में मुसलमानों ने नियमों की अवहेलना कर चादर का जुलूस निकाला, जिससे दंगा हो गया। धीरे-धीरे राज्य में सांप्रदायिक तनाव बढ़ता ही गया। यहां तक कि नवंबर में तो अलवर के ४ जिले उपद्रवग्रस्त हो गए। मेवों ने भूमिकर देना बंद कर दिया। १ जनवरी, १९३३ को तिजारा में दंगों ने भीषण रूप धारण कर लिया। इन दंगों में कई हिंदू मारे गए और मंदिर तोड़ दिए गए। गोविंदगढ़ में मेवों ने सेना को घेर लिया। फलतः सेना को गोली चलानी पड़ी जिससे कई मेव मारे गए। महाराजा ने उपद्रवों को दबाने के लिए भारत सरकार से सैनिक सहायता मांगी। इस पर भारत सरकार ने गोरखा पल्टन भेजकर दंगों पर काबू पाया। इन घटनाओं के तुरंत बाद ही भारत सरकार ने महाराजा को लिखा कि या तो वह राज्य-प्रबंध भारत सरकार द्वारा मनोनीत अधिकारियों को सौंप दे एवं मेव-आंदोलन की जांच करवाए, अन्यथा वह ४८ घंटे के भीतर दो वर्ष के लिए राज्य से बाहर चला जाए। महाराजा ने अधिकार छोड़ने की अपेक्षा राज्य छोड़ना ही उचित समझा। वह खादी के वस्त्र पहन कर २२ मई, १९३३ को अलवर से विदा हो आया और १६ जून को यूरोप पहुंच गया। वह जनवरी, १९३४ में विदेश से वापस आया, पर उसे राज्य के अंदर नहीं घुसने दिया गया। वह पुनः विदेश चला गया। महाराजा के इस निर्वासन

के पीछे अंग्रेजों की नाराजगी और अलवर के एक भूतपूर्व मंत्री नवाब गजनफर अली खां का षड्यंत्र था। यही गजनफर अली खां बाद में मुस्लिम लीग का एक प्रमुख नेता और जिन्ना का दायां हाथ बन गया था।

राजनीतिक जागृति

दिल्ली के निकट स्थित होने के कारण देश में होने वाले आंदोलनों की हवा से अलवर अछूता नहीं रह सकता था। राजगढ़ (अलवर) में पैदा हुआ एक युवक पं० भवानी सहाय शर्मा सन् १९३१ में हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी नामक क्रांतिकारी संगठन का प्रमुख नेता बन चुका था। वह अप्रैल, १९३२ में सन् १९१८ के रेगूलेशन के अंतर्गत गिरफ्तार कर लिया गया और लगभग ७ वर्ष बाद मार्च, १९३९ में रिहा हुआ। इस गिरफ्तारी के पूर्व भी वह लॉर्ड हार्डिंज के ऊपर बम फेंकने के मामले में पकड़ा गया था। पर सबूत नहीं होने से ८ माह बाद रिहा कर दिया गया।

सन् १९३१ के शुरू में श्री कुंजबिहारीलाल मोदी ने खादी वस्त्र और गांधी टोपी पहनकर अलवर में तहलका मचा दिया। उसी वर्ष २६ जनवरी को देश के अन्य भागों की तरह अलवर में भी राष्ट्रीय दिवस मनाया गया। उस दिन पहली बार अलवर में स्थान-स्थान पर तिरंगे झंडे फहराए गए। सन् १९३२ में श्री नत्थूराम मोदी ने अलवर में सर्वप्रथम खादी-भंडार स्थापित किया। सन् १९३३ में अलवर में कुछ उत्साही युवकों द्वारा कांग्रेस समिति की स्थापना की गयी।

जयसिंह के निर्वासन के बाद प्रधानमंत्री वायली सन् १९३५ तक अलवर का शासन चलाता रहा। उसने महाराजा जयसिंह द्वारा शादी, मोसर जैसे सामाजिक सुधारों के संबंध में बनाए गए नियमों में ढिलाई दी। राज्य-सेवा में सांप्रदायिक आधार पर भर्तियां कीं एवं राज्य के बाहर के अनेक व्यक्तियों को राज्य-सेवा में लिया। पंचायतों को समाप्त कर दिया। इससे जनता में असंतोष फैलने लगा। पर इसी बीच वायली चला गया और उसके स्थान पर प्रायर प्रधानमंत्री नियुक्त हुआ। इसके शासन-काल में अप्रैल, १९३७ में बहरोड के उपद्रवों में पुलिस की गोली से १६ हिंदू मारे गए और अनेक घायल हुए।

१९ मई, १९३७ को पेरिस में महाराजा जयसिंह का निधन हो गया। उसका पार्थिव शरीर अलवर में लाया गया और दाह-संस्कार किया गया। जयसिंह की मृत्यु के बाद उसकी वसीयत में प्रकट की गयी इच्छा के विरुद्ध भारत सरकार ने २२ जुलाई, १९३७ को थाना ठिकाने के श्री तेजसिंह को गद्दी पर बैठा दिया। इस तेजसिंह के पिता गंगासिंह को महाराजा जयसिंह अपने राज्यकाल में दो बार अलवर राज्य से निर्वासित कर चुका था। जनता ने अंग्रेजों के पिट्ठू श्री तेजसिंह को गद्दी पर बैठाने का तीव्र विरोध किया। अलवर में पहली बार आम-सभा का आयोजन किया गया जिसमें भारत सरकार के इस निर्णय की कटु आलोचना की गयी। फलतः सभा के प्रमुख आयोजक और वक्ता सर्वश्री कुंजबिहारीलाल मोदी एवं हरिनारायण शर्मा आदि पर

राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया और उन्हें सजाएं दी गयीं ।

जयसिंह का व्यक्तित्व

महाराजा जयसिंह अलवर के कछवाहा वंश का सबसे अधिक योग्य और प्रतिभाशाली शासक था। उसने बाल-विवाह, अनमेल विवाह एवं मृत्यु-भोज पर रोक लगाई। उच्च-शिक्षा हेतु अलवर में कालेज की स्थापना की। उसने न केवल बनारस हिंदू विश्वविद्यालय को वरन् अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय एवं सनातन कालेज लाहौर को उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता दी। राज्य में कृषि-विस्तार के लिए अनेक बांध बंधवाए। ग्राम-पंचायतें स्थापित की। न्याय विभाग को प्रशासन से पृथक किया। राज्य में उर्दू के स्थान पर देवनागरी हिंदी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया।

यद्यपि महाराजा ने अपने राज्यकाल में प्रत्यक्ष रूप से प्रशासन में जन-प्रतिनिधियों को सीधा भागीदार नहीं बनाया था, तथापि वह पं० हरिनारायण जैसे सामाजिक कार्यकर्ताओं से निरंतर संपर्क रखता था एवं समय-समय पर उनसे राजनीतिक मसलों पर परामर्श लेता रहता था। वह जनतंत्र का हामी था। उसने १६२१ में राजाओं के एक प्रतिनिधि के रूप में लंदन में गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया था। उस वक्त उसने ब्रिटिश सरकार को यह कहकर आश्चर्य में डाल दिया कि वह अपने राज्य में उत्तरदायी शासन स्थापित कर स्वयं केवल वैधानिक शासक बना रहना चाहता है। महाराजा को अपने इन विचारों के लिए थोड़े ही समय बाद राज्य के निर्वासन के रूप में भारी कीमत चुकानी पड़ी, चाहे अंग्रेजों ने इसके लिए बहाना कुछ भी बनाया हो।

महाराजा ने प्रशासन में मुसलमानों के बेजा प्रभाव और दखल को समाप्त करने की दिशा में जो कदम उठाए, उससे वहां की मुस्लिम जनता में महाराजा के प्रति नफरत हो गयी और उसने राज्य में उपद्रव फैलाए। महाराजा द्वारा जब इन दंगों को सख्ती से दबाने का प्रयत्न किया गया तो अंग्रेजों और उसके शत्रुओं ने उसे मुस्लिम-विरोधी कहकर बदनाम किया। यह उसका दुर्भाग्य था। स्वर्गीय महाराजा के लंबे शासनकाल का जो सबसे दुर्भाग्यपूर्ण अध्याय था वह था नीमूचाणा का हत्याकांड। महाराजा की ओर से दी जाने वाली किसी भी तरह की सफाई महाराजा को इस कलंक से बरी नहीं कर सकी।

प्रजामंडल की गतिविधियां

सन् १६३८ में कांग्रेस समिति के स्थान पर 'अलवर प्रजामंडल' की स्थापना हुई। उसी वर्ष राज्य के स्कूलों में फीस लगा दी गयी। प्रजामंडल ने फीस-विरोधी आंदोलन छेड़ दिया जिसमें श्री कुंजविहारीलाल मोदी, पं० हरिनारायण शर्मा, पं० लक्ष्मणस्वरूप त्रिपाठी, श्री नत्थूराम मोदी, श्री इंद्रसिंह आजाद एवं श्री राधाचरण आदि कार्यकर्ता गिरफ्तार हुए एवं उन्हें राजद्रोह के अभियोग में लंबी सजाएं हुईं। इस आंदोलन को लेकर सरकारी स्कूल के एक अध्यापक श्री भोलानाथ मास्टर ने

राज्य-सेवा से इस्तीफा दे दिया। कुछ ही समय में श्री भोलानाथ ने प्रजामंडल में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान राज्य में युद्ध के लिए सरकार द्वारा चंदा एकत्रित किया जा रहा था। पं० हरिनारायण शर्मा और प्रजामंडल के मंत्री मास्टर भोलानाथ ने गांव-गांव घूमकर इसका विरोध किया। फलस्वरूप सरकार द्वारा दोनों गिरफ्तार कर लियु गए। परंतु कुछ दिनों बाद रिहा कर दिए गए। अक्तूबर, १९४१ में मास्टर भोलानाथ ने चर्खा-संघ के सहयोग से खादी प्रदर्शनी लगायी। इसका उद्घाटन महात्मा गांधी के निजी सचिव स्व० महादेव देसाई के हाथों हुआ। इस प्रदर्शनी के माध्यम से अलवर में राजनीतिक चेतना जागृत करने में सहायता मिली।

फरवरी, १९४६ में खेड़ा मंगलसिंह में जागीरदारों के जुल्मों के विरुद्ध प्रजामंडल का एक सम्मेलन हुआ। सरकार ने अचानक ही प्रजामंडल के प्रमुख कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर नजरबंद कर दिया। इनमें सर्वश्री भोलानाथ, शोभाराम, कुंजबिहारीलाल मोदी, लाला काशीराम गुप्ता, घासीराम गुप्ता, बद्रीप्रसाद गुप्ता, भवानी सहाय शर्मा, रामचंद्र उपाध्याय, रामजीलाल अग्रवाल और डॉ० शांतिस्वरूप डाटा आदि शामिल थे। इन गिरफ्तारियों का राज्य-भर में प्रबल विरोध हुआ। स्कूल और कालेज बंद हो गए। राजधानी में एक सप्ताह तक हड़ताल रही। अंत में श्री हीरालाल शास्त्री ने बीच में पड़कर सरकार और महाराजा के बीच समझौता कराया। १० दिन बाद प्रजामंडल के कार्यकर्ता बिना शर्त रिहा कर दिए गए। इस समझौते के अनुसार महाराजा ने राज्य में लोकप्रिय मंत्रिमंडल बनाने की घोषणा की। परंतु महाराजा ने सांप्रदायिक तत्त्वों को मंत्रिमंडल में लेना चाहा। अतः प्रजामंडल ने मंत्रिमंडल में अपने प्रतिनिधि भेजने से इनकार कर दिया। राज्य में पुनः आंदोलन की तैयारियां होने लगीं। इसी बीच २२ अगस्त, १९४६ को राजगढ़ में राष्ट्रीय झंडा जला दिया गया। इस घटना को लेकर तत्काल ही आंदोलन भड़क उठा। ६०० व्यक्ति गिरफ्तार हुए। एक बार फिर राजस्थान के नेताओं ने बीच में पड़कर दोनों पक्षों के बीच समझौता कराया। सत्याग्रही रिहा कर दिए गए। यह आंदोलन ११ दिन तक चला। अक्तूबर, १९४७ में महाराजा ने प्रजामंडल के तीन प्रतिनिधि मंत्रिमंडल में लेने चाहे। बदलती हुई परिस्थितियों में महाराजा का यह प्रस्ताव संतोषजनक नहीं था। प्रजामंडल मंत्रिमंडल में अपना बहुमत चाहता था। अतः उसने महाराजा का यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया।

इन दिनों अलवर राज्य सांप्रदायिक गतिविधियों का केंद्र बन गया। डॉ० एन० बी० खरे अलवर के प्रधानमंत्री बन कर आए जो हिंदू महासभा से संबंधित थे। राज्य में मुस्लिम लीग की स्थापना हो चुकी थी। देश में मुस्लिम लीग द्वारा पाकिस्तान के किए चलाए गए आंदोलन ने अलवर में भी जोर पकड़ा। जगह-जगह हिंदू-मुस्लिम दंगे हो गए। इस मामले में पहल यद्यपि मेवों ने की थी पर दोनों ही संप्रदायों ने इन उपद्रवों में कोई कसर उठा नहीं रखी। गांव के गांव जला दिए गए या लूट लिये गए। मुस्लिम लीग ने देश में यह प्रचार किया कि राज्य में सरकार

की सक्रिय मदद से मस्जिदों को तोड़ा जा रहा है, कब्रिस्तान खोदे जा रहे हैं और मेवों को राज्य से बाहर निकाला जा रहा है। इन्हीं दिनों दिल्ली में ३० जनवरी, १९४८ को महात्मा गांधी की हत्या कर दी गयी। इस संबंध में भारत सरकार को सूचना मिली कि गांधी जी के हत्या के षड्यंत्र से संबंधित कतिपय अपराधियों को अलवर में प्रश्रय दिया गया है। अलवर के प्रधानमंत्री डॉ० खरे महात्मा जी के जाने-माने विरोधी थे। अतः भारत सरकार द्वारा इस प्रकार की सूचनाओं पर भरोसा करना स्वाभाविक था। इन दिनों पड़ोसी रियासत भरतपुर में भी सांप्रदायिक दंगों के कारण कानून और व्यवस्था लगभग टूट चुकी थी। अतः भारत सरकार ने ७ फरवरी, १९४८ को दोनों राज्यों का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया एवं अलवर के महाराजा तेजसिंह और डॉ० खरे को आदेश दिया कि जब तक उनके विरुद्ध लगाए गए आरोपों की जांच न हो जाए तब तक वे दिल्ली में ही रहें। कुछ ही सप्ताह बाद भारत सरकार ने रियासतों के एकीकरण की अपनी नीति के अनुसार अलवर, भरतपुर, धौलपुर और करौली की रियासतों का विलय कर 'मत्स्य-संघ' के नाम से एक संयुक्त राज्य बनाने का निर्णय किया। १८ मार्च, १९४८ को भारत सरकार के एक वरिष्ठ मंत्री एन० वी० गाडगिल ने इस नये राज्य का उद्घाटन किया। 'मत्स्य-संघ' में शामिल होने वाले राज्यों में अलवर सबसे बड़ा था। परंतु अलवर के महाराजा पर गंभीर आरोप होने के कारण उसे 'मत्स्य-संघ' का राजप्रमुख न बना कर धौलपुर-महाराजा को यह पद दिया गया। जांच करने के बाद भारत सरकार ने अलवर-महाराजा और डॉ० खरे को आरोपों से मुक्त कर दिया।

जिस राज्य की नींव जयपुर के अधीनस्थ माचेड़ी के एक साधारण सामंत प्रतापसिंह नरूका ने लड़खड़ाते हुए मुगल साम्राज्य की संध्या में अपनी बुद्धि, बाहुबल और चातुर्य से १७५ वर्ष पूर्व डाली थी, उस राज्य का अस्तित्व भारतीय स्वतंत्रता के प्रभात की बेला में सदा के लिए समाप्त हो गया। विलय के पूर्व अलवर राज्य का क्षेत्रफल ८३३३ वर्ग किलोमीटर, जनसंख्या ९ लाख एवं वार्षिक आय २ करोड़ से अधिक थी।

छठा अध्याय

हाड़ा चौहान

बूंदी

बूंदी राज्य के संस्थापक हाड़ा राजपूत चौहानों की २४ शाखाओं में से एक थे। वे पहले मेवाड़ के पठारी इलाके में रहते थे। १३वीं शताब्दी के अंत में हाड़ा केलख के पौत्र राव बंगदेव ने मांडलगढ़, बिजोलिया और रतनगढ़ आदि परगनों पर अपना अधिकार कर लिया। बंगदेव के पुत्र देवा (राव देवीसिंह) ने मैंसरोडगढ़, बंदावदा और मेनाल पर अधिकार कर अपनी जागीर का विस्तार किया। धीरे-धीरे वह मेवाड़ राज्य का प्रथम श्रेणी का सरदार बन गया।[1] उससे अपनी पौत्री की शादी महाराणा हमीरसिंह के पुत्र क्षेत्रसिंह से कर राज्य में अपनी स्थिति और भी मजबूत कर ली।

हाड़ा राज्य की स्थापना

उन दिनों बंदू घाटी में उषाहरा मीणों का गणराज्य था। इन मीणों का प्रमुख सरदार जेता था। किंवदंदियों के अनुसार वह अपने पुत्रों का विवाह अपने कामदार जसराज चौहान की पुत्रियों से करना चाहता था। यह प्रस्ताव जसराज के गले नहीं उतरा, क्योंकि वह क्षत्रिय था। उसने इस संकट से मुक्ति दिलाने के लिए बंदावदा के हाड़ा देवीसिंह अथवा देवा को आमंत्रित किया। देवा ने धोखे से जेता और उसके अनेक समर्थकों को मरवाकर बंदू घाटी पर अधिकार कर लिया।[2] परंतु मुहणोत नैणसी के अनुसार देवा ने मेवाड़ के महाराणा की सहायता से बंदू घाटी पर अधिकार किया था।[3] कुछ भी हो इसमें दो मत नहीं हैं कि देवा ने सन् १३४० के लगभग बंदू घाटी में बूंदी का हाड़ा-राज्य स्थापित किया। देवा ने आगामी कुछ ही

१. 'वीर विनोद', जिल्द २, पृ० १०६।
२. जगदीशसिंह गहलौत, 'बूंदी राज्य का इतिहास', पृ० ४२।
३. 'मुहणोत नैणसी की ख्यात', पत्र २६, पृ० १।

वर्षों में खानपुर, गेणोली, लाखेरी, करवा एवं नैणवा आदि इलाकों पर अधिकार कर अपने राज्य का विस्तार किया। हाड़ों का राज्य होने से यह इलाका हाड़ोती के नाम से विख्यात हुआ।

राज्य का विस्तार

राव देवा जीते-जी बमावदा का राज्य अपने बड़े पुत्र हरराज को और बूंदी का राज्य अपने दूसरे पुत्र समरसिंह को देकर संन्यासी बन गया।[1] समरसिंह के गद्दी पर बैठने के पूर्व चंबल के दाहिने किनारे पर भीलों का राज्य था। उनका नेता कोट्या भील था। उसके नाम से यह क्षेत्र कोटा कहलाया। समरसिंह ने अकेलगढ़ के युद्ध में कोट्या को हराकर कोटा पर अपना अधिकार कर लिया। पर कुछ समय बाद भीलों ने यह क्षेत्र वापस अपने अधिकार में कर लिया। समरसिंह के तीसरे पुत्र जेतसिंह ने अपने पिता और श्वसुर की सहायता से कोटा पुनः छीन लिया। समरसिंह ने प्रसन्न होकर कोटा जेतसिंह को जागीर के रूप में दे दिया। समरसिंह ने अपने राजकाल में कैथून, सीसवली, बड़ौद, रामगढ़ और सांगोद के इलाकों पर अपना अधिकार जमाया। उसने भीलों और मीणों के कई इलाके छीनकर अपने राज्य का विस्तार किया।

समरसिंह की मृत्यु पर उसका ज्येष्ठ पुत्र नरपाल बूंदी की गद्दी पर बैठा। उसने महेशदान खींची को हराकर पलायता पर अधिकार कर लिया। उसने मेवाड़ से भी स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया। इस पर मेवाड़ के महाराणा क्षेत्रसिंह ने बूंदी पर आक्रमण किया। नरपाल ने हारकर पुनः मेवाड़ की अधीनता स्वीकार कर ली। उसके राज्यकाल में उसके हाथ से कई इलाके निकल गए। शेरगढ़ के पंवार हरराज ने उसकी गणगोर लूटकर उसे बड़ा अपमानित किया।

नरपाल की मृत्यु पर उसका पुत्र हमीर सन् १३८८ के आसपास बूंदी की गद्दी पर बैठा। उसने शेरगढ़ के पंवारों को हराकर अपने पिता के राज्य-काल में गणगोर लूटने का बदला चुकाया। उसने पड़या और गोड़ राजपूतों को हराकर नरपाल द्वारा खोए हुए कई इलाके पुनः प्राप्त किए। हमीर ने टोंक पर भी अपना अधिकार जमा लिया। उसने सन् १४०३ में संन्यास ले लिया और अपने पुत्र वीरसिंह को गद्दी सौंपकर काशी चला गया।

भांडू के सुल्तान के आक्रमण

राव वीरसिंह ने सन् १४०३ से १४१३ तक राज्य किया। इसने मेवाड़ से स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया। कहते हैं कि महाराणा लाखा ने बूंदी पर चढ़ाई की पर उसे सफलता नहीं मिली। वीरसिंह के स्थान पर राव बैरीशाल गद्दी पर बैठा। सन् १४३९ में महाराणा कुंभा ने बूंदी पर अधिकार कर वहां के शासक को एक बार

१. टॉट, 'ए० ए० ए० ऑफ राजस्थान', जिल्द ३, पृ० १४६७-६८।

फिर अपना सामंत बनाया। बैरीशाल को अपने राज्यकाल में तीन बार भांडू के सुल्तान से लड़ना पड़ा। परंतु सन् १४५९ की अंतिम लड़ाई में बैरीशाल मारा गया। बूंदी पर सुल्तान का अधिकार हो गया। सुल्तान ने बैरीशाल के दो पुत्रों को मुसलमान बनाकर उनका नाम समरकंदी और अमरकंदी रख दिया।

बैरीशाल के ८ पुत्र थे। उसके प्रथम तीन पुत्रों ने भांडू के सुल्तान के विरुद्ध लड़ाइयों में उसका साथ नहीं दिया। अतः बैरीशाल ने अपने चौथे पुत्र भाणदेव अथवा भांडा को अपना उत्तराधिकारी बनाया। भांडा ने गद्दी पर बैठते ही बूंदी पर पुनः अधिकार कर लिया। इस पर भांडू के सुल्तान ने सेना भेजकर बूंदी पर कब्जा कर लिया। भांडा पहाड़ों में चला गया और मातुंडा ग्राम में जाकर रहा, जहां वह सन् १५०३ में मर गया। इस बीच समरकंदी ने भांडू के सुल्तान की ओर से ११ वर्ष तक बूंदी पर शासन किया।

भांडा की मृत्यु के बाद उसका पुत्र नारायणदास उसका उत्तराधिकारी बना। नारायणदास अपने मुसलमान चाचा समरकंदी को मारकर पुनः बूंदी का स्वामी बना। नारायणदास सन् १५२७ में खानवा के युद्ध में राणा सांगा के नेतृत्व में बाबर के विरुद्ध लड़ा था।[1] वह उसी वर्ष एक जागीरदार द्वारा मारा गया।

हाड़ा-शिशौदियों का बैर

नारायणदास के बाद उसका पुत्र सूरजमल बूंदी का स्वामी बना। सूरजमल की बहन कर्मवती की शादी मेवाड़ के राणा सांगा से हुई थी। सांगा के दो पुत्र विक्रमादित्य और उदयसिंह कर्मवती के गर्भ से पैदा हुए थे। सांगा कर्मवती को बहुत चाहता था। अतः राणा सांगा ने अपने जीवनकाल में ही रणथंभौर का किला कर्मवती से उत्पन्न पुत्र विक्रमादित्य और उदयसिंह को दे दिया था। कर्मवती अपने दोनों पुत्रों के साथ रणथंभौर में रहती थी। इन दोनों राजकुमारों का संरक्षक उनका मामा हाड़ा सूरजमल था जो चाहता था कि किसी तरह उसका भानजा विक्रमादित्य मेवाड़ का स्वामी बन जाए। सांगा के उत्तराधिकारी और ज्येष्ठ पुत्र राणा रत्नसिंह को सूरजमल की इस नीयत का पता था। अतः वह किसी तरह सूरजमल को मारना चाहता था। एक दिन महाराणा शिकार खेलता हुआ बूंदी के निकट बाबड़ा गांव तक पहुंच गया। वहां उसने सूरजमल को भी आमंत्रित किया। शिकार खेलते हुए मौका पाकर महाराणा ने सूरजमल पर हमला किया। सूरजमल घायल हो गया पर मरने के पहले उसने महाराणा का काम तमाम कर दिया। यह घटना सन् १५३१ की है। यहीं से हाड़ा-शिशौदियों का बैर मशहूर हुआ।

सुरताण गद्दीच्युत

सूरजमल की मृत्यु पर सन् १५३१ में उसका पुत्र सुरताण बूंदी का स्वामी

१. 'वंशभास्कर', तृतीय भाग, पृ० २०६५।

बना। वह उस समय केवल ४ वर्ष का था। वह महाराणा उदयसिंह के पुत्र शक्तिसिंह का जंवाई था। अतः महाराणा ने पठानों से अजमेर छीनकर सुरताण को दे दिया।[1] सुरताण के राज्य-काल में पठानों ने कोटा और खींचियों ने बड़ोद और सीसवली पर अधिकार कर लिया। सुरताण बड़ा अत्याचारी शासक था। हाड़ा सरदार उससे सख्त नाराज थे। उन्होंने मेवाड़ के महाराणा की सहायता से सन् १५५४ में सुरताण को गद्दी से उतार दिया एवं उनके स्थान पर राव भांडा के प्रपौत्र और अर्जुन हाड़ा के पुत्र सुर्जन को गद्दी पर बैठा दिया। अर्जुन हाड़ा मेवाड़ के महाराणा विक्रमसिंह के दरबार में रहता था। वह सन् १५३५ में चित्तौड़ के दूसरे शाके में गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह के विरुद्ध मेवाड़ की ओर से लड़ते हुए मारा गया था। इस शाके में हाड़ी महारानी कर्मवती अनेक स्त्रियों के साथ जौहर कर चिता में भस्म हो गयी।

रणथंभौर पर मुगलों का अधिकार

सुर्जन ने गद्दी पर बैठते ही पठानों से कोटा छीन लिया। उसने खींचियों को हराकर बड़ोद व सीसवली पर भी अधिकार कर लिया। सन् १५५९ में रणथंभौर के किलेदार ने वहां का किला सुर्जन को सौंप दिया। अकबर बादशाह ने सन् १५६९ में इस किले को लेने के लिए सेना भेजी। लगभग डेढ़ माह तक मुगल सेना किले पर घेरा डाले रही। अंत में अपने पुत्र दूदा के विरोध के बावजूद आमेर के राजा भारमल की सलाह पर सुर्जन ने रणथंभौर का किला मुगलों को सौंप दिया और उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। अकबर ने उसे 'रावराजा' की उपाधि और समुचित मनसब प्रदान किया। सुर्जन द्वारा बिना लड़े रणथंभौर का किला मुगलों को सौंपने से उसकी बड़ी अपकीर्ति हुई। यही नहीं, उसे स्वयं भी इससे बड़ी ग्लानि हुई। फलतः वह कुछ समय बाद राजकार्य अपने पुत्र दूदा को सौंपकर काशी चला गया।[2] अकबर को यह व्यवस्था स्वीकार नहीं थी। दूदा मुगल-विरोधी था। अतः अकबर ने सेना भेजकर दूदा को राजगद्दी से हटा दिया और उसके स्थान पर उसके छोटे भाई भोज को गद्दी पर बैठा दिया।

बूंदी का विभाजन

भोज के चार पुत्र थे—रतनसिंह, हृदयनारायण, केशवदास और मनोहरदास। भोज ने गद्दी पर बैठते ही अपने छोटे पुत्र हृदयनारायण को बादशाह की स्वीकृति से

१. 'वीर विनोद', भाग २, पृ० ८७।

२. 'मुहणोत नैणसी की ख्यात' (पृ० ११०) के अनुसार अकबर ने चित्तौड़ के तीसरे शाके में बलिदान होने वाले जयमल और पत्ता की वीरता से मुग्ध होकर उनकी संगमरमर की मूर्तियां हाथी पर चढ़ाकर आगरे के किले के बाहर लगवायीं। इन मूर्तियों के पास अकबर ने सुर्जन की मूर्ति कूकर की शक्ल में बनवाकर रखवाई।

कोटा का शासक नियुक्त कर दिया।[1] भोज अकबर की ओर से उड़ीसा, सूरत और अहमदनगर की लड़ाइयों में लड़ा। अहमदनगर की लड़ाई में भोज की वीरता से प्रसन्न होकर अकबर ने वहां के किले की बुर्ज का नाम भोजबुर्ज रख दिया। पर भोज ने अपने अंतिम दिनों में अकबर को नाराज कर दिया। कहते हैं कि उसने अपनी पुत्री की शादी अकबर से करने से इनकार कर दिया।[2] उसने अपनी दौहित्री और आमेर के राजा मानसिंह की पुत्री की शादी जहांगीर से करने में भी रोड़े अटकाए थे। इस कारण जहांगीर काबुल से लौटकर उसे सजा देना चाहता था। पर उसके पूर्व ही भोज स्वयं मर गया।[3]

भोज की मृत्यु पर उसका बड़ा पुत्र रतन हाड़ा सन् १६०८ में बूंदी की गद्दी पर बैठा। वह जीवन-भर मुगलों की सेवा में रहा। सन् १६१३ में वह शाहजादा खुर्रम के साथ मेवाड़-अभियान में शामिल हुआ। १६२३ में जब शाहजादा खुर्रम ने अपने पिता जहांगीर के विरुद्ध विद्रोह किया तो राव रतन और उसका भाई हृदय-नारायण शाहजादा परवेज के साथ विद्रोह को दबाने के लिए इलाहाबाद की ओर गए। झूंसी में दोनों पक्षों में युद्ध हुआ, जिसमें खुर्रम हार गया। परंतु युद्ध में हृदय-नारायण रणक्षेत्र से भाग गया। इससे जहांगीर बड़ा नाराज हुआ।

झूंसी के युद्ध में हारकर खुर्रम दक्षिण की ओर चला गया। उसने बुरहानपुर पर घेरा डाल दिया। राव रतन की खुर्रम से फिर टक्कर हुई। खुर्रम फिर हार गया। इस युद्ध में राव रतन के दो छोटे पुत्र माधोसिंह और हरिसिंह भी शामिल हुए। माधोसिंह ने इस युद्ध में बड़ी वीरता दिखायी। जहांगीर उससे बड़ा प्रसन्न हुआ। इस अवसर पर राव रतन ने कोटा माधोसिंह को दे दिया। इधर खुर्रम ने हारकर बादशाह से क्षमा मांग ली। बादशाह ने खुर्रम को पहले हरिसिंह की और बाद में माधोसिंह की निगरानी में रखा। माधोसिंह ने खुर्रम के साथ अच्छा व्यवहार किया। सन् १६२७ में जहांगीर मर गया और खुर्रम शाहजहां के नाम से बादशाह बन गया। उसने माधोसिंह को कोटा का स्वतंत्र शासक बना दिया और साथ ही उसे बूंदी के कुछ परगने भी दिए। राव रतन स्वयं सन् १६३१ में मर गया। उसके मरने पर उसके बड़े पुत्र गोपीनाथ का लड़का शत्रुशाल गद्दी पर बैठा। गोपीनाथ राव रतन के जीते-जी ही मर गया था। माधोसिंह अब औपचारिक तौर पर कोटा की गद्दी पर बैठ गया।[4] यह बूंदी का पहला विभाजन था।

शत्रुशाल की दारा को सहायता

गद्दी पर बैठने के कुछ समय बाद शत्रुशाल को मुगलों की सेवा में खाने जमा

१. टॉड, 'ए० ए० ए० ऑफ राजस्थान', जिल्द ३, पृ० १४८६।
२. 'उमरायेहनूद', पृ० ६५।
३. जगदीशसिंह गहलोत, 'बूंदी का इतिहास', पृ० ६६।
४. महम्मदवारिस, 'बादशाहनामा', पृ० ४०१।

के साथ दक्षिण की ओर जाना पड़ा। उसने दौलताबाद की लड़ाई में बड़ी वीरता दिखाई जिससे शाहजहां ने उसके मनसब में वृद्धि की। सन् १६५७ में शाहजहां के बीमार होने पर इसके लड़कों में साम्राज्य के उत्तराधिकार की लड़ाई हुई। शाहजहां ने शत्रुशाल को दक्षिण में बुलाया और औरंगजेब एवं मुराद की बढ़ती हुई सेना को रोकने के लिए अपने बड़े पुत्र दारा के साथ भेजा। इस अवसर पर शाहजहां ने बारां और मऊ के परगने कोटा से छीनकर शत्रुशाल को दे दिए। दारा की औरंगजेब और मुराद की संयुक्त सेना से आगरा के निकट रामूगढ़ नामक स्थान पर भारी लड़ाई हुई। शत्रुशाल युद्ध में मारा गया। विजय औरंगजेब की हुई और वह दिल्ली का बादशाह बन गया।

बूंदी का दूसरा विभाजन

राव शत्रुशाल की मृत्यु पर उसका ज्येष्ठ पुत्र भावसिंह सन् १६५८ में गद्दी पर बैठा। भावसिंह का छोटा भाई भगवंतसिंह दक्षिण में औरंगजेब की सेवा में रह चुका था। इसके अलावा शत्रुशाल द्वारा दारा की सहायता करने से औरंगजेब शत्रुशाल से नाराज था। अतः औरंगजेब ने बारां और मऊ के परगने भगवंतसिंह को देकर उसे एक स्वतंत्र राजा बना दिया। यह बूंदी का दूसरा विभाजन था। पर यह विभाजन स्थायी नहीं रहा। भगवंतसिंह कुछ समय बाद मर गया। औरंगजेब ने शिवपुर के राजा और बरसिंह बुंदेले को बूंदी पर आक्रमण करने भेजा। पर उन्हें सफलता नहीं मिली। अंत में औरंगजेब ने भावसिंह को क्षमा कर दिया। इसके बाद वह बादशाह की ओर से कई लड़ाइयों में लड़ा। बादशाह ने उसे औरंगाबाद का फौजदार नियुक्त किया जहां वह सन् १६८१ में निःसंतान मर गया।

बेगमों की रक्षा

शत्रुशाल के स्थान पर उसके छोटे भाई भीमसिंह का पोता अनिरुद्धसिंह बूंदी की गद्दी पर बैठा। वह बादशाह की ओर से बीजापुर में लड़ा जहां उसने बड़ी वीरता दिखाई। पर सन् १६८८ में बेदारबख्त द्वारा भरतपुर के राजाराम जाट पर किए गए आक्रमण में वह युद्ध के बीच में ही भाग गया। बादशाह उससे बड़ा नाराज हुआ। परंतु जब मरहठों ने बादशाह की बेगमों को घेर लिया तो अनिरुद्धसिंह ने शत्रुओं से लड़कर बेगमों को बचा लिया। इससे बादशाह पुनः प्रसन्न हो गया। इसी बीच बलबन के जागीरदार हाड़ा दुर्जनसिंह ने बूंदी पर अधिकार कर लिया। परंतु अनिरुद्धसिंह ने शाही सेना की सहायता से बूंदी पर पुनः अधिकार कर लिया। सन् १६९५ में वह काबुल की ओर भेजा गया, जहां वह मर गया।

बूंदी राज्य अधर झूल में

अनिरुद्धसिंह के स्थान पर उसका ज्येष्ठ पुत्र बुद्धसिंह बूंदी की गद्दी पर बैठा। सन् १७०७ में मुगल सम्राट् औरंगजेब अहमदनगर में मर गया। अब उसके शाह-

जादों के बीच उत्तराधिकार की लड़ाई हुई। जाजव नामक स्थान पर आजम और मोअज्जम के बीच युद्ध हुआ। इस युद्ध में बुद्धसिंह ने मोअज्जम का और कोटा के रामसिंह हाड़ा ने आजम का साथ दिया। युद्ध में मोअज्जम की विजय हुई। मोअज्जम बहादुरशाह के नाम से दिल्ली के तख्त पर बैठा। उसने कोटा की जागीर का फरमान बुद्धसिंह के नाम पर लिख दिया। यद्यपि बुद्धसिंह कोटा पर अधिकार नहीं कर सका परंतु बुद्धसिंह के आक्रमण से कोटा और बूंदी में शत्रुता हो गयी। सन् १७१२ में बहादुरशाह मर गया। उसके स्थान पर फर्रुखसियर गद्दी पर बैठा। कोटा के राव भीमसिंह ने फर्रुखसियर से बूंदी का फरमान प्राप्त कर बूंदी पर अधिकार कर लिया। तीन वर्ष बाद सैयद बंधुओं और फर्रुखसियर के बीच चल रहे मत-भेदों से लाभ उठाकर बुद्धसिंह ने फर्रुखसियर की सहायता से कोटा से बूंदी छीन ली। नवंबर, १७१९ में भीमसिंह ने सैयद बंधुओं की सहायता से बूंदी पर पुनः अधिकार कर लिया। परंतु सन् १७२० में भीमसिंह के मरते ही बूंदी पर फिर बुद्धसिंह का अधिकार हो गया।

बुद्धसिंह की शादी जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह की बहन अमरकुंवर से से हुई थी। अमरकुंवर और बुद्धसिंह के बीच अनबन रहती थी। अमरकुंवर के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम भवानीसिंह था। बुद्धसिंह ने उसे अपना पुत्र मानने से इनकार कर दिया। इस पर जयसिंह ने भवानी को मौत के घाट उतार दिया एवं बूंदी पर आक्रमण कर बुद्धसिंह को गद्दी से हटा दिया। जयसिंह ने बुद्धसिंह के स्थान पर दलेलसिंह को बूंदी का शासक नियुक्त कर दिया। जयसिंह के प्रभाव के कारण बादशाह ने भी दलेलसिंह को बूंदी का स्वामी स्वीकार कर लिया। जयसिंह ने अपनी पुत्री की शादी दलेलसिंह से कर दी। बुद्धसिंह ने सन् १७६४ में मरहठों की सहायता से बूंदी पर अधिकार कर लिया। परंतु मरहठों के लौटते ही जयपुर की सहायता से दलेलसिंह ने बूंदी पर पुनः अधिकार कर लिया। बुद्धसिंह सन् १७३९ में अपनी ससुराल बेगू में मर गया।

उम्मेदसिंह पुनः बूंदी का शासक

बुद्धसिंह की मृत्यु पर उसका पुत्र उम्मेदसिंह बेगू में ही बूंदी का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया गया। इसके कुछ समय बाद सवाई जयसिंह सितंबर, १७४३ में मर गया। अब उम्मेदसिंह ने अपना पुश्तैनी राज्य प्राप्त करने के प्रयत्न शुरू कर दिए। उम्मेदसिंह ने कोटा के महाराव दुर्जनशाल, गुजरात के सूबेदार तथा शाहपुरा के राजा उम्मेदसिंह की सहायता से जुलाई, १७४४ में बूंदी पर आक्रमण किया। उम्मेदसिंह विजयी रहा। दलेलसिंह नैनवा चला गया। कुछ ही समय बाद जयपुर के महाराजा ईश्वरीसिंह और मरहठों की सहायता से दलेलसिंह ने बूंदी पर पुनः अधिकार कर लिया। उम्मेदसिंह ने कोटा से आर्थिक सहायता लेकर एक बार पुनः बूंदी पर आक्रमण किया। पर जयपुर की सहायता से दलेलसिंह ने उम्मेदसिंह को डबलाना नामक स्थान पर हरा दिया। इन दिनों उदयपुर का महाराणा जगतसिंह

अपने भानजे माधोसिंह को सवाई जयसिंह और महाराणा अमरसिंह के बीच हुए समझौते के अनुसार गद्दी पर बैठाने के लिए जयपुर पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। इस अवसर का लाभ उठाकर उम्मेदसिंह कोटा के दुर्जनशाल के साथ महाराणा से मिला। उदयपुर, कोटा और उम्मेदसिंह की सेना ने मरहठों की सहायता से जयपुर पर आक्रमण किया। परंतु राजमहल नामक स्थान पर जयपुर ने मेवाड़, कोटा और मरहठों की संयुक्त सेना को हरा दिया। पर थोड़े ही समय बाद इस गठबंधन ने बगरू नामक स्थान पर जयपुर को हरा दिया। फलस्वरूप ईश्वरीसिंह को जयपुर के पांच परगने माधोसिंह को देने पड़े और बूंदी उम्मेदसिंह को सौंपना पड़ा। इस प्रकार उम्मेदसिंह १४ वर्ष बाद पुनः बूंदी का शासक बना। कुछ समय बाद ईश्वरीसिंह के आत्महत्या कर लेने पर उसके स्थान पर माधोसिंह जयपुर की गद्दी पर बैठा। अब जयपुर और बूंदी के संबंध अच्छे हो गए। सन् १७६२ में सिंधिया ने बूंदी पर आक्रमण किया तो माधोसिंह ने उम्मेदसिंह की सहायता की। इसी प्रकार जयपुर और भरतपुर के बीच युद्ध हुआ तो उम्मेदसिंह ने माधोसिंह की सहायता की। सन् १७७१ में उम्मेदसिंह राज्य का भार अपने पुत्र अजीतसिंह को सौंप कर संन्यासी बन गया।

हाड़ा-शिशौदिया के बैर की पुनरावृत्ति

अजीतसिंह का किन्हीं कारणों से मेवाड़ के महाराणा अरिसिंह से मनमुटाव हो गया। वह महाराणा से बदला लेना चाहता था। सन् १७७३ में उसने अरिसिंह को अमरगढ़ के निकट शिकार के लिए आमंत्रित किया। वहीं मौका पाकर अजीतसिंह ने अरिसिंह का काम तमाम कर दिया। इस पर महाराणा के एक छड़ीदार ने अजीतसिंह को घटना-स्थल पर ही मार डाला। यह हत्याकांड ९ मार्च, १७७३ को हुआ।[1] इसके पूर्व सन् १५३१ में आखेट खेलते हुए महाराणा रत्नसिंह और सूरजमल ने एक-दूसरे को मार डाला था।

अंग्रेजों की अधीनता

अजीतसिंह के स्थान पर उसका साढ़े चार माह का पुत्र विष्णुसिंह गद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल में अंग्रेज भारत में तेजी से आगे बढ़ रहे थे। सन् १८०४ में अंग्रेजी सेनापति मानसन जसवंतराव होल्कर से मुकंदरे के घाटे में हारकर बूंदी की ओर लौट रहा था। उस समय विष्णुसिंह ने मानसन की सहायता की। इससे नाराज होकर होल्कर, सिंधिया और पिंडारियों ने मिलकर बूंदी को रौंद डाला। मरहठों और पिंडारियों की लूट-खसोट और घावों से तंग आकर विष्णुसिंह ने १० फरवरी, १८१८ को एक संधि द्वारा अंग्रेजों का संरक्षण स्वीकार कर लिया। इस संधि के फलस्वरूप बूंदी ने अंग्रेजों को ८० हजार रुपया वार्षिक खिराज देना स्वीकार कर

1. 'वंशभास्कर', पृ० ३७९४-३८०० एवं 'वीर विनोद', भाग २, पृ० १५७५।

लिया। विष्णुसिंह सन् १८२१ में मर गया।

राज्य का विस्तार

विष्णुसिंह के स्थान पर उसका पुत्र रामसिंह १० वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा। रामसिंह की नाबालिग अवस्था में बूंदी का शासन अंग्रेजी रेजीडेंट की देख-रेख में राज्य के चार सरदारों की एक परिषद् ने चलाया। सन् १८३१ में वह लॉर्ड विलियम बेंटिक के अजमेर दरबार में उपस्थित हुआ। नवंबर, १८४७ में उसने एक त्रिपक्षीय समझौते द्वारा अंग्रेजों की सहायता से सिंधिया से केशोराय पाटन का परगना प्राप्त किया। इसके बदले बूंदी द्वारा अंग्रेजों को ८० हजार रुपए वार्षिक खिराज के रूप में देना तय रहा।

रामसिंह के काल में सन् १८५७ का गदर हुआ। इस गदर में शुरू में बूंदी ने अंग्रेजों को सहायता नहीं दी। पर जब २१ जुलाई को विद्रोही सेना बूंदी की ओर आयी तो महाराव ने नगर के द्वार बंद कर तोपों से गोले बरसाए, जिससे विद्रोही भाग गए। परंतु गदर में महाराव के शुरू के व्यवहार से अंग्रेज सरकार नाराज रही। उसने ३ साल तक बूंदी से पत्र-व्यवहार बंद रखा। सन् १८५८ में ईस्ट इंडिया कंपनी का स्थान ब्रिटिश सरकार ने ले लिया। महारानी विक्टोरिया ने लॉर्ड डलहौजी की नीति बदलकर देशी राज्यों के शासकों को गोद लेने की इजाजत दे दी। पर गोद लेने के पूर्व ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति आवश्यक कर दी गयी। सन् १८६७ में अंग्रेज सरकार ने रामसिंह को १७ तोपों की सलामी दी। रामसिंह ने सन् १८७७ के दिल्ली-दरबार में भाग लिया। रामसिंह ६८ वर्ष राज्य कर सन् १८८९ में मरा। वह विद्वानों का बड़ा सम्मान करता था। सुप्रसिद्ध इतिहासकार सूर्यमल मिश्रण एवं वैद्यराज आत्माराम संन्यासी उसके आश्रित थे। उसके शासनकाल में बूंदी में ४० पाठशालाएं चलती थीं और बूंदी 'छोटी काशी' के नाम से प्रसिद्ध था।

बूंदी का विकास

रामसिंह के स्थान पर उसका पुत्र रघुवीरसिंह गद्दी पर बैठा। रघुवीरसिंह ने प्रथम महायुद्ध और सन् १९१९ के अफगान-युद्ध में अंग्रेजों की सहायता की। अंग्रेज सरकार ने उसे कई उपाधियों से विभूषित किया। सन् १९२१ में सम्राज्ञी मेरी शिकार खेलने के लिए बूंदी आयी। रघुवीरसिंह के शासनकाल में अंग्रेजों ने बूंदी राज्य में रेल निकाली एवं एक अंग्रेजी कंपनी ने लाखेरी में सीमेंट का कारखाना स्थापित किया। वह १९२७ में निःसंतान मर गया।

बूंदी में जनजागृति

बूंदी मेवाड़-राज्य की सीमा से मिला हुआ था। इस कारण मेवाड़ की जनजागृति का बूंदी पर असर पड़ना स्वाभाविक था। मेवाड़ के बिजोलिया और बेगू किसान आंदोलनों की लपटें बूंदी के बरड़ क्षेत्र में फैल गयीं। बूंदी के किसानों ने

पं० नयनूराम शर्मा के नेतृत्व में सन् १९२६ में बैठ बेगार, लागबाग और लगान की ऊंची दरों के विरोध में आंदोलन छेड़ा। जगह-जगह सभाएं और सम्मेलन किए गए। स्त्रियों ने भी इस आंदोलन में भाग लिया। डाबी के एक सम्मेलन में पुलिस ने गोली चलायी जिसके फलस्वरूप नानक भील नामक किसान कार्यकर्ता घटना-स्थल पर ही शहीद हो गया।

सन् १९२७ में महाराव रघुवीरसिंह की मृत्यु हो गयी। उसके स्थान पर ईश्वरीसिंह गद्दी पर बैठा। उसके गद्दी पर बैठते ही बूंदी में अचानक एक और आंदोलन भड़क उठा। रामनाथ कुदाल नामक राजपुरोहित ने बूंदी के महाराव की एक पासवान की अंतिम क्रिया करने से इनकार कर दिया। इस पर पुलिस में उसे खुलेआम निर्दयतापूर्वक मार डाला। इस घटना के विरोध में बूंदी में ९ दिन तक हड़ताल रही और प्रदर्शन हुए। पुलिस को प्रदर्शनकारियों पर गोली चलानी पड़ी।

जन-आंदोलन

बूंदी की जन-जागृति का वर्णन करते हुए हम बूंदी के प्रतिष्ठित नागर-परिवार का स्मरण किए बिना नहीं रह सकते। इस परिवार के श्री नित्यानंद राष्ट्रीय आंदोलनों में भाग लेते थे। अतः बूंदी के स्व० महाराजा रघुवीरसिंह ने न केवल नित्यानंद को राज्य से निर्वासित कर दिया वरन् नागर-परिवार की सारी संपत्ति भी जब्त कर ली।

सन् १९४२ के राष्ट्रीय आंदोलन में नित्यानंद चार वर्ष तक बूंदी की जेल में रहे। इसके पूर्व भी वे सन् १९३०, १९३२ और १९४० में विभिन्न आंदोलनों के सिलसिले में अंग्रेजी जेलों में सजाएं भुगत चुके थे। नित्यानंद के पुत्र ऋषिदत्त और उनकी पत्नी सत्यभामा भी राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने के सिलसिले में रह चुके थे।

सन् १९४४ में श्री हरिमोहन माथुर की अध्यक्षता में बूंदी लोक-परिषद् की स्थापना हुई। परिषद् के मंत्री बने श्री बृजसुंदर शर्मा। मई, १९४५ में महाराव ईश्वरसिंह की मृत्यु हो गयी। उसके स्थान पर उसका गोद लिया हुआ पुत्र बहादुरसिंह गद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल में सन् १९४६ में श्री नित्यानंद ने राज्य की निर्वासन-आज्ञा भंग कर राज्य में प्रवेश करने की सूचना दी। इस पर महाराव ने नित्यानंद के निर्वासन की आज्ञा रद्द कर दी। उसी वर्ष महाराव ने राज्य में विधान-परिषद् बनाने और लोकप्रिय मंत्रिमंडल बनाने की घोषणा की। परंतु परिषद् के बहुमत वाले वर्ग ने मंत्रिमंडल में शामिल होने से इनकार कर दिया। कारण यह था कि महाराव लोक-परिषद् के अलावा अन्य वर्ग के प्रतिनिधियों को भी मंत्रिमंडल में लेना चाहते थे।

बूंदी का विलय

मार्च, १९४८ में राजस्थान के दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व के छोटे-छोटे राज्यों को

मिलाकर संयुक्त राजस्थान का निर्माण हुआ। बूंदी इस नये राज्य में विलय कर दिया गया। विलय के समय बूंदी राज्य का क्षेत्रफल ५७५० वर्ग किलोमीटर, जनसंख्या २ लाख ८० हजार और आय लगभग ३२ लाख थी। मार्च, १९४९ में जब बड़ा राजस्थान बना तो बूंदी भी इस विशाल राज्य का अंग बन गया।

कोटा

१४वीं शताब्दी में चौहानों की हाड़ा शाखा ने बूंदी पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। राव समरसिंह सन् १३४३ में बूंदी की गद्दी पर बैठा। उस समय चंबल के दाहिने क्षेत्र में अकेलगढ़ से मनोहर थाने तक भीलों का राज्य था। इन भीलों का नेता कोट्या था। इस कारण यह क्षेत्र कोटा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। समरसिंह के पुत्र जेतसिंह ने अकेलगढ़ के भीलों को हराकर कोटा पर अधिकार कर लिया। इससे प्रसन्न होकर समरसिंह ने यह इलाका जेतसिंह को जागीर के रूप में दे दे दिया। जेतसिंह के पश्चात् उसके वंशज सुर्जन, वीरदेह, जेतावराय और बीरम ने बूंदी के सामंतों की हैसियत से कोटा पर शासन किया। परंतु बीरम के राज्यकाल में सन् १५४६ में मालवा के पठान केशरखां और डोकरखां ने भांडू के सुल्तान की सहायता से कोटा पर अधिकार कर लिया। कुछ वर्षों बाद मालवा पर मुगलों का अधिकार हो गया। इससे मालवा से केशरखां और डोकरखां को सहायता मिलना बंद हो गया। यह अवसर देखकर बूंदी के राव सुर्जन ने कोटा पर आक्रमण किया। भदाना के निकट दोनों पक्षों में युद्ध हुआ। पठान सेना भागकर कोटा में चली गयी। हाड़ाओं ने वहां भी पठानों का पीछा नहीं छोड़ा। केशरखां व डोकरखां हार गए और युद्ध में मारे गए। इस प्रकार २६ वर्षों बाद सन् १५५२ में कोटा पुनः हाड़ाओं के अधिकार में आ गया।

हाड़ा सुर्जन ने कोटा जागीर के रूप में अपने पुत्र भोज को दे दिया। सुर्जन की मृत्यु पर भोज बूंदी का शासक बन गया। भोज ने कोटा इलाका अपने पुत्र हृदयनारायण को सौंप दिया। भोज की मृत्यु पर राव रतन बूंदी का स्वामी बना। उस समय मुगल बादशाह जहांगीर के लड़के खुर्रम ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह को दबाने के लिए राव रतन और हृदयनारायण इलाहाबाद रवाना हुए। झूंसी के स्थान पर सन् १६२३ में युद्ध हुआ। खुर्रम हारकर दक्षिण की ओर प्रस्थान कर गया। पर इस युद्ध में हृदयनारायण ने बड़ी कायरता दिखायी। जहांगीर ने हृदयनारायण को कोटा की गद्दी से उतार दिया। राव रतन ने कोटा सीधा अपने अधिकार में ले लिया।

राज्य की स्थापना

राव रतन खुर्रम का पीछा करता हुआ अपने दो पुत्र माधोसिंह और हरिसिंह के साथ बुरहानपुर पहुंचा। खुर्रम ने बुरहानपुर में मुगल सेना को घेर लिया। पर अंत में उसकी हार हुई। इस युद्ध में माधोसिंह ने बड़ी वीरता दिखायी। अतः राव

रतन ने कोटा का राज्य माधोसिंह को दे दिया। वह जहांगीर से भी माधोसिंह के लिए कोटा का फरमान प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा। कुछ समय बाद खुर्रम ने बादशाह से क्षमा मांग ली। इस समय राव रतन बुरहानपुर का सूबेदार था। उसने खुर्रम की देखरेख की जिम्मेदारी पहले अपने बड़े पुत्र हरिसिंह पर व बाद में माधोसिंह पर डाली। माधोसिंह ने खुर्रम की बड़ी सेवा की। सन् १६२७ में जहांगीर मर गया। उसके स्थान पर खुर्रम शाहजहां के नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठा। इधर राव रतन सन् १६३१ में बालाघाट की लड़ाई में मारा गया। शाहजहां ने बूंदी का राज्य राव रतन के पौत्र शत्रुशाल को एवं कोटा को बूंदी से स्वतंत्र कर वहां का राज्य माधोसिंह को सौंप दिया। यही नहीं, शाहजहां ने बूंदी के ८ परगने भी माधोसिंह को दे दिए।[1] इस प्रकार सन् १६३१ में कोटा के स्वतंत्र राज्य की स्थापना हुई। अब उसका सीधा संबंध दिल्ली से हो गया। माधोसिंह मुगल बादशाह के प्रति बड़ा वफादार था। वह सन् १६३५ में बुंदेले के जुझारसिंह के विद्रोह को दबाने में शाही सेना की ओर से लड़ा था। जब शाहजादा मुराद कंधार पर अधिकार करने के लिए रवाना हुआ तो माधोसिंह भी लाहौर से उसके साथ हो गया। मुगल सेना को इस अभियान में सफलता नहीं मिली। माधोसिंह सन् १६४८ में कोटा लौटते हुए राह में ही मर गया। उसकी मृत्यु के समय कोटा राज्य के अंतर्गत ४३ परगने हो गए थे।[2] बादशाह ने उसे पंचहज़ारी मनसबदार बना दिया था और राजा की उपाधि प्रदान की थी। माधोसिंह ने कोटा में कई इमारतें बनवायीं।

हाड़ाओं की वफादारी

माधोसिंह के देहांत पर उसका ज्येष्ठ पुत्र मुकुंदसिंह गद्दी पर बैठा। उसकी सारी जिंदगी मुगलों की सेवा में बीती। वह शाहजहां के बीमार होने पर उत्तराधिकार की लड़ाई में शाही सेना के साथ धर्मत के युद्ध में औरंगजेब के विरुद्ध लड़ा। शाही सेना हार गयी। मुकुंदसिंह इस युद्ध में मारा गया। मुकुंदसिंह ने अपने राज्यकाल में अबला मीणी के लिए कोटा और मालवा की सीमा पर घाटे पर एक महल बनवाया। यह मीणी उसकी उप-पत्नी थी। यह घाटा आज भी मुकुंदड़ा के नाम से जाना जाता है।

मुकुंदसिंह के बाद उसका पुत्र जगतसिंह सन् १६५८ में कोटा का स्वामी बना। इस समय दिल्ली के तख्त पर औरंगजेब आसीन हो चुका था। उसने जगतसिंह को दिल्ली बुलाया और उसे उचित मनसब प्रदान कर कोटा के स्वामी के रूप में मान्यता प्रदान की। जगतसिंह औरंगजेब की ओर से पहले शाहजादा सुजा के विरुद्ध और बाद में शिवाजी के विरुद्ध लड़ा। वह सन् १६८३ में दक्षिण में ही निःसंतान मर गया।

१. टॉड, 'ए० ए० ए० ऑफ राजस्थान', जिल्द ३५, पृ० १४८७।
२. डॉ० मथुरालाल शर्मा, 'कोटा राज्य का इतिहास', प्रथम भाग, पृ० १२८।

जगतसिंह के स्थान पर माधोसिंह के चौथे पुत्र कन्हीराम के पुत्र प्रेमसिंह को कोटा की गद्दी पर बैठाया गया। परंतु वह निकम्मा शासक साबित हुआ। उसे एक वर्ष बाद ही राज्य के सामंतों ने गद्दी से उतार दिया और उसके स्थान पर माधोसिंह के सबसे छोटे पुत्र किशोरसिंह को गद्दी पर बैठाया। गद्दी पर बैठने के तुरंत बाद वृद्ध किशोरसिंह को औरंगजेब के आदेश से दक्षिण में जाना पड़ा। उसने गोलकुंडा के युद्ध में भाग लिया। इसी बीच भरतपुर के जाट नेता राजाराम द्वारा सिर उठाने पर औरंगजेब ने किशोरसिंह, जयपुर के सवाई राजा विशनसिंह और बूंदी के हाड़ा अनिरुद्धसिंह को शाहजादा बेदारबक्स के नेतृत्व में भरतपुर भेजा। दोनों पक्षों के बीच सन् १६८८ में बीजल नामक स्थान पर युद्ध हुआ जिसमें राजाराम की हार हुई। राजाराम स्वयं मारा गया। इस युद्ध में किशोरसिंह ने बड़ी वीरता दिखायी। पर बूंदी का अनिरुद्धसिंह मैदान छोड़कर भाग गया।[1] इस पर औरंगजेब ने बूंदी का केशोराय-पाटन का इलाका किशोरसिंह को दे दिया। सन् १६९६ में किशोरसिंह को पुनः दक्षिण में जाना पड़ा, जहां वह मरहठों से लड़ता हुआ अर्काट के युद्ध में मारा गया।

गृह-युद्ध

किशोरसिंह का सबसे बड़ा पुत्र विशनसिंह था। पर किशोरसिंह ने जीते-जी उसे राजगद्दी के हक से महरूम कर अपने दूसरे पुत्र रामसिंह को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। अर्काट के युद्ध में रामसिंह अपने पिता के साथ ही था। किशोरसिंह की मृत्यु पर रामसिंह की अनुपस्थिति में विशनसिंह कोटा का स्वामी बन बैठा। परंतु औरंगजेब ने उसे मान्यता नहीं दी। उसने रामसिंह को मुगल सेना के साथ कोटा भेजा।[2] दोनों भाइयों के बीच आवां नामक स्थान पर युद्ध हुआ। विशनसिंह हार गया और राज्य छोड़कर मेवाड़ चला गया। इस प्रकार रामसिंह ने कोटा पर अधिकार कर लिया। थोड़े समय पश्चात् रामसिंह मुगलों के सहायतार्थ पुनः दक्षिण में गया। वह सन् १७०४ में अरनखेड़े के युद्ध में मरहठों से लड़ा और उन्हें हराया। इससे प्रसन्न होकर बादशाह ने उसे बूंदी के कई इलाके प्रदान किए। औरंगजेब की मृत्यु के बाद साम्राज्य के उत्तराधिकार की लड़ाई में कोटा ने शाहजादा आजम का साथ दिया, जबकि बूंदी ने शाहजादा मोअज्जम का। आजम परास्त हो गया। स्वयं रामसिंह इस युद्ध में मारा गया। फलस्वरूप मुगल दरबार में अब बूंदी का पलड़ा भारी हो गया।

कोटा-बूंदी का वैमनस्य

रामसिंह की मृत्यु पर उसका पुत्र भीमसिंह कोटा राज्य का स्वामी बना।

१. 'वंशभास्कर', तृतीय भाग, पृ २८२८।
२. डॉ० मथुरालाल शर्मा, 'कोटा राज्य का इतिहास', पृ० २२३।

भीमसिंह ने बारा, मांगरोल, मनोहरथाना और शेरगढ़ के इलाकों पर अधिकार कर अपने राज्य का विस्तार किया। पर रामसिंह द्वारा आजम का साथ देने से मुगल बादशाह बहादुरशाह कोटा के हाड़ों से नाराज था। उसने बूंदी के राव बुद्धसिंह को कोटा को बूंदी में मिलाने की आज्ञा दे दी। बूंदी की सेना ने कोटा पर आक्रमण किया पर उसे सफलता नहीं मिली। बहादुरशाह सन् १७१२ में मर गया। उसके बाद जहांदारशाह और जहांदारशाह के स्थान पर फर्रुखसियर दिल्ली की गद्दी पर बैठा। फर्रुखसियर बुद्धसिंह से नाराज था। अतः उसने भीमसिंह को बूंदी पर अधिकार करने की आज्ञा दे दी। भीमसिंह ने सन् १७१३ में बूंदी पर अधिकार कर लिया।[1] फर्रुखसियर ने उसे पंचहजारी मनसबदार बना दिया। बूंदी के राव बुद्धसिंह की शादी जयपुर के सवाई राजा जयसिंह की बहन से हुई थी। जयसिंह ने अपना प्रभाव काम में लेकर सन् १७१५ में फर्रुखसियर से बारां और मऊ के परगनों को छोड़कर शेष बूंदी राज्य पुनः बुद्धसिंह को दिला दिया। इसी बीच दिल्ली में अनेक परिवर्तन हो गए। सैयद बंधुओं और फर्रुखसियर के झगड़े में बुद्धसिंह को दिल्ली से भागकर अपनी जान बचानी पड़ी। फर्रुखसियर मार दिया गया। इलाहाबाद के सूबेदार छबेलाराम ने विद्रोह कर दिया। बुद्धसिंह उससे जा मिला। इस पर सैयदों ने कोटा के भीमसिंह और नरवर के गजसिंह के साथ दिलावर खां के नेतृत्व में बूंदी पर शाही सेना भेजी। १६ फरवरी, १७२० को दोनों पक्षों के बीच युद्ध हुआ। बुद्धसिंह हार गया। बूंदी पर एक बार फिर कोटा का वर्चस्व स्थापित हो गया।[2] सैयदों ने वहां से दिलावर खां, भीमसिंह और गजसिंह को निजामुलमुल्क को दबाने के लिए मालवा भेजा, जहां वे तीनों ८ जून, १७२० को बुरहानपुर के निकट निजाम के विरुद्ध लड़ते हुए युद्ध-क्षेत्र में काम आए।

भीमसिंह ने 'महाराव' की उपाधि धारण कर ली थी। भीमसिंह ने ही हलवर के झाला माउसिंह के पुत्र माधोसिंह को अपनी सेना में नौकर रखा था। कुछ समय बाद माधोसिंह कोटा का फौजदार बन गया। उसने अपनी पुत्री की शादी भीमसिंह के पाटवी पुत्र अर्जुनसिंह से कर दी।

भीमसिंह के मारे जाने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र अर्जुनसिंह कोटा की गद्दी पर बैठा। इसके राज्यकाल में बूंदी राज्य पुनः बुद्धसिंह के अधिकार में आ गया। अर्जुनसिंह सन् १७२३ में निःसंतान मर गया। अर्जुनसिंह के दो भाई थे—श्यामसिंह और दुर्जनशाल। अर्जुनसिंह के स्थान पर उसका छोटा भाई दुर्जनशाल गद्दी पर बैठाया गया। इस पर जयपुर के सवाई जयसिंह की मदद से श्यामसिंह ने कोटा पर आक्रमण किया। परंतु इस युद्ध में श्यामसिंह हार गया और स्वयं भी मारा गया। सन् १७३८ में बाजीराव पेशवा ने कोटा पर धावा बोल दिया। मरहठों का कोटा पर यह पहला आक्रमण था। दुर्जनशाल मरहठों से मुकाबला करने की स्थिति में नहीं था। अतः

१. जगदीशसिंह गहलौत, 'राजस्थान का इतिहास, कोटा राज्य', पृ० ५६।
२. वहीं, पृ० ५८।

उसने लड़ने की अपेक्षा मरहठों का प्रभुत्व स्वीकारना उचित समझकर उनसे सुलह कर ली। उसने मरहठों की बड़ी आवभगत की, जिससे खुश होकर मरहठों ने नाहरगढ़ के मुसलमान जागीरदार को हराकर उसे पुनः कोटा के अंतर्गत कर दिया।

मरहठों का प्रभुत्व

दुर्जनशाल को सन् १७४४ में जयपुर के ईश्वरीसिंह, भरतपुर के सूरजमल और मरहठों के संयुक्त हमले का सामना करना पड़ा। दुर्जनशाल को २ परगने और ४ लाख रुपया देकर मरहठों से सुलह करनी पड़ी। सन् १७५३ में खींचियों ने कोटा पर आक्रमण किया। पर बूंदी के राव उम्मेदसिंह की सामयिक सहायता के कारण खींचियों को सफलता नहीं मिली।[1] दुर्जनशाल सन् १७५६ में निःसंतान मर गया। दुर्जनशाल के शासनकाल में कोटा पर मुगलों के स्थान पर मरहठों का प्रभुत्व हो गया।

दुर्जनशाल के स्थान पर अंता का जागीरदार अजीतसिंह कोटा की गद्दी पर बैठाया गया। इसके लिए मरहठों की स्वीकृति नहीं ली गयी। इस पर मरहठा सरदार राणे जी सिंधिया ने कोटा पर आक्रमण कर दिया। अजीतसिंह ने ४० लाख रुपये नजराने के रूप में देकर मरहठों से पिंड छुड़ाया। अजीतसिंह डेढ़ साल बाद मर गया। उसके स्थान पर उसका पुत्र शत्रुशाल सन् १७५८ में गद्दी पर बैठा। इस अवसर पर उसे मरहठों को २ लाख रुपये नजराने के रूप में देने पड़े।

सन् १७६१ में कोटा को जयपुर के आक्रमण का सामना करना पड़ा। बात यह थी कि हाड़ा जागीरदारों की ८ कोटड़ियां (जागीरें) रणथंभौर की मुगल-हुकूमत के अंतर्गत थीं। सन् १७५३ में मुगल बादशाह अहमदशाह ने रणथंभौर जयपुर के सवाई माधोसिंह को दे दिया। अतः यह स्वाभाविक था कि माधोसिंह कोटड़ियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता। उधर कोटड़ियों के स्वामी हाड़ा राजपूत थे और कोटा और बूंदी के हाड़ा शासकों के परिवार से संबंधित थे। अतः वे जयपुर की अपेक्षा कोटा अथवा बूंदी के अंतर्गत आना अधिक पसंद करते थे। इस समय माधोसिंह झाला का पौत्र हिम्मतसिंह कोटा का फौजदार था। उसके मरहठों से अच्छे संबंध थे। उसने परिस्थिति का लाभ उठाकर उक्त कोटड़ियों को कोटा के संरक्षण में ले लिया। इसी बीच सन् १७५८ में हिम्मतसिंह झाला मर गया। उसका उत्तराधिकारी उसका गोद लिया हुआ पुत्र जालिमसिंह बना। उधर जब जयपुर को यह पता चला कि कोटड़ियों ने कोटा की मातहती स्वीकार कर ली है तो वहां के महाराजा सवाई माधोसिंह ने एक बड़ी सेना कोटा पर भेजी। जालिमसिंह ने मल्हारराव होल्कर को सहायता के लिए तैयार कर लिया। होल्कर ने कोटा के निकट अपनी सेना का पड़ाव डाल दिया। कोटा की सेना का नेतृत्व नौजवान सेनापति जालिमसिंह ने किया। दोनों पक्षों में भटवाड़ा नामक स्थान पर युद्ध हुआ। जयपुर की सेना

१. टॉड, 'राजस्थान', पृ० १५३०।

भाग खड़ी हुई ।[1] संभवतया मरहठा सैनिकों के जमाव को देखकर जयपुर की सेना का साहस टूट गया । जयपुर की भागती हुई सेना को मरहठों ने खूब लूटा । कोटा की सेना को जयपुर की सेना के हाथी, घोड़े और महत्त्वपूर्ण युद्ध-सामग्री एवं जयपुर का पंचरंगा निशान (झंडा) प्राप्त हुआ । इस युद्ध में जालिमसिंह झाला ने अपनी संगठन शक्ति और वीरता का परिचय दिया । वह राज्य का एक प्रभावशाली सामंत बन गया । उधर मरहठों का कोटा में दिनों-दिन प्रभाव बढ़ने लगा । मरहठों के बूंदी-अभियान में कोटा ने मरहठों को सहायता दी । कोटा समय-समय पर मरहठों को नजराने के रूप में धन देता रहा । महाराव शत्रुशाल सन् १७६४ में निःसंतान मर गया ।

शत्रुशाल के स्थान पर उसका छोटा भाई गुमानसिंह गद्दी पर बैठा । उसने गद्दी पर बैठते ही जालिमसिंह को मुसाहब आला बना दिया । जालिमसिंह की बहन का विवाह गुमानसिंह से हुआ था । वह दिनों-दिन अपनी शक्ति बढ़ाने में लगा रहा । इससे राजदरबार में उसके प्रति ईर्ष्या बढ़ने लगी । उसके शत्रु महाराव को उसके विरुद्ध भड़काने में सफल हो गए । महाराव ने उसे अपने पद से हटा दिया और साथ ही उसकी जागीर भी छीन ली । जालिमसिंह को कोटा छोड़कर मेवाड़ जाना पड़ा । कुछ समय बाद वह पुनः कोटा लौट आया । इस समय मल्हारराव होल्कर बकानी के किले पर अधिकार कर कोटा की ओर अग्रसर हो रहा था । इस नाजुक अवसर पर गुमानसिंह ने जालिमसिंह को पुनः राज्य का फौजदार नियुक्त किया । जालिमसिंह मरहठों को ६ लाख रुपये दिलवाकर समझौता कराने में सफल हो गया । गुमानसिंह ने जालिमसिंह को अब अपना मुसाहब आला बना दिया । गुमानसिंह सन् १७७० में मर गया । 'वंशभास्कर' के अनुसार जालिमसिंह झाला ने उसे जहर देकर मरवा डाला ।[2] परंतु जालिमसिंह ने गुमानसिंह की मृत्यु की सारी जिम्मेदारी महाराव के एक निकट के भाई और दीवान स्वरूपसिंह पर डालकर उसे खत्म करवा दिया ।

शक्तिशाली जालिमसिंह

गुमानसिंह के स्थान पर उसका १० वर्षीय पुत्र उम्मेदसिंह गद्दी पर बैठा । महाराव की नाबालिगी का लाभ उठाकर उसका मामा जालिमसिंह राज्य का सर्वेसेवा बन गया । उसने स्वरूपसिंह को मरवाकर अपनी स्थिति और भी सुदृढ़ कर ली । उम्मेदसिंह केवल नाममात्र का महाराव रह गया था । उम्मेदसिंह के राज्यकाल में पेशवा ने कोटा राज्य अपने चार मरहठा सरदारों को जागीर के रूप में दे दिया था । अतः कोटा प्रतिवर्ष एक लाख रुपये कर के रूप में मरहठा सरदारों को भेजता था । सन् १८०४ में अंग्रेजी सेना ने कर्नल मानसन के नेतृत्व में होल्कर पर आक्रमण किया । कोटा ने अंग्रेजों का साथ दिया था और अपनी सेना मानसन के सहायतार्थ

१. डॉ० रामप्यारी शास्त्री, 'झाला जालिमसिंह', पृ० ३७-४५ ।
२. 'वंशभास्कर', चतुर्थ भाग, पृ० ३८९६ ।

भेजी थी। पर होल्कर ने अंग्रेजों के दांत खट्टे कर दिए। कोटा की सेना की भी बड़ी हानि हुई। इस घटना से क्रुद्ध होकर होल्कर ने कोटा पर आक्रमण कर दिया। जालिमसिंह ने होल्कर से संधि कर ३ लाख रुपये हर्जाने के रूप में देकर मरहठों से पुनः मित्रता कायम कर ली। जालिमसिंह ने मरहठा सरदार मालवराव को मुक्त कराने के लिए मेवाड़ पर आक्रमण किया। महाराणा को सेना के व्यय के रूप में जहाजपुर का परगना जालिमसिंह को देना पड़ा और मालवराव को रिहा करना पड़ा।[1]

अंग्रेजों की मातहती

अठारहवीं शताब्दी के अंत तक अंग्रेज (ईस्ट इंडिया कंपनी) भारत के पूर्वी भाग में अपना प्रभुत्व जमा चुके थे। सन् १८०३ में उन्होंने सिंधिया को हरा दिया था। पर फिर भी मरहठों का दबदवा अभी कायम था। अतः जालिमसिंह कभी अंग्रेजों का साथ देता और कभी मरहठों का। पर जब होल्कर डीग के युद्ध में अंग्रेजों से परास्त हो गया तो जालिमसिंह को समझने में देर नहीं लगी कि अब मरहठों के दिन लद गए हैं और देश में उनका स्थान अंग्रेज ले लेंगे। अतः ईस्ट इंडिया कंपनी की ओर से कर्नल टॉड ने जब पिंडारियों को दबाने के लिए जालिमसिंह से सैनिक सहायता मांगी तो जालिमसिंह ने उसे सहायता देना स्वीकार करते हुए भविष्यवाणी की कि १० वर्ष बाद संपूर्ण भारत में कंपनी का राज्य स्थापित हो जाएगा। उस समय जालिमसिंह की पिंडारियों से मित्रता थी। लगभग २००० पिंडारी कोटा की सेना में थे। फिर भी जालिमसिंह ने पिंडारियों के दमन में अंग्रेजों का साथ दिया। ईस्ट इंडिया कंपनी ने जालिमसिंह की सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे डग, पंच-पहाड़, अहोर और गंगराड़ के इलाके प्रदान किए जो उसने अपने स्वामी महाराव कोटा के नाम से स्वीकार किए।

सन् १८१७ में ईस्ट इंडिया कंपनी की ओर से मेटकाफ ने राजपूताना के नरेशों को एक परिपत्र भेजकर उन्हें मरहठों को दबाने के लिए अंग्रेजों से संधि करने के लिए आमंत्रित किया। जालिमसिंह ने कोटा की ओर से कंपनी का निमंत्रण स्वीकार कर २६ दिसंबर, १८१७ को कंपनी के साथ संधि कर ली। इस संधि द्वारा कोटा अंग्रेजों की मातहती में चला गया। संधि के अनुसार कोटा राज्य बिना अंग्रेज सरकार की अनुमति के किसी राजा या रियासत से कोई समझौता नहीं कर सकता था। कोटा ने २,५७,६०० रुपये वार्षिक अंग्रेजों को खिराज के रूप में देना स्वीकार किया। हस्ताक्षर होने के कुछ ही समय बाद मार्च, १८१८ में उक्त संधि में एक शर्त और जोड़ दी गयी, जिसके अनुसार जालिमसिंह झाला और उसके वंशजों को परंपरागत रूप से कोटा का संपूर्ण अधिकार-संपन्न दीवान स्वीकार कर लिया गया। इस शर्त के अनुसार राज्य की सारी सत्ता जालिमसिंह और उसके वंशजों के हाथ में चली

१. 'वीर विनोद', भाग २, प्रकरण २५।

गयी। कोटा के महाराव केवल नाममात्र के शासक रह गए। राज्य में एक म्यान में दो तलवारें हो गयीं। महाराव उम्मेदसिंह सन् १८१९ में मर गया।

संघर्ष की शुरुआत

महाराव उम्मेदसिंह के स्थान पर उसका बड़ा पुत्र किशोरसिंह (द्वितीय) गद्दी पर बैठा। जालिमसिंह झाला पुनः राज्य का मुसाहब आला बना। यद्यपि उसने अपनी वृद्धावस्था के कारण राज्य का शासन-भार अपने पुत्र माधोसिंह को सौंप दिया, तथापि राज्य के नीति संबंधी सभी निर्णय जालिमसिंह ही लेता था। महाराव किशोरसिंह को जालिमसिंह एवं उसके पुत्र माधोसिंह का वर्चस्व पसंद नहीं था। वह किसी भी कीमत पर उनसे मुक्ति चाहता था। फलतः राजदरबार में दो गुट हो गए। महाराव का सबसे छोटा भाई पृथ्वीसिंह और जालिमसिंह का औरस पुत्र गोवर्धनदास महाराव के साथ था तो महाराव का एक अन्य भाई विष्णुसिंह जालिमसिंह के साथ। पोलिटिकल एजेंट कर्नल टॉड ने जालिमसिंह का समर्थन किया। उसने कोटा के किले पर घेरा डाल दिया। इस पर महाराव अपने साथियों-सहित किले को छोड़कर निकल पड़ा। कर्नल टॉड रंगवाड़ी नामक स्थान पर महाराव से मिला और उसे समझा-बुझाकर पुनः किले में ले आया। जालिमसिंह और माधोसिंह ने महाराव को नजराना पेश कर अपनी स्वामी-भक्ति का परिचय दिया। परंतु इस प्रकरण में महाराव को अपने सहायक गोवर्धनदास को कोटा से निर्वासित करने के लिए बाध्य होना पड़ा। टॉड द्वारा स्थापित यह शांति अल्पकालीन सिद्ध हुई।

महाराव और झाला के बीच युद्ध

थोड़े समय बाद दोनों पक्षों में पुनः विरोध की ज्वाला भड़क उठी। किशोरसिंह ने कुछ सैनिक अधिकारियों की सहायता से किले पर अधिकार कर लिया। इस पर जालिमसिंह ने किले को घेर लिया और उस पर गोले बरसाने शुरू कर दिए। महाराव अपने भाई पृथ्वीसिंह के साथ किले से पैदल ही निकल कर बूंदी चला गया और वहां से दिल्ली पहुंच गया। महाराव की दिल्ली में भी कोई सुनवाई नहीं हुई। अंत में वह मथुरा-वृंदावन चला गया। परंतु साल-भर बाद जब वह पुनः अपने राज्य में आया तो लगभग ३००० हाड़ा राजपूत उसकी सहायता के लिए उपस्थित हो गए। महाराव ने पुनः किले में प्रवेश कर लिया। इस पर जालिमसिंह झाला और महाराव के बीच ठन गई। अंग्रेजों ने झाला का साथ दिया। १ अक्तूबर, १८२१ को बाणगंगा के तट पर मांगरोल नामक स्थान पर दोनों पक्षों के बीच युद्ध छिड़ गया, जिसमें झाला की विजय हुई। महाराव किशोरसिंह युद्ध-भूमि से सीधा नाथद्वारा चला गया जहां उसने कोटा राज्य को श्रीनाथजी के 'अर्पण' कर दिया। अंत में मेवाड़ के भीमसिंह ने बीच में पड़ कर महाराव और जालिमसिंह के बीच २२ नवंबर, १८२१ को समझौता कराया। इस समझौते के अनुसार यह तय हुआ कि महाराव के निजी कार्यों में जालिमसिंह झाला दखल नहीं देगा और झाला के राजकाज में महाराव दखल

नहीं देगा ।[1] महाराव दिसंबर में कोटा लौट आया । सन् १८२४ में जालिमसिंह ८५ वर्ष की अवस्था में मर गया । अंग्रेजों के साथ हुई सन् १८१८ की संधि के अनुसार जालिमसिंह के स्थान पर उसका पुत्र माधोसिंह, जो जालिमसिंह की मौजूदगी में ही राजकार्य देखा करता था, कोटा का दीवान और फौजदार बन गया । किशोरसिंह सन् १८२८ में निःसंतान मर गया ।

जालिमसिंह का व्यक्तित्व

जालिमसिंह सन् १७६१ से लगाकर मृत्युपर्यन्त सन् १८२४ तक कोटा राज्य का एकछत्र शासक रहा । वह बड़ा वीर, साहसी, चतुर और अपने समय का माना हुआ कूटनीतिज्ञ था । राज्य में अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए उसने हाड़ा सामंतों की शक्ति को नष्ट कर दिया । उसने अपनी बहन की शादी कोटा महाराव गुमानसिंह और पुत्री की शादी बूंदी के महाराव विष्णुसिंह से कर दोनों राज-परिवारों से अपना पारिवारिक संबंध स्थापित कर लिया । जालिमसिंह का न केवल कोटा और बूंदी वरन् मेवाड़-दरबार में बड़ा दबदबा था । उसने राज्य के हित में मरहठा शासकों से दोस्ती बनाये रखी । पर जब देखा कि अंग्रेजों का सितारा उदय होने वाला है तो उसने मरहठों का जूआ हटाकर अंग्रेजों से संधि करने में तनिक भी संकोच नहीं किया ।

कोटा का अंगभंग

महाराव किशोरसिंह के बाद उसके छोटे भाई पृथ्वीसिंह का पुत्र रामसिंह (द्वितीय) सन् १८२८ में कोटा की गद्दी पर बैठा । माधोसिंह झाला ने पिछली घटनाओं से सबक लेकर महाराव रामसिंह से मधुर संबंध बनाए रखे । माधोसिंह सन् १८३३ में मर गया । उसके स्थान पर उसका पुत्र मदनसिंह कोटा का मुसाहब आला बना । मदनसिंह ने अपने मूर्खतापूर्ण व्यवहार से महाराव से बिगाड़ कर लिया । अंग्रेजों ने बीच में पड़कर सन् १८३७ में दोनों के बीच समझौता कराया जिसके अनुसार झालाओं को कोटा राज्य के मुसाहब आला का पैतृक पद छोड़ना पड़ा । पर इसकी एवज में कोटा राज्य को भारी कीमत चुकानी पड़ी । महाराव को कोटा का एक-तिहाई भाग मदनसिंह को देना पड़ा । इस प्रकार सन् १८३७ में राजपूताने में 'झालावाड़' के नाम से एक नये राज्य का उदय हुआ । हाड़ौती प्रदेश का यह दूसरी बार अंगभंग था ।

सन् १८५७ का गदर और कोटा

कोटा के मुसाहब आला मदनसिंह झाला ने कोटा के विभाजन के पूर्व अंग्रेज सरकार के सहायतार्थ 'कोटा कंटिनजेंट' नाम से एक फौज बनायी, जिसके खर्च के

१. टॉड, 'एनाल्स एंड एंटीक्वीटीज ऑफ राजस्थान', जिल्द ३, पृ० १६०६।

पेटे ३ लाख रुपये वार्षिक कोटा से लेना तय रहा। महाराव रामसिंह के विरोध करने पर बाद में यह रकम २ लाख रुपए कर दी गयी। सन् १८५७ में देश में गदर (सैनिक विद्रोह) हुआ। नसीराबाद और नीमच की छावनियों में भारतीय सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। कोटा का पोलिटिकल एजेंट बर्टन नीमच छावनी के कर्नल मेकडानल्ड की सहायता हेतु नीमच पहुंच गया। बर्टन नीमच के विद्रोह को दबाकर वापस कोटा पहुंचा। कोटा के विभाजन के कारण कोटा की जनता और स्वयं महाराव में अंग्रेजों के विरुद्ध रोष होना स्वाभाविक था। महाराव ने तो बर्टन को वापस कोटा न आने का सुझाव दिया था। पर बर्टन ने यह स्वीकार नहीं किया। उसने लौटते ही महाराव पर दबाव डाला कि विद्रोही तत्त्वों को राज्य-सेवा से निकाल दिया जाए और उन्हें उचित दंड दिया जाए। इस खबर ने आग में घी का काम किया। १५ अक्तूबर को कोटा कंटिनजेंट ने विद्रोह कर दिया। उसने रेजीडेंसी के अस्पताल पर आक्रमण कर मेजर बर्टन, उसके पुत्र और दो अंग्रेजी डाक्टरों को मौत के घाट उतार दिया। क्रांतिकारियों ने शीघ्र ही कोटा नगर तथा राजकीय रसद भंडार, तोपखाना और कोतवाली पर अपना अधिकार जमा लिया। उन्होंने स्वयं महाराव रामसिंह को 'नजरबंद' कर लिया। शेरगढ़ में कोटा की स्थानीय सेना ने भी विद्रोह कर दिया। कई किलेदारों ने राजकोष का धन क्रांतिकारियों को सौंप दिया। पड़ोस के कतिपय जागीरदारों ने क्रांतिकारियों का सामना किया। इन झड़पों में ८०० विद्रोही मारे गए। उसी समय महाराव की गुप्त सूचना पर करौली के महाराजा मदनपाल ने अपनी सेना विद्रोहियों के विरुद्ध भेजी। करौली की सेना ने महाराव को मुक्त करवाया। मार्च, १८५८ में कर्नल रॉबर्ट के नेतृत्व में एक सेना कोटा पर भेजी। इस सेना ने विद्रोही सेना का सफाया कर दिया। इस प्रकार ६ माह तक विद्रोहियों का कोटा पर अधिकार रहा।[१] विद्रोहियों के नेता मोहम्मद खां, अम्बर खां और गुलमोहम्मद खां युद्ध में मारे गए। कई लोगों के सिर कटवा दिए गए अथवा उन्हें तोपों से उड़वा दिया गया। विद्रोही नेता जयदयाल और महाराव खां को फांसी दे दी गयी। बर्टन की रक्षा करने में लापरवाही बरतने के आरोप में महाराव रामसिंह की तोपों की सलामी १७ से १३ कर दी गयी। कोटा कंटिनजेंट भंग कर दी गयी। इस प्रकार शेष भारत की तरह कोटा में भी सैनिक-विद्रोह का दुखद अंत हुआ। परंतु कोटा राज्य के सुदूर ग्रामीण अंचलों में आगामी कुछ वर्षों तक विद्रोहियों का प्रभाव बना रहा।[२]

अंग्रेजों का दखल

सन् १८६६ में रामसिंह की मृत्यु पर उसके स्थान पर उसका गोद लिया हुआ पुत्र भीमसिंह शत्रुशाल के नाम से गद्दी पर बैठा। उसके समय में राज्य पर

१. डॉ० खडगावत, 'राजस्थान, राजस्थान रोल इन दी स्ट्रगल ऑफ १८५७', पृ० ६०-६२।
२. डॉ० मथुरालाल शर्मा, 'कोटा राज्य का इतिहास', पृ० ६२६-३०।

भारी कर्ज हो गया। अतः अंग्रेज सरकार ने फैजअली खां को कोटा का दीवान नियुक्त किया। फैजअली खां ने राज्य में कई महत्त्वपूर्ण सुधार किए। परगनों का पुनर्गठन किया। राज्य का बजट तैयार किया जाने लगा। पाठशालाएं खोलीं। राजधानी में अस्पताल बनाया। फैजअली खां ने उर्दू को राज्य-भाषा घोषित कर दिया। इस तरह के कारणों से महाराव की फैजअली खां से नहीं बन सकी। वह २ वर्ष बाद चला गया। अंग्रेज सरकार ने शासन-प्रबंध पोलिटिकल एजेंट को सौंप दिया। एजेंट एक कौंसिल की सहायता से शासन चलाने लगा। महाराव के जीवन-काल में यही व्यवस्था बनी रही। इस काल में राज्य में भूमि का बंदोबस्त पूरा हुआ। खेतों का लगान नकदी में लिया जाने लगा। राज्य पर चढ़ा हुआ कर्जा चुका दिया गया। शत्रुशाल सन् १८८९ में निःसंतान मर गया।

कोटा का विकास-युग

महाराव शत्रुशाल के स्थान पर कोटड़े का भीमसिंह 'उम्मेदसिंह' के नाम से कोटा की गद्दी पर बैठा। उस समय वह १६ वर्ष का था। अतः भारत सरकार ने उसे बालिग होने पर सन् १८९२ में शासनाधिकार प्रदान किए। उम्मेदसिंह बड़ा भाग्यशाली साबित हुआ। महाराव रामसिंह (द्वितीय) को अपने दीवान मदनसिंह झाला से मुक्ति पाने के लिए सन् १८३७ में १७ परगने देकर उसे झालावाड़ के स्वतंत्र शासक के रूप में स्वीकार करना पड़ा था। यह सब तत्कालीन पोलिटिकल एजेंट कर्नल टॉड के दबाव के कारण करना पड़ा। अतः कोटा के शासक इस संबंध में भारत सरकार से बराबर अपनी नाराजगी जाहिर करते रहे। अंग्रेजों को कोटा की यह शिकायत दूर करने का अब एक अवसर मिल गया। भारत सरकार को सन् १८९६ में झालावाड़ के रावराणा जालिमसिंह को शासन में अव्यवस्था पैदा होने के कारण गद्दी से हटना पड़ा। जालिमसिंह के कोई पुत्र नहीं था। अतः भारत सरकार ने भवानीसिंह को कोटा की गद्दी पर गोद लेने का प्रस्ताव तब स्वीकार किया जबकि उसने झालावाड़ राज्य के १५ परगने वापस कोटा को देना मान लिया। इस प्रकार सन् १८९९ में कोटा अपने १५ परगने झालावाड़ से वापस लेने में कामयाब हो गया।

उम्मेदसिंह ने दूसरा शुभ कार्य किया पड़ोसी राज्यों से संबंध सुधारने का। कोटा और बूंदी के हाड़ा शासकों के बीच २०० से अधिक वर्षों से अनबन चल रही थी। उम्मेदसिंह ने सन् १९२३ में बूंदी के महाराव की बीमारी के संबंध में बूंदी जाकर शताब्दियों पुराने वैमनस्य को समाप्त किया। इसी तरह सन् १७६१ के भटवाड़ा के युद्ध के कारण जयपुर और कोटा में मनोमालिन्य चल रहा था। उम्मेदसिंह ने महाराजा मानसिंह की बहन से शादी कर दोनों राजवंशों के बीच पुनः संबंध स्थापित किए। झालावाड़ के शासक इस बात से नाराज थे कि सन् १८९९ में कोटा ने झालावाड़ के परगने ले लिये थे। उम्मेदसिंह ने वहां के महाराजा राणा से मिलकर पुरानी रंजिश को समाप्त किया।

उम्मेदसिंह ने अपने शासनकाल में भूमि का बंदोबस्त करवा कर राज्य की

आय में वृद्धि की। उसने कोटा में हाईस्कूल और कन्या पाठशाला और राज्य के अन्य भागों में कई स्कूल खोले। हर तहसील में एक अस्पताल खोला। कृषि के क्षेत्र में सुधार किए। नया तोल और मदनशाही एवं हाली रुपये के स्थान पर अंग्रेजी सिक्का चालू किया। महाराव के प्रयत्नों से राज्य में रेल आई। महाराव ने कई भवन बनवाए एवं राज्य के बाहर काशी विश्वविद्यालय तथा लेडी हार्डिंज मेडिकल कॉलेज जैसी संस्थाओं को आर्थिक सहायता दी। राज्य में डाक और तार की व्यवस्था की। सहकारी समितियां और सहकारी बैंक की स्थापना की। उसके राज्य-काल में राज्य में कई छोटे-बड़े कारखाने लगे। महाराव ने दोनों युद्धों के दौरान अंग्रेज सरकार के सहायतार्थ धनराशि भेजी। उसने मंदिरों और मस्जिदों का जीर्णोद्धार कराया। वह सन् १९४० में मर गया। उसके स्थान पर उसका पुत्र भीमसिंह गद्दी पर बैठा।

क्रांतिकारी बारहठ परिवार

महाराव उम्मेदसिंह का राज्य-काल कोटा के लिए वस्तुतः विकास-युग था। परंतु उसके शासन-काल में एक ऐसी घटना घटी जिससे उसकी कीर्ति को धब्बा लगा। सन् १९१४ में जोधपुर के एक धनी महंत की हत्या के संबंध में प्रसिद्ध क्रांतिकारी ठाकुर केशरीसिंह बारहठ, पं० सोमदत्त लाहिरी और दो अन्य व्यक्ति गिरफ्तार कर लिये गए। कोटा की अदालत ने ठाकुर केशरीसिंह, रामकरण और लाहिरी को २०-२० वर्ष की सजा दी। बारहठ को कोटा जेल से हजारीबाग जेल में भेज दिया। वह भारत सरकार द्वारा कोटा के महाराव के विरोध के बावजूद सन् १९१८ में छोड़ दिया गया। परंतु जब बारहठ जेल से छूटकर कोटा आया तो महाराव ने शायद पश्चाताप के रूप में उसके रहने के लिए एक शानदार कोठी बनवायी।[1]

ठाकुर केशरीसिंह बारहठ शाहपुरा के चारण परिवार में पैदा हुआ था। पहले वह मेवाड़ के महाराणा की सेवा में था। परंतु महाराव के मांगने पर महाराणा ने उसे कोटा भेज दिया। वह संस्कृत साहित्य, दर्शन तथा ज्योतिष का विद्वान था। वह डिंगल भाषा का माना हुआ कवि था। उसके चेतावनी के चूगठियों से प्रभावित होकर मेवाड़ का महाराणा फतहसिंह सन् १९०३ में दिल्ली से वायसराय के दरबार में भाग लिये बिना ही लौट आया था। बारहठ का संबंध बंगाल और महाराष्ट्र के क्रांतिकारियों से था। उसका रासबिहारी बोस से सीधा संबंध था। उसकी प्रेरणा से राजस्थान में 'अभिनव भारत' नामक क्रांतिकारी संगठन की स्थापना हुई। उसने राजस्थान के राजाओं और जागीरदारों को क्रांतिकारी संगठन में लाने के लिए 'वीर भारत सभा' की स्थापना की। उसने अपने भाई जोरावरसिंह, पुत्र प्रतापसिंह और जंवाई ईश्वर दान आसिया को देश-सेवा के लिए समर्पित कर दिया।

जोरावरसिंह और प्रतापसिंह उन क्रांतिकारियों में से थे जिन्होंने सन् १९१२ में लॉर्ड हार्डिंज पर बम फेंकने की कार्यवाही में सक्रिय भाग लिया। जोरावरसिंह

१. डॉ० मथुरालाल शर्मा, 'ठाकुर केशरीसिंह बारहठ-स्मारिका', १९७६, पृ० ५०-५१।

फरार होने में सफल हो गया और आजीवन नहीं पकड़ा जा सका। सन् १९३७ में जब प्रांतों में कांग्रेसी सरकारें बनीं तो उसका वारंट रद्द कराने की कार्यवाही हुई। परंतु सन् १९३९ में जब वारंट रद्द होने की सूचना समाचार-पत्रों में छपी तो उसी दिन इस महान् क्रांतिकारी का कोटा की एक हवेली में देहांत हो गया। प्रतापसिंह पकड़ा गया। परंतु उसके खिलाफ सबूत नहीं होने से छोड़ दिया गया। कुछ समय बाद उसके विरुद्ध बनारस षड्यंत्र केस में वारंट निकला। वह जोधपुर के निकट आसा-नाड़ा नामक स्थान पर धोखे से पकड़ा गया। उसे बरेली जेल में रखा गया जहां उसे नारकीय यातनाएं दी गयीं। फलस्वरूप वह ७ मई, १९१८ को शहीद हो गया।[1]

जन-जागृति

कोटा राज्य में जन-जागृति का जनक था पं० नयनूराम शर्मा। वह थानेदार (पुलिस सब-इंस्पेक्टर) के पद से इस्तीफा देकर सार्वजनिक जीवन में आया। वह विजयसिंह पथिक द्वारा संचालित राजस्थान सेवा-संघ का सदस्य बना। सन् १९३४ में पं० नयनूराम, पं० अभिन्नहरी और तनसुखलाल मित्तल ने हाड़ौती प्रजामंडल की स्थापना की। परंतु इस संस्था ने कोई प्रगति नहीं की। सन् १९३८ में कोटा राज्य प्रजामंडल की स्थापना हुई। पं० नयनूराम और तनसुखलाल के अलावा सर्वश्री मोती-लाल जैन, भैरवलाल काला बादल, विमलकुमार कंजोलिया, पं० अभिन्नहरी, हीरालाल जैन आदि प्रजामंडल के सदस्य बन गए। मांगरोल में पं० नयनूराम शर्मा की अध्यक्षता में प्रजामंडल का पहला अधिवेशन हुआ जिसमें राज्य में उत्तरदायी शासन स्थापित करने की मांग की गयी। सन् १९४१ के अक्तूबर में पं० नयनूराम शर्मा रामगंज-मंडली से अपने गांव जाता हुआ मार दिया गया। शर्मा के बाद प्रजामंडल की बागडोर पं० अभिन्नहरी के हाथ में आयी। पं० अभिन्नहरी सन् १९४१ में प्रजा-मंडल के कोटा-अधिवेशन का अध्यक्ष बना।

सन् १९४२ के देशव्यापी 'भारत छोड़ो' आंदोलन में कोटा का भी महत्त्वपूर्ण योग रहा। पं० अभिन्नहरी, शंभूदयाल सक्सेना, वेणीमाधव, बागमल बाठिया और मोतीलाल जैन आदि कार्यकर्ता गिरफ्तार कर लिये गए। इस पर जन-आंदोलन भड़क उठा। जनता ने शहर पर 'अधिकार' कर पुलिस कोतवाली पर तिरंगा झंडा फहरा दिया। पुलिस को बैरकों में बंद कर दिया। नगर में जनता का राज्य स्थापित हो गया। अंत में महाराव द्वारा दमन का सहारा पुनः न लेने के आश्वासन पर जनता ने कोटा का शासन पुनः महाराव को सौंपा। प्रजामंडल के कार्यकर्ता रिहा कर दिए गए। श्री नाथूलाल जैन सन् १९४२ के आंदोलन में बाहर से आंदोलन का संचालन करता रहा। वह सन् १९४३ में अजमेर पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया। बाद में वह कोटा में भी भारत सुरक्षा कानून के अंतर्गत जेल में बंद रहा। प्रजामंडल ने सन् १९४५ में नागरिक-अधिकारों के लिए आंदोलन छेड़ा जिसमें कुछ कार्यकर्ता गिरफ्तार

१. प्रो० शंकरसहाय सक्सेना, 'ठाकुर केशरीसिंह बारहठ-स्मारिका', पृ० २८।

किए गए पर तुरंत ही रिहा कर दिए गए।

कोटा का विलय

सन् १९४६ में देश में राजनीतिक परिस्थितियां तेजी से बदलीं। ब्रिटिश सरकार ने सत्ता भारतीयों को हस्तांतरित करने की घोषणा की। १५ अगस्त, १९४७ को देश आजाद हो गया। कोटा भी इन परिवर्तनों के प्रभाव से बच नहीं सकता था। महाराव ने पं० अभिन्नहरी के नेतृत्व में राज्य में लोकप्रिय सरकार बनाने का निर्णय लिया। प्रस्तावित सरकार में शामिल होने वाले थे—सर्वश्री वेदपाल त्यागी, नाथूलाल जैन और शंभूदयाल सक्सेना। पर इसी बीच भारत सरकार ने छोटी-छोटी रियासतों को पड़ोस की रियासतों में मिलाने अथवा रियासतों के आपसी विलय द्वारा संघ स्थापित करने का निर्णय लिया। भारत सरकार की योजना थी कि कोटा, बूंदी और झालावाड़ को प्रस्तावित मध्यभारत-संघ में मिला दिया जाए। पर उक्त रियासतों के शासक और वहां के जन-नेताओं ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। जन-भावना की कद्र करते हुए भारत सरकार ने कोटा, बूंदी, झालावाड़, किशनगढ़, शाहपुरा, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ और टोंक आदि राज्यों को मिलाकर संयुक्त राजस्थान बनाने का निश्चय किया। केंद्रीय मंत्री एन० वी० गाडगिल ने २५ मार्च, १९४८ को कोटा में इस नये राज्य का उद्घाटन किया। कोटा के महाराव भीमसिंह राज्य के राजप्रमुख बने एवं शाहपुरा के प्रो० गोकुललाल असावा प्रधानमंत्री। परंतु नये राज्य के मंत्रिमंडल के शपथ लेने के पूर्व ही मेवाड़ संयुक्त राजस्थान में शामिल हो गया। अब इस पुनर्गठित राज्य के राजप्रमुख मेवाड़ के महाराणा भूपालसिंह और उप-राजप्रमुख कोटा के महाराव बने। नये राज्य की राजधानी उदयपुर और प्रधानमंत्री श्री माणिक्यलाल वर्मा बने। कोटा से पं० अभिन्नहरी मंत्रिमंडल में लिये गए। २९ मार्च १९४९ को राजस्थान की शेष रियासतें भी राजस्थान में शामिल हो गयीं। इस बड़े राजस्थान की राजधानी जयपुर बनी। राजस्थान में विलय के पूर्व कोटा राज्य का क्षेत्रफल १४,८०० वर्ग किलोमीटर और वार्षिक आय ५० लाख रुपये थी।

सातवां अध्याय

झाला वंश

झालावाड़

हाड़ौती का पहला विभाजन सन् १६३१ में हुआ जबकि मुगल-सम्राट शाह-जहां ने हाड़ा राजपूतों की शक्ति को क्षीण करने की दृष्टि से कोटा संभाग को बूंदी से अलग कर एक पृथक् राज्य स्थापित कर दिया। बूंदी के राव रतन के छोटे पुत्र माधोसिंह को इस नये राज्य का शासक बना दिया। हाड़ौती का दूसरा विभाजन सन् १८३७ में हुआ। कोटा के महाराव रामसिंह ने राज्य के वंश-परंपरागत दीवान मदनसिंह झाला से मुक्ति पाने के लिए उसे झालरापाटन, चेचट, डग, गंगराड़, शाह-बाद, छीपाबड़ोद और कोटड़ा आदि १७ परगने देकर झालावाड़ को एक पृथक् राज्य के रूप में स्वीकार कर लिया।

झालाओं के पूर्वज

मदनसिंह झाला के पूर्वज गुजरात के निवासी थे। सन् १४८८ में झाला राजधर ने ध्रांगध्रा के निकट हलवार नगर बसाया और उसे अपनी जागीर का सदर मुकाम बनाया। राजधर के तीन लड़के थे : अज्जा, सज्जा और राणू। राजधर की मृत्यु के बाद राणू ने हलवर पर अधिकार कर लिया। अतः अज्जा और सज्जा गुज-रात छोड़कर मेवाड़ के महाराणा की सेवा में चले गए। अज्जा सन् १५२७ में राणा सांगा की ओर से लड़ता हुआ खानवा के युद्ध में मारा गया एवं सज्जा गुजरात के बहादुरशाह के आक्रमण के समय चित्तौड़ की रक्षा करते हुए काम आया। राणू का एक वंशज भावसिंह ईडर में जा रहा। वहां से वह दिल्ली चला गया। भावसिंह की शादी मेवाड में सावर के जागीरदार के यहां हुई थी। अतः भावसिंह के दिल्ली-निवास के समय उसकी पत्नी और पुत्र माधोसिंह सावर में जा रहे। माधोसिंह बड़ा होने पर सन् १६९६ में २५ सवारों की एक फौजी टुकड़ी बनाकर कोटा राज्य की

सेवा में चला गया ।[1] कोटा महाराव साम्राज्य के उत्तराधिकार की लड़ाई में सन् १७०७ में जाजव नामक स्थान पर शाहजादा आजम की ओर से लड़ते हुए मारा गया । उसके स्थान पर उसका पुत्र भीमसिंह गद्दी पर बैठा । भीमसिंह ने माधोसिंह की बहन की शादी अपने पुत्र अर्जुनसिंह के साथ कर दी । भीमसिंह ने माधोसिंह को राज्य का फौजदार नियुक्त किया और साथ ही उसे नानता की जागीर भी प्रदान कर दी । इस प्रकार माधोसिंह झाला कोटा का एक प्रभावशाली सामंत बन गया । भीमसिंह सन् १७२० में पढार के युद्ध में निजाम के विरुद्ध सैयद बंधुओं की ओर से लड़ता हुआ मारा गया । उसके स्थान पर अर्जुनसिंह गद्दी पर बैठा । उसके तीन वर्ष के अल्प शासनकाल में माधोसिंह झाला ने अपने प्रभाव में यथेष्ट वृद्धि की । अर्जुनसिंह के बाद दुर्जनशाल कोटा का स्वामी बना । इस समय मुगल-साम्राज्य अपने अंतिम क्षण गिन रहा था और मरहठे शक्तिशाली होते जा रहे थे । अतः माधोसिंह की सलाह पर कोटा ने मुगलों के स्थान पर मरहठों का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया । माधोसिंह सन् १७४० में मर गया । उसके स्थान पर उसका पुत्र मदनसिंह कोटा का फौजदार बना । मदनसिंह ने मरहठों और जयपुर के संयुक्त आक्रमण के समय कोटा और मरहठों के बीच समझौता कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी । मदनसिंह सन् १७५३ में मर गया । उसके स्थान पर उसका भाई हिम्मतसिंह झाला कोटा का फौजदार बना । इसी बीच दुर्जनशाल के निःसंतान मर जाने से कोटा के उत्तराधिकारी का प्रश्न पैदा हुआ । राजमाता और सामंतों ने अंता के जागीरदार अजीतसिंह के पुत्र शत्रुशाल को गद्दी पर बैठाया । पर हिम्मतसिंह ने उसे हटाकर शत्रुशाल के पिता ८० साल के अजीतसिंह को गद्दी पर बैठा दिया । इस घटना से पता चलता है कि हिम्मतसिंह कितना शक्तिशाली हो गया था । हिम्मतसिंह सन् १७५८ में निःसंतान मर गया ।

जालिमसिंह का उदय

हिम्मतसिंह के स्थान पर उसके एक भाई पृथ्वीसिंह के पुत्र जालिमसिंह को कोटा का फौजदार नियुक्त किया गया । जालिमसिंह ने जयपुर और कोटा के बीच सन् १७६१ के भटवाड़ा के युद्ध में बड़ी वीरता दिखायी जिसके फलस्वरूप कोटा के दरबार में जालिमसिंह का वर्चस्व स्थापित हो गया । शत्रुशाल के मरने के बाद सन् १७६४ में महाराव गुमानसिंह ने तो उसे मुसाहब आला भी बना दिया । गुमानसिंह की शादी जालिमसिंह की बहन से हुई थी । अतः जालिमसिंह के प्रभाव में दिनों-दिन वृद्धि होती रही । इससे लोगों में ईर्ष्या पैदा होना स्वाभाविक था । जालिम के शत्रु महाराजा को उसके विरुद्ध भड़काने में सफल हो गए । गुमानसिंह ने जालिमसिंह की जागीर जब्त कर ली । उसे अपने पद से हटा दिया और कोटा से निर्वासित कर दिया ।

१. 'वीर विनोद', पृ० १४७२ ।

जालिमसिंह कोटा छोड़कर मेवाड़ में चला गया। महाराणा ने उसे एक छोटी जागीर देकर राज-सेवा में रख लिया। वह महाराणा अरिसिंह की ओर से मरहठों से सिप्रा की लड़ाई में लड़ा। वह मरहठों द्वारा पकड़ा गया। उसके मरहठा मित्र और कोटा के एक जागीरदार अबाजी इंगलिया ने ६०,००० रु० देकर सिंधिया से उसकी मुक्ति हासिल की।[1] इन दिनों कोटा का शासन-प्रबंध बिगड़ता जा रहा था। मजबूर होकर महाराव गुमानसिंह ने जालिमसिंह को पुनः कोटा में बुलाया। जालिमसिंह भी अवसर की तलाश में था। वह तुरंत कोटा लौट आया। उसने पुनः फौजदार का पद संभाल लिया। पर महाराव और जालिमसिंह के बीच तनाव बना रहा। कहते हैं कि जालिमसिंह ने महाराव के घाव पर जहरीली पट्टी बंधवाकर उसे मरवा दिया।[2]

जालिमसिंह की भविष्यवाणी

गुमानसिंह के बाद उसका पुत्र उम्मेदसिंह सन् १७७१ में कोटा की गद्दी पर बैठा। उस समय उसकी उम्र केवल १० वर्ष की थी। इस समय कोटा के मुसाहब आला के पद पर स्वरूपसिंह हाड़ा, जो महाराव के नजदीकी भाई-बंधुओं में था, आसीन था। अपना मार्ग प्रशस्त करने के लिए जालिमसिंह ने सबसे पहले उसे मरवाया। उसके बाद उसने एक-एक कर विभिन्न हाड़ा जागीरदारों का दमन किया। जालिमसिंह ने अपने जुल्मों द्वारा अपने नाम को चरितार्थ कर दिया। वह कोटा राज्य का सर्वेसर्वा बन गया। पर यह नहीं भूलना चाहिए कि वह अपने समय का एक चतुर शासक और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। उसने अपनी कूटनीति से मरहठों के आक्रमणों से कोटा को बचाया और जब उसे मरहठों का पतन सन्निकट नजर आया तो उसने उगते हुए सूर्य अंग्रेजों को सलाम किया। उसने कर्नल टॉड को एक पत्र में लिखा कि अंग्रेज बड़े शुभ अवसर पर देश में आए हैं। जो फूट इस देश में पैदा हुई है वह पक चुकी है और उसके खाने का समय आ गया है। उसने लिखा है कि "मैं समझ-बूझकर यह बात कह रहा हूं कि आप अपनी ताकत के द्वारा इस देश पर अधिकार नहीं करेंगे बल्कि हम स्वयं ही अपनी ईर्ष्या और फूट के कारण इस देश के शासन की बागडोर आपके हाथों में सौंप देंगे।" उसने आगे कहा कि वह दिन दूर नहीं जब इस देश में एक ही सिक्का चलेगा।[3] जालिमसिंह की भविष्यवाणी सही साबित हुई।

कोटा के अंगभंग का बीजारोपण

सन् १८१७ में जालिमसिंह ने कोटा राज्य की तरफ से अंग्रेजों से संधि कर

१. 'वंशभास्कर', पृ० ३८१६-१७।

२. वही, पृ० ३८१६-१७।

३. टॉड, 'ए० ए० ए० ऑफ राजस्थान', जिल्द ७, पृ० १४२०।

उनकी मातहती स्वीकार की। इस संधि में कुछ ही समय बाद उसने यह शर्त भी जुड़वा दी कि कोटा के महाराव उम्मेदसिंह और उसके वंशज होंगे, पर जालिमसिंह और उसके वंशज संपूर्ण अधिकार-संपन्न राज्य के दीवान होंगे।[1] इस प्रकार कोटा राज्य में एक म्यान में दो तलवारें हो गयीं। राज हाड़ों का, पर शासन झालों का। इस दुधारी व्यवस्था से निकट भविष्य में ही कोटा राज्य का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। उसे गृह-युद्ध से गुजरना पड़ा जिसकी परिणति राज्य के अंगभंग में हुई।

महाराव व झालों में मनमुटाव

महाराव उम्मेदसिंह सन् १८१९ में मर गया। उसके स्थान पर उसका पुत्र किशोरसिंह गद्दी पर बैठा। जालिमसिंह अपने पुत्र माधोसिंह की सहायता से मुसाहब आला के पद पर कार्य करता रहा। किशोरसिंह को झालाओं का वर्चस्व स्वीकार नहीं था। उसने उनसे मुक्ति पाने के लिए अंग्रेजों से पत्र-व्यवहार किया। पर कर्नल टॉड की जालिमसिंह से गहरी मैत्री थी। अतः उसने किशोरसिंह के सब प्रयत्न विफल कर दिए। महाराव के दो भाई थे। एक भाई विष्णुसिंह जालिमसिंह से मिल गया। पर दूसरे भाई पृथ्वीसिंह ने महाराव का साथ दिया। उधर जालिमसिंह के पुत्र माधोसिंह की गोवर्धनदास से नहीं बनती थी। गोवर्धनदास जालिमसिंह का औरस पुत्र था। गोवर्धनदास महाराव से मिल गया। इस प्रकार कोटा दरबार में गुटबंदी हो गयी। महाराव और उसके साथी जालिमसिंह से मुठभेड़ की तैयारी करने लगे। यह स्थिति देखकर टॉड ने किले का घेरा डलवा दिया। महाराव घबराकर अपने साथियों सहित कोटा से प्रस्थान कर गया। पर जालिमसिंह की सलाह पर कर्नल टॉड महाराव को मनाकर रंगवाड़ी नामक स्थान से वापस ले आया। इस सुलह के फलस्वरूप जालिमसिंह ने महाराव के प्रति पुनः सम्मान प्रदर्शित किया। पर महाराव को अपने सहयोगी गोवर्धनदास को राज्य से निर्वासित करना पड़ा। यह सुलह अल्प-कालीन सिद्ध हुई।

महाराव एवं झाला में युद्ध

कुछ समय बाद महाराव और जालिमसिंह में फिर मतभेद उत्पन्न हो गए। महाराव ने किले पर अधिकार कर लिया। इस पर जालिमसिंह ने किले पर गोले बरसाना शुरू किया। महाराव अपने साथियों सहित किले से निकलकर बूंदी चला गया। वहां से वह दिल्ली गया। पर वहां उसकी कोई सुनवायी नहीं हुई। वह निराश होकर कोटा की ओर रवाना हुआ। इस बार लगभग ३००० हाड़ा सरदार उसके साथ हो गए। धीरे-धीरे उसकी सेना में ७-८ हजार लोग हो गए। दोनों पक्षों में मांगरोल नामक स्थान पर युद्ध हुआ जिसमें जालिमसिंह झाला विजयी रहा। महा-राव नाथद्वारा चला गया। अंत में उदयपुर के महाराणा भीमसिंह ने बीच में पड़कर

१. एचीशन, 'ट्रीटीज एंड एंगेजमेंट', भाग ३, पृ० ३५७।

महाराव और जालिमसिंह के बीच समझौता कराया। महाराव पुनः कोटा में लौट गया। सन् १८२४ में जालिमसिंह ८५ वर्ष की अवस्था में चल बसा। उसके स्थान पर उसका पुत्र माधोसिंह कोटा का मुसाहब आला बना। महाराव किशोरसिंह सन् १८२८ में मर गया। उसके स्थान पर उसका भतीजा रामसिंह गद्दी पर बैठा। माधोसिंह ने पिछली घटनाओं को ध्यान में रखते हुए जीवन पर्यन्त महाराव के साथ अच्छे संबंध बनाए रखे। वह सन् १८३३ में मर गया।

'राड़ से बाड़ भली'

माधोसिंह के स्थान पर उसका लड़का मदनसिंह कोटा का मुसाहब आला बना। वह दंभी, उद्दंड और अव्यावहारिक था। वह अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने और महाराव को अपमानित करने की दृष्टि से प्रतिदिन किले में घुसते ही महाराव के महल की ओर तोप दगवाता। फलतः दोनों के बीच संबंध बिगड़ गए। कोटा की जनता में मदनसिंह के विरुद्ध असंतोष घर करने लगा। इस प्रकार बिगड़ती हुई स्थिति को ध्यान में रखते हुए अंग्रेजों ने दोनों पक्षों के बीच समझौता करवा दिया। मदन-सिंह और उसके उत्तराधिकारियों का कोटा के मुसाहब आला के पद पर प्राप्त हक सदा के लिए समाप्त कर दिया गया। महाराव का झालाओं से पिंड छूट गया। पर इसके लिए महाराव को भारी कीमत चुकानी पड़ी। कोटा राज्य का एक-तिहाई भाग मदनसिंह को दे दिया गया। इस प्रकार सन् १८३७ में राजपूताना में एक नये राज्य का उदय हुआ। अपने राज्य का एक बड़ा भूभाग खोकर भी रामसिंह ने राहत की सांस ली। हाड़ोती की लोकप्रिय कहावत 'राड़ से बाड़ भली' चरितार्थ हो गयी।

झालावाड़-राज्य की स्थापना

यह नया राज्य मदनसिंह के वंश के नाम से 'झालावाड़' कहलाया। मदन-सिंह इस नये राज्य का संस्थापक बना। उसने अपने पूर्वज जालिमसिंह झाला को मेवाड़ के महाराणा अरिसिंह द्वारा दी गयी 'राव राणा' की उपाधि धारण की। भारत सरकार ने झालावाड़ को एक पृथक् राज्य के रूप में स्वीकार कर लिया। उसने झालावाड़ पर खिराज के रूप में ८० हजार रुपया वार्षिक आयद किया। उस समय झालावाड़ में कुल १७ परगने थे, जिनकी आय १७ लाख रुपये थी।

महाराव रामसिंह के उत्तराधिकारियों को सदैव यह शिकायत रही कि राज्य के दीवान झालाओं को को राज्य का एक बहुत बड़ा भूभाग देकर उन्हें एक स्वतंत्र रियासत का स्वामी बना दिया गया। कोटा की इस शिकायत में वजन था। सन् १८९७ में अंग्रेजों को कोटा की यह शिकायत काफी सीमा तक दूर करने का अवसर प्राप्त हुआ। उस समय झालावाड़ का शासक रावराणा जालिमसिंह था। उसके समय में राज्य का शासन-प्रबंध बहुत बिगड़ चुका था। भारत सरकार ने उसे शासन-प्रबंध ठीक करने के लिए कई चेतावनियां भी दीं। पर इन चेतावनियों का उस पर कोई असर नहीं हुआ। अंग्रेजों ने जालिमसिंह को गद्दी से उतार दिया और झालावाड़

राज्य के १५ परगने कोटा में मिला दिए। इस प्रकार झालावाड़ ६० साल के अल्प समय में ही सिकुड़ कर एक छोटी-सी रियासत रह गया।

झालावाड़ का विलय

जालिमसिंह के कोई संतान नहीं थी। उसके गद्दी से हटाये जाने के तीन वर्ष बाद जनवरी, १८९९ में भवानीसिंह को गद्दी पर बैठाया गया। भवानीसिंह के बाद उसका पुत्र राजेन्द्रसिंह झालावाड़ का शासक बना। राज्य का अंतिम शासक हरिश्चंद्र था। उसने सन् १९४७ में लोकप्रिय सरकार की स्थापना की, जिसके प्रधानमंत्री महाराजा स्वयं एवं अन्य मंत्री थे—कन्हैयालाल मित्तल और मांगीलाल भव्य। झाजावाड़ का २५ मार्च, १९४८ को राजपूताना के ८ अन्य राज्यों के साथ नवनिर्मित संयुक्त राजस्थान संघ में विलय हो गया। ७ अप्रैल, १९४९ को झालावाड़ बृहद राजस्थान राज्य का अंग बन गया। इस प्रकार केवल १११ वर्ष पुराने इस छोटे-से राज्य का अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हो गया।

आठवां अध्याय

देवड़ा चौहान

सिरोही

प्राचीनकाल में सिरोही-क्षेत्र मौर्य, क्षत्रप, हूण, चावड़ा, गहलौत और सोलंकी आदि राजवंशों के अधिकार में रहा। गजनी के शासक महमूद गजनवी के भारत-आक्रमण के समय आबू अथवा बुद्ध का स्थानीय शासक परमार धूंधक था। वह गुजरात के चालुक्यों के अधीन था। महमूद गजनवी ने सन् १०२६ में जब सोमनाथ के मंदिर पर आक्रमण किया तो धूंधक ने चालुक्य-शासक भीमदेव का साथ नहीं दिया। अतः गजनवी के वापस लौटते ही भीमदेव ने अपने सेनापति विमलशाह को धूंधक पर आक्रमण करने भेजा। विमलशाह ने धूंधक को हरा दिया और गिरफ्तार कर भीमदेव के समक्ष प्रस्तुत किया। विमलशाह ने इस युद्ध के बाद आबू के निकट देलवाड़ा नामक स्थान पर सन् १०३१ में जैन तीर्थंकर आदिनाथ भगवान का मंदिर बनवाया जो स्थापत्य कला का अद्वितीय नमूना है। शिलालेखों के अनुसार परमार शासक प्रतापसिंह ने सन् १२८७ में मेवाड़ से चंद्रावती छीन ली।[1] परमारों में आबू का अंतिम शासक हूण था। जालौर के चौहान महाराव लूंबा ने सन् १३११ में आबू व चंद्रावती पर अधिकार कर परमारों की सत्ता को समाप्त कर दिया। इसके पूर्व मुहम्मद गोरी के गुलाम कुतबुद्दीन एबक एवं अलाउद्दीन खिलजी के हमलों के कारण गुजरात के चालुक्यों की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गयी थी एवं आबू के परमार उनसे स्वतंत्र हो चुके थे। इस प्रकार गुजरात का आबू पर लगभग ३०० वर्ष तक आधिपत्य रहा।

देवड़ा चौहान

चौहानों का मूल पुरुष चाहवान था। उसके एक वंशज वाक्पतिराज के दो पुत्र थे। बड़े पुत्र सिंहराज ने सांभर व अजमेर की चौहान-शाखा स्थापित की एवं

१. जगदीशसिंह गहलोत, 'राजपूताने का इतिहास — सिरोही राज्य', पृ० ५८।

छोटे पुत्र लाखन ने नाडोल की। लाखन का वंशधर आल्हण सन् ११५२ के लगभग हुआ था। आल्हण के एक पुत्र कीर्तिपाल ने पंवारों से सोनगिरी (जालौर) जीतकर एक नया राज्य स्थापित किया। कीर्तिपाल के पुत्र मानसिंह ने सिरोही की चौहान-शाखा स्थापित की। मानसिंह का पुत्र प्रतापसिंह था जिसे देवराज भी कहते थे। कहते हैं कि इसी देवराज के नाम पर सिरोही की चौहान शाखा 'देवड़ा' कहलायी।

प्रतापसिंह उर्फ देवराज का पुत्र विजलराय था, जिसे बीजड़ अथवा बिगड़ भी कहा जाता है। बीजड़ ने सन् १२७६ के आसपास आबू के प्रदेश को पंवारों से छीन लिया। उसने मंडार परगने को भी अपने राज्य में मिलाया। बीजड़ के मरने पर उसका पुत्र लूंबा सन् १३१० में गद्दी पर बैठा। उसने परमारों को हराकर उनकी राजधानी चंद्रावती और आबू के इलाकों पर अधिकार कर लिया। उसने सन् १३२० में अचलेश्वर मंदिर का जीर्णोद्धार कराया। लूंबा के बाद तेजसिंह, कान्हड़देव, सामंत-सिंह, सलेखां और रणमल क्रम से चंद्रावती के स्वामी बने।

मेवाड़ का प्रभुत्व

रणमल की मृत्यु पर उसका पुत्र शिवभान सन् १३९२ में गद्दी पर बैठा। शिवभान ने अपनी राजधानी चंद्रावती को सुरक्षित नहीं समझा। चंद्रावती मुसलमानों के आक्रमण से कई बार तबाह हो चुकी थी। अतः शिवभान ने सन् १४०५ में सरणवा पहाड़ी पर सिरोही का किला बनवाया। शिवभान के स्थान पर सहसमल गद्दी पर बैठा। उसने सरणवा पहाड़ी के नीचे सिरोही बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। सिरोही शब्द सरणवा का ही अपभ्रंश है। सहसमल ने सोलंकियों से मालमगरा छीन लिया। उसने मेवाड़ के कुछ इलाके भी अपने राज्य में शामिल कर लिये। इस कारण मेवाड़ के महाराणा कुंभा ने सिरोही राज्य पर हमला कर आबू हस्तगत कर लिया।[1] इसी समय से देवड़ाओं का राज्य मेवाड़ के प्रभाव में आ गया।

सहसमल के बाद उसका लड़का लाखा सन् १४५१ में सिरोही राज्य का स्वामी बना। उसके राज्यकाल में महाराणा कुंभा ने सन् १४५१ में अचलगढ़ किला और अचलेश्वर महादेव का मंदिर एवं कुंड बनवाया। उसने बसंतगढ़ का किला भी बनाया। जब गुजरात का सुल्तान कुतुबुद्दीन मेवाड़ पर चढ़ आया तो महाराणा कुंभा ने बाबू पर उसका मुकाबला किया और उसे परास्त किया। कुछ इतिहास-लेखकों के अनुसार सन् १४५७ में लाखा ने कुतुबुद्दीन की सहायता से आबू पर पुनः अपना अधिकार कर लिया।[2] लाखा ने सोलंकियों के शासक भोज को मारकर उनका मालमगरे का प्रदेश भी अपने राज्य में मिला लिया। वह सन् १४८३ में मर गया।

लाखा के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र जगमाल सिरोही का स्वामी बना। उसके

१. जगदीशसिंह गहलोत, 'राजपूताने का इतिहास—सिरोही राज्य', पृ० ३७।
२. वही, पृ० ३८।

राज्यकाल में दिल्ली के सुल्तान बहलोल लोदी ने मेवाड़ पर चढ़ाई की। सुल्तान हार गया। इस लड़ाई में जगमाल महाराणा रायमल की ओर से बड़ी बहादुरी से लड़ा। इससे प्रसन्न होकर महाराणा ने जगमाल से अपनी पुत्री की शादी की और उसे आबू के शासक के रूप में मान्यता दी।[1] जगमाल ने जालोर के पठानों से लड़ाई की। उसने पठानों से ६ लाख रुपये लेकर समझौता किया। जगमाल सन् १५२३ में मर गया।

जगमाल के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र अखेराज (प्रथम) गद्दी पर बैठा। वह खानवा के युद्ध में महाराणा सांगा की ओर से एक सामंत की भांति लड़ा था। उसने अपने राज्यकाल में देवल राजपूतों का बहुत सारा इलाका अपने राज्य में मिला लिया था। उसने लोहियाणा का किला बनवाया।

अखेराज का पुत्र रायसिंह सन् १५३३ में सिरोही की गद्दी पर बैठा। अपने पूर्वजों की भांति रायसिंह भी सन् १५३५ में गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह द्वारा चित्तौड़ पर आक्रमण करने पर मेवाड़ की ओर से लड़ा था। उसने सन् १५४३ में भीनमाल प्राप्त करने के लिए वहां के पठानों पर चढ़ाई की। पर वह युद्ध में हार गया और स्वयं भी मारा गया।

निर्दयी मानसिंह (द्वितीय)

रायसिंह की मृत्यु के समय उसका पुत्र उदयसिंह नाबालिग था। अतः रायसिंह के छोटे भाई दूदा ने राज्य का भार संभाला। दूदा सन् १५५३ में बघेलों के साथ हुई लड़ाई में मारा गया। उसके स्थान पर उदयसिंह गद्दी पर बैठा। उसने दूदा की इच्छा के अनुसार उसके पुत्र मानसिंह को लाहियाणा जागीर में दिया। परंतु एक वर्ष बाद ही उसने उक्त जागीर वापस छीन ली। मानसिंह रुष्ट होकर महाराणा उदयसिंह की सेवा में उदयपुर चला गया। महाराव उदयसिंह सन् १५६२ में मर गया। उस समय उसके कोई संतान नहीं थी। अतः मानसिंह को उदयपुर से बुलाया गया और गद्दी पर बैठा दिया गया। मानसिंह (द्वितीय) ने गद्दी पर बैठते ही गुजरात की सीमा पर कोलियों का दमन किया और उनसे मेवासी का इलाका छीनकर अपने राज्य में मिला लिया। उन्हीं दिनों उसे स्व० महाराव उदयसिंह की मां से ज्ञात हुआ कि उदयसिंह की विधवा पत्नी गर्भवती है। इस पर उसने उदयसिंह की मां और उसकी गर्भवती पत्नी को मार डाला। उसने स्व० महाराव के प्रधान परमार पंचायण को भी मार डाला। इसका बदला पंचायण के भतीजे कल्ला ने लिया। उसने सन् १५७२ में मानसिंह का कटारी से काम तमाम कर दिया।

सुरताण और मुगल

मानसिंह के कोई पुत्र नहीं था। अतः उसके मरने पर राव लाखा के एक वंशज सुरताण को सिरोही की गद्दी पर बैठाया गया। उस समय वह केवल १२ वर्ष

1. जगदीशसिंह गहलोत, 'राजपूताने का इतिहास—सिरोही राज्य', पृ० ३९।

का था। सुरताण की नाबालिग अवस्था का लाभ उठाकर महाराव शिवभानसिंह के एक वंशज बीजा ने सिरोही की गद्दी हथिया ली। सुरताण सिरोही छोड़कर रामसीण चला गया। बीजा अधिक दिन तक गद्दी पर नहीं टिक सका। महाराव जगमाल के पोते कल्ला ने मेवाड़ के महाराणा की सहायता से सिरोही पर कब्जा कर लिया। बीजा ने ईडर जाकर शरण ली। सिरोही के सरदारों को कल्ला द्वारा गद्दी हथिया लेना बरदाश्त नहीं हुआ। उन्होंने सुरताण को गद्दी पर बैठाने के लिए बीजा और जालोर के पठानों से सहायता प्राप्त की। उनका कल्ला से कालिंदरी के निकट युद्ध हुआ, जिसमें कल्ला हार गया। सुरताण पुनः सिरोही की गद्दी पर बैठा दिया गया। बीजा उसका संरक्षक नियुक्त किया गया।

सन् १५-६ में मुगल बादशाह अकबर ने बीकानेर के महाराजा रायसिंह के नेतृत्व में सिरोही पर सेना भेजी। सुरताण ने शाही सेना का मुकाबला किया। परंतु रायसिंह ने सिरोही पर कब्जा कर लिया। सुरताण आबू के पहाड़ों में चला गया। परंतु रायसिंह ने आबू पर अधिकार कर लिया। अंत में सुरताण ने बादशाह की अधीनता स्वीकार कर ली। इसी बीच बीजा और सुरताण की आपस में खटक गई। बादशाह की सहायता से सुरताण ने बीजा को सिरोही से निकाल दिया। पर इस सहायता के बदले में सुरताण को बादशाह को आधा राज्य सौंपना पड़ा। वह आधा राज्य बादशाह ने महाराणा प्रताप के छोटे भाई जगमाल को दे दिया। कुछ समय बाद जगमाल ने बादशाह की सहायता से शेष सिरोही राज्य पर भी अपना अधिकार कर लिया। सुरताण पहाड़ों में चला गया और मौके की तलाश करता रहा। एक रात्रि को सुरताण ने अचानक ही दताणी गांव में जगमाल पर हमला कर दिया जहां जगमाल स्वयं एवं जोधपुर का रायसिंह ठहरा हुआ था। इस लड़ाई में जगमाल व रायसिंह मारे गए। इस पर अकबर ने सन् १५८८ में जानबेग की अध्यक्षता में एक सेना सुरताण के विरुद्ध भेजी। उसने साथ ही मोटा राजा उदयसिंह और बीजा को भी सिरोही पर भेजा। सुरताण आबू के पहाड़ों में चला गया। बीजा ने आबू पर आक्रमण किया। पर वह आबू पर अधिकार नहीं कर सका। बीजा स्वयं मारा गया। मोटा राजा आबू का अभियान छोड़कर सुरताण के स्थान पर राव कल्ला को सिरोही की गद्दी पर बैठा अपनी राजधानी जोधपुर चला गया। मोटा राजा के प्रस्थान करते ही सुरताण ने कल्ला को सिरोही से भगा दिया। इस प्रकार सुरताण तीसरी बार पुनः सिरोही की गद्दी का स्वामी बना। इस बार उसने लगातार २२ वर्षों तक राज्य किया। सुरताण निःसंदेह सिरोही का सबसे अधिक प्रभावशाली और वीर शासक था, जिसने कई बार शत्रुओं से सफलतापूर्वक लोहा लिया। वह सन् १६१० में मर गया।

गृह-कलह

सुरताण के स्थान पर उसका ज्येष्ठ पुत्र राजसिंह गद्दी पर बैठा। उसके छोटे भाई सूरसिंह ने उसका विरोध किया। दोनों के बीच लड़ाई हुई जिसमें सूरसिंह हार

गया। उसे सिरोही छोड़ना पड़ा। इसी बीच राज्य के मुसाहब पृथ्वीराज देवड़ा ने सिरोही की गद्दी को हथियाना चाहा। उसने सन् १६२० में महल में घुस कर महाराव को मार डाला। परंतु सिरोही के सरदारों ने उसको गद्दी पर नहीं बैठने दिया। उन्होंने राजसिंह के ढाई वर्ष के पुत्र अखेराज (द्वितीय) को गद्दी पर बैठाया और पृथ्वीराज को राज्य से निकाल दिया। अखेराज ने ५३ वर्ष राज्य किया। उसने अपने राज्यकाल में पिता को मारने वालों से बदला लिया। मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह ने १६२८ में अपनी सेना भेजकर सिरोही राज्य के कई गांवों पर अधिकार कर लिया। सन् १६६३ में अखेराज का पुत्र उदयभान अपने पिता को कैद कर स्वयं गद्दी पर बैठ गया। इस पर महाराणा राजसिंह ने अखेराज को जेल से मुक्त कराया और उसे पुनः गद्दी पर बैठाया। अखेराज ने उदयभान और उसके एक पुत्र को मरवा डाला। औरंगजेब की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार की लड़ाई में अखेराज ने दाराशिकोह का साथ दिया। अखेराज सन् १६७३ में मर गया। उसके स्थान पर उसका लड़का उदयसिंह गद्दी पर बैठा। वह तीन वर्ष बाद सन् १६७६ में मर गया।

अजीतसिंह कालिंदरी में

उदयसिंह के स्थान पर उदयभान का पुत्र बेरीसाल (प्रथम) सिरोही की गद्दी पर बैठा। उसके समय में राठौड़ दुर्गादास जोधपुर के नवजात शिशु महाराजा जसवंतसिंह को औरंगजेब से बचाकर सिरोही लेकर आया। महाराव ने उन्हें कालिंदरी ग्राम में एक ब्राह्मण के घर पर ठहरने की व्यवस्था करवायी। बेरीसाल सन् १६९७ में मर गया। उसका लड़का सुरताण की गद्दी पर बैठा। परंतु देवड़ा छत्रसाल सुरताण को एक वर्ष बाद ही गद्दी से उतारकर स्वयं गद्दी पर बैठ गया। छत्रसाल सन् १७०५ में मर गया। उसके स्थान पर उसका पुत्र मानसिंह (तृतीय) गद्दी पर बैठा। सन् १७३० में जोधपुर के महाराजा अभयसिंह ने सिरोही के रेवाड़ा गांव के जागीरदार पर, जो जालोर के इलाके में लूटमार करता था, सेना भेजी। उक्त सेना ने सिरोही राज्य में बड़ी लूट मचायी। अंत में मानसिंह ने अपनी पुत्री का विवाह महाराजा जोधपुर से कर सुलह की। मानसिंह सन् १७४९ में मर गया।

मानसिंह के बाद पृथ्वीराज, तख्तसिंह और उसके बाद जगतसिंह सिरोही की गद्दी पर बैठे। इनके जमाने में मराठों के आक्रमण हुए जिनसे सिरोही की बड़ी बरबादी हुई। जगतसिंह के स्थान पर उसका ज्येष्ठ पुत्र बेरीसाल (द्वितीय) सन् १७८२ में सिरोही की गद्दी पर बैठा। उस समय पालनपुरा राज्य तथा कोलियों ने सिरोही के कई गांव दबा लिये थे। सिरोही के जागीरदारों ने भी उपद्रव मचाना शुरू किया। बेरीसाल ने पाडीव के ठाकुर को मरवा डाला। इसी तरह उसने मोटा गांव के जागीरदारों पर पुनः अपना दबदबा जमा लिया। जोधपुर के महाराजा मानसिंह ने सन् १८०४ में सिरोही पर आक्रमण किया। वहां के भोमिये, भील, मीणे आदि पहाड़ों में चले गए। मारवाड़ की सेना ने सिरोही पर अधिकार कर लिया और कई जागीरदारों से दंड वसूल किया। बेरीसाल सिरोही छोड़कर भीतरोट

चला गया ।[1]

जनता द्वारा उदयभान पदच्युत

बेरीसाल के स्थान पर उसका ज्येष्ठ पुत्र उदयभान गद्दी पर बैठा । सन् १८१२ में महाराजा मानसिंह ने सिरोही को मारवाड़ राज्य में मिलाने हेतु पुनः एक सेना भेजी । पर मारवाड़ की सेना केवल लूटपाट कर वापस लौट गयी । अगले वर्ष महाराव उदयभान सोरों की यात्रा से लौटता हुआ पाली ठहरा । मानसिंह ने उसे पकड़वाकर जोधपुर मंगाया, जहां उसे तीन माह तक रखा । मानसिंह ने उसे तब सिरोही जाने दिया जब उसने मानसिंह को मारवाड़ की अधीनता स्वीकार करने एवं सवा लाख रुपया देने का लिखित वादा किया । परंतु बेरीसाल ने यह रुपया अदा नहीं किया । इस पर मानसिंह ने सन् १८१६ में पुनः सिरोही राज्य पर सेना भेजी, जिसने कई ठिकानों से लगभग ढाई लाख रुपया लूटा ।[2] महाराव ने जोधपुर को रकम चुकाने के लिए जनता पर कर लगाए । इससे जनता में असंतोष फैल गया । सरदारों, किसानों एवं अन्य लोगों ने उदयभान को पदच्युत कर कैद कर लिया । उदयभान २९ वर्ष जेल में रहा । वह जेल में ही सन् १८४६ में मर गया ।[3]

अंग्रेजों की अधीनता

जनता तथा सरदारों द्वारा उदयभान को पदच्युत करने के बाद उसके छोटे भाई शिवसिंह ने सरदारों और जनता के आग्रह से सन् १८१८ में राज्य का शासन-प्रबंध अपने हाथ में लिया । वह उदयभान की मृत्यु के बाद रस्मी तौर पर सन् १८४६ में सिरोही की राजगद्दी पर बैठा । उसके शासनकाल में रियासत की हालत बहुत खराब थी । राज्य के भीलों और मीणों ने लूटपाट मचा रखी थी । सिरोही के कई सामंत पालनपुर के मातहत हो गए । जोधपुर का महाराजा मानसिंह उदयभान को जेल से मुक्त कर उसे पुनः सिरोही की गद्दी पर बैठाना चाहता था । इन सब परिस्थितियों से मजबूर होकर महाराव शिवसिंह ने अंग्रेजों से संधि की प्रार्थना की । महाराजा मानसिंह ने शिवसिंह के प्रस्ताव का यह कहकर विरोध किया कि सिरोही मारवाड़ के अंतर्गत है और जोधपुर को खिराज देता है, अतः शिवसिंह अंग्रेजों से सीधी संधि नहीं कर सकता । पर अंग्रेजों ने सिरोही से संधि कर उसे अपना अधीनस्थ राज्य मान लिया । शिवसिंह ने अंग्रेजों से कर्जा लेकर सेना का पुनर्गठन किया एवं न केवल भीलों व मीणों के विद्रोह को दबाया वरन् विद्रोही जागीरदारों को भी वश में किया । उसने अंग्रेजों की सहायता से पालनपुर द्वारा दबाये गए ३१२ गांव भी वापस प्राप्त किए । अंग्रेजों ने सिरोही का संबंध नीमच एजेंसी से जोड़ दिया । सन् १८४६ में

१. ओझा, 'जोधपुर राज्य का इतिहास', जिल्द २, पृ० ७८४ ।
२. वही, पृ० ८२० ।
३. ओझा, 'सिरोही का इतिहास', जिल्द २, पृ० २८२ ।

शिवसिंह ने आबू में सेनिटोरियम कायम करने के लिए एक बड़ा भूभाग अंग्रेजों को दे दिया। सन् १८५७ में देश में गदर हुआ। राज्य की एरनपुरा छावनी में स्थित सेना ने विद्रोह कर दिया। विद्रोही आबू पहाड़ पर भी पहुंच गए। परंतु महाराजा ने विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों की पूरी मदद की। इससे खुश होकर अंग्रेजों ने बकाया खिराज माफ कर दिया और सालाना खिराज घटाकर आधा कर दिया। शिवसिंह ने सन् १६६१ में राज्य-प्रबंध अपने पुत्र उम्मेदसिंह को सौंप दिया। वह अगले ही वर्ष मर गया।

उम्मेदसिंह द्वारा शासन-प्रबंध संभालते ही उसे अपने छोटे भाइयों के विद्रोह का सामना करना पड़ा। उसने उन्हें जागीरें देकर शांत किया। उम्मेदसिंह के शासन-काल में मीणों, गिरासियों और भीलों ने राज्य-परिवार के सदस्यों और जागीरदारों की मिलीभगत से भयंकर लूटपाट मचायी जिससे जनता में घबराहट फैल गयी। अंग्रेजों ने सिरोही राज्य में कानून-व्यवस्था स्थापित करने का भार एरनपुरा छावनी के एक अंग्रेज अधिकारी को सौंपा। सेना ने बड़ी कठिनाई से राज्य में शांति स्थापित की। उम्मेदसिंह के शासनकाल में राज्य पर कर्जा बहुत बढ़ गया। अंग्रेज सरकार ने महाराव को चेतावनी दी कि यदि उसने राज्य की आर्थिक स्थिति को नहीं संभाला तो वह राज्य के आंतरिक मामलों में दखल देने को मजबूर हो जाएगी। इस चेतावनी का महाराव पर असर पड़ा। उसने राज्य में कई सुधार किए और रियासत का कर्जा भी हलका किया। वह सन् १८७५ में मर गया।

उम्मेदसिंह के स्थान पर केसरीसिंह २४ नवंबर, १८७५ को गद्दी पर बैठा। उसने भूमि-सुधार किए तथा प्रशासन में मितव्ययिता लाकर ५ वर्षों में रियासत का समस्त कर्जा चुका दिया। उसने जागीरदारों का भी दमन किया। रेवाड़ा के उपद्रवी जागीरदार को गोली से उड़वा दिया और जागीर जब्त कर ली। इससे जागीरदार पूर्ण रूप से दब गए। इसके समय में राज्य की वार्षिक आमदनी ५ गुनी हो गयी। परंतु दुर्भाग्य से राज्य में सन् १८६६ में भयंकर अकाल पड़ने, सन् १६०० में अति-वृष्टि होने एवं कई अन्य कारणों से राज्य की आर्थिक स्थिति खराब हो गयी।

महाराव केसरीसिंह के राज्यकाल में अस्पताल, तारघर व डाकखाने खोले गए। बेगार-प्रथा बंद हो गयी। उसने सन् १६१७ में आबू पहाड़ को भारत सरकार को लीज पर दे दिया, जहां पर अंग्रेजों ने राजपूताना के 'एजेंट टु गवर्नर-जनरल' का कार्यालय स्थापित किया। उसने अपने जीवन-काल में ही राज्य का भार २६ अप्रैल, १६२० को अपने पुत्र स्वरूप रामसिंह को सौंप दिया। वह सन् १६२५ में मर गया।

जन-जागृति

सिरोही में जन-जागृति की शुरुआत सन् १६०० के आसपास हो गयी थी। डूंगरपुर राज्य के वासिया गांव के बणजारा कौम के एक युवक ने सिरोही के भील-क्षेत्र में आदिवासियों को संगठित करने की दृष्टि से सम्पसभा की स्थापना की। यह युवक गोविंद गुरु के नाम से विख्यात हुआ। उसने सिरोही के भीलों को संगठित किया और

उन्हें मादक द्रव्य छोड़ने, चोरी नहीं करने, स्वदेशी वस्त्र अपनाने और अपनी पंचायतें स्थापित करने का उपदेश दिया। धीरे-धीरे यह आंदोलन डूंगरपुर, बांसवाड़ा, मेवाड़ और गुजरात के आदिवासी भीलों और मीणों में भी फैल गया। गोविंद गुरु ने हर वर्ष मंगसिर शुक्ला पूर्णिमा को गुजरात में मानागढ़ की पहाड़ी पर मेला लगाना आरंभ किया, जिसमें उसके लाखों आदिवासी शिष्य भाग लेने लगे। इस अवसर पर सम्पसभा का वार्षिक अधिवेशन भी किया जाने लगा। भीलों के इस विशाल संगठन से डूंगरपुर, बांसवाड़ा और सुथरामपुरा के राजा घबरा गए। ७ दिसंबर, १९०८ को जब माना पहाड़ी पर सम्पसभा का अधिवेशन हो रहा था तो राजाओं की शिकायत पर खेरवाड़ा, बड़ौदा और अहमदाबाद से फौजें आयीं। सेना ने मानागढ़ की पहाड़ी को चारों ओर से घेरकर गोलियां चलायीं। सेना के इस अभियान में १५०० आदिवासी मारे गए। गोविंद गुरु गिरफ्तार कर लिया गया। उसे फांसी की सजा दी गयी जो आगे जाकर १० वर्ष की सजा में परिवर्तित कर दी गयी।

स्वरूपरामसिंह को राज्याधिकार मिलते समय न केवल राज्य की आर्थिक स्थिति वरन् राजनीतिक स्थिति भी खराब थी। सन् १९२२ में मेवाड़ के प्रसिद्ध भील नेता श्री मोतीलाल तेजावत के नेतृत्व में गिरासियों व भीलों ने जागीरदारों के विरुद्ध एक सशक्त आंदोलन चलाया। फलत: राज्य को अंग्रेजी फौज बुलानी पड़ी। रोहिड़ा तहसील के गांवों में अंग्रेजी-सेना ने गोलियां चलायीं, जिससे लगभग १८०० स्त्री-पुरुष और बच्चे मारे गए। सेना ने लगभग ६०० मकान भी जला दिए। इस नृशंस कांड की सर्वत्र निंदा हुई और समाचार-पत्रों ने बड़ी आलोचना की। सन् १९२४-२५ में नौ परगना महाजन एसोसिएशन ने बैठ बेगार के विरुद्ध आंदोलन किया। उसमें उन्हें सफलता मिली।

प्रजामंडल की स्थापना

सिरोही के कुछ उत्साही युवकों ने बंबई में सन् १९३४ में प्रजामंडल की स्थापना की जिसका उद्देश्य महाराव की छत्रछाया में एक उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना था। इसी प्रकार का एक प्रयत्न सन् १९३६ में सिरोही में भी किया गया। पर इन राजनीतिक गतिविधियों का कोई विशेष परिणाम नहीं निकला। इन वर्षों में सिरोही के हाथल गांव में पैदा हुए श्री गोकुलभाई भट्ट बंबई के विलेपारले क्षेत्र में कांग्रेस को संगठित कर रहे थे। सन् १९३८ में हरिपुरा-कांग्रेस के अवसर पर यह निर्णय लिया गया कि देशी रियासयों के कार्यकर्ता अपनी-अपनी रियासतों में राजनीतिक संगठन बनाएं। इस निर्णय के अनुसार गोकुलभाई भट्ट ने सिरोही पहुंचकर २३ जनवरी, १९३९ को प्रजामंडल की स्थापना की। ८ सितंबर, १९३९ को गोकुलभाई ने सिरोही प्रजामंडल के तत्त्वावधान में सार्वजनिक सभा की। पुलिस ने लाठी-चार्ज किया। कई लोगों के चोटें आयीं जिनमें स्वयं गोकुलभाई भी शामिल थे। गांधी जी ने अपने पत्र 'हरिजन सेवक' में इस घटना को अपनी टिप्पणी के साथ प्रकाशित किया। उसी वर्ष रामेश्वरदयाल अग्रवाल को प्रजामंडल की गतिविधियों में भाग लेने के अपराध में

८ माह तक जेल में रखा। प्रजामंडल के संस्थापकों में गोकुलभाई के अलावा सर्वश्री धर्मचंद सुराणा, घीसालाल चौधरी, रामेश्वरदयाल अग्रवाल और बेलराज पूनमचंद आदि थे। श्री सुराणा प्रजामंडल की गतिविधियों में भाग लेने के अपराध में गिरफ्तार कर लिये गए और उन्हें ६ माह की सजा हुई। सन् १९४२ की देशव्यापी अगस्त-क्रांति के समय सिरोही प्रजामंडल के कार्यकर्ताओं ने भी आंदोलन चलाया, पर कोई गिरफ्तारी नहीं हुई।

महाराव मुसलमान बना

महाराव स्वरूपरामसिंह के राज्यकाल में राज्य की आर्थिक हालत खराब होती गयी। महाराव बड़ा विलासी था। उसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। वह २३ जनवरी, १९४६ को जब दिल्ली में मरा तो उसे जलाने के बजाय दफनाया गया। स्वरूपरामसिंह के एक पुत्र लखपतसिंह था। लेकिन उसे दासी-पुत्र घोषित कर गद्दी से वंचित कर दिया गया। भारत सरकार ने स्वरूपरामसिंह के स्थान पर मंडार के तेज-सिंह को राजगद्दी पर बैठाया। तेजसिंह गद्दी का वास्तविक हकदार नहीं था। अतः जनता ने भारत सरकार के इस कदम के विरुद्ध आंदोलन किया। आगे जाकर भारत के स्वतंत्र होने पर देश की राष्ट्रीय सरकार ने तेजसिंह के स्थान पर अभयसिंह को सिरोही की गद्दी का असली हकदार घोषित किया।

आबू पुनः सिरोही में

जून, १९४७ में ब्रिटिश सरकार ने भारत की सत्ता कांग्रेस को हस्तांतरण करने एवं देशी राज्यों पर अपनी सार्वभौम सत्ता समाप्त करने का निर्णय लिया। भारत सरकार ने ५ अगस्त, १९४७ को आबू पर्वत पुनः सिरोही राज्य को लौटा दिया। सिरोही राजस्थान के अन्य राज्यों की तरह भारतीय संघ की एक इकाई बन गया। २४ अक्तूबर, १९४७ को राज्य ने मंत्रिमंडल में पहली बार प्रजामंडल के एक प्रति-निधि जवाहरमल सिंघी को शामिल किया।

माउंट आबू का महत्त्व

सिरोही के इतिहास में चिरकाल से आबू पर्वत का बड़ा महत्त्व रहा है। इसके सामरिक महत्त्व के कारण सिरोही का क्षेत्र कभी गुजरातियों के अधिकार में रहा तो कभी मेवाड़ या मारवाड़ के आधिपत्य में। दूसरी ओर जब १६वीं शताब्दी में सिरोही पर मुगल-आक्रमण हुए तो सिरोही के शासकों ने आबू पर्वत से गुरिल्ला-युद्ध का संचा-लन कर कई बार मुगल सेनापतियों के मनसूबों पर पानी फेर दिया। ब्रिटिश-काल में आबू पर्वत का सामरिक महत्त्व तो नहीं रहा, पर उसकी समशीतोष्ण आबहवा के कारण वह अंग्रेजों की हवाखोरी का केंद्र बन गया। सन् १९१७ में ब्रिटिश सरकार ने सिरोही राज्य से आबू पर्वत स्थायी रूप से लीज पर ले लिया और उसे राजपूताना के ए० जी० जी० का मुख्यालय बना दिया। भारत में अंग्रेजी राज्य की समाप्ति पर

अगस्त, १९४७ में आबू पुनः सिरोही राज्य को लौटा दिया गया।

गुजरात की गिद्ध-दृष्टि

आबू लौटाने के भारत सरकार के निर्णय की स्याही सूख भी नहीं पाई थी कि उसका भाग्य पुनः अधर में झूलने लगा। गुजरात में हवाखोरी के लिए कोई पहाड़ी स्थल नहीं था। अतः देश के आजाद होने पर गुजरात-निवासियों की निगाह माउंट आबू पर पड़ी। उन्हें एक हजार वर्ष के इतिहास का स्मरण हो आया, जब गुजरात के चालुक्यों का आबू पर्वत पर लगभग तीन शताब्दी तक आधिपत्य रहा। गुजरात के सुप्रसिद्ध नेता, लेखक और इतिहासकार श्री के० एम० मुंशी ने 'महा-गुजरात' का नारा बुलंद किया। मुंशी की योजना थी कि सिरोही को राजपूताना एजेंसी के अंतर्गत 'गुजराती भाषा-भाषी' डूंगरपुर, बांसवाड़ा, पालनपुर, झाबुआ और ईडर रियासतों के साथ गुजरात-प्रदेश में मिलाकर महागुजरात प्रांत की रचना की जाए। नवंबर, १९४७ में रियासती विभाग के मंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल के समक्ष यह सुझाव रखा गया कि उक्त राज्यों को राजपूताना एजेंसी से हटाकर पश्चिमी भारत और गुजरात राज्य एजेंसी के अंतर्गत कर दिया जाए।[१] जन-नेताओं के विरोध के कारण डूंगरपुर और बांसवाड़ा की स्थिति तो यथावत रह गयी पर भारत सरकार ने जनता के विरोध के बावजूद सिरोही को पश्चिमी भारत और गुजरात एजेंसी के अंतर्गत कर दिया। गुजरात में मिलाने की दिशा में भारत सरकार का यह पहला कदम था।

सिरोही का भाग्य अधर में

मार्च, १९४८ में राजपूताना के दक्षिण और दक्षिण-पूर्वी भाग में स्थित रियासतों को मिलाकर 'संयुक्त राजस्थान' के नाम से एक नया राज्य बनाने की योजना भारत सरकार के विचाराधीन थी। इन्हीं दिनों भारत सरकार ने निर्णय लिया कि पश्चिमी भारत एवं गुजरात एजेंसी के अंतर्गत रियासतों को बंबई राज्य में मिला दिया जाए। जैसा कि पहले बताया गया है, सिरोही कुछ समय पूर्व पश्चिमी भारत एवं गुजरात राज्य एजेंसी के अंतर्गत कर दिया गया था। अतः भारत सरकार के सम्मुख यह प्रश्न पैदा हुआ कि सिरोही को एजेंसी की अन्य रियासतों की तरह बंबई प्रांत में विलय कर दिया जाए अथवा उसे संयुक्त राजस्थान में मिलाया जाए। भारत सरकार के रियासती सचिवालय के सचिव वी० पी० मेनन ने उसी महीने में राजस्थान प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष एवं सिरोही राज्य की एजेंसी कौंसिल के सलाहकार गोकुलभाई भट्ट को इस संबंध में विचार-विमर्श के लिए बुलाया। मेनन के अनुसार गोकुलभाई ने यह मत व्यक्त किया कि सिरोही के भाग्य के संबंध में इस समय एक या दूसरी तरफ निर्णय करना उपयुक्त नहीं है और उसे फिलहाल केंद्र-शासित क्षेत्र बना

१. वी० पी० मेनन, 'भारत के देशी राज्यों के एकीकरण की कहानी', पृ० २७०।

दिया जाए ।[१]

सिरोही केंद्र के अधीन

१८ अप्रैल, १९४८ को पं० जवाहरलाल नेहरू संयुक्त राजस्थान का उद्घाटन करने उदयपुर गए। इस अवसर पर प्रांत-भर के कांग्रेस-कार्यकर्ताओं ने पं० नेहरू से सिरोही को राजस्थान में मिलाने की मांग की। पं० नेहरू ने उसी तारीख को एक पत्र में कार्यकर्ताओं की उक्त मांग का उल्लेख करते हुए सरदार पटेल को लिखा, "कार्यकर्ताओं के दिलों में जिस बात पर सबसे अधिक रोष था, वह था सिरोही को गुजरात में मिलाने के संबंध में। मुझे बताया गया है कि सिरोही का राजस्थान से ३०० वर्षों से संबंध है और भाषा आदि सभी दृष्टि से वह राजस्थान का अंग है। साधारणतया इस प्रकार के मामलों में जनता की इच्छा ही सर्वोपरि मानी जानी चाहिए।"[२]

सरदार पटेल ने २२ अप्रैल, १९४८ को पं० नेहरू को दिए गए अपने उत्तर में लिखा कि "मैंने सिरोही के संबंध में लोगों से विचार-विमर्श किया है और सभी मुद्दों को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय लिया है कि सिरोही गुजरात में मिलना चाहिए। राजस्थान वाले चाहते हैं गोकुलभाई को, न कि सिरोही को। उनकी यह मांग सिरोही को राजस्थान में मिलाये बिना भी पूरी की जा सकती है।"[३] सरदार पटेल के इस उत्तर का आधार था जयपुर राज्य के तत्कालीन मुख्यमंत्री और राजस्थान के भावी मुख्यमंत्री हीरालाल शास्त्री का १० अप्रैल का वह तार जिसके द्वारा शास्त्री ने सरदार को यह सूचित किया था कि "उदयपुर के राजस्थान-संघ में शामिल होने के बाद यह आवश्यक हो गया कि सिरोही राजस्थान में शामिल हो। हमारे लिए सिरोही का अर्थ है गोकुलभाई, जिनकी रहनुमाई की राजस्थान को आवश्यकता है।"[४]

अस्तु, गोकुलभाई द्वारा मार्च, १९४८ में मेनन को दिए गए सुझाव के अनुसार केंद्र ने ८ नवंबर, १९४८ को सिरोही का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया और

१. वी० पी० मेनन, 'भारत के देशी राज्यों के एकीकरण की कहानी', पृ० २७०।
   टिप्पणी—सिरोही के विभाजन के संबंध में लेखक का एक लेख 'शतरंज का प्यादा' १२ सितंबर, १९७६ को 'राजस्थान-पत्रिका' में प्रकाशित हुआ था। उसके संदर्भ में गोकुलभाई भट्ट ने 'राजस्थान-पत्रिका' को अपने एक पत्र में, जो पत्रिका के २७ अक्तूबर, १९७६ के अंक में छपा है, मेनन द्वारा अपनी उक्त पुस्तक से दिए गए विवरण को सही नहीं माना है। मेनन की पुस्तक सन् १९५५ में प्रकाशित हुई थी। अच्छा होता यदि गोकुलभाई अगले २१ वर्षों तक इंतजार न कर समय पर ही उक्त विवरण का खंडन कर देते, तो यह विवाद पैदा ही नहीं होता।

२. 'सरदार वल्लभभाई पटेल का पत्र-व्यवहार', जिल्द ७, पृ० ३९५।

३. वही, पृ० ३९६।

४. वही, पृ० ३९७।

गोकुलभाई को राज्य का मुख्यमंत्री बना दिया। २२ नवंबर, १६४८ को राजपूताना के रीजनल कमिश्नर के० पी० पिल्लाई, आई० सी० एस० ने भारत सरकार को एक रिपोर्ट भेजी जिसमें उसने बताया कि सिरोही के मुख्यमंत्री ने राज्य के कई वरिष्ठ अधिकारियों को अपने पदों से हटा दिया है। जनता में असंतोष बढ़ता जा रहा है। अतः राज्य में शांति रखने और जनता की बहबूदी के हक में यह उचित होगा कि या तो सिरोही को किसी पड़ोसी राज्य में मिला दिया जाए अथवा वहां का शासन-प्रबंध सीधा केंद्र के हाथ मेंदे दिया जाए।[1] भारत सरकार ने ५ जनवरी, १६४६ को सिरोही राज्य को अपनी ओर से शासन-प्रबंध चलाने के लिए बंबई सरकार को सौंप दिया। सिरोही को अंततोगत्वा गुजरात में विलय करने की दिशा में भारत सरकार का यह दूसरा कदम था। स्मरण रहे, गुजरात प्रदेश इस समय द्वि-भाषी बंबई राज्य का ही एक अंग था।

सिरोही का विभाजन

सिरोही की जनता ने भारत सरकार की उक्त कार्यवाही का कड़ा विरोध किया। जिला कांग्रेस कमेटी ने १ अप्रैल, १६४६ को एक प्रस्ताव स्वीकार कर इस बात का खंडन किया कि वहां की अधिकांश जनता गुजराती भाषा-भाषी है।[2] उसने मांग की कि सिरोही को तत्काल राजस्थान में मिला दिया जाए।[3]

सरदार पटेल ने जनता की इस मांग की कोई परवाह किए बिना सिरोही के विभाजन का निर्णय ले लिया। मेनन ने गोकुलभाई और सिरोही के अन्य नेताओं को दिल्ली बुलाया और उन्हें सरदार के उक्त निर्णय की जानकारी दी। मेनन के अनुसार सिरोही के नेताओं ने सिरोही के विभाजन की योजना के प्रति कोई उत्साह नहीं दिखाया। पर उन्होंने सरकार के इस निर्णय को अवश्यंभावी मानकर स्वीकार कर लिया।[4] जनवरी, १६५० में भारत सरकार ने माउंट आबू व देलवाड़ा तहसील के ८६ गांवों को बंबई राज्य में तथा सिरोही का शेष भाग, जिसमें गोकुल भाई का जन्म-स्थान हाथल भी शामिल था, राजस्थान में मिला दिया। इस प्रकार चतुर सरदार ने पं० जवाहरलाल नेहरू को दिए गए वादे के अनुसार गोकुलभाई राजस्थान को दे दिया। परंतु आबू पर्वत गुजरात प्रदेश अर्थात् बंबई राज्य को समर्पित कर दिया।

१. 'सरदार पटेल का पत्र-व्यवहार', जिल्द ७, पृ० ४२४। रीजनल कमिश्नर का अर्द्धमासिक प्रतिवेदन।
२. सन् १६४१ एवं १६५१ की जनगणना के अनुसार सिरोही राज्य में गुजराती भाषा-भाषी लोगों की संख्या केवल २ प्रतिशत थी।
३. प्रांतीय कांग्रेस कमेटी ने इस मामले में कोई प्रस्ताव पास नहीं किया। शायद वह इस समय राजस्थान के मुख्यमंत्री हीरालाल शास्त्री को अपने पद से हटाने के प्रश्न को लेकर उलझी हुई थी और रियासती विभाग के प्रभारी मंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल को और अधिक नाराज नहीं करना चाहती थी।
४. वी० पी० मेनन, 'भारत में देशी राज्यों के एकीकरण की कहानी', पृ० २७२।

माउंट आबू पुन: राजस्थान में

उक्त निर्णय के फलस्वरूप सिरोही राज्य में व्यापक जन-आंदोलन उठ खड़ा हुआ। इसी बीच सरदार पटेल का देहांत हो गया। उनके देहांत के बाद भारत सरकार ने सिरोही की जनता को आश्वासन दिया कि वे माउंट आबू को गुजरात में मिलाने के निर्णय पर पुनः विचार करेंगे। इसी आश्वासन के आधार पर सिरोही में आंदोलन समाप्त हुआ। अंत में राजस्थान के साथ किए गए अन्याय का निराकरण तब हुआ जबकि राज्य पुनर्गठन-आयोग की सिफारिश के आधार पर १ नवंबर, १९५६ को माउंट आबू पर्वत एवं देलवाड़ा तहसील के सभी गांव गुजरात से निकाले जाकर पुनः राजस्थान में मिलाए गए। इस प्रकार सिरोही के इतिहास के एक दुर्भाग्य-पूर्ण अध्याय का अंत हुआ। विलय के पूर्व सिरोही राज्य का क्षेत्रफल ५१०० वर्ग किलोमीटर आबादी २,९०,००० और वार्षिक आय लगभग २८ लाख थी।

नौवां अध्याय

जाटों के राज्य

जटवाड़ा प्रदेश, भरतपुर

१५वीं शताब्दी के अंत में दिल्ली सल्तनत की अस्थिरता का लाभ उठाकर जाटों के कई कबीले पंजाब और हरियाणा के इलाकों को छोड़कर ब्रजमंडल की उपजाऊ भूमि में जाकर बस गए। उन्होंने अपनी शक्ति और जातीय संगठन के द्वारा प्रजामंडल के कमजोर काश्तकारों को बेदखल कर बड़ी-बड़ी जमींदारियां स्थापित कर लीं। १७वीं शताब्दी के शुरू तक ये कबीले धीरे-धीरे आगरा, मथुरा, कोइल, मेरठ और गोहद तक फैल चुके थे। जाटों द्वारा इस विशाल भूखंड पर आधिपत्य जमाने के कारण यह प्रदेश जटवाड़ा के नाम से विख्यात हुआ।

मुगल-सम्राट् औरंगजेब के शासन-काल में राजस्थान में जाट-शक्ति का उदय हुआ। जाट नेता भज्जा भरतपुर के उत्तर-पश्चिम में १६ मील दूर स्थित सिनसिनी गांव का जमींदार था। वह निकट के थून के किले में रहता था। उसने अपने रिश्तेदारों की लगभग १०० घुड़सवारों की एक छोटी-सी सेना बना ली थी। धीरे-धीरे उसने जाटों में अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू किया और आसपास का जाट-क्षेत्र उसके प्रभाव में आ गया। यही नहीं, उसने डीग के निकट अऊ के मुगल-थाने पर भी अधिकार कर लिया। इस पर औरंगजेब ने अपने एक सेनापति मिर्जा जहान को भज्जा के विरुद्ध भेजा। जहान ने अऊ पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार उस क्षेत्र में पुनः मुगलों का वर्चस्व स्थापित हो गया। स्वयं भज्जा अपने एक पुत्र भावसिंह के साथ सिनसिनी की रक्षा करते हुए मारा गया।

राजाराम और मुगल

भज्जा के सात पुत्र थे—राजाराम, प्रताप, भावसिंह, सूपा, मेंदू, गुमान और चूड़ामन। भज्जा के मारे जाने पर उस क्षेत्र के जाटों का नेतृत्व उसके बड़े लड़के राजाराम ने संभाला। राजाराम और सोगर के जमींदार रामचेहरा ने जाटों का

पुनर्गठन किया। उन्हें रणनीति की शिक्षा दी। उन्होंने जंगलों में मरड़े की कई गढ़ियां तैयार कीं। राजाराम ने मुगल इलाकों में भारी लूट मचायी। उसने सिकंदरा में अकबर के मकबरे को लूटने का भी प्रयत्न किया, पर उसे सफलता नहीं मिली। उन्हीं दिनों इमामकुली अधर खां तुरानी अपनी सेना के साथ काबुल से औरंगजेब की सहायतार्थ बीजापुर जा रहा था। राजाराम के दल ने तुरानी को लूट लिया। वह मुगल सेना की गाड़ियों, घोड़ों और औरतों को उड़ाकर ले गया। तुरानी बड़ी कठिनाई से औरतों को छुड़ाने में सफल हुआ। तुरानी ने एक गढ़ी पर हमला किया, जहां राजाराम और उसके सहायक छिपे हुए थे। राजाराम ने तुरानी और उसके कई साथियों को मार गिराया। इस पर औरंगजेब ने अपने सेनापति खानेजहां को राजाराम के विरुद्ध भेजा, पर उसे भी सफलता नहीं मिली। कुछ ही समय बाद राजाराम ने एक बार फिर सिकंदरा में अकबर के मकबरे पर हमला किया और वहां से सोने और चांदी के बर्तन एवं गलीचे आदि सामान लूटकर ले गया। उसने ताजमहल की जागीर तथा खुरजा परगने के गांवों में भी भारी लूट मचायी। इससे औरंगजेब बड़ा क्रोधित हुआ। उसने खानेजहां का मनसब घटा दिया और राजाराम की शक्ति को नष्ट करने के लिए आमेर के मिर्जा राजा रामसिंह को मथुरा का फौजदार नियुक्त किया। पर रामसिंह कुछ समय बाद ही मर गया।

आमेर का जाटों के विरुद्ध अभियान

मुगल-काल में बयाना, कठूमर और हिंडौन आदि जाट इलाके आगरा सूबे के अधीन थे। इन इलाकों के जाटों के उपद्रवों से न केवल मुगल वरन् पड़ोस के आमेर के शासक भी परेशान थे। यही कारण था कि जाटों को दबाने के लिए मुगल सम्राट् ने आमेर के शासक रामसिंह को चुना और उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र मिर्जा राजा विशनसिंह को मथुरा का फौजदार नियुक्त किया। इसी बीच जाट नेता राजाराम चल बसा। उसके स्थान पर उसके लड़के फतहसिंह ने जाटों का नेतृत्व संभाला। वह राजा विशनसिंह के हाथों परास्त हो गया। सिनसिनी पर विशनसिंह का अधिकार हो गया। इस घटना से जाटों ने विशनसिंह का नेतृत्व ठुकरा दिया। उन्होंने भज्जा के एक अन्य पुत्र चूड़ामन को अपना नेता स्वीकार किया।

चूड़ामन का नेतृत्व

चूड़ामन ने रसूलपुर को अपनी गतिविधियों का केंद्र बनाकर राजपूतों से राहिरी और राजगढ़ छीन लिये। उसने सोखेर, उच्चैन, सोगर, कासोट और अवायर आदि गढ़ियों की मरम्मत की और उन्हें मजबूत बनाया। इससे मुगल बादशाह चिंतित हो गया। बादशाह के आदेश पर विशनसिंह ने पुनः जाटों के विरुद्ध कार्यवाही शुरू की। उसने जाटों के एक गुट के नेता उदा को अपनी ओर मिला लिया। इससे चूड़ामन की शक्ति कम हो गयी। विशनसिंह ने सन् १६९१-९२ की कार्यवाहियों में सोखेर, अवायर, सोगर और उच्चैन के किले जीत लिये। वह अब जाटों

को सीधा आमेर के अंतर्गत लाने का प्रयत्न करने लगा। जब बादशाह को इसकी भनक पड़ी तो उसने विशनसिंह को मथुरा की फौजदारी से मुक्त कर दिया। विशन-सिंह निराश होकर आमेर लौट गया।

चूड़ामन की लूटमार

विशनसिंह के आमेर लौटने पर चूड़ामन ने राहत की सांस ली। उसने जाटों का पुनर्गठन कर मुगल-अधिकारियों और शाही खजाने को लूटा। सन् १७०४ में उसने सिनसिनी की गढ़ी पर पुनः अधिकार कर लिया। पर कुछ समय बाद ही आगरा के सूबेदार मुख्तार खां ने उक्त गढ़ी को वापस छीन लिया। सन् १७०७ में जाजव नामक स्थान पर आजम और मोअज्जम के बीच हुई उत्तराधिकार की लड़ाई के बाद चूड़ामन ने आजम की भागती हुई सेना को लूटा और बहुत माल-असबाब प्राप्त किया। सन् १७१२ में वह सिक्खों के विरुद्ध लाहौर की लड़ाई में मुगल बाद-शाह की ओर से लड़ने गया। पर वहां पर उसने केवल लूट में भाग लिया। अगले वर्ष दिल्ली के तख्त के लिए जहांदारशाह और फर्रुखसियर के बीच हुई लड़ाई में भी चूड़ामन ने दोनों पक्षों को लूटा। अतः फर्रुखसियर ने गद्दी पर बैठते ही आगरा के सूबेदार छबेलराम को जाटों को दबाने भेजा, पर वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुआ। इसी बीच चूड़ामन ने थून के पुराने बरबाद किले के स्थान पर एक मजबूत किला खड़ा कर दिया।

थून का युद्ध

विशनसिंह की मृत्यु पर जयसिंह आमेर की गद्दी पर बैठा। सन् १७१६ में फर्रुखसियर ने जयसिंह को विद्रोही जाटों का दमन करने के आदेश दिए। जयसिंह ने ८०,००० सेना के साथ जाट इलाके की ओर कूच किया। इस अभियान में कोटा और बूंदी के महाराव भी शामिल हुए। जयसिंह ने कई इलाकों को जीतने के बाद थून के किले पर घेरा डाला। यह घेरा २ वर्ष तक चलता रहा। इस लड़ाई में इस क्षेत्र के जाटों, मेवातियों और अफगानों ने चूड़ामन का साथ दिया। जाटों ने इस घेरे के दौरान आगरा और दिल्ली तक लूटपाट मचा दी। बादशाह ने एक बड़ी तोप एवं बहुत सारा बारूद किले को उड़ाने के लिए भेजा। पर जयसिंह को कई कारणों से इसमें सफलता नहीं मिली। इसी बीच चतुर चूड़ामन ने खानेजहां की मारफत बादशाह के वजीर कुतुबुलमुल्क के पास संधि का पैगाम भेजा, जिसमें उसने ३० लाख रुपये खिलअत के रूप में बादशाह को और २० लाख रुपये रिश्वत के वजीर को देने की पेशकश की। वजीर की सलाह पर बादशाह ने जयसिंह को थून का घेरा उठाने का आदेश दिया। बेचारे जयसिंह को घेरा उठाना पड़ा जिसके लिए उसने अपनी प्रतिष्ठा दांव पर लगा दी थी।[1] चूड़ामन अपने पुत्रों सहित मुगल-दरबार में

१. इरविन, 'लेटर मुगल्स', भाग १, पृ० ३२६।

उपस्थित हुआ। बादशाह ने उसे खिलअत और १००० अशर्फियां प्रदान कीं। चूड़ामन ने बादशाह को पेशकश के रूप में ५० लाख रुपये भेंट किए। उसने वजीर को भी रिश्वत के रूप में २० लाख रुपये दिए। उसने थून और डींग के किले बादशाह को सौंप दिए और शाही दरबार में सेवा करना स्वीकार कर लिया।

चूड़ामन द्वारा आत्महत्या

अब चूड़ामन सैयद बंधुओं का खैरख्वाह बन गया। पर मोहम्मदशाह के बादशाह बनने पर उसने अपने को मोहम्मदशाह का भी विश्वासपात्र बनाने का प्रयत्न किया। सन् १७२० के हसनपुरा के युद्ध में वह पुनः सैयद अब्दुल्ला खां के साथ हो गया। पर जब लड़ाई में उसने अब्दुल्ला खां को हारते देखा तो उसने दोनों पक्षों को दिल खोलकर लूटा और अपने देश लौट आया। कुछ समय बाद चूड़ामन के दो लड़कों—मोखमसिंह और जूलकरण—में जमीन-जायदाद के प्रश्न को लेकर झगड़ा हो गया। चूड़ामन उन्हें नहीं समझा सका। यही नहीं, मोखमसिंह ने चूड़ामन का बड़ा अपमान भी किया। कहते हैं कि गृह-कलह के कारण चूड़ामन ने जहर खाकर आत्महत्या कर ली।[1]

बदनसिंह

चूड़ामन की मृत्यु के बाद भाउसिंह के लड़के बदनसिंह ने जाटों के नेतृत्व का दावा किया। इससे चूड़ामन के पुत्र मोखमसिंह और जूलकरण में पुनः मेल हो गया। उन्होंने बदनसिंह को गिरफ्तार कर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। बदनसिंह जाट नेताओं की सलाह पर रिहा कर दिया गया। वह कुछ समय बाद आगरा के सूबेदार सादत खां से जा मिला। अब मोखमसिंह और जूलकरण ने आगरा के मुगल-सूबे में रिआया से कर वसूल करना शुरू कर दिया। उन्होंने सादत खां का सामान भी लूट लिया। जब बादशाह ने देखा कि सादत खां जाटों पर नियंत्रण करने में सफल नहीं हो रहा है तो उसने जयपुर के सवाई जयसिंह को पुनः आगरा का सूबेदार बनाकर जाटों को दबाने भेजा। जयसिंह ने एक बड़ी सेना के साथ थून पर आक्रमण किया। परंतु लगभग १ माह तक उसे कोई कामयाबी नहीं मिली। अंत में बदनसिंह ने जो सादत खां की सूबेदारी के समय मुगलों से जा मिला था, थून पर विजय पाने का सुराग बताया। थून का पतन हो गया। मोखमसिंह और जूलकरण १७ नवंबर, १७२२ की रात्रि को भागकर जोधपुर के महाराजा की शरण में चले गए।

आमेर का वर्चस्व

बादशाह के फरमान से जयसिंह ने बदनसिंह को उसकी सेवाओं के उपलक्ष्य में डींग का किला जागीर के रूप में दिया। २३ नवंबर, १७२२ को जयसिंह ने एक

१. सरकार, 'मुगल-साम्राज्य का पतन', भाग २, पृ० २८६।

जलसे में बदनसिंह के सिर पर पगड़ी बांधकर उसको चूड़ामन का उत्तराधिकारी नामजद किया एवं उसे निशान, नक्कारा तथा पंचरंगा झंडा प्रदान कर 'ब्रजराज' की उपाधि से विभूषित किया।[1] बदनसिंह ने जयसिंह को अपना स्वामी स्वीकार करते हुए कहा कि महाराजा ने उसे चूड़ामन जाट का इलाका प्रदान किया है, अतः वह सदैव महाराजा की सेवा में रहेगा और हर वर्ष ८३,००० रुपये पेशकश के रूप में भेजेगा। बदनसिंह ने अपने जीते-जी सदैव जयसिंह का आभार माना और अन्य जागीरदारों की तरह दशहरा आदि त्यौहारों पर जयसिंह के दरबार में शामिल होता रहा। पर इतना होते हुए भी यह स्पष्ट था कि बदनसिंह को जागीर बादशाह की ओर से दी गयी थी। अतः जयसिंह के अन्य जागीरदारों के मुकाबले उसकी हैसियत विशिष्ट थी।

जाट राज्य का पुनर्गठन

सन् १७३० में मेवों ने उपद्रव कर दिया। बदनसिंह मेवों से मिल गया। इस पर बदनसिंह की तुष्टि के लिए जयसिंह ने उसे सिनसिनी, थून और नगर के इलाके सौंप दिए। इस समय उत्तरी भारत में मरहठों ने आतंक जमा रखा था। राजस्थान के राजा और मुगल मरहठों से उलझे हुए थे। यह अवसर पाकर बदनसिंह ने डींग, कुमेर और वैर की किलेबंदी मजबूत कर ली और मुगल इलाकों में लूटपाट मचा दी। उसने आगरा और मथुरा जिलों का बहुत सारा इलाका अपनी जागीर में मिला लिया। उसने पड़ोस के शक्तिशाली जमींदारों के साथ शादी-संबंध स्थापित कर अपनी स्थिति और भी मजबूत कर ली।

सन् १७३४ के आसपास बदनसिंह ने राज्य का काम-काज अपने गेलड़ पुत्र सूरजमल को सौंप दिया। बदनसिंह बहुत बूढ़ा और अंधा हो गया था। सूरजमल की मां देवकी बहुत सुंदर थी। वह अपने नन्हे बालक सूरजमल के साथ अपनी बहन से मिलने आयी थी जो बदनसिंह के जनाने में थी। बदनसिंह उस पर मुग्ध हो गया और उसके साथ शादी कर ली। आगे चलकर यह बालक सूरजमल बड़ा योग्य साबित हुआ। वेंडल के अनुसार, इसी कारण बदनसिंह ने कई असली पुत्रों के होते हुए भी गेलड़ पुत्र सूरजमल को अपना उत्तराधिकारी बनाया।

सूरजमल

सूरजमल बड़ा बहादुर था। उसने सन् १७३३ में सोगारिया जाट खेमकरण को मार कर भरतपुर पर अधिकार कर लिया और उसे अपने इलाके की राजधानी बनाया। सन् १७४३ में जयपुर का महाराजा सवाई जयसिंह मर गया। जयपुर के उत्तराधिकार की लड़ाई में सूरजमल ने जयसिंह के बड़े पुत्र ईश्वरीसिंह का साथ दिया। इससे खुश होकर ईश्वरीसिंह ने सूरजमल के लिए मुगल बादशाह से 'राजा'

१. इरविन, 'लेटर मुगल्स', भाग २, पृ० १२२।

की उपाधि प्रदान करने की सिफारिश की। सूरजमल को अपनी धाक जमाने का एक और अवसर शीघ्र ही प्राप्त हुआ। सन् १७४५ में बादशाह ने कोइल के नवाब फतहअली खां के विरुद्ध अफगान सरदार आसद खां के नेतृत्व में एक सेना भेजी। नवाब ने सूरजमल से सहायता की प्रार्थना की जो सूरजमल ने तत्काल स्वीकार कर ली। चंदोस नामक स्थान पर युद्ध हुआ, जिसमें आसद खां की सेना ने नवाब की सेना को झकझोर दिया। उसी समय सूरजमल ससैन्य युद्ध-क्षेत्र में पहुंच गया। उसने न केवल शाही सेना को हरा दिया वरन् आसद खां को भी मार गिराया। इस विजय से सूरजमल का हौसला और भी बढ़ गया।

अब जाटों ने दिल्ली की ओर अपनी जागीर का विस्तार करना शुरू किया। उन्होंने साम्राज्य के कई इलाके दबा लिये। इस पर बादशाह ने ये इलाके अपने वजीर और मीरबक्षी के नाम कर दिए। वजीर सफदरगंज ने बलराम जाट को बल्लभगढ़ और सूरजमल को फरीदाबाद के इलाके खाली करने को कहा। परंतु दोनों ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। फलतः नवंबर, १७६६ में सफदरगंज जाटों पर चढ़ आया। उसने फरीदाबाद पर अधिकार कर लिया और साथ ही सूरजमल को साम्राज्य के अन्य इलाके खाली करने के लिए ललकारा। पर सूरजमल हताश नहीं हुआ और लड़ाई की तैयारी करने लगा। इसी बीच सूरजमल की खुशकिस्मती से फर्रुखाबाद में शाही सेना की हार के कारण सफदरगंज को दिल्ली लौटना पड़ा। अंत में सफदरगंज ने अपनी जागीर में वृद्धि करने के लोभ से सूरजमल से दोस्ती कर ली। सफदरगंज ने सूरजमल को मथुरा का फौजदार बना दिया।

इधर साम्राज्य का मीरबक्षी सलावत खां मेवात पर चढ़ आया। उसने जाटों से नीमराना छीन लिया। सलावत खां आगरा जाते हुए रात्रि को शोभाचंद की सराय में ठहरा। सूरजमल ने गोहद के राना की सहायता से सलावत खां की सेना को घेर लिया और खूब लूटा। अंत में परेशान होकर सलावत खां को सूरजमल से संधि करनी पड़ी। यही नहीं, उसने भविष्य में जाटों के इलाके में न घुसने का आश्वासन भी दिया। इस प्रकार सूरजमल उत्तरी भारत के क्षितिज पर एक सितारे की तरह चमकने लगा।

जाट राज्य को मान्यता

सन् १७५० में नवाब वजीर सफदरगंज ने मरहठों और सूरजमल की सहायता से समशाहबाद के निकट रोहिल्लों (अफगान) पर आक्रमण किया। रोहिल्लों का सरदार अहमद खां बंगेश हार गया। उसके इलाके को वजीर, सूरजमल और मरहठों ने आपस में बांट लिया। सूरजमल अपने राज्य में और इजाफा करने में सफल हो गया। इस अवसर पर बादशाह की ओर से सूरजमल को राजा की उपाधि दी गयी। वेंडल के अनुसार इस प्रकार बादशाह ने भरतपुर में जाटों की एक खुदमुख्तार हुकूमत को पहली बार औपचारिक रूप में मान्यता प्रदान की।

दिल्ली में जाटगर्दी

सन् १७५२ में बादशाह और उसके वजीर सफदरगंज के बीच खटक गयी। सूरजमल ने वजीर का साथ दिया। वजीर और सूरजमल की सेना ने दिल्ली को घेरने का प्रयत्न किया। वजीर के इशारे पर सूरजमल और नागाओं की जमात के सरदार राजेंद्र गिरी गोस्बामी ने ९ मई, १७५३ को दिल्ली में प्रवेश किया। जाटों ने लगभग एक सप्ताह तक दिल्ली को लूटा। फलस्वरूप दिल्ली के हजारों निवासी शरणार्थी बन गए। आज भी जाटों की यह लूट 'जाटगर्दी' के नाम से याद की जाती है।[1] बादशाह और उसके भूतपूर्व वजीर सफदरगंज के बीच लड़ाई लंबी चली, जिसमें दोनों पक्ष थक गए। अंत में जयपुर के महाराजा सवाई माधोसिंह (प्रथम) ने बीच में पड़कर दोनों के बीच सुलह करायी। सफदरगंज को अपने सूबे अवध में जाने की इजाजत दे दी गयी और सूरजमल को क्षमा कर दिया गया।

कुंभेर का घेरा

इस लड़ाई के दौरान सफदरगंज के स्थान पर इमाद-उल-मुल्क गाजीउद्दीन साम्राज्य का वजीर बन गया था। उसने मराठों से मिलकर सूरजमल से बदला लेने की ठानी। जयपुर भी नये वजीर की साजिश में शामिल हो गया। सूरजमल ने मरहठा सरदार रघुनाथराव को कहलाया कि वह ४० लाख रुपये ले ले और वजीर साजिश में भाग न ले। पर रघुनाथराव ने एक करोड़ रुपया मांगा। इस पर वार्ता असफल हो गयी। अंत में दोनों पक्षों में कुंभेर नामक स्थान पर युद्ध हुआ जो चार माह तक चला। मरहठा सेनापति खंडेराव होल्कर १७ मार्च, १७५४ को रणक्षेत्र में मारा गया। इससे मरहठे और भी क्रुद्ध हो गए। खंडेराव के पिता मल्हारराव के कहने पर स्वयं वजीर इमाद-उल-मुल्क जाटों पर चढ़ आया। ऐसी स्थिति में सूरजमल की पत्नी रानी किशोरी ने प्रमुख मरहठा सरदार जये आप्पा सिंधिया को अपनी ओर मिला लिया। मल्हारराव के सामने संधि करने के अलावा और कोई चारा नहीं रहा। मरहठों ने सूरजमल से ३० लाख रुपये तीन किस्तों में लेने का वादा लेकर १८ मई, १८५४ को कुंभेर खाली कर दिया।

मरहठा-जाट मित्रता

मरहठा सरदार रघुनाथराव दिल्ली की ओर बढ़ना चाहता था। इसके लिए आवश्यक था कि वह सूरजमल का सहयोग प्राप्त करता। अत: उसने सूरजमल के सामने यह प्रस्ताव रखा कि यदि वह मरहठों को उत्तर की ओर निष्कंटक रूप से बढ़ने देगा तो आगरा सूबे में स्थित मरहठा-अधिकृत इलाका उसे दे दिया जाएगा। सूरजमल ने रघुनाथराव का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इसके एवज में मरहठों ने सिकंदराबाद का किला सूरजमल को सौंप दिया। मरहठों की मित्रता का लाभ उठा

१. डॉ० ए० एल श्रीवास्तव, 'अवध के प्रथम दो नवाब' (अंग्रेजी में), पृ० २१९-२०।

कर सूरजमल ने सितंबर, १७५४ में वजीर इमाद-उल-मुल्क से पालवाल छीन लिया। इसके कुछ समय बाद सूरजमल ने सबीतगढ़ (अलीगढ़) पर भी अधिकार कर उसका नाम रामगढ़ रख दिया। इससे क्रुद्ध होकर वजीर इमाद ने नजीब खां को सूरजमल के विरुद्ध भेजा। इसी बीच मुगल दरबार के एक मंत्री नागरमल ने बीच में पड़कर डसना नामक स्थान पर २६ जुलाई, १७५५ को सूरजमल और वजीर के बीच संधि करवा दी। इस संधि के अंतर्गत सूरजमल द्वारा अलीगढ़ में दबाए हुए इलाके एवं जावेदखां तथा सफदरगंज द्वारा दी गई जागीरों को जायज मान लिया गया। इसके एवज में सूरजमल को २६ लाख रुपये मुगल-दरबार को देने पड़े एवं सिकंदराबाद का किला खाली करना पड़ा। इस संधि के बाद सन् १७५५-५६ में सूरजमल ने बल्लभगढ़, घसेरा और जलवर पर अपना अधिकार जमा लिया।

सूरजमल और अब्दाली

इस समय अहमदशाह अब्दाली अफगानिस्तान का बादशाह बन गया था। उसने पेशावर होते हुए सन् १७५६ में पंजाब पर अधिकार कर लिया। इसके कुछ ही समय बाद उसने दिल्ली पर भी प्रभुत्व जमा लिया। जोधपुर और आमेर के शासकों ने अविलंब ही उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। उसने सूरजमल को भी वे सब इलाके खाली करने को कहा जो उसने डसना की संधि के बाद हस्तगत कर लिये थे। सूरजमल ने एक दूत द्वारा अब्दाली से निवेदन किया कि यदि वह मरहठों को उत्तरी भारत से निकाल देगा तो वह एवं उसके अन्य साथी उसे ५० लाख रुपया देंगे। पर अब्दाली इससे अधिक रकम चाहता था। अंत में अब्दाली ने भरतपुर राज्य पर आक्रमण किया। अब्दाली की सेना का बल्लभगढ़ में सूरजमल के लड़के जवाहरसिंह से मुकाबला हुआ। २७ फरवरी, १७५७ को जवाहरसिंह को बल्लभगढ़ खाली कर देना पड़ा। इसके बाद चौमुआ में अफगान सेना की जवाहरसिंह से फिर मुठभेड़ हुई। पर यहां भी जवाहरसिंह की हार हुई। अफगान सेना १ मार्च, १७५७ को मथुरा में दाखिल हुई। उसने मथुरा को कसकर लूटा। जनता का कत्लेआम किया गया। मंदिर तोड़ दिए गए। महिलाओं के साथ अत्याचार किया गया। अब अफगान सेना ने डींग की ओर प्रस्थान करने का निर्णय किया जहां सूरजमल ने किलेबंदी कर रखी थी। इस बीच मथुरा में ऐसा हैजा फैला कि हर रोज सैकड़ों अफगान सिपाही मरने लगे। अतः अब्दाली को वहीं से वापस लौटना पड़ा। वह दिल्ली होते हुए पुनः काबुल चला गया। इस प्रकार इस बार हैजा भाग्यशाली सूरजमल की मदद करने पहुंच गया।

अब्दाली के हमले से सूरजमल को विशेष हानि नहीं हुई। उसने एक कौड़ी भी अब्दाली को नहीं दी। राजनीतिक दृष्टि से तो उसकी स्थिति पहले से भी अधिक मजबूत हो गयी। मरहठों ने भी सूरजमल से दोस्ती रखने में ही अपना हित समझा। उन्होंने सूरजमल को उसके अधिकृत सभी इलाकों का स्वामी स्वीकार कर लिया एवं आगरे के किले पर भी उसका अधिकार बहाल रखा। दूसरी ओर सूरजमल और

वजीर इमाद के बीच भी सुलह हो गयी।

दिल्ली पर अधिकार

नवंबर, १७५९ में वजीर ने बादशाह आलमगीर (द्वितीय) और इंतिजाम-उद-दोलाह को मार डाला और उसके स्थान पर कामबक्ष के प्रपौत्र मही-बे-मिल्लत को शाहजहां सानी के नाम से दिल्ली के तख्त पर बैठा दिया। यह सुनकर अब्दाली पुनः हिंदुस्तान के लिए रवाना हुआ। इस समाचार से घबराकर वजीर एवं मरहठों ने स्त्रियों और बच्चों को सुरक्षा की दृष्टि से सूरजमल के पास भेज दिया। सूरजमल ने अब्दाली के विरुद्ध मरहठों के सहायतार्थ सेना भेजी। अब्दाली ने मरहठों को हरा दिया। वजीर इमाद स्वयं भागकर भरतपुर की ओर चला गया। अब्दाली ने रामगढ़ पर अधिकार कर उसका नाम अलीगढ़ रख दिया। जाट उसे नहीं बचा सके। अब अब्दाली ने सूरजमल से २ करोड़ रुपये मांगे और चेतावनी दी कि यह रकम नहीं देने की स्थिति में डींग पर हमला किया जाएगा। अंत में ४५ लाख रुपये पर समझौता हुआ। इसी बीच दक्षिण से पेशवा ने एक बड़ी सेना अपने भाई सदाशिव भाऊ के नेतृत्व में अब्दाली के विरुद्ध भेजी। सूरजमल ससैन्य सदाशिव भाऊ से गंभीर नदी के किनारे मिला। मरहठों और जाटों की संयुक्त सेना आगरा एवं मथुरा होती हुई दिल्ली पहुंची। इमाद की सहायता से इस सेना ने दिल्ली पर अधिकार जमा लिया।

मरहठों से मतभेद

कहते हैं कि सूरजमल दिल्ली पर अपना अधिकार चाहता था, पर भाऊ ने उसकी यह इच्छा स्वीकार नहीं की। इस पर सूरजमल नाराज होकर दिल्ली से भरतपुर लौट आया। इस परिस्थिति का लाभ उठाकर अब्दाली ने सूरजमल से दोस्ती कर ली। सूरजमल से निश्चित होकर अब्दाली ने पानीपत में मरहठों से टक्कर ली। मरहठे हार गए और स्वयं भाऊ मारा गया। बची हुई मरहठा सेना ने भागकर भरतपुर में शरण ली। सूरजमल ने बिना अब्दाली की परवाह किए उसे सुरक्षित ग्वालियर पहुंचाया। इससे अब्दाली ने सूरजमल पर समझौता भंग करने का आरोप लगाया और भरतपुर पर आक्रमण करने की धमकी दी। सूरजमल ने अपने वकील को अब्दाली के पास भेजकर समझौता करने की इच्छा प्रकट की।[1] अब्दाली सूरजमल से १ लाख रुपये लेकर २२ मई, १७६१ को अफगानिस्तान लौट गया।

आगरा पर अधिकार

सूरजमल की एक महत्त्वाकांक्षा दिल्ली पर नियंत्रण करने की थी। इसके लिए एक ओर उसे अब्दाली के संभावित आक्रमण का ध्यान रखना था एवं दूसरी

१. इस संबंध में कुं० नटवरसिंह ने 'हिंदुस्तान टाइम्स' के १५ जून, '८० के अंक में प्रकाशित लेख में सूरजमल द्वारा अब्दाली को लिखा गया पत्र उद्धृत किया है।

ओर मरहठों को चंबल के पार रोकना था। अतः उसने एक बड़ी सेना अपने पुत्र जवाहरसिंह के नेतृत्व में हरियाणा की ओर भेजी ताकि अब्दाली को सिंधु-नदी के उस पार ही रोक दिया जाए। उधर सूरजमल ने १२ जून, १७६२ को आगरा के किले पर अधिकार कर लिया, जहां उसे गोला-बारूद एवं अस्त्र-शस्त्रों के अलावा ५० लाख रुपये भी हाथ लगे।

सूरजमल की मृत्यु

जवाहरसिंह ने फर्रुखनगर पर हमला किया। पर उसे कामयाबी नहीं मिली। इस पर सूरजमल स्वयं बड़ी फौज लेकर वहां पहुंच गया। २ माह तक फर्रुखनगर पर घेरा डाले रहा। अंत में उसने वहां के बलोच मुखिया मुसावी खां को धोखे से पकड़ लिया और उसे कैदी बनाकर डींग भेज दिया। इस प्रकार नवंबर, १७६३ में फर्रुख-नगर पर जाटों का अधिकार हो गया। सूरजमल ने रेवाड़ी, गढ़ी, हरसाना और रोहतक पर भी अधिकार कर लिया। वह एक बड़ी सेना के साथ दिल्ली की ओर बढ़ा। २५ दिसंबर, १७६३ को हिंदान नदी के निकट नजीब की सेना की जाटों से टक्कर हुई। दुर्भाग्य से मुगल सेना की एक टुकड़ी ने २५ दिसंबर, १७६३ को सूरज-मल को खाइयों का निरीक्षण करते हुए मार डाला।

सूरजमल का व्यक्तित्व

सूरजमल के जीते-जी दिल्ली पर राज्य करने की उसकी महत्त्वाकांक्षा पूरी नहीं हो सकी। पर वह अपनी मृत्यु के समय अपने पीछे इतिहास की सबसे बड़ी जाट-सल्तनत छोड़ गया जिसमें भरतपुर के अलावा आगरा, हाथरस, मैनपुरी, अलीगढ़, रेवाड़ी, रोहतक, इटावा, मेरठ, गुड़गांवा और मथुरा के इलाके शामिल थे। वह न केवल एक योद्धा और कूटनीतिज्ञ था वरन् एक जबरदस्त संगठनकर्ता भी था। उसने जाटों की सुसंगठित फौज खड़ी कर एक विशाल जाट-राज्य की स्थापना की। जादू-नाथ सरकार के अनुसार उसके राज्य की वार्षिक आय लगभग १ करोड़ ७५ लाख रुपये थी। वह अपने पीछे लगभग १० करोड़ रुपये छोड़ गया था।[1] वह केवल ५५ वर्ष की आयु में ही मर गया। वह अपने समय का राजस्थान का एक महत्त्वपूर्ण शासक था। उत्तरी भारत में शायद यही एक ऐसा शासक था जिससे बादशाह अब्दाली और मरहठों जैसी शक्तिशाली शक्तियां घबराती थीं और सदैव उसकी मित्रता की इच्छुक रहती थीं।

जवाहरसिंह

सूरजमल अपने बड़े लड़के जवाहरसिंह से नाराज था, क्योंकि जवाहरसिंह सन् १७५६ में उसके विरुद्ध बगावत कर चुका था। सूरजमल ने उसका दरबार में

१. सरकार, 'मुगल-साम्राज्य का पतन', पृ० ३३३।

आना बंद कर दिया था। उसने अपने जीते-जी छोटे पुत्र नाहरसिंह को अपना उत्तराधिकारी नामजद कर दिया था। अतः ज्यों ही सूरजमल के मारे जाने की खबर भरतपुर पहुंची, राज्य के प्रमुख कारिंदा बलराम ने मजलिस कौम की स्वीकृति से नाहरसिंह को भरतपुर की गद्दी पर बैठा दिया। परंतु सूरजमल की इतिहास-प्रसिद्ध रानी किशोरी ने जवाहरसिंह को गद्दी पर बैठाने की मांग की। वह प्रमुख जाट नेताओं का समर्थन पाने में सफल हो गयी। जवाहरसिंह डींग में जाट-राज्य का स्वामी घोषित कर दिया गया। नाहरसिंह हताश होकर अपनी जागीर धौलपुर में गया और वहां से सैनिक सहायता प्राप्त करने की दृष्टि से मरहठों के पास गया।

जाट-संगठन छिन्न-भिन्न

जवाहरसिंह को एक ओर तो नाहरसिंह का खटका बना हुआ था, दूसरी ओर बदनसिंह के पौत्र बहादुरसिंह से, जो इस समय बैर का स्वामी था, भरतपुर की गद्दी पर अपना अधिकार जमाना चाहा। बलराम व कई अन्य जाट नेताओं ने भी जवाहरसिंह के प्रति असहयोग की नीति अपनायी। इस प्रकार जवाहरसिंह को गद्दी पर बैठते ही कई आंतरिक संकटों का सामना करना पड़ा। फलस्वरूप उसने सूरजमल की सैनिक नीति का परित्याग कर जातीय संगठन के आधार पर बनी हुई सेना के स्थान पर समरू और रेनेमेडिक आदि के नेतृत्व में भाड़ू सैनिकों की फौज तैयार की और उसके बल पर उसने सूरजमल के शासन के स्तंभ बलराम और मोहनराम जैसे जाट नेताओं और उनके सहायकों का सफाया किया। इसके बाद उसने बैर पर अधिकार कर बहादुरसिंह को गिरफ्तार कर लिया। इस प्रकार कुछ ही समय में उसने अपनी स्थिति मजबूत कर ली। जवाहरसिंह के इस कदम से जाटों का संगठन छिन्न-भिन्न हो गया, परंतु जवाहरसिंह के सामने और कोई रास्ता नहीं था।

दिल्ली पर अधिकार

अब रानी किशोरी ने जवाहरसिंह को अपने पति को मारने वाले अफगानों से बदला लेने के लिए ललकारा। उसने जवाहरसिंह को इस काम के लिए एक बड़ी धनराशि भी दी। जवाहरसिंह ने सन् १८१६ में मरहठों और सिक्खों की सेना की सहायता से अफगान सरदार नजीबुदौल्ला (नजीब) के विरुद्ध दिल्ली पर चढ़ाई की। नजीब ने अपने-आपको दिल्ली के अंदर बंद कर लिया। जवाहरसिंह तीन माह तक दिल्ली को घेरे रहा। उसने नजीब को युद्ध के लिए आमंत्रित किया। युद्ध के लिए ललकारे जाने पर नजीब दिल्ली से बाहर आया। फरीदाबाद के निकट दोनों पक्षों में युद्ध हुआ, जिसमें नजीब की हार हुई। दिल्ली पर जवाहरसिंह का अधिकार हो गया। उसकी सेना ने दिल्ली को खूब लूटा। वह दिल्ली के एक दरवाजे के अष्टधातु से बने किवाड़ भी उखाड़ लाया जो आज भी भरतपुर-किले के एक दरवाजे पर लगे हुए हैं। इस लूट के माल में काले संगमरमर का एक सिंहासन भी था जो आज भी डींग के महलों में सुरक्षित रखा हुआ है। इस समय जवाहरसिंह को सूचना मिली कि

नजीब के आमंत्रण पर अहमदशाह अब्दाली सिंधु नदी को पार कर दिल्ली पहुंचने वाला है। इधर मल्हारराव होल्कर ने जाटों का साथ छोड़ दिया। अतः जवाहरसिंह नजीब से समझौता कर अपने मुल्क को लौट गया।

नाहरसिंह का सफाया

अब जवाहरसिंह को एक बार फिर नाहरसिंह से जूझना पड़ा। नाहरसिंह की स्त्री बड़ी सुंदर थी। जवाहरसिंह उसको हथियाना चाहता था। इधर नाहरसिंह ने भरतपुर की गद्दी पुनः प्राप्त करने के लिए मरहठों से सहायता मांगी। मल्हारराव होल्कर ने एक बड़ी सेना नाहरसिंह के सहायतार्थ भेजी। मरहठे जाट राज्य में घुस गए और डींग और आगरा को लूटा। इस पर जवाहरसिंह सिक्ख सेना के साथ मरहठों पर चढ़ आया और उसने मरहठों को धौलपुर के निकट परास्त कर दिया। उसने मरहठों का पीछा करते हुए भींड, कालपी और नरवर आदि गांवों को लूटा। उसने धौलपुर पर अधिकार कर लिया। नाहरसिंह ने जयपुर राज्य में जाकर शरण ली, जहां शाहपुरा नामक स्थान पर उसने आत्महत्या कर ली। जवाहरसिंह ने जयपुर के महाराजा माधोसिंह पर नाहरसिंह की स्त्री एवं उसके बच्चों को सौंपने के लिए दबाव डाला। पर माधोसिंह ने इनकार कर दिया। अंत में नाहरसिंह की स्त्री ने भी आत्महत्या कर ली।[1]

जयपुर राज्य में लूट

सन् १७६४ में ईस्ट इंडिया कंपनी, अवध के नवाब, साम्राज्य के वजीर और भरतपुर के बीच मरहठों के विरुद्ध एक सुरक्षात्मक समझौता हुआ। जवाहरसिंह जोधपुर को भी इस समझौते में शामिल करना चाहता था। अतः वह जोधपुर के महाराजा विजयसिंह से मिलने के लिए पुष्कर के लिए रवाना हुआ। राह में उसने जयपुर के गांवों को लूटा। पुष्कर में विजयसिंह ने भी मरहठों के विरुद्ध समझौते में शामिल होना स्वीकार कर लिया। जब जवाहरसिंह पुष्कर से वापस लौट रहा था तो जयपुर की सेना ने मांडवा नामक स्थान पर उस पर आक्रमण कर दिया। जाटों की सेना भाग गयी। जवाहरसिंह ने कामां के पास जयपुर की सेना से फिर लोहा लिया। पर उसे सफलता नहीं मिली। इस अभियान में माचेरी के राव प्रतापसिंह नरूका ने जयपुर का साथ दिया। इस घटना के कुछ समय बाद अगस्त, १७६९ में एक सिपाही ने जवाहरसिंह की हत्या कर दी।

जवाहरसिंह ने अपने पिता सूरजमल द्वारा स्थापित राज्य की नींव दृढ़ की। उसने न केवल अपने आंतरिक शत्रुओं का सफाया किया, वरन् रोहिल्लों और मरहठों को भी हराया। वह बहुत महत्त्वाकांक्षी था और अपने-आपको जयपुर के शासकों से कम नहीं समझता था। इसीलिए उसने ;जयपुर के महाराजा की तरह 'सवाई' की

१. कानूनगो, 'जाटों का इतिहास', प्रथम जिल्द, पृ० २१०-१४।

पदवी धारण की । पर वह अपने पिता की भांति उदार नहीं था । उसने राज्य के जाट नेताओं और परिवार के सदस्यों का दिल जीतने के बजाय उनका सर्वनाश कर अपने पूर्वजों द्वारा बनाए गए जाट-संगठन को छिन्न-भिन्न कर दिया । वह मुसलमानों से घृणा करता था । उसने आगरा की जामा मस्जिद को नाज-मंडी में बदल दिया । उसने न केवल गोवंश के वध पर सख्त पाबंदी लगायी वरन् इस्लाम धर्मावलंबियों के साथ सख्ती का व्यवहार किया ।

गृह-युद्ध

जवाहरसिंह की मृत्यु के साथ ही साथ जाट सल्तनत का विघटन हो गया । जवाहरसिंह के बाद उसका भाई रतनसिंह भरतपुर की गद्दी पर बैठा । पर वह लगभग ११ माह बाद ही रूपानंद गुसाईं द्वारा वृंदावन में मार दिया गया । उसके स्थान पर उसका डेढ़ वर्ष का लड़का केसरीसिंह भरतपुर का उत्तराधिकारी बना । केसरीसिंह की नाबालिगी में राज्य का प्रशासन चलाने के लिए जाट सेनापति धनसहाय को नाबालिग राजा का संरक्षक नियुक्त किया गया। इस नियुक्ति से केसरीसिंह के काका नवलसिंह और रणजीतसिंह अप्रसन्न हो गए । उन्होंने धनसहाय को डीग के किले में दबोच लिया और राज्य से निर्वासित कर दिया । पर अब नवलसिंह और रणजीतसिंह में ठन गयी । दोनों में से प्रत्येक प्रशासन पर अपना-अपना प्रभुत्व जमाना चाहता था । रानी किशोरी ने दोनों को समझाने का प्रयत्न किया । पर उसे सफलता नहीं मिली । नवलसिंह ने जाट नेताओं को अपने पक्ष में कर लिया । अतः रणजीतसिंह अपनी जागीर कुंभेर में चला गया । बाद में फ्रेंच सेनापति रेनेडमक की सहायता से नवलसिंह ने कुंभेर पर अधिकार कर लिया । रणजीतसिंह ने सिक्खों से सहायता लेने का प्रयत्न किया । पर नवलसिंह ने सिक्खों को भी अपनी ओर मिला लिया । रणजीतसिंह जयपुर चला गया । वह वहां पर मरहठों से मिला और उन्हें भरतपुर पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया । मरहठों ने सहर्ष यह निमंत्रण स्वीकार कर लिया । महाराजा जयपुर भी यही चाहता था । मरहठा फौज कुंभेर पहुंच गयी और आस-पास के इलाकों को लूटा । मरहठों और नवलसिंह की सेना के बीच ६ अप्रैल, १७७० को सोंख-अरिंग के स्थान पर युद्ध हुआ, जिसमें नवलसिंह हार गया । नवलसिंह भागकर डीग के किले में जा घुसा । मरहठा सैनिकों ने उसका पीछा नहीं छोड़ा । अंत में दोनों के बीच एक संधि हुई जिसके अनुसार नवलसिंह को मरहठों को चौथ के ६५ लाख रुपये एवं रणजीतसिंह को कुंभेर के किले के साथ ही साथ २० लाख रुपये वार्षिक की जागीर देनी पड़ी ।

जाट-राज्य का ह्रास

सन् १७७२ में शाह आलम (द्वितीय) पुनः दिल्ली का स्वामी बना । महादाजी सिंधिया और नजफखां ने शाह आलम का साथ देने का निर्णय किया । परंतु सिंधिया शीघ्र ही दक्षिण में चला गया । दिल्ली सल्तनत को धन की आवश्यकता थी । नजफखां

की नजर जबीता खां और नवलसिंह पर पड़ी। जब उनको नजफखां के षड्यंत्र का पता चला तो उन्होंने मरहठों की सहायता से दिल्ली पर आक्रमण कर घेरा डाल दिया। नजफखां उक्त संयुक्त सेना का सामना नहीं कर सका। अतः शाह आलम ने उसे बरखास्त कर दिया। पर नजफखां पुनः मुगल-दरबार में आ गया। उसने जबीता खां से समझौता कर लिया। मरहठे अपने घरेलू झगड़ों के कारण दक्षिण चले गए। नजफखां ने रणजीतसिंह को भी अपनी ओर मिला लिया। अब नजफखां ने भरतपुर पर आक्रमण किया। उसने दुआब के किलों पर कब्जा कर लिया। नवलसिंह ने दनकौर के निकट नजफखां का सामना किया। पर वह नहीं टिक सका। नजफखां ने बदरपुर पर अपना मुकाम किया जहां बल्लभगढ़ के जाट नेता उसे मिले। इन्हें नवलसिंह ने अपनी जागीरों से हटा दिया था। नजफखां ने बल्लभगढ़ के हीरासिंह को वहां का सूबेदार नियुक्त कर दिया। हीरासिंह के मिल जाने से नजफखां की ताकत और बढ़ गयी। उसने भवानीखेड़ा, पालवाल और बनचारी पर कब्जा कर लिया। नजफखां की सेना ने बाद में गढ़ी, मैदान, फर्रुखनगर और हरसारू पर भी अधिकार कर लिया। मिर्जा नजफखां कोटवान की ओर बढ़ा जहां नवलसिंह मुकाम किए हुए था। नवलसिंह भागकर बरसाना के किले में चला गया। नजफखां ने बरसाना पर भी आक्रमण किया। नवलसिंह ने डींग के किले में शरण ली। बरसाना की हार के साथ ही जाट सल्तनत की कमर टूट गयी।

अलवर राज्य की स्थापना

मिर्जा नजफखां आगे बढ़ता ही गया। उसने जाटों से आगरा का किला छीन लिया। जाटों की हार पर हार होते देख नवलसिंह की सेना में कार्यरत सोंबर और रेनेमेडक आदि विदेशी सेनापति नवलसिंह का साथ छोड़कर नजफखां से जा मिले। जाटों को इन कठिन परिस्थितियों में पाकर माचेरी के राव प्रतापसिंह नरूका ने मेवात के कई इलाके अपने अधिकार में कर लिये। उसने सन् १७७५ में किलेदार को अपनी ओर मिलाकर अलवर पर भी अपना अधिकार कर लिया। प्रतापसिंह महाराजा माधोसिंह की मृत्यु के बाद जयपुर के कुछ इलाकों पर पहले ही कब्जा कर चुका था। इस प्रकार भरतपुर के पड़ोस में अलवर का नया राज्य स्थापित हो गया।

नवलसिंह की मत्यु

इन्हीं दिनों रोहिल्लों ने उपद्रव शुरू कर दिए। अतः नजफखां का ध्यान उधर बंट गया। पेशवा नारायणराव की हत्या को लेकर मराठे भी अपने आंतरिक झगड़ों में फंसे हुए थे। राज्य से नजफखां का प्रभुत्व समाप्त करने की दिशा में नवलसिंह के लिए यह अच्छा अवसर था। वह डींग से रवाना होकर राज्य के कई इलाकों पर अधिकार करता हुआ दिल्ली की ओर बढ़ा। इस पर मिर्जा नजफखां रोहिल्लों के विरुद्ध प्रस्तावित अभियान को स्थगित कर नवलसिंह से जा भिड़ा। नवलसिंह ने भागकर सोखेर के किले में शरण ली। नजफखां चार माह तक सोखेर के किले को

घेरे रहा। इस अवसर पर जयपुर ने जाटों की सहायता की। इससे नाराज होकर मुगल सेना ने जयपुर के कामां इलाके पर अधिकार कर लिया। कामां के किले से ही नवलसिंह को रसद आदि की सहायता प्राप्त हो रही थी। जाटों और जयपुर के कछवाहों ने मरहठों की सहायता से कामां पर आक्रमण किया। पर उन्हें सफलता नहीं मिली। जाटों को पुनः डींग के किले में शरण लेनी लेनी पड़ी। जयपुर इस अभियान से अलग हो गया। नजफखां ने उसे कामां लौटा दिया। इसके एवज में जयपुर ने ११ लाख रुपया मुगल दरबार को पेशकश के रूप में देना स्वीकार किया। नवलसिंह जाट सल्तनत के भाग्य को अंधेरे में छोड़कर ११ अगस्त, १७७५ को डींग के किले में मर गया।

रणजीतसिंह की गद्दीनशीनी

नवलसिंह के मरते ही रोहिल्ला सरदार रहीमदाद खां डींग पहुंच गया। उसने नाबालिग केशरीसिंह को गद्दी पर बैठाया और स्वयं को उसका संरक्षक घोषित किया। जब यह समाचार रणजीतसिंह ने सुना तो उसने कुंभेर के अपने जाट-सैनिकों के अलावा मरहठों और नागाओं की सहायता से डींग पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। रहीमदाद दिल्ली की ओर भाग गया। अब रणजीतसिंह और केशरीसिंह के समर्थकों में झगड़ा आरंभ हुआ। रणजीतसिंह भागकर पुनः कुंभेर चला गया। उसने मिर्जा नजफखां से सहायता मांगी। जब जवाहरसिंह की विधवा रानी को यह पता चला तो वह कुंभेर आयी। उसने रणजीतसिंह को केशरीसिंह का संरक्षक बनने का प्रस्ताव किया। पर रणजीतसिंह ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। अंत में जाट-सल्तनत के समक्ष उपस्थित खतरे को ध्यान में रखते हुए रणजीतसिंह को राज्य का स्वामी घोषित कर दिया गया। इसी बीच केशरीसिंह की भी चेचक से मृत्यु हो गयी।

नजफखां का आक्रमण

रणजीतसिंह गद्दी पर बैठते ही मुगलों से अपना खोया हुआ इलाका प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा। जाटों ने आगरा और मथुरा के इलाकों में लूटपाट और उपद्रव मचाना शुरू किया। मिर्जा नजफखां ने डींग पर आक्रमण किया और किले को घेर लिया। कई महीनों के घेरे के बाद रणजीतसिंह ने २९ अप्रैल, १७७६ को डींग खाली कर कुंभेर के किले में शरण ली। नवंबर, १७७७ में रणजीतसिंह को कुंभेर भी खाली करना पड़ा। अब वह भरतपुर पहुंच गया। वह भरतपुर के किले में जाट सल्तनत के अपने अंतिम गढ़ के पतन का इंतजार कर रहा था। ऐसे समय में रानी किशोरी मिर्जा नजफखां के पास पहुंच गयी और उससे अपने पति के खान-दान की इज्जत की रक्षा करने हेतु प्रार्थना की। नजफखां ने जनवरी, १७७८ में रणजीतसिंह को ८ लाख रुपये वार्षिक आय की जागीर लौटा दी तथा कुंभेर का किला और कुछ गांव गुजारे के लिए रानी किशोरी को दिए। इस प्रकार जाट राज्य बच तो

गया पर सूरजमल और जवाहरसिंह द्वारा स्थापित विशाल जाट-सल्तनत के स्थान पर केवल मात्र एक छोटी-सी रियासत के रूप में। थोड़े समय बाद नजफ खां की मृत्यु हो गयी। फलतः दिल्ली-दरबार में एक बार पुनः अस्थिरता पैदा हो गयी। इसका फायदा उठाकर रणजीतसिंह ने अपने राज्य का थोड़ा विस्तार किया।

रानी किशोरी की सूझ

रणजीतसिंह को सन् १७८४ में एक और झटका सहना पड़ा। मरहठा सरदार महादजी सिंधिया ने सारे जाट राज्य पर अधिकार कर लिया। रानी किशोरी ने महादजी सिंधिया से प्रार्थना कर एक बार फिर जाट-राज्य को नष्ट होने से बचाया। सिंधिया ने ११ परगने, जिनकी आय लगभग ११ लाख रुपये थी, रणजीतसिंह को लौटा दिए। रणजीतसिंह ने सिंधिया की जयपुर और इस्माईल बेग के विरुद्ध हुई लड़ाइयों में बड़ी सहायता की। इसके बदले में सिंधिया ने उसे सन् १७८७ में डींग का किला भी लौटा दिया। इस घटना के बाद रणजीतसिंह सन् १८०३ तक सिंधिया के प्रति वफादार बना रहा। इस बीच उसे सिंधिया ने ३ परगने और दे दिए।

अंग्रेजों से संधि

इन दिनों संसार के विभिन्न भागों में अपना-अपना प्रभुत्व जमाने के लिए फ्रांस और अंग्रेजों के बीच संघर्ष चल रहा था। भारत में उस समय अंग्रेजी इलाकों का गवर्नर-जनरल लॉर्ड बेलेजली था। राजपूताना में इस समय मराठों और पिंडारियों ने लूट मचा रखी थी। वेलेजली ने राजपूताना के राजाओं से संधि करने के लिए यह अच्छा अवसर देखा। वह राजपूताना में बढ़ते हुए फ्रांसिसी प्रभाव को भी रोकना चाहता था। अतः उसने जनरल लैक को ससैन्य राजपूताना की ओर भेजा। लैक ने अलीगढ़ पर अधिकार कर लिया। रणजीतसिंह ने अंग्रेजों से संधि करने के लिए अपने विश्वस्त सलाहकारों को लैक के पास भेजा और वह स्वयं भी लैक से कानावार में मिला। लैक ने कुछ समय बाद मरहठों को लासवाड़ी नामक स्थान पर परास्त किया। मरहठों की इस हार के साथ ही साथ रणजीतसिंह ने मरहठों के साथ की गयी दोस्ती को तिलांजलि देकर २९ सितंबर, १८०३ को जनरल लैक के साथ आपसी सुरक्षा की संधि कर ली। इस संधि से रणजीतसिंह को मरहठों को दी जाने वाली २ लाख रुपये वार्षिक की चौथ से मुक्ति हो गयी। यही नहीं, इस संधि के फलस्वरूप अंग्रेजों ने उसे किशनगढ़, कठूमर, रेवाड़ी, गोकुल और साहड़ के इलाके दिए।

अंग्रेजों से बिगाड़

ईस्ट इंडिया कंपनी और जाटों के बीच संधि होने के कुछ ही समय बाद अंग्रेजों और मरहठों में जंग छिड़ गया। जनरल लैक और जसवंतराव होल्कर की

सेनाओं में फर्रुखाबाद नामक स्थान पर युद्ध हुआ, जिसमें मरहठे हार गए। इस युद्ध में संधि के बावजूद रणजीतसिंह ने मरहठों का साथ दिया। कारण यह था कि मरहठों ने रणजीतसिंह को कुछ इलाके देने का वादा कर लिया था। फर्रुखाबाद पर विजय प्राप्त कर लैक ने डींग को घेर लिया। कई दिनों के घेरे के बाद २४ दिसंबर, १८०४ को रणजीतसिंह डींग को छोड़कर भरतपुर की ओर चला गया। इस प्रकार डींग पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। अब लैक भरतपुर की ओर बढ़ा। २ जनवरी, १८०५ को जनरल लैक ने लगभग १० हजार सेना के साथ भरतपुर के किले के आसपास मुकाम किया। ४ जनवरी से किले पर गोलाबारी शुरू हुई। कई दिनों के घेरे के बावजूद अंग्रेज भरतपुर किले में नहीं घुस सके। पर वे रणजीतसिंह के सहयोगी जसवंतराव होल्कर और अमीर खां को दबाने में सफल हो गए। इन परिस्थितियों में रणजीतसिंह ने क्षमा मांगते हुए जनरल लैक से संधि की प्रार्थना की। दोनों के बीच मार्च, १८०५ में संधि हो गयी। फरतपुर का घेरा उठा लिया गया। इस संधि द्वारा रणजीतसिंह को युद्ध के हर्जाने के रूप में २० लाख रुपये अंग्रेजों को देने का वादा करना पड़ा। साथ ही संधि की पालना की खातिर उसे अपने लड़के को अंग्रेजी सेनापति के पास रखना पड़ा। इस संधि द्वारा अंग्रेजों ने भरतपुर राज्य की सुरक्षा की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली। इस संधि को गवर्नर-जनरल ने २ मई, १८०५ को स्वीकार किया। संधि के कुछ समय बाद ही रणजीत-सिंह मर गया।

अंग्रेजों की अधीनता

रणजीतसिंह के स्थान पर उसका लड़का रणधीरसिंह भरतपुर की गद्दी पर बैठा। उसकी ब्रिटिश रेजिडेंट सर चार्ल्स मेटकाफ से सदा अनबन रही। परंतु उसने गवर्नर-जनरल लॉर्ड हेस्टिग्ज से मिलकर ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी प्रदर्शित की। उसने मरहठों और पिंडारियों के विरुद्ध चलाये गए अभियान में अंग्रेजों के सहायतार्थ सेना भी भेजी। कुछ समय बाद उसने अन्य राजाओं की तरह अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर ली। रणधीरसिंह सन् १८२३ में मर गया।

बलदेवसिंह

रणधीरसिंह के कोई पुत्र नहीं था। उसने अपने भाई के लड़के दुर्जनशाल को गोद लिया था। परंतु ब्रिटिश रेजीडेंट की मिलीभगत से रणधीरसिंह के मरते ही उसके भाई बलदेवसिंह ने गद्दी हथिया ली। इस पर दुर्जनशाल ने गद्दी पर अपना दावा प्रस्तुत किया। बलदेवसिंह वृद्धावस्था में था। उसे सदैव डर रहता था कि उसके मरते ही दुर्जनशाल भरतपुर की गद्दी का मालिक बन जाएगा। अतः उसने अपने जीवनकाल में ही अपने सात वर्ष के पुत्र बलवंतसिंह को अंग्रेजों की स्वीकृति से अपना उत्तराधिकारी बना दिया। बलदेवसिंह सन् १८२५ में मर गया।

दुर्जनशाल की हार

बलवंतसिंह के गद्दी पर बैठते ही उसे दुर्जनशाल के विद्रोह का सामना करना पड़ा। वह बलवंतसिंह को जेल में डालकर स्वयं भरतपुर का स्वामी बन गया। इससे अंग्रेज अधिकारी क्षुब्ध हो गए। रेजीडेंट आस्टरलोनी दिल्ली से एक बड़ी सेना लेकर भरतपुर के लिए रवाना हुआ। यह समाचार पाकर दुर्जनशाल ने २३ दिसंबर, १८२५ को गवर्नर-जनरल को एक प्रतिवेदन भेजा, जिसमें उसने यह बताया कि वही भरतपुर की गद्दी का वास्तविक हकदार है। गवर्नर-जनरल ने दुर्जनशाल को आज्ञा दी कि वह एक वकील को भेजकर परिस्थिति का पूरा विवरण उपस्थित करे। इस बीच गवर्नर-जनरल ने आस्टरलोनी को वापस लौटने की आज्ञा दी। इस पर आस्टरलोनी ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया। उसके स्थान पर लॉर्ड मेटकाफ पुनः रेजीडेंट नियुक्त हुआ। उसने दुर्जनशाल की एक नहीं चलने दी। भारत सरकार ने भरतपुर की गद्दी पर बलवंतसिंह का दावा स्वीकार कर दुर्जनशाल के विरुद्ध सेना भेजने का निर्णय किया। दुर्जनशाल ने समझौते के प्रयत्न किए। पर कोई नतीजा नहीं निकला। अंत में उसने जयपुर, करौली और माचेरी से सैनिक सहायता की अपील की। पर दुर्जनशाल को इन क्षेत्रों से कोई विशेष सहायता नहीं मिली। अंग्रेजी सेना १० दिसंबर, १८२५ को भरतपुर के निकट पहुंच गयी। वह कई दिनों के बाद १८ जनवरी, १८२६ को भरतपुर के किले में दरार डालकर घुसने में सफल हो गयी। दुर्जनशाल किले से निकलकर बयाना की ओर रवाना हुआ। पर वह अपनी पत्नी और दो लड़कों के साथ पकड़ लिया गया। उसी दिन संध्या को भरतपुर के किले ने आत्मसमर्पण कर दिया और इसके साथ ही बयाना, बैर, डींग और कुंभेर आदि के किलों ने भी आत्मसमर्पण कर दिया। अंग्रेजों की यह महत्त्वपूर्ण विजय थी, जिस पर उन्होंने बड़ी खुशियां मनायीं। इस विजय से भारत में और विशेषतया राजस्थान में ईस्ट इंडिया कंपनी का सिक्का पूरी तरह जम गया।

बलवंतसिंह की गद्दीनशीनी

अंग्रेजों ने ५ फरवरी, १८२६ को बलवंतसिंह को भरतपुर का नरेश घोषित कर दिया। राज्य के शासन-संचालन पर पूरी निगाह रखने हेतु मेजर लाकेट भरतपुर में पोलीटिकल एजेंट नियुक्त किया गया। भरतपुर से २५ लाख रुपए का लड़ाई का हर्जाना वसूल किया गया। इसके अलावा अंग्रेज अधिकारियों ने भरतपुर से ५० लाख रुपए इनाम के नाम पर ऐंठ लिये।[1] दुर्जनशाल और उसके साथियों को भरतपुर से निकालकर बनारस भेज दिया गया। भरतपुर अंग्रेज सरकार की एक कालोनी मात्र बन गया।

गद्दी पर बैठने के समय बलवंतसिंह नाबालिग था। अतः उसकी मां इमरतकुंवर राज्य की संरक्षिका नियुक्त की गयी। पर साथ ही राज्य का शासन-प्रबंध

१. स्ट्रेटन, 'भरतपुर की दो घेराबंदी', पृ० ७६।

पोलीटिकल एजेंट की देख-रेख में कर दिया गया। कुछ समय बाद इमरतकुंवर को संरक्षिका के पद से हटा दिया गया। इस प्रकार पोलीटिकल एजेंट ही राज्य का सर्वेसर्वा बन गया। यह व्यवस्था १८३५ तक चली, जबकि बलवंतसिंह बालिग अवस्था को प्राप्त हुआ। बलवंतसिंह सन् १८५३ में मर गया।

भरतपुर और सैनिक विद्रोह

बलवंतसिंह के स्थान पर उसका लड़का जसवंतसिंह गद्दी पर बैठा। वह भी नाबालिग था। अतः राज्य का शासन-प्रबंध पुनः पोलीटिकल एजेंट के हाथ में आ गया। सन् १८५७ में देश में सैनिक विद्रोह हो गया। इस विद्रोह में भरतपुर की सेना ने अंग्रेजों का साथ दिया। दोसा के निकट विद्रोही नेता तांतिया टोपे के विरुद्ध हुई लड़ाई में भरतपुर की सेना ने बक्षी गंगाराम के नेतृत्व में कप्तान निक्सन को अमूल्य सहायता पहुंचायी। परंतु राज्य की गूजर और मेवाती जनता ने विद्रोहियों का साथ दिया। जिसके फलस्वरूप राज्य में नियुक्त अंग्रेज अधिकारी भाग गए। राज्य में ऐसा लगने लगा जैसे ब्रिटिश सत्ता समाप्त हो गयी हो। गदर के असफल होने के बाद ही भरतपुर में अंग्रेजों का पुनः वर्चस्व स्थापित हो सका। सन् १८६६ में जसवंतसिंह के बालिग होने पर उसे शासनाधिकार प्राप्त हुए। उसके शासन-काल में ड्यूक ऑफ एडिनबरा और प्रिंस ऑफ वेल्स जल-मुर्गियों के शिकार के लिए भरतपुर आए। महाराजा स्वयं भी कई बार वायसराय और ए० जी० जी० की सेवा में जाता रहा। इस प्रकार उसने अंग्रेजों से अच्छे संबंध स्थापित कर लिये। ब्रिटिश सरकार ने खुश होकर उसकी व्यक्तिगत तोपों की सलामी १९ कर दी। वह सन् १८९३ में मर गया।

जसवंतसिंह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र रामसिंह गद्दी पर बैठा। पर सन् १९०० में ब्रिटिश सरकार ने उसे अपने एक नौकर की हत्या करने के अपराध में गद्दी से हटा दिया। उसका लड़का कृष्णसिंह नाबालिग था। अतः उसके बालिग होने पर उसे १९१८ में शासन-संबंधी अधिकार प्राप्त हुए। अब ब्रिटिश सरकार ने भरतपुर के महाराजा की वंश-परंपरागत तोपों की सलामी १७ से बढ़ा कर १९ कर दी। कृष्णसिंह ने अपने पूर्वज जवाहरसिंह की भांति 'सवाई' की पदवी धारण की।

कृष्णसिंह और शासन-सुधार

महाराजा कृष्णसिंह ने राज्य में नगरपालिकाएं और ग्राम-पंचायतों की स्थापना की। किसानों को व्यापारियों के चंगुल से मुक्त करने के लिए सहकारी बैंक खोला। राजधानी में बिजली लगायी तथा राज्य में शिक्षा का विस्तार किया। उसने उर्दू के स्थान पर हिंदी को राज्य-भाषा घोषित किया एवं बेगार-प्रथा समाप्त की। उसने राज्य में पोलीटिकल एजेंट के हस्तक्षेप को दृढ़ता से रोका। महाराजा ने स्वामी श्रद्धानंद से प्रभावित होकर भरतपुर राज्य में चलाए गए शुद्धि-आंदोलन में सक्रिय भाग लिया। उसने पुष्कर में अखिल भारतीय जाट महासभा के अधिवेशन

का सभापतित्व किया। उसके शासनकाल में सन् १६२४ में भरतपुर राज्य में भयंकर बाढ़ आयी जिससे राज्य में जन, धन, पशुओं और फसल की अपार हानि हुई। राजधानी का मिट्टी का परकोटा टूट गया और शहर में पानी भर गया, जिससे तबाही मच गयी। महाराजा ने स्वयं बाढ़-पीड़ितों में बड़ा कार्य किया और लोगों को राहत पहुंचायी।

कृष्णसिंह की बरखास्तगी

सन् १६२७ में हिंदी साहित्य सम्मेलन का १७वां अधिवेशन पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा की अध्यक्षता में भरतपुर में हुआ। इस सम्मेलन में विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के अलावा राष्ट्रीय नेता महामना मदनमोहन मालवीय और जमनालाल बजाज भी शामिल हुए। महाराजा ने इन नेताओं को अपना अतिथि बनाया। 'इससे ब्रिटिश सरकार महाराजा से क्रुद्ध हो गयी। सन् १६२८ में महाराजा ने जनता को शासन में भागीदार बनाने के लिए शासन समिति स्थापित करने का निर्णय लिया और उसके चुनाव की तैयारियां शुरू कीं। ब्रिटिश सरकार के लिए यह सब असह्य था। पोलीटिकल डिपार्टमेंट ने महाराजा पर राज्य को दिवालिया बनाने का आरोप लगाकर उसे गद्दी से हटा दिया और राज्य से निर्वासित कर दिया। ब्रिटिश सरकार ने भरतपुर का शासन अपने हाथ में ले लिया और डंकन मैकेंजी को वहां का प्रशासक नियुक्त कर दिया। महाराजा २८ मार्च, १६२६ को मर गया। उसकी मृत्यु पर बृजेंद्रसिंह भरतपुर की गद्दी पर बैठा।

महाराजा कृष्णसिंह प्रगतिशील विचारों का था। उसने राज्य में वर्षों से चले आ रहे अंग्रेजों के दखल को रोका। उसने राज्य में कई सामाजिक और राजनीतिक सुधार किए। वह शुद्धि-आंदोलन का हामी था। उसका राष्ट्रीय नेताओं से संपर्क था। उसके द्वारा उठाए गए विभिन्न प्रगतिशील कदमों के कारण उसे भरतपुर की गद्दी से हटना पड़ा।

राज्य में जन-जागृति

भरतपुर राज्य में जन-जागृति का सिलसिला सितंबर, १६१२ में हिंदी साहित्य समिति की स्थापना से शुरू होता है। भरतपुर के विरक्त मंदिर के नवयुवक महंत जगन्नाथ दास अधिकारी ने गंगाप्रसाद शास्त्री एवं कतिपय सरकारी अधिकारियों के सहयोग से हिंदी साहित्य समिति की स्थापना की। इस संस्था ने थोड़े ही समय में बड़ी लोकप्रियता हासिल कर ली। फलतः यह संस्था भरतपुर में एक विशाल पुस्तकालय भवन बनाने में सफल हो गयी। अधिकारी ने १६२० में दिल्ली से 'वैभव' नामक समाचार-पत्र प्रकाशित किया जिसमें भरतपुर राज्य-विरोधी समाचार छपे। महाराजा कृष्णसिंह ने अवसर पाते ही अधिकारी को गिरफ्तार कर लिया। पर कुछ समय बाद उसे केवल रिहा ही नहीं किया वरन् एक बड़े सरकारी मंदिर का महंत भी बना दिया। इन्हीं दिनों भरतपुर में शुद्धि-आंदोलन चला जिसमें महाराजा के

अलावा ठाकुर देशराज, सांवल प्रसाद चतुर्वेदी एवं पं० रेवतीशरण शर्मा ने सक्रिय भाग लिया।

सन् १९२८ में महाराजा को गद्दी से उतारने के साथ ही साथ डंकन मैकेंजी ने जगन्नाथदास अधिकारी को भी राज्य से निर्वासित कर दिया। इस अवसर पर भरतपुर की जनता ने हजारों की संख्या में इकट्ठे होकर अधिकारी को ठाटबाट के साथ विदाई दी। डंकन ने ठाकुर देशराज को भी गिरफ्तार कर उस पर देशद्रोह का मुकदमा चलाया। यद्यपि वह उक्त अपराध से बरी कर दिया गया पर मुकदमे के दौरान उसे लगभग ४ माह जेल में रहना पड़ा।

सन् १९३०-३१ में राज्य में प्रजा-परिषद् और राष्ट्रीय युवक दल आदि संस्थाएं कायम हुईं। उन्हीं दिनों नमक सत्याग्रह में भाग लेने के लिए भरतपुर में एक जत्था अजमेर भेजा गया जिसमें सर्वश्री किशनलाल जोशी, वीरेंद्रदत्त, महेशचंद्र, तत्थ-राम, इंद्रभान और ठाकुर पूरणसिंह शामिल थे। सन् १९३१ में जगन्नाथ प्रसाद कक्कड़ को दिल्ली के क्रांतिकारियों को बंदूकें पहुंचाने के संबंध में पकड़ लिया गया। वह लगभग ७ माह तक जेल में रहा। सन् १९३२ में मदनमोहन लाल पोद्दार और गोकुलचंद दीक्षित को ब्रिटिश सरकार ने राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने के फलस्वरूप ६ माह से अधिक जेल में रखा। सन् १९३७ में जगन्नाथ कक्कड़ ने गोकुल वर्मा और मास्टर फकीरचंद आदि के साथ भरतपुर कांग्रेस-मंडल की स्थापना की एवं कांग्रेस की सदस्यता का अभियान चलाया। इस प्रकार इस लंबे समय तक भरत-पुर में कभी-कभी जन-जागृति की चिनगारियां जलती रहीं और बुझती रहीं।

प्रजामंडल की स्थापना

राजस्थान की अन्य रियासतों की तरह भरतपुर में भी राजनीतिक जागृति का ठोस प्रयास सन् १९३८ में हुआ। भरतपुर के किशनलाल जोशी ने इसमें पहल की। किशनलाल जोशी वही था जो देशव्यापी नमक-सत्याग्रह में भाग लेने के कारण अज-मेर में ४ माह की सजा एवं शेखावटी आंदोलन के संबंध में १३ माह की सजा भुगत चुका था। जोशी डॉ० देशराज आदि सहयोगियों के साथ रेवाड़ी आया और वहां जुबली ब्रेन अहीर हाई स्कूल में अध्यापन कार्य में रत भरतपुर के राष्ट्रीय विचारों के कार्यकर्ता गोपीलाल यादव, मास्टर आदित्येंद्र और युगलकिशोर चतुर्वेदी से मिला। उन्होंने तुरंत ही भरतपुर प्रजा-मंडल की स्थापना का निर्णय लिया। गोपीलाल यादव प्रजा-मंडल के अध्यक्ष, ठा० देशराज और पं० रेवतीशरण शर्मा उपाध्यक्ष, किशनलाल जोशी महामंत्री, युगलकिशोर चतुर्वेदी संचार मंत्री और मास्टर आदित्येंद्र कोषाध्यक्ष बने।

उसी वर्ष प्रजा-मंडल ने फतहपुर सीकरी में पूर्वी राजस्थान की जनता का राजनीतिक सम्मेलन बुलाया जिसकी अध्यक्षता सुप्रसिद्ध साम्यवादी नेता एम० एन० राय ने की। इस बीच प्रजा-मंडल के पदाधिकारी राज्य सरकार से प्रजा-मंडल को मान्यता देने के संबंध में प्रयत्न करते रहे। पर जब सरकार ने इस ओर कोई ध्यान

नहीं दिया तो मार्च, १६३६ की शुरुआत में प्रजा-मंडल ने राज्य सरकार को अल्टिमेटम दिया कि या तो वह १ माह के भीतर प्रजा-मंडल को मान्यता दे दे अथवा सत्याग्रह का सामना करे। प्रजा-मंडल के अल्टिमेटम का सरकार पर कोई असर नहीं पड़ा। फलतः अप्रैल, १६३६ में प्रजा-मंडल ने राज्य के विभिन्न नगरों में आम सभाओं का आयोजन कर सत्याग्रह का श्रीगणेश किया। ठा० देशराज, किशनलाल जोशी, जगन्नाथ कक्कड़, गौरीशंकर मित्तल, मास्टर फकीरचंद, दौलतराम शर्मा, घनश्याम शर्मा, ठाकुर पूरणसिंह, सांवलप्रसाद चतुर्वेदी, कलुआराम वैश्य, रमेश स्वामी, पं० हुक्मचंद, गोकुल वर्मा और श्रीमती सत्यवती शर्मा आदि कार्यकर्ता सत्याग्रह करते हुए गिरफ्तार कर लिये गए। मा० आदित्येंद्र और जुगलकिशोर चतुर्वेदी पर सत्याग्रह के संचालन की जिम्मेदारी डाल दी गयी। उन्होंने पं० रेवतीशरण शर्मा, जगपतसिंह, दौलतराम शर्मा आदि साथियों के साथ अचनेरा (यू० पी०) में शिविर लगाया और उसके बाद मथुरा से सत्याग्रह का संचालन किया। यह आंदोलन लगभग ८ माह चला जिसमें ६०० से अधिक सत्याग्रही गिरफ्तार हुए। इनमें ३२ महिलाएं भी थीं।

राज्य से समझौता

२५ अक्तूबर, १६३६ को राज्य सरकार और प्रजा-मंडल के बीच समझौता हो गया। जिसके अंतर्गत प्रजामंडल का नाम बदल कर प्रजा-परिषद् रख दिया। सरकार ने प्रजा-परिषद् को मान्यता प्रदान कर दी। कुछ कार्यकर्ताओं को छोड़कर, जिनमें रोशनलाल आर्य और गिरधारीसिंह शामिल थे, शेष सभी सत्याग्रही जेल से रिहा कर दिए गए। उक्त कार्यकर्ताओं को रिहा नहीं करने का यह कारण बताया गया कि उन पर हिंसात्मक कार्यवाहियों में भाग लेने का आरोप था। इस समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले थे ठा० देशराज, गोकुल वर्मा, मा० आदित्येंद्र, पं० रेवती-शरण शर्मा और गोपीलाल यादव। इनमें से प्रथम दो ने जेल में ही हस्ताक्षर किए थे। परिषद् के कतिपय कार्यकर्ताओं ने रोशनलाल आर्य और गिरधारीलाल आदि सत्याग्रहियों को रिहा न करने के कारण समझौते के प्रति असंतोष प्रकट किया। पर परिषद् का बहुमत समझौते के पक्ष में था।

प्रजा-परिषद् के कार्यकर्ता कांग्रेस के तिरंगे झंडे को ही परिषद् का झंडा मान कर चलते थे। राज्य सरकार परिषद् द्वारा तिरंगा झंडा फहराने के विरुद्ध थी। इस प्रश्न को लेकर ठा० देशराज अपने कतिपय साथियों के साथ परिषद् से अलग हो गए। उन्होंने किसान सभा नामक एक संस्था स्थापित कर ली। उनका कहना था कि प्रजा-परिषद् का उद्देश्य महाराजा की छत्रछाया में उत्तरदायी सरकार कायम करना है, जबकि कांग्रेस का उद्देश्य देश में गणतंत्र सरकार की स्थापना करना। अतः उनके ख्याल से प्रजा-परिषद् द्वारा राज्य में तिरंगा झंडा फहराना अनुचित था। कुछ भी हो, इस विरोध ने भरतपुर में एक नया राजनीतिक संगठन खड़ा कर दिया जो राज्य सरकार के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सहयोग से प्रजा-परिषद् का प्रतिद्वंद्वी बन गया।

दिसंबर, १९४० में प्रजा-परिषद् ने भरतपुर में प्रथम राजनीतिक सम्मेलन किया, जिसकी अध्यक्षता जयनारायण व्यास ने की। इस राजनीतिक सम्मेलन से राज्य की जनता में बड़ी जागृति पैदा हुई। अगस्त, १९४२ में महात्मा गांधी के नेतृत्व में देश में 'भारत छोड़ो' आंदोलन शुरू हुआ। १० अगस्त को महात्मा गांधी के आदेशानुसार प्रजा-परिषद् ने भी राज्य में आंदोलन छेड़ दिया। भरतपुर में छात्रों ने डाकखाने और रेलवे स्टेशन पर तोड़फोड़ की जिसके कारण दो छात्र रोशनलाल आर्य और गिरधरसिंह पकड़ लिये गए। परिषद् के कार्यकर्ता मा० आदित्येंद्र, जुगलकिशोर चतुर्वेदी, जगपतसिंह, जीवाराम, पं० रेवतीशरण शर्मा, पं० हुक्मचंद, घनश्याम शर्मा, गौरीशंकर मित्तल और रमेश स्वामी आदि गिरफ्तार कर लिये गए। आंदोलन चल ही रहा था कि राज्य में भयंकर बाढ़ आई जिसमें जन-धन की अपार क्षति हुई। अतः प्रजा-परिषद् ने आंदोलन स्थगित कर बाढ़-पीड़ितों की सेवा में लगने का निर्णय किया। उस समय भरतपुर का दीवान के० पी० एस० मैनन था। उसने परिषद् के इस निर्णय का स्वागत किया। बाढ़ से उत्पन्न स्थिति को ध्यान में रखते हुए दोनों पक्षों में समझौता-वार्ता शुरू हुई। सरकार ने निर्वाचित सदस्यों के बहुमत वाली विधानसभा बनाना स्वीकार कर लिया। २६ अक्तूबर, १९४२ को परिषद् के नेता और कार्यकर्ता रिहा कर दिए गए।

प्रतिनिधि सभा

सन् १९४२ के समझौते के अनुसार सन् १९४३ में ब्रजजया प्रतिनिधि समिति के चुनाव हुए। परिषद् ने ३७ निर्वाचित स्थानों में से २२ पर अधिकार कर लिया। सर्वश्री जुगलकिशोर चतुर्वेदी, मा० आदित्येंद्र और राजबहादुर प्रतिनिधि समिति में प्रजा-परिषद् दल के क्रमशः नेता, उपनेता और सचिव चुने गए। दो-ढाई वर्ष तक समिति का कार्य जैसे-तैसे चलता रहा। पर जब परिषद् ने देखा कि वह उसकी प्रगतिशील नीतियों को सरकार से मनवाने में असफल रही है तो उसने सन् १९४५ में प्रतिनिधि समिति का बहिष्कार कर दिया। जुगलकिशोर चतुर्वेदी एवं राजबहादुर आदि कार्यकर्ता गिरफ्तार कर लिये गए। उन्हें देशद्रोह के अपराध में सजाएं सुना दी गयीं। परंतु कुछ ही दिनों बाद परिषद् और सरकार के बीच समझौता होने से वे रिहा कर दिए गए।

बेगार आंदोलन

जनवरी, १९४७ में महाराजा भरतपुर ने वायसराय लॉर्ड वेवल और बीकानेर के महाराजा शार्दूलसिंह को पक्षी-विहार घाना में जल-मुर्गियों के शिकार के लिए आमंत्रित किया और इस शिकार की व्यवस्था के संबंध में जाटव, कोली आदि अनुसूचित वर्ग के लोगों को बेगार में पकड़ा जाने लगा। प्रजा-परिषद् और मुस्लिम कान्फ्रेंस के कार्यकर्ताओं ने मिलकर यह निर्णय लिया कि राज्य द्वारा उक्त वर्ग से बेगार लिये जाने का डटकर विरोध किया जाए। फलतः उक्त दोनों संगठनों ने राज्य-

भर में बेगार विरोधी आंदोलन छेड़ दिया। जुलूस, हड़ताल और प्रदर्शन हुए। ५ जनवरी को वायसराय और महाराजा बीकानेर भरतपुर आए तो जनता का एक विशाल जुलूस काले झंडे हाथ में लिये हुए 'वेवल, वापस जाओ' के नारे लगाता हुआ हवाई हड्डे तक गया। प्रजा-परिषद् ने सरकारी काम-काज ठप्प करने की दृष्टि से स्थानीय किले के सामने धरना देना आरंभ किया ताकि किले के अंदर स्थापित कार्यालयों और अदालतों में न सरकारी कर्मचारी घुस सकें और न जनता। यह सत्याग्रह १५ जनवरी, १६३६ को चरम सीमा पर पहुंच गया, जबकि किले का दरवाजा खोल दिया गया और उसमें से निकल कर महाराजा के भाई राजा बच्चूसिंह के नेतृत्व में सेना के घुड़सवारों और पुलिस ने सत्याग्रहियों को रौंद दिया। लोगों पर भालों और लाठियों से प्रहार किए गए। सत्याग्रही लहूलुहान हो गए। सांवलप्रसाद चतुर्वेदी एवं उसकी पत्नी जमनादेवी, राजबहादुर एवं आले मोहम्मद आदि अनेक कार्यकर्ताओं को गंभीर चोटें आयीं। सरकार ने राजधानी में दफा १४४ लगा दी। रात्रि में अनेक कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। शहर में हड़ताल हो गयी, जो २२ दिनों तक चली। राज्य-भर में सत्याग्रह चलता रहा। राजबहादुर, सांवलप्रसाद चतुर्वेदी, आले मोहम्मद, गौरीशंकर मित्तल, घनश्याम शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद कक्कड़, मा० आदित्येंद्र, मा० फकीरचंद, मदनमोहन लाल पोद्दार, रोशनलाल आर्य, प्रभुदयाल माथुर और रघुनाथप्रसाद लखेरा आदि अनेक कार्यकर्ता जेल में डाल दिए गए। इसी बीच ५ फरवरी, १६४७ को भुसावर में पुलिसवालों द्वारा एक प्रमुख कार्यकर्ता रमेश स्वामी को बस से कुचलवा दिया गया। रमेश स्वामी घटनास्थल पर ही शहीद हो गए। मा० आदित्येंद्र और गोपीलाल यादव शुरू में भूमिगत होकर आंदोलन चलाते रहे। पर अंत में ये दोनों भी गिरफ्तार कर लिये गए। जुगलकिशोर चतुर्वेदी और पं० रेवतीशरण शर्मा राज्य से बाहर चले गए और दिल्ली से आंदोलन का संचालन करते रहे। इनके खिलाफ वारंट जारी हो गए थे। परंतु वे ब्रिटिश इलाके में होने के कारण गिरफ्तार नहीं किए जा सके।

भरतपुर की स्थिति का अध्ययन करने के लिए अखिल भारतीय देशी राज्य परिषद् के अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू ने विशेष प्रतिनिधि द्वारकानाथ काचरू और परिषद् की राजपूताना प्रांतीय सभा की ओर से बाबूलाल पानगड़िया (लेखक) को भरतपुर भेजा। ये जेल में सत्याग्रहियों से मिले। उन्होंने राज्य के प्रधानमंत्री और अन्य लोगों से भी मुलाकात की। उन्होंने अपने-अपने प्रतिवेदन संबंधित संस्थाओं को भेजे। इन्हीं दिनों देश में राजनीतिक परिस्थितियां तेजी से बदल रही थीं। पं० नेहरू के नेतृत्व में केंद्र में अंतरिम सरकार बन चुकी थी। भरतपुर पर भी इसका असर पड़ा। १५ अगस्त, १६४७ के पूर्व लगभग सभी सत्याग्रही रिहा कर दिए गए। परंतु चतुर्वेदी और शर्मा के गिरफ्तारी वारंट रद्द नहीं किए गए।

लोकप्रिय मंत्रिमंडल

दिसंबर, १६४७ में अन्य राज्यों की तरह भरतपुर में भी लोकप्रिय मंत्रिमंडल

बनाने की ओर कदम उठाए गए। प्रजा-परिषद् की ओर से गोपीलाल यादव और पं० आदित्येंद्र एवं किसान-सभा की ओर से ठा० देशराज और हरिदत्त को मंत्रिमंडल में शामिल किया गया। उक्त मंत्रिमंडल ने रहे-सहे सत्याग्रहियों को भी जेल से रिहा कर दिया एवं चतुर्वेदी आदि के विरुद्ध वारंट रद्द कर दिए गए।

राज्य का 'मत्स्य-संघ' में विलय

३० जनवरी, १९४८ में महात्मा गांधी की हत्या कर दी गयी। इस हत्या के संबंध में भरतपुर के महाराजा के विरुद्ध भी जांच-पड़ताल हुई। इन्हीं दिनों राज्य में भयंकर सांप्रदायिक दंगे भड़क उठे। फलस्वरूप फरवरी, १९४८ में केंद्र ने भरतपुर का शासन अपने हाथ में ले लिया। इसके कुछ समय बाद अर्थात् १८ मार्च, १९४८ को भरतपुर 'मत्स्य-संघ' में मिला दिया गया। विलय के समय भरतपुर का क्षेत्रफल ५१२३ वर्ग किलोमीटर, जनसंख्या ९ लाख और वार्षिक आय ६० लाख रुपये थी।

राजस्थान का निर्माण

३० मार्च, १९४९ को बृहद् राजस्थान का निर्माण हुआ। उस वक्त यह प्रश्न उठा कि क्या 'मत्स्य-संघ' को भी राजस्थान में मिला दिया जाए। अलवर और करौली में जनमत स्पष्टतया राजस्थान में विलय के पक्ष में था। परंतु भरतपुर और धौलपुर की स्थिति स्पष्ट नहीं थी। वहां एक वर्ग ऐसा था जो उक्त दोनों राज्यों को उत्तर प्रदेश में मिलाने के पक्ष में था। अतः भारत सरकार ने वहां की जनता की आम राय जानने की दृष्टि से प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता शंकरराव देव की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। समिति ने छानबीन के बाद भारत सरकार को यह रिपोर्ट दी कि दोनों राज्यों की अधिकतर जनता राजस्थान के विलय के पक्ष में है। शंकरराव देव-समिति की रिपोर्ट को स्वीकार करते हुए भारत सरकार ने 'मत्स्य-संघ' में शामिल होने वाले चारों राज्यों को १५ मई, १९४९ को राजस्थान में मिला दिया। भारत सरकार के इस निर्णय का भरतपुर की जनता ने स्वागत किया। इस प्रकार देश की सबसे बड़ी जाट रियासत अन्य देशी राज्यों की तरह समाप्त हो गयी।

धौलपुर

धौलपुर राजस्थान में जाटों की दूसरी रियासत थी। धौलपुर के महाराज राणा के पूर्वज सन् ११९५ के लगभग आगरा के निकट बामरावली से निकले थे। इसलिए बामरावलिया जाट कहलाए। सन् १५०५ में उन्होंने राजपूतों से ग्वालियर के निकट गोहद का परगना प्राप्त किया और साथ ही राणा का खिताब भी। तभी से ये लोग गोहद पर राज्य करते रहे। सन् १७६१ में पानीपत की तीसरी लड़ाई में मरहठे अहमदशाह अब्दाली से हार गए। इस अवसर का लाभ उठाकर दोहद के राणा भीमसिंह ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। परंतु सन् १७७७ में सिंधिया ने जाटों से ग्वालियर वापस छीन लिया। दो वर्ष बाद ही राणा लकीन्द्रसिंह ने लॉर्ड

हेस्टिंग्ज से सांठ-गांठ कर ग्वालियर पर पुनः अपना अधिकार जमा लिया। सन् १७८२ में सिंधिया ने राणा से न केवल ग्वालियर वरन् दोहद भी छीनकर उसे खानाबदोश कर दिया।

धौलपुर राज्य की स्थापना

लॉर्ड बेलेजली जब भारत में गवर्नर-जनरल होकर आया तो सबसे पहले उसने सिंधिया की शक्ति को समाप्त करने के लिए कदम उठाए। अंग्रेज सेनापति लैक ने सितंबर, १८०३ में दौलतराय सिंधिया को लासवाड़ी के युद्ध में परास्त किया। अंग्रेजों ने उससे अन्य इलाकों के अलावा धौलपुर, बारी और राजाखेड़ा के इलाके छीन लिये। लासवाड़ी के युद्ध में मरहठों की हार से भरतपुर का राजा रणजीतसिंह हिम्मत-पस्त हो गया। उसने मरहठों का साथ छोड़ कर अंग्रेजों से संधि कर ली। इन्हीं दिनों गोहद का भूतपूर्व शासक राणा कीरतसिंह अंग्रेजों से जा मिला। उसने अंग्रेजों की सहायता से गोहद पर पुनः अपना अधिकार कर लिया। थोड़े समय बाद जनरल लैक और जसवंतराव होल्कर की सेना में टक्कर हुई। इस लड़ाई में भरतपुर ने अंग्रेजों का साथ छोड़कर पुनः मरहठों का साथ दिया। होल्कर अंग्रेजों से परास्त हो गया। उसने भरतपुर के किले में शरण ली। इस पर लैक ने भरतपुर पर हमला किया। जसवंतराव किला छोड़कर सतलज-पार चला गया। भरतपुर के राजा रणजीतसिंह ने लैक से क्षमा मांगते हुए पुनः अंग्रेजों से संधि कर ली। अंग्रेजों ने ग्वालियर और भरतपुर के बीच धौलपुर के नाम से एक नया 'बफर' राज्य स्थापित किया और अपने सहयोगी और विश्वासपात्र गोहद के राणा कीरतसिंह को गोहद के बजाय इस नये राज्य का शासक बनाया ताकि भविष्य में भरतपुर और मरहठे आसानी से मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध उपद्रव न कर सकें। इस प्रकार सन् १८०५ में इस प्रदेश में एक नये जाट-राज्य की स्थापना हुई।

धौलपुर और १८५७ की क्रांति

कीरतसिंह सन् १८२६ में मर गया। उसके स्थान पर उसका पुत्र भगवंतसिंह धौलपुर की गद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल में सन् १८५७ में देशव्यापी सैनिक क्रांति हुई। अक्तूबर, १८५७ में ग्वालियर और इंदौर से लगभग ५००० विद्रोही सैनिक धौलपुर राज्य में घुस गए। भगवंतसिंह अंग्रेजों के प्रति वफादार बना रहा। परंतु उसकी सेना और राज्य के कई वरिष्ठ अधिकारी विद्रोहियों से मिल गए। विद्रोहियों ने कई महीनों तक राज्य पर अपना अधिकार बनाए रखा। दिसंबर, १८५७ में पटियाला की सेना सहायतार्थ आई। उसने विद्रोहियों का सफाया कर दिया। राज्य पर पुनः राणा का वर्चस्व स्थापित हो गया।[1] भगवंतसिंह सन् १८७३ में मर गया।

१. नाथूराम खड़गावत, 'राजस्थान का सन् १८५७ की सैनिक क्रांति में भाग', पृ० ७२।

भगवंतसिंह के स्थान पर उसका पौत्र निहालसिंह गद्दी पर बैठा। वह सन् १६०१ में मर गया। उसके स्थान पर उसका लड़का रामसिंह गद्दी पर बैठा। उसे सन् १६०५ में शासन के पूरे अधिकार प्राप्त हुए। वह सन् १६११ में निःसंतान मर गया। उसके स्थान पर उसका छोटा भाई उदयभानसिंह गद्दी पर बैठा। उसे सन् १६१३ में शासनाधिकार प्राप्त हुए।

जन-जागृति

धौलपुर में जन-जागृति का अग्रदूत यमुनाप्रसाद वर्मा था। उसने सन् १६१० में आचार-सुधारिणी सभा स्थापित कर धौलपुर के जवानों को समाज-सेवा की ओर आकर्षित किया। सन् १६११ में उसने आर्य-समाज की स्थापना की। वर्मा की इन प्रवृत्तियों में ज्वालाप्रसाद जिज्ञासु ने सक्रिय हाथ बंटाया। जब राज्य में आर्य समाज का प्रभाव दिनोंदिन बढ़ने लगा तो अधिकारियों ने उसकी प्रवृत्तियों में बाधा डालना शुरू किया। उन्होंने आर्य समाज मंदिर पर कब्जा कर लिया। सन् १६१८ में ज्वालाप्रसाद जिज्ञासु के नेतृत्व में आर्य समाज ने सत्याग्रह शुरू किया। लगभग एक हजार सत्याग्रहियों ने आंदोलन में भाग लिया। जिज्ञासु, जौहरीलाल इंदु और विष्णुस्वरूप वैद्य आदि कई कार्यकर्ता गिरफ्तार हुए। अंत में राज्य को झुकना पड़ा और आर्य समाज मंदिर पुनः आर्य समाज को सौंपना पड़ा।

प्रजा-मंडल की गतिविधियां

सन् १६३४ में जिज्ञासु और जौहरीलाल इंदु ने सन् १६३४ में धौलपुर में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की। जिज्ञासु ने हरिजन-उत्थान का भी कार्य शुरू किया। जिज्ञासु की इन प्रवृत्तियों से धौलपुर में बड़ी जागृति हुई। इसका एक लाभ यह हुआ कि जब सन् १६३८ में ज्वालाप्रसाद जिज्ञासु और जौहरीलाल इंदु ने प्रजामंडल की स्थापना की तो उन्हें जनता का बड़ा सहयोग मिला। प्रजामंडल ने राज्य में उत्तरदायी शासन स्थापित करने की मांग की। राज्य ने दमन-चक्र चलाया। जिज्ञासु के पुत्र ओमप्रकाश वर्मा, रामदयाल, रामप्रसाद, केशवदेव, बांकेलाल एवं केदारनाथ आदि कई कार्यकर्ता गिरफ्तार कर लिये गए। ये कार्यकर्ता कई महीनों बाद जेल से रिहा किए गए। जिज्ञासु ने राज्य से बाहर रहकर आंदोलन का संचालन किया। जौहरीलाल इंदु को राज्य से निर्वासित कर दिया गया। पर जब वह सन् १६४० में पाबंदी तोड़कर राज्य में घुसा तो उसे पकड़ लिया गया और लगभग ५ साल बाद रिहा किया गया। सन् १६४६ में राज्य प्रशासन ने तखीमरे नामक ग्राम में कांग्रेस की एक सभा पर गोली चला दी जिसके फलस्वरूप ठाकुर छत्रसिंह और पंचमसिंह घटना-स्थल पर ही शहीद हो गए और कई लोग घायल हो गए।

महाराजा राणा उदयभानसिंह, नरेंद्र-मंडल का एक प्रभावशाली सदस्य था। पर वह पूरी तरह प्रतिक्रियावादी था। जब ब्रिटिश सरकार ने भारत की सत्ता जनता के प्रतिनिधियों को सौंपने का एलान किया तो वह देश के उन राजाओं में से था जो

भारतीय संघ में शामिल होने में अंत तक रोड़े अटकाते रहे। वह स्वयं तो अंततोगत्वा भारतीय संघ में शामिल हो गया पर उसने जोधपुर के युवा महाराजा हनुमंतसिंह को पाकिस्तान में शामिल होने के लिए हर प्रकार से उकसाया। ६ अगस्त, १९४७ को महाराजा धौलपुर ने भोपाल के नवाब से मिलकर महाराजा जोधपुर की जिन्ना से मुलाकात करायी। जिन्ना ने हनुमंतसिंह को बताया कि जो रियासतें पाकिस्तान में शामिल होंगी उन्हें वे स्वतंत्र राज्य के रूप में मान्यता देंगे और उन्हें मनवांछित सुविधाएं प्रदान करेंगे। इस घटना के दो-तीन दिन बाद महाराजा धौलपुर ने दिल्ली में अपने निवास-स्थान पर महाराजा जोधपुर और भोपाल के नवाब के बीच बैठक का आयोजन किया। इस बैठक में महाराजा धौलपुर, महाराजा जोधपुर और उसके गुरु स्वामी माधवानंद ने नवाब के साथ जोधपुर के पाकिस्तान में शामिल होने के प्रस्ताव पर लंबी चर्चा की।[1] परंतु लॉर्ड माउंटबेटन और वी० पी० मेनन की सूझ-बूझ से धौलपुर और जोधपुर का यह षड्यंत्र असफल हो गया।[1]

धौलपुर का विलय

२८ मार्च, १९४८ को भारत सरकार ने अलवर, भरतपुर, धौलपुर और करौली राज्यों का विलय कर 'मत्स्य-संघ' की स्थापना की। चूंकि अलवर और भरतपुर के महाराजाओं के विरुद्ध उस समय महात्मा गांधी की हत्या को लेकर कुछ आरोपों की जांच हो रही थी, अतः भारत सरकार ने 'मत्स्य-संघ' में शामिल होने वाली तीसरी बड़ी रियासत धौलपुर के शासक उदयभानसिंह को संघ का राजप्रमुख बनाया। संघ के मंत्रिमंडल में धौलपुर के डॉ० मंगलसिंह को शामिल किया गया। 'मत्स्य-संघ' को १५ मई, १९४९ को बृहद् राजस्थान में विलीन कर दिया गया। इस प्रकार धौलपुर राजस्थान राज्य का अंग बन गया।

१. 'माउंटबेटन का सरदार पटेल को ज्ञापन', ११ अगस्त, १९४७।
('सरदार पटेल का पत्र-व्यवहार', पृ० ५१५-१७)

दसवां अध्याय

पिंडारी

टोंक

१३वीं शताब्दी में टोंक का इलाका रणथंभौर के चौहानों के अधिकार में था। इस इलाके में टोरी, टोंकरा और लावा आदि क्षेत्र शामिल थे। सन् १३०१ में अलाउद्दीन खिलजी ने इस इलाके पर अपना अधिकार जमा लिया। परंतु मोहम्मद तुगलक के शासनकाल में यह इलाका दिल्ली से स्वतंत्र हो गया। १६वीं शताब्दी में यह इलाका मेवाड़ राज्य के अंतर्गत आ गया। सन् १५२७ में लावा का शासक महाराणा सांगा की ओर से बाबर के विरुद्ध खानवा के युद्ध में लड़ा था। परंतु मुगल सम्राट् अकबर के शासनकाल में टोरी और टोंकरा के इलाके अजमेर सूबे के अंतर्गत आ गए। सन् १६४३ में भोला ब्राह्मण को टोंकरा इलाके में १२ वीरान गांव 'मुआफ़ी' के रूप में दिए गए। भोला ने टोंक कस्बा बसाया और तब से यह इलाका टोंक के नाम से विख्यात हुआ।[1] उस समय यह इलाका जयपुर के अधिकार-क्षेत्र में था। सवाई जयसिंह के शासनकाल में टोंक की जागीर भावसिंह सोलंकी को दे दी गयी। परंतु यह जागीर जयपुर द्वारा सन् १७२६ में जब्त कर ली गयी। जयपुर ने सन् १७५० में टोंक और रामपुरा का इलाका मल्हारराव होल्कर को दे दिया। सन् १८०६ में जसवंतराव होल्कर ने यह इलाका प्रसिद्ध पिंडारी नेता अमीर खां को दे दिया। इस प्रकार टोंक में एक मुस्लिम राज्य की स्थापना हुई।

पिंडारी-शक्ति का उदय

टोंक राज्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने के पूर्व यह उपयुक्त होगा कि पिंडारियों की गतिविधियों के संबंध में संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला जाए, क्योंकि मुगल साम्राज्य के पतन और अंग्रेजों के अभ्युदय के संक्रामक काल में पिंडारियों ने

१. 'इम्पीरियल गजट ग्रॉफ इंडिया, राजपूताना', पृ० ३१२।

राजस्थान के विभिन्न भागों में भारी उथल-पुथल मचा दी थी। अठारहवीं शताब्दी के अंत में राजपूताना और मध्य भारत में संगठित लुटेरों के रूप में पिंडारी-शक्ति का उदय हुआ। इन पिंडारी लुटेरों की संख्या लगभग २५ हजार थी जो धीरे-धीरे बढ़ती गयी। इनमें से अधिकतर मुसलमान थे। इनके पास न जमीन थी और न घरबार। ये लोग दो-तीन हजार की संख्या में झुंड के झुंड बनाकर मध्य भारत के इलाकों में आवारागर्दी करते और लूट मचाते। उस समय मुगल साम्राज्य पतन के कगार पर खड़ा था। इस अस्थिरता का लाभ उठाकर मरहठों ने पिंडारियों का अपने हित-साधन में खुलकर उपयोग किया। पिंडारियों के जत्थे मरहठों के हरावल के रूप में काम करते। वे मरहठों द्वारा संचालित अभियानों में आगे जाकर लूट-पाट मचाते और आतंक जमा कर मरहठा सैनिकों का मार्ग प्रशस्त करते। इस समय देश के विभिन्न भागों में अंग्रेज ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम से अपने पैर जमा चुके थे। सन् १८०५ तक उन्होंने मरहठों को राजपूताना से मार भगाया। पर अब पिंडारियों ने राजपूताना के विभिन्न राज्यों में लूटपाट मचाना शुरू किया। अंग्रेजी नीति में परिवर्तन होने के कारण कुछ वर्षों तक अंग्रेजों ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। पर लार्ड वेलेजली ने गवर्नर-जनरल होते ही यह समस्या अपने हाथ में ली।

पिंडारी और अंग्रेज

पिंडारी कई दलों में विभक्त थे। उनके मुख्य नेता चीतू, इमामबक्ष, कादर-बक्ष, दोस्त मुहम्मद, वासिल मुहम्मद, करीम खां और मीर खां थे। इनमें चीतू सबसे अधिक प्रभावशाली था। उसके समर्थकों की संख्या बहुत बड़ी थी। उसने अपनी कार्यवाहियों से मध्य भारत में आतंक जमा दिया था। दोस्त मुहम्मद सन् १८१६ में मर गया। सिंधिया ने वासिल मोहम्मद को अंग्रेजों के हवाले कर दिया। उसने जेल में जहर खाकर अपना जीवन समाप्त कर लिया।

करीम खां ने २० वर्ष की उम्र में महादजी सिंधिया की सेवा में प्रवेश किया। वह बाद में दौलतराय सिंधिया और जसवंतराव होल्कर की सेवा में रहा। उसने लूटपाट द्वारा भारी संपत्ति एकत्रित कर ली थी। कुछ समय बाद दौलतराव ने उसे नवाब बना दिया। उसने भोपाल के नवाब के घराने में शादी की। उसने होल्कर और सिंधिया की लड़ाई के दौरान कई इलाकों पर अपना अधिकार जमा लिया। बाद में सिंधिया ने धोखे से उसे गिरफ्तार कर लिया। करीम खां की वृद्धा मां ने करीम खां के पुत्र श्यामल खां के साथ कोटा राज्य में शरण ली। कोटा के फौजदार जालिमसिंह ने ५ लाख रुपये फिरौती के रूप में देकर करीम खां को सिंधिया से मुक्त कराया।[1] करीम खां के रिहा होते ही उसके समर्थक उससे आ मिले। करीम खां और चीतू साथ हो गए। इस खबर से सारे भारत में सनसनी मच गयी। इन दोनों के पास उस समय ६० हजार घुड़सवार थे। कुछ समय बाद इन दोनों में अनबन हो

१. जॉन मेल्काम, 'मध्य प्रदेश के संस्मरण', प्रथम अध्याय, पृ ३७०।

गयी और ये अलग-अलग हो गए। अंग्रेजी सेना ने चीतू का पीछा किया। वह अपने समर्थकों से अलग पड़ गया और नर्मदा के जंगलों में चला गया। संयोग की बात थी कि वह वहां चीते का शिकार हो गया।[1] करीम खां जगह-जगह लूटपाट मचाता रहा। उसने कभी सिंधिया का साथ दिया तो कभी होल्कर का। अंत में उसने अपने-आपको नींबाहेड़ा में अंग्रेजों के सुपुर्द कर दिया। अंग्रेजों ने उसे कुछ जागीर देकर गोरखपुर में आबाद कर दिया।

मीर खां और राजस्थान के राज्य

मीर खां मुरादाबाद जिले के संभल ग्राम के एक मुल्ला का लड़का था। मीर खां को अमीर खां भी कहते थे। सन् १७८७ में जब वह केवल २० वर्ष का था, कतिपय साथियों के साथ अपनी किस्मत आजमाने के लिए घर से निकल पड़ा। वह भोपाल और राघोगढ़ की सेना में रहकर अपनी शक्ति बढ़ाता रहा। मरहठा सरदार बालाराम इंगलिया ने उसे १५०० सैनिकों की कमान सौंपकर फतेहगढ़ का किलेदार बना दिया। वहां से वह जसवंतराव होल्कर की सेवा में पहुंच गया। धीरे-धीरे उसने अपने प्रभाव से पिंडारियों और अन्य लुटेरों की एक बहुत बड़ी फौज एकत्रित कर ली। उसने मध्यभारत, बुंदेलखंड और राजपूताना के कई भागों में लूटपाट कर तबाही मचा दी। इन क्षेत्रों के राजा-महाराजा मीर खां के भय से आतंकित हो गए। यही नहीं, वह अपनी सैनिक शक्ति के कारण वहां के शासकों की खुशामद का बिंदु बन गया। वह कभी एक शासक की सहायता करता तो कभी दूसरे की। उसके न कोई स्थायी मित्र थे और न कोई स्थायी शत्रु। उसका एकमात्र ध्येय था येनकेन-प्रकारेण अपना उल्लू सीधा करना। मीर खां ने कोटा को छोड़कर शेष राज्यों के मामलों में सदैव इसी नीति का अनुसरण किया। मीर खां अपनी सैनिक कार्यवाहियों के कारण खाना-बदोश की जिंदगी व्यतीत करता था। अंग्रेज उसके पीछे पड़े हुए थे। इन कठिन परिस्थितियों में कोटा राज्य के सर्वशक्तिमान मुसाहब आला और फौजदार जालिम-सिंह ने मीर खां के परिवार को जिसमें उसकी मां, तीन बेगमें एवं अनेक बच्चे शामिल थे, मेहमान के रूप में शेरगढ़ में रखा। इस कारण मीर खां और कोटा राज्य के बीच अच्छे संबंध रहे। मीर खां की बड़ी बेगम ने महाराव को एवं एक अन्य बेगम ने जालिमसिंह के पुत्र माधोसिंह को राखी-बंध भाई बना लिया था। मीर खां स्वयं जालिमसिंह को काका के नाम से पुकारता था।[2]

राजपूताना की रियासतों में मीर खां ने अपनी विशेष स्थिति बना ली थी। वह जोधपुर, जयपुर और मेवाड़ जैसी बड़ी रियासतों के आपसी झगड़ों को निपटाने की हिमाकत करने लगा था। सन् १८१० में जब मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह की पुत्री कृष्णाकुमारी के विवाह के प्रश्न को लेकर जोधपुर, जयपुर और मेवाड़ के बीच

१. जॉन मेल्काम, 'मध्यप्रदेश के संस्मरण', प्रथम अध्याय, पृ० ३६०-६४।
२. डॉ० रामप्यारी शर्मा, 'झाला जालिमसिंह', पृ० २०४।

युद्ध की नौबत आ गयी तो मीर खां तीनों राज्यों के बीच पंच बन बैठा। उसने महाराणा को कृष्णाकुमारी को जहर देकर मार डालने की सलाह दी।[1] महाराणा अमीर खां की धौंस में आ गया। उसने यह जघन्य अपराध कर शिशौदिया वंश पर सदैव के लिए कलंक का टीका लगा दिया। इस झगड़े में मीर खां तीनों राज्यों से खासी बड़ी रकम डकार गया।

उक्त घटना के बाद मीर खां मारवाड़ के गृह-युद्ध में कूद पड़ा। मानसिंह के गद्दी पर बैठते ही धूंकलसिंह ने मारवाड़ की गद्दी पर अपना दावा रखा। बीकानेर के महाराज सूरतसिंह और जयपुर के महाराजा जगतसिंह ने धूंकलसिंह का समर्थन किया। मारवाड़ के कई सामंतों ने भी, जिनमें पोकरण का स्वामी सवाईसिंह मुख्य था, धूंकलसिंह का साथ दिया। सवाईसिंह मीर खां को अपनी ओर मिलाने में सफल हो गया। जयपुर और बीकानेर की सेना ने धूंकलसिंह की सेना के साथ जोधपुर पर आक्रमण किया। उन्होंने जोधपुर के किले को घेर लिया। परंतु इस घेरे के दौरान मानसिंह ने मीर खां को अपनी ओर मिला लिया। जोधपुर पर दबाव कम करने के लिए मीर खां अपनी सेना लेकर जयपुर पहुंच गया। उसने फागी के निकट जयपुर की सेना को हराया। वह झोटवाड़ा के निकट आ पहुंचा। यह समाचार सुनते ही जगत-सिंह जोधपुर का घेरा उठाकर जयपुर चला आया। सूरतसिंह बीकानेर चला गया। इससे धूंकलसिंह और उसका साथी सवाईसिंह हताश हो गया। मानसिंह के सिर पर से संकट टल गया। मीर खां का उद्देश्य पूरा हो गया। मानसिंह ने उसे 'पगड़ी बदल भाई' बनाया तथा उसे नवाब की उपाधि से विभूषित किया। थोड़े दिनों बाद मान-सिंह के इशारे पर मीर खां ने सवाईसिंह को धोखे से मार डाला। अब मीर खां ने जयपुर-राज्य में उपद्रव मचाना शुरू किया। उसने जगतसिंह को मानसिंह के साथ संधि करने के लिए मजबूर कर दिया।

जयपुर और जोधपुर की लूट

मीर खां पुनः मारवाड़ में जा धमका। उसने महाराजा के विश्वासपात्र मंत्री इंदरनाथ सिंघवी और धर्मगुरु आयस देवनाथ को मार डाला। जोधपुर के महाराजा ने उसे साढ़े नौ लाख रुपया देकर छुट्टी पाई।[2] आगामी दो वर्षों में उसने जयपुर राज्य में भारी लूट मचायी। वह अब तक जयपुर, मेवाड़, कोटा और मरहठों से कई इलाके प्राप्त कर चुका था। इस समय तक अंग्रेज मरहठा-शक्ति को छिन्न-भिन्न कर चुके थे। पिंडारियों में भी केवल मात्र मीर खां का दल बचा था। अब अंग्रेजों का ध्यान उसकी ओर गया। सर आक्टर लोनी एक बड़ी सेना लेकर पिंडारियों का सफाया करने के लिए राजपूताना के लिए रवाना हुआ। उस समय मीर खां ने जयपुर-राज्य के माधवराजपुरा के किले पर घेरा डाल रखा था। ज्यों ही उसे मालवा की ओर से अंग्रेजी सेना के आगमन की सूचना मिली, वह घेरा उठाकर टोंक चला

१. टॉड, 'ए० ए० ए० ग्रॉफ राजस्थान', जिल्द २, पृ० १४८८।
२. मेलकाम, 'मध्यप्रदेश के संस्मरण', जिल्द १, पृ० २६३-७९।

गया और अंग्रेजों से लड़ने की तैयारी करने लगा। पर उसने हवा का रुख समझ लिया। अंग्रेज भी यथासंभव मीर खां से लड़ाई से बचना चाहते थे। फलत: दोनों के बीच ९ नवंबर, १८१७ को संधि हो गयी। इस संधि के अनुसार मीर खां अंग्रेजों के मातहत 'नवाब अमीरुद्दौला मुहम्मद अमीर खां' के नाम से टोंक, नींबाहेड़ा, लावा, छबड़ा, पिरावा, रामपुरा और सिरोंज का स्वामी स्वीकार कर लिया गया। पर उसे पिंडारियों की सेना को भंग करना पड़ा एवं अपनी तोपें और अन्य युद्ध-सामग्री अंग्रेजों को सौंपनी पड़ीं। अलबत्ता पिंडारी सैनिकों की बढ़ी हुई तनख्वाह चुकाने का भार अंग्रेजों ने वहन किया जो लगभग ३ लाख रुपए था। झाला जालिमसिंह ने नवाब के परिवार को पूरे सम्मान के साथ शेरगढ़ से टोंक पहुंचाया। कोटा और टोंक के बीच संबंध और भी दृढ़ हो गए। नवाब कुछ वर्षों बाद जालिमसिंह के पौत्र मदनसिंह के विवाह में शामिल हुआ। मीर खां सन् १८३४ में मर गया।

सैनिक क्रांति और टोंक

मीर खां की मृत्यु के बाद उसका लड़का वजीर खां टोंक की गद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल में देश में सन् १८५७ का सैनिक विद्रोह हुआ। टोंक भी इस विद्रोह की चपेट में आ गया। नवाब ने सेना के जवानों को विद्रोह से दूर रखने के लिए भरसक प्रयत्न किया पर उसे सफलता नहीं मिली। अधिकतर जवान विद्रोहियों से मिल गए। नवाब के मामा मीर आलम खां ने भी विद्रोहियों का साथ दिया और वह दिल्ली प्रस्थान करने की तैयारी करने लगा। इस पर नवाब ने आलम खां को गिरफ्तार करने की आज्ञा दी। आलम खां की हवेली को वजीर फौजुल्ला खां से नेतृत्व में नवाब के वफादार सैनिकों ने घेर लिया। फलस्वरूप मुठभेड़ में आलम खां मारा गया। उसके भाई और पुत्र पकड़ लिये गए। उसकी जागीर जब्त कर ली गयी। परंतु टोंक से लगभग ६०० मुजाहिद मुगल सम्राट् बहादुरशाह जफर के सहायतार्थ दिल्ली पहुंच ही गए।

सन् १८५८ में विद्रोहियों का सुप्रसिद्ध नेता तांतिया टोपे बंदा के नवाब के साथ टोंक पहुंचा। टोंक का एक विद्रोही जागीरदार नासिर मुहम्मद खां भी उसके साथ था। बनास नदी के किनारे और अमीरगढ़ के किले के निकट विद्रोहियों और वफादार सैनिकों के बीच कई बार मुठभेड़ें हुईं। नवाब ने अपने-आपको किले में बंद कर लिया। विद्रोहियों ने वजीर फैजुल्ला खां को पकड़ लिया। उन्होंने टोंक के तोप-खाने पर अधिकार जमा लिया एवं जेल और कोतवाली से कैदियों को मुक्त कर दिया। विद्रोहियों ने टोंक में अपने शासन की घोषणा कर दी और नगर को लूटा। नवाब ने इस संकटपूर्ण स्थिति की सूचना पोलिटिकल एजेंट के पास भेजी। मेजर ईडन दिल्ली से एक बड़ी सेना लेकर टोंक रवाना हुआ। यह सूचना पाते ही विद्रोही टोंक छोड़कर नाथद्वारा की ओर चले गए।[1] विद्रोहियों ने सिरोंज में भी अव्यवस्था

१. डॉ० वी० डी० शर्मा का 'राजस्थान इंस्टिट्यूट ऑफ हिस्टोरिकल रिसर्च' के अप्रैल, १९६६ के अंक में प्रकाशित 'टोंक और सन् १८५७ का विद्रोह' पर लेख।

पैदा की। पर उन्हें सफलता नहीं मिली। इस प्रकार देश के अन्य भागों की तरह टोंक राज्य में भी विद्रोहियों का सफाया हो गया। वजीर खां सन् १८६४ में मर गया।

लावा टोंक से अलग

वजीर खां के बाद उसका लड़का मोहम्मद अली खां टोंक का स्वामी बना। सन् १८६५ में नवाब और लावा के प्रमुख धीरजसिंह के बीच अनबन हो गयी। नवाब ने लावा पर आक्रमण किया। पर उसे सफलता नहीं मिली। दो वर्ष बाद नवाब ने किसी बहाने धीरजसिंह और उसके काका रावतसिंह को टोंक बुलाया। नवाब ने धीरजसिंह को गिरफ्तार कर लिया और रावतसिंह एवं उसके साथियों को जान से मार डाला। फलतः अंग्रेजों ने नवाब को गद्दी से उतार दिया एवं उसे बनारस की जेल में बंद कर दिया। वह जेल में सन् १८६९ में मर गया। अंग्रेजों ने लावा को टोंक से अलग कर सीधा केंद्रीय सरकार के अंतर्गत ले लिया। इस प्रकार लावा टोंक के हाथ से निकल गया। मोहम्मद अली खां के गद्दी से हटने के बाद मोहम्मद इब्राहीम खां टोंक का स्वामी बना। वह अल्पवयस्क था, अतः उसके वयस्क होने पर सन् १८७० में उसे शासनाधिकार मिले।

जन-जागृति

टोंक में पहला जन-आंदोलन सन् १९२०-२१ में हुआ। उस समय टोंक का दीवान मोतीलाल था। उसने राज्य में नाज खरीदने का ठेका रतलाम के कतिपय व्यापारियों को दे दिया। राज्य में नाज के भाव बढ़ गए। नवाब ने मस्जिदों में जान (भाषण) देने की मनाही कर दी। नवाब ने अब्दुल समद नामक एक भूतपूर्व राज्य-कर्मचारी को जेल से रिहा कर दिया जिसको रिश्वतखोरी के अपराध में कुछ ही समय पहले १३ वर्ष की सजा दी गयी थी। इन सब कारणों से टोंक में जन-आंदोलन भड़क उठा। १४ जनवरी, १९२१ को जनता ने जुम्मा मस्जिद के बाहर नवाब को घेर लिया और उसके साथ दुर्व्यवहार किया। जनता ने मांग की कि दीवान मोतीलाल को बरखास्त किया जाए, नाज को राज्य के बाहर जाने से रोका जाए और नाज को सस्ते भावों पर उपलब्ध कराने की व्यवस्था की जाए। नवाब ने ज्वार के भाव नियत कर दिए। परंतु आश्वासनों के बावजूद अन्य भागों के संबंध में कोई कार्यवाही नहीं की। इसी बीच नवाब ने सैयदों को राज्य से निकाल दिया। फलतः राज्य में फिर असंतोष भड़क उठा। निषेधाज्ञा के बावजूद सार्वजनिक सभाएं की गयीं जिनमें नवाब की तीव्र निंदा की गयी। नवाब को अंग्रेजी फौज बुलानी पड़ी। कई लोग गिरफ्तार कर लिये गए। आंदोलन दबा दिया गया। पर अंग्रेजों की सैनिक कार्यवाही की ब्रिटिश भारत में बड़ी आलोचना हुई। फलस्वरूप गिरफ्तार व्यक्ति छोड़ दिए गए। सार्वजनिक सभाएं करने तथा मस्जिदों में धार्मिक मसलों पर बोलने की इजाजत दे दी गयी। शिकायतें सुनने के लिए एक सलाहकार समिति का निर्माण

किया गया। पर टोंक में असंतोष की लहर चलती रही और समय-समय पर वहां कुछ न कुछ धड़ाके होते रहे। इब्राहीम खां सन् १९३० में मर गया।

इब्राहीम के स्थान पर सादत अली खां टोंक का नवाब बना। उसने सन् १९३९ में 'मजलिसे अम्मा' की स्थापना की। इसके २६ सदस्यों में से १२ ग्राम-पंचायतों द्वारा चुने हुए होते थे। देश के आजाद होने के बाद टोंक का मार्च, १९४८ में संयुक्त राजस्थान में विलय कर दिया गया। ३० मार्च, १९४९ को राजपूताना के अन्य राज्यों की तरह वह भी बृहद राजस्थान राज्य का एक अंग बन गया। लगभग १३५ वर्ष बाद इस राज्य का अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हो गया।

ग्यारहवां अध्याय

अजमेर मेरवाड़ा

आजादी के पूर्व अजमेर मेरवाड़ा चीफ कमिश्नर के अंतर्गत ब्रिटिश भारत का एक प्रांत था। राजस्थान की विभिन्न देशी रियासतों के हृदय-स्थल में स्थित होने के कारण इस प्रांत का राजनीतिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व था। उस समय अजमेर मेरवाड़ा का क्षेत्रफल ७१०० वर्ग किलोमीटर तथा जनसंख्या लगभग ३,८०,००० थी।

अजमेर के निकट स्थित तीर्थराज पुष्कर का वर्णन पुराणों और महाभारत में भी आता है। महाभारत में दिए गए वर्णन के अनुसार वेदव्यास ने महाराजा युधिष्ठर को पुष्कर में स्नान करने की सलाह दी थी। ईसा के चार शताब्दी पूर्व यहां जैनियों का राज्य रहा था और जैन शासक पद्मसेन ने तारागढ़ पहाड़ी के नीचे इंद्रकोट नामक नगर बसाया था।[1] यह नगर कालातीत में अजमेर नगर का एक अंग बन गया। बौद्धकाल में पुष्कर बौद्ध धर्म का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र था। सांची के बौद्ध स्तूपों में पाए गए ईसा के दो शताब्दी पूर्व शिलालेखों से आभासित होता है कि इस समय पुष्कर में काफी बड़ी आबादी थी और वह एक पवित्र धर्म-स्थान था।

चौहान साम्राज्य का उदय

दसवीं शताब्दी में प्रतिहार और राठौड़ साम्राज्यों के अंत के साथ ही साथ शाकंबरी के चौहानों का उदय हुआ। इस समय पुष्कर इन्हीं चौहानों के अधिकार में था। १२वीं शताब्दी के शुरू में इस वंश में पृथ्वीराज (प्रथम) हुआ जिसने गुजरात के चालुक्यों को हराया। ये चालुक्य पुष्कर के समृद्धिशाली कस्बे को लूटने आए थे।

पृथ्वीराज की मृत्यु पर अजयराज गद्दी पर बैठा। उसने मालवा के राजा नरवरमन को हराया। 'ढाई दिन के झोंपड़े' के एक शिलालेख से पता चलता है कि

१. 'राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, अजमेर', पृ० ३०-३१।

अजयराज ने अपना राज्य उज्जैन तक बढ़ा लिया था। इसी अजयराज ने सन् १११३ में अपने नाम से अजमेर नगर बसाया था, यद्यपि कुछ इतिहासकारों का मत है कि अजमेर छठी शताब्दी में अजयपाल नामक राजा ने बसाया था।[1] अजयराज ने जीते-जी अपने राज्य की गद्दी अपने पुत्र अरणोराज को सौंप दी। उसने अपना शेष जीवन पुष्कर के जंगलों में एक साधु की तरह बिताया।

अरणोराज लगभग सन् ११३३ में अजमेर की गद्दी पर बैठा। वह महाराजाधिराज परमेश्वर के नाम से विख्यात था। उसके शासनकाल में लाहौर और गजनी के तुर्क अजमेर पर चढ़ आए। अरणोराज ने उन्हें बुरी तरह से हराया। अपनी विजय के उपलक्ष्य में अरणोराज ने आनासागर झील बनायी। उसने मालवा, हरियाणा और अन्य सीमावर्ती क्षेत्रों पर अपना अधिकार कर अपने राज्य का विस्तार किया। उसने तोमरों द्वारा शासित दिल्ली और वरण राज्य पर भी चढ़ाई की। एक ओर जहां अरणोराज ने विभिन्न देशों में अपनी पताका फहरायी, वहां दूसरी ओर वह चालुक्यों से शिकस्त खा गया। उन्होंने अरणोराज से पाली छीन ली और अजमेर पर घेरा डाल दिया। अंत में अरणोराज ने अपनी लड़की की शादी चालुक्य राजा कुमारपाल से कर समझौता किया। इसके कुछ ही समय बाद अरणोराज का बड़ा लड़का जगदेव अरणोराज को मारकर गद्दी पर बैठा। परंतु तुरंत ही जगदेव के छोटे भाई विग्रहराज (चतुर्थ) ने उसे हटा दिया और वह स्वयं अजमेर की गद्दी का मालिक बन बैठा।

अजमेर का स्वर्णयुग

विग्रहराज एक प्रतापी शासक था। उत्तर में उसने तोमर राजपूतों को हराकर दिल्ली पर कब्जा किया। पंजाब और उत्तरप्रदेश का सहारनपुर का इलाका भी उसके अधिकार में आ गया। उसने पाली, जालोर और नाडोल पर अधिकार कर चालुक्यों से अपने पिता की हार का बदला लिया। उपलब्ध शिलालेखों के अनुसार विग्रहराज ने बिजौलिया, मांडलगढ़ और जहाजपुर पर भी अपना अधिकार कर लिया। उसने अहीरवाटी के भादनकों को भी परास्त किया।[2]

विग्रहराज न केवल एक वीर योद्धा था वरन् विद्वान् और कलाप्रेमी भी था। उसने हरकेली नाटक की रचना की, जो संस्कृत का एक ऊंचे दर्जे का ग्रंथ माना जाता है। उसने अजमेर में सरस्वती-कंठाभरण महाविद्यालय स्थापित किया। इस महाविद्यालय का भवन हिंदू-संस्कृति का एक उत्कृष्ट नमूना था। दुर्भाग्यवश इस भवन को कुतुबुद्दीन ऐबक के हमले के समय में मस्जिद में परिवर्तित कर दिया गया। आज यह भवन 'ढाई दिन के झोंपड़े' के नाम से प्रसिद्ध है। विग्रहराज ने 'विशालसर' नामक जलाशय बनवाया। उसने कई मंदिर बनवाए। विग्रहराज का राज्यकाल

१. 'राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, अजमेर', पृ० ३६।
२. डॉ० दशरथ शर्मा, 'अरली चौहान डाइनेस्टीज', पृ० ५६-५८।

अजमेर के इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से जाना जाता है।[1]

विग्रहराज की मृत्यु पर उसका लड़का अमरनांगिया सन् ११६४ में अजमेर का स्वामी बना। उसने लगभग ७ वर्ष तक राज्य किया। उसे उसके चचेरे भाई पृथ्वीराज (द्वितीय) ने गद्दी से हटा दिया। पृथ्वीराज ने अपने शासन-काल में लाहौर के यमनों पर विजय प्राप्त की। पृथ्वीराज के कोई संतान नहीं थी। अतः उसके स्थान पर अरणोराज का एकमात्र जीवित पुत्र सोमेश्वर सन् ११६९ में गद्दी पर बैठा। इसके राज्यकाल में गुजरात के चालुक्यों से सदैव विग्रह की स्थिति बनी रही।

सोमेश्वर के स्थान पर उसका पुत्र पृथ्वीराज (तृतीय) सन् ११७७ में गद्दी पर बैठा। उसने अपने राज्यकाल में कई लड़ाइयां लड़ीं। उसका पहला युद्ध नागार्जुन से हुआ। उसने भदरनाक के शासक को परास्त किया। उसने चंदेलों से मोहबा जीत लिया। पृथ्वीराज चालुक्य-राजा भीम (द्वितीय) से दो युद्ध लड़ा। अंत में दोनों के बीच संधि हो गयी। इस समय कन्नौज का राजा जयचंद था। अजमेर और कन्नौज के संबंध विग्रहराज (चतुर्थ) के समय से खराब थे। ऐसी स्थिति में पृथ्वीराज ने कन्नौज की राजकुमारी संयोगिता का अपहरण कर दो राजपूत राजघरानों में भयंकर फूट पैदा कर दी। सन् ११८६ में मोहम्मद गोरी ने पंजाब पर आक्रमण कर गजनियों का शासन समाप्त कर दिया। मोहम्मद गोरी एक बहुत महत्त्वाकांक्षी शासक था। वह जयचंद की शह पर पृथ्वीराज (तृतीय) से जा भिड़ा। पृथ्वीराज ने मोहम्मद गोरी को सात बार परास्त किया। पर अंत में सन् ११९२ में तराई की दूसरी लड़ाई में वह मोहम्मद गोरी से हार गया। पृथ्वीराज अंतिम हिंदू सम्राट् था। उसके पतन के साथ ही साथ चौहान-साम्राज्य का पतन हो गया। भारत में तुर्कों के पैर जम गए।

तुर्कों का आधिपत्य

सन् १२०६ में कुतुबुद्दीन ऐबक ने अजमेर को तुर्क साम्राज्य का अंग बना लिया। ऐबक की मृत्यु के बाद रणथंबौर के चौहानों ने अजमेर पर अधिकार कर लिया। परंतु सुल्तान इल्तुतमिस ने कुछ ही समय बाद अजमेर पर पुनः अधिकार कर लिया। उसने अजमेर को नागोर के सूबे में मिला दिया। बलबन के शासनकाल तक अजमेर तुर्कों के हाथ में रहा। सन् १२८७ में बलबन की मृत्यु हो गयी और इसके कुछ समय बाद ही रणथंबौर के चौहान शासक हमीर ने अजमेर पर अधिकार कर लिया। परंतु सन् १३०१ में अलाउद्दीन खिलजी ने हमीर को परास्त कर अजमेर को पुनः दिल्ली-साम्राज्य का अंग बना लिया।

अजमेर की दुर्गति

१४वीं शताब्दी के मध्य में तुर्कों की शक्ति कमजोर हो गयी। राजस्थान में

१. 'राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स', पृ० ४३।

मेवाड़ और मारवाड़ शक्तिशाली हो गए। मेवाड़ के राणा क्षेत्रसिंह ने सन् १३८० के आसपास अजमेर पर अधिकार कर लिया। सन् १४०५ में क्षेत्रसिंह की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी राणा लाखा ने शेष मेरवाड़ा पर भी अधिकार कर लिया। इस समय दिल्ली में सैयद वंश का शासन था जो बहुत ही कमजोर था।

१५वीं शताब्दी के शुरू में मेवाड़ और मारवाड़ के संबंध बिगड़ गए। मारवाड़ के स्वामी रायमल के पुत्र जोधा ने मेवाड़ से अजमेर छीन लिया। लेकिन कुछ ही समय बाद अजमेर मारवाड़ के हाथ से निकलकर मालवा के सुल्तान मुहम्मद खिलजी के हाथ में चला गया। पर कुछ महीनों बाद मेवाड़ के महाराणा कुंभा ने अजमेर को पुनः अपने राज्य में मिला लिया। इसी बीच कुंभा की मृत्यु हो गयी। अजमेर एक बार फिर मालवा के सुल्तान के हाथ में चला गया। १५वीं शताब्दी की शुरुआत में महाराणा रायमल के समय अजमेर पुनः मेवाड़ के हाथ में आ गया।

सन् १५२७ में मेवाड़ का राणा सांगा बाबर के हाथों खानवा के युद्ध में परास्त हो गया था। इससे मेवाड़ की स्थिति कमजोर पड़ गयी। अवसर पाकर गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने सन् १५३३ में अजमेर पर अधिकार कर लिया। परंतु दो ही वर्ष बाद बहादुरशाह मुगल बादशाह हुमायूं के हाथों परास्त हो गया। अवसर पाकर मेडता के राव वीरमदेव ने अजमेर पर अधिकार कर लिया। इस समय जोधपुर का स्वामी राव मालदेव था। उसने अजमेर वीरमदेव से छीनकर अपने विश्वासपात्र सामंत महेश कुंपावत को दे दिया। परंतु सन् १५४४ में शेरशाह सूरी ने, जो इस समय दिल्ली का सुल्तान था, अजमेर पर कब्जा कर लिया। शेरशाह सूरी की मृत्यु के बाद उसका सेनापति हाजी खां सन् १५५६ तक अजमेर पर शासन करता रहा। अकबर की सेना ने सन् १५५७ में अजमेर पर आक्रमण किया। सन् १५५८ के शुरू में अजमेर मुगलों के अधिकार में चला गया। इस प्रकार तराई के युद्ध के पश्चात् अर्थात् सन् ११९२ से लगाकर सन् १५५७ तक अजमेर कई हाथों में आया और गया। अजमेर इस काल में दिल्ली, मालवा, गुजरात, मेवाड़ और मारवाड़ के शासकों का शिकार बनता रहा। सामरिक दृष्टि से अजमेर की महत्त्वपूर्ण स्थिति होने के कारण उत्तर भारत के सभी शासकों की गिद्ध-दृष्टि उस पर लगी रहती थी। बार-बार हुकूमत बदलने से इन चार सौ वर्षों में अजमेर की क्या हालत हुई होगी, इसका सहज ही अंदाज लगाया जा सकता है।

मुगल-काल में अजमेर का महत्त्व

सुप्रसिद्ध सूफी संत ख्वाजा मोईनुद्दीन चिस्ती का देहांत सन् १२३५ में अजमेर में हुआ था।[1] सन् १४६४ में संत की कब्र पर मकबरा बनाया गया। मुगल-सम्राट् अकबर संत की कीर्ति सुन चुका था। वह ख्वाजा साहब को श्रद्धांजलि अर्पित करने जनवरी, १५६२ में अजमेर गया। वहां उसने एक दिन ठहरकर ख्वाजा साहब

१. ए० बी० एम० हबीबुल्ला, 'दी फाउंडेशन ग्रॉफ मुस्लिम रूल इन इंडिया', पृ० ३०५।

की जियारत की। सन् १५६८ में चित्तौड़ पर आक्रमण करने से पूर्व अकबर ने यह प्रण किया था कि यदि वह चित्तौड़ पर विजय प्राप्त कर लेगा तो ख्वाजा साहब की जियारत करने पैदल अजमेर पहुंचेगा। चित्तौड़ के किले पर अधिकार करने के बाद अकबर ने अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया। अगस्त, १५६९ में अकबर के पुत्र पैदा हुआ। इस उपलक्ष्य में उसने एक बार फिर ख्वाजा साहब की जियारत के लिए अजमेर की पैदल यात्रा की। सन् १५७० से १५७९ तक तो अकबर प्रायः हर साल ख्वाजा साहब के उर्स के अवसर पर अजमेर आता। इससे अजमेर का महत्त्व बहुत बढ़ गया। वह एक तरह से भारत की दूसरी राजधानी बन गया। अकबर ने वहां पर अपने व अपने उच्चाधिकारियों के लिए कई रिहायशी इमारतें बनवायीं और बाग-बगीचे लगवाए। अकबर के समय में अजमेर मुगल साम्राज्य के १० सूबों में से एक था। अजमेर के सूबे में उस समय २८ परगने थे जिनमें अजमेर के अलावा आमेर, परबतसर, फागी, जोबनेर, केकड़ी, मसूदा, नायायणा आदि शामिल थे।[1] अकबर अजमेर से ही राजपूताने की विभिन्न रियासतों पर नजर रखता था।

सन् १५९९ में अकबर ने शाहजादे सलीम को अजमेर का सूबेदार नियुक्त किया था। सन् १६०५ में अकबर की मृत्यु पर सलीम जहांगीर के नाम से हिंदुस्तान का बादशाह बना। वह सन् १६१३ में ख्वाजा साहब की जियारत के लिए अजमेर पहुंचा। वहीं से जहांगीर ने शाहज़ादा खुर्रम को मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भेजा। खुर्रम अपने उद्देश्य में सफल हो गया। मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह और कुर्रम के बीच हुए समझौते के अनुसार महाराणा ने अपने पुत्र राजकुमार करणसिंह को जहांगीर के दरबार में अजमेर भेजा। यहीं १० जनवरी, १६१६ को इंग्लैंड के बादशाह जेम्स प्रथम का राजदूत सर टॉमस रो सम्राट् जहांगीर से मिला। जहांगीर ने अपने अजमेर प्रवास-काल में आनासागर के पास दौलतबाग नामक प्रसिद्ध बगीचा लगवाया। उसने तारागढ़ के पश्चिम में एक बहुत सुंदर महल बनवाया और उसका नाम चश्मेनूर रखा। वह लगभग २ वर्ष अजमेर में रहा। मुगल बादशाह द्वारा अजमेर में खासा अच्छा समय व्यतीत करने से उस समय वहां कई यूरोपियन लोग रहने लग गए थे, जो अपने-अपने देश के व्यापारिक हितों की रक्षा करते थे।

अक्तूबर, १६२७ में जहांगीर मर गया। इस समय शाहजादा खुर्रम दक्षिण में था। बादशाह की मुत्यु का समाचार सुनते ही वह दक्षिण से रवाना होकर अजमेर पहुंचा। वहां उसने ख्वाजा साहब की जियारत की। उसने दरगाह में संगमरमर के पत्थर से जामा मस्जिद बनवायी। आनासागर पर संगमरमर की बारादरी बनवायी। अकबर और जहांगीर की भांति शाहजहां भी कई बार अजमेर आया।

सन् १६५७ में शाहजहां बीमार पड़ गया और इसके साथ ही साथ शाहजहां के लड़कों में उत्तराधिकार की लड़ाई शुरू हो गई। इस संबंध में हुए पांच युद्धों

१. अबुल फजल, 'आयने अकबरी', जिल्द १, पृ० ६४६।

में से एक युद्ध अजमेर में तारागढ़ की पहाड़ी के निकट हुआ था। इस युद्ध में दारा औरंगजेब की फौज के सामने नहीं टिक सका। वह अहमदाबाद की ओर भाग गया और कुछ समय बाद औरंगजेब के हाथों मारा गया।[1] औरंगजेब सन् १६५८ में दिल्ली का बादशाह बना।

अस्थिरता का युग

औरंगजेब के राज्यकाल में अजमेर को एक बार फिर कई उतार-चढ़ाव देखने पड़े। जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह की मृत्यु के बाद उसकी रानी से उत्पन्न पुत्र अजीतसिंह को औरंगजेब ने जसवंतसिंह की गद्दी का उत्तराधिकारी स्वीकार न कर मारवाड़ को खालसा कर लिया। यहीं से औरंगजेब और मारवाड़ के राठौड़ों के बीच एक लंबी लड़ाई का सूत्रपात हुआ। इसी समय जजिया की लड़ाई के प्रश्न को लेकर औरंगजेब की मेवाड़ के महाराणा राजसिंह से भी ठन गयी। इन दोनों राजाओं से निपटने के लिए औरंगजेब ने अजमेर को केंद्र बनाया। मुगलों और राठौड़ों के बीच पहला युद्ध अगस्त, १६७९ में पुष्कर में हुआ। राठौड़ बड़ी वीरता से लड़े पर हार गए। नवंबर, १६७९ में औरंगजेब स्वयं अजमेर आया और यहीं से मेवाड़ पर आक्रमण किया। औरंगजेब ने उदयपुर और चित्तौड़ पर कब्जा कर लिया। औरंगजेब चित्तौड़ का किला अपने पुत्र शाहजादा अकबर को सौंपकर पुनः अजमेर लौट गया। मेवाड़ के महाराणा के बहकावे में आकर अकबर ने अपने-आपको १ जनवरी, १६८१ को हिंदुस्तान का बादशाह घोषित कर दिया। वह मेवाड़ और मारवाड़ की सेना की सहायता से अजमेर की ओर बढ़ा। औरंगजेब और अकबर की सेनाएं अजमेर के निकट आमने-सामने हो गयीं। अगले दिन दोनों ही पक्षों में लड़ाई छिड़ने ही वाली थी कि अकबर का दाहिना हाथ थावर खां औरंगजेब से जा मिला। उधर औरंगजेब ने चालाकी से मारवाड़ के राठौड़ों में अकबर के बारे में भ्रम पैदा कर दिया। राठौड़ अकबर का साथ छोड़कर मारवाड़ की ओर चले गए। इन परिस्थितियों में अकबर हताश होकर दक्षिण की ओर चला गया।

औरंगजेब की मृत्यु पर उसका लड़का मोअज्जम बहादुरशाह के नाम से हिंदुस्तान की गद्दी पर बैठा। उसके जमाने में भी अजमेर मुगल सेना का केंद्र बना रहा। अजमेर पर समय-समय पर मारवाड़, मेवाड़ और आमेर के आक्रमण होते रहे। सन् १७०९ में जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह ने अजमेर पर आक्रमण किया और पंद्रह दिन तक अजमेर पर घेरा डाले रखा। अंत में वहां के सूबेदार सुजात खां से पेशकश के रूप में एक बड़ी रकम लेकर अजीतसिंह ने घेरा उठाया। बहादुरशाह की मृत्यु के बाद दिल्ली की गद्दी पर जल्दी-जल्दी परिवर्तन होते रहे। इस स्थिति का फायदा उठाकर सन् १७१३ में अजीतसिंह ने अजमेर पर अधिकार कर लिया। बादशाह फर्रुखसियर ने सैयद हुस्सेन अली के नेतृत्व में अजीतसिंह के विरुद्ध एक सेना

१. हरविलास सारदा, 'अजमेर हिस्टोरिकल एंड डिसक्रिप्टिव', पृ० १५७-१६५।

भेजी । मुगल सेना के सामने राठौड़ नहीं टिक सके । अजमेर पर पुनः मुगलों का अधिकार हो गया । सितंबर, १७१९ में मुहम्मद शाह दिल्ली पर बैठा । सैयदों की सलाह पर उसने अजमेर का सूबा अजीतसिंह को सौंप दिया । पर सैयद बंधुओं के पतन के साथ ही साथ मुगलों ने अजीतसिंह के स्थान पर नुसरथयार खां को अजमेर का सूबेदार नियुक्त कर दिया । पर नुसरथयार खां की नियुक्ति कागज पर ही रह गयी । अजीतसिंह बादशाह से आरजू-मिन्नत कर अजमेर का सूबा अपने पास रखने में सफल हो गया पर साथ ही बादशाह ने नाहर खां को सूबे का दीवान नियुक्त कर दिया । अजीतसिंह ने इस नियुक्ति को पसंद नहीं किया । उसने ६ जनवरी, १७२३ को नाहर खां और उसके २५ व्यक्तियों को अजमेर में कत्ल करवा दिया ।[1] फलस्वरूप बादशाह ने एक बड़ी सेना अजीतसिंह पर आक्रमण करने के लिए भेजी जिसमें सवाई जयसिंह, राजा गिरधर बहादुर, मुहम्मद खां आदि शामिल थे । बादशाह ने हैदरकुली खां को अजमेर का सूबेदार नियुक्त किया । हैदरकुली खां के अजमेर पहुंचते ही अजीतसिंह अजमेर को निमाज के ठाकुर अमरसिंह के भरोसे छोड़कर मारवाड़ की ओर कूच कर गया । मुगल सेना एक माह तक अजमेर को घेरे रही । अंत में मारवाड़ की सेना ने आत्मसमर्पण कर दिया ।

आगामी कुछ वर्षों में मुगल साम्राज्य निस्तेज हो गया । मरहठे शक्तिशाली हो गए । सन् १७३३ में मरहठे राजस्थान की विभिन्न रियासतों में घुस गए । मल्हारराव होल्कर ने अजमेर और उसके आसपास के इलाकों में भारी लूटमार की । ८ जून, १७४१ को अजमेर के पास गगवाना नामक स्थान पर मारवाड़ और जयपुर की सेना में भयंकर युद्ध हुआ जिसमें दोनों पक्षों को भारी नुकसान हुआ । पर विजय जयपुर की हुई । इस समय अजमेर का इलाका जयसिंह के अधीन था । सितंबर, १७४३ में जयसिंह की मृत्यु के बाद मारवाड़ के महाराजा अमरसिंह ने अजमेर इलाके पर अपना अधिकार कर लिया । अभयसिंह स्वयं जून, १७४९ में अजमेर में मरा । उसका दाह-संस्कार पुष्कर में किया गया । अभयसिंह की मृत्यु के बाद अजमेर का सूबा सलावत खां को सौंपा गया ।

मुगल सल्तनत की कमजोरी के कारण राजस्थान की रियासतें अपने-आपको स्वतंत्र समझने लगी थीं । उन्होंने अजमेर को मतालबा देना भी बंद कर दिया । खजाने का पैसा नहीं आने के कारण सूबे का शासन छिन्न-भिन्न हो गया । अजमेर के सूबेदार का राजपूताने की विभिन्न रियासतों पर नियंत्रण प्रायः समाप्त हो गया ।[2] सन् १७५२ में अजमेर पर जोधपुर के महाराजा बख्तसिंह का अधिकार था । बख्तसिंह की मृत्यु के बाद भी उसके लड़के विजयसिंह का सन् १७५६ तक अजमेर पर कब्जा रहा । इसके कुछ समय बाद ही जयअप्पा सिंधिया और जयपुर की सेना ने जोधपुर के भूतपूर्व शासक रामसिंह से मिलकर अजमेर पर अधिकार कर लिया ।

१. 'इरविन—लेटर मुगल्स', जिल्द २, पृ० १११ ।
२. 'राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, अजमेर', पृ० ८० ।

इस पर जोधपुर के महाराजा विजयसिंह ने किशनगढ़ और बीकानेर की सहायता से अजमेर पर आक्रमण किया। विजयसिंह हार गया। वह नागोर की ओर चला गया। जयअप्पा सिंधिया के कत्ल के बाद सन् १७५६ में दोनों पक्षों में संधि हो गयी। अजमेर का सूबा मरहठों और रामसिंह के संयुक्त प्रशासन में चला गया। दो वर्ष बाद मरहठा सूबेदार गोविंद राव ने अजमेर पर अधिकार कर लिया। सन् १७६१ में मारवाड़ की सेना ने अजमेर पर पुनः अधिकार कर लिया। लेकिन कुछ समय बाद महादजी सिंधिया ने अजमेर राठौड़ों से छीन लिया। सन् १७६१ से लगाकर सन् १७८७ तक अजमेर पर सिंधिया का पूर्ण अधिकार रहा।[1] सन् १७८७ में जोधपुर और जयपुर की सेनाओं की सिंधिया की सेना से तुंगा नामक स्थान पर भिड़ंत हुई। सिंधिया आगरा भाग गया। अजमेर पर एक बार फिर राठौड़ों का अधिकार हो गया। उन्होंने अजमेर के सूबेदार मिर्जा बेग को भगा दिया।

अजमेर पर अंग्रेजों का अधिकार

सन् १७९१ में माधोजी सिंधिया ने अजमेर पर आक्रमण किया। इस लड़ाई में राठौड़ों की हार हुई। अजमेर मरहठों को सौंप दिया गया। सन् १८०२ में जोधपुर के महाराजा भीमसिंह ने अजमेर को अपने अधिकार में करने का प्रयत्न किया। उसने अजमेर-क्षेत्र में कुछ चौकियां भी बैठायीं। परंतु मरहठों द्वारा यह चौकियां सन् १८०६ में नष्ट कर दी गयीं। अंत में २५ जून, १८१८ की संधि के अनुसार दौलतराव सिंधिया ने अजमेर का सूबा अंग्रेजों को सौंप दिया। नवंबर, १८१८ में अंग्रेजों ने अजमेर के पास नसीराबाद में अपनी फौजी छावनी स्थापित की। उन्होंने उसी वर्ष किशनगढ़ के महाराजा कल्याणसिंह से एक संधि की, जिसके द्वारा किशनगढ़ अंग्रेजों की मातहती में आ गया।

विल्डर अजमेर का पहला सुपरिंटेंडेंट बना। उसे अजमेर के मेरवाड़ा इलाके में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अंग्रेजों के पूर्व जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह और टोंक के नवाब अमीर खां ने मेरों को दबाने का प्रयत्न किया था, परंतु उन्हें कामयाबी नहीं मिली। विल्डर ने मेरवाड़ा के कुछ गांवों के मुखियाओं से एक समझौता किया, जिसके अनुसार मेरों ने लूट-पाट बंद करने का इकरार किया। परंतु मेरों ने इस समझौते का पालन नहीं किया। सन् १८१९ में नसीराबाद से एक फ़ौज भेजी गयी जिसने कई गांवों को बरबाद कर दिया। इन गांवों के निवासी आसपास की पहाड़ियों में भाग गए। नवंबर, १८२० में मेरों ने विद्रोह कर दिया। उन्होंने पुलिस चौकियों पर आक्रमण किया और कई पुलिस सिपाहियों को मार डाला।

१. 'राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, अजमेर', पृ० ८१।

मेरवाड़ा में अव्यवस्था

इस समय मेरवाड़ा तीन भागों में बंटा हुआ था। कुछ मेरवाड़ा अजमेर के अधीन था तो कुछ मेवाड़ और मारवाड़ के। अतः मारवाड़ और मेवाड़ के शासकों की सलाह से अंग्रेजों ने समस्त मेरवाड़ा पर आक्रमण किया और मेरों की शक्ति को कुचल दिया। मेवाड़ की ओर से कर्नल टॉड ने मेवाड़ मेरवाड़ा का शासन अपने हाथ में लिया। जहां तक मारवाड़-मेरवाड़ा का सवाल था, वहां का शासन मारवाड़ ने आसपास के जागीरदारों को सौंप दिया। इस प्रकार मेरवाड़ा में पुनः तीन प्रकार का शासन स्थापित हो गया। यह व्यवस्था अधिक समय तक नहीं चल सकी। यह निश्चय किया गया कि मेरवाड़ा के तीनों हिस्से एक अधिकारी के अंतर्गत लाए जाएं। मई, १८२३ में अंग्रेज सरकार और उदयपुर के महाराणा के बीच एक संधि हुई जिसके अनुसार मेवाड़-मेरवाड़ा का शासन अंग्रेज सरकार को सौंप दिया गया। महाराणा ने इसके एवज में सेना और प्रशासन-व्यय के रूप में अंग्रेजों को १५ हजार रुपये वार्षिक देना भी स्वीकार कर लिया। मार्च, १८२४ में मारवाड़-मेरवाड़ा के लिए भी अंग्रेज सरकार और जोधपुर के बीच इसी प्रकार का समझौता हो गया।

सन् १८२६ में अजमेर मेरवाड़ा उत्तर-पश्चिम सूबे के गवर्नर के अंतर्गत लाया गया। उसी वर्ष भारत के गवर्नर-जनरल लॉर्ड विलियम बेंटिंग ने अजमेर में दरबार किया जिसमें उदयपुर के महाराणा जवानसिंह, कोटा के महाराव रामसिंह, बूंदी के महाराव रामसिंह, टोंक के नवाब अमीर खां और किशनगढ़ के महाराजा कल्याणसिंह आदि राजा शामिल हुए। सन् १८४२ में कर्नल डिक्सन अजमेर और मेरवाड़ा के संयुक्त प्रशासक बने। वे सन् १८५७ तक मृत्यु-पर्यन्त उक्त पद पर बने रहे। डिक्सन के शासनकाल में मेरवाड़ा में सिंचाई के लिए कई तालाबों का निर्माण किया गया। डिक्सन ने सन् १८३५ में ब्यावर नामक नगर की स्थापना की। उसने उद्योग और व्यापार को बहुत प्रोत्साहन दिया जिससे ब्यावर एक समृद्धिशाली कस्बा बन गया।

सन् १८५७ का सैनिक विद्रोह

मई, १८५७ में देश में सैनिक विद्रोह की शुरुआत हुई। इस समय नसीराबाद छावनी में दो रेजिमेंट थीं। मेरठ के सैनिक विद्रोह की खबर पाकर २८ मई, १८५७ को नसीराबाद छावनी की दोनों पल्टनों ने विद्रोह कर दिया। विद्रोही सिपाहियों ने अंग्रेज अधिकारियों के घरों को लूट लिया अथवा जला दिया। अंग्रेज अजमेर से ब्यावर भाग गए। छावनी को तबाह कर विद्रोही दिल्ली की ओर रवाना हो गए जहां उन्होंने एक अंग्रेजी फौज को करारी शिकस्त दी। दैवयोग से इन विद्रोहियों ने अजमेर पर अधिकार करने का प्रयत्न नहीं किया। अन्यथा वे अजमेर के शस्त्रागार पर आसानी से कब्जा कर लेते और राजपूताने की रियासतों में विद्रोह फैलाने में कामयाब हो जाते। पर उन्हें योजनानुसार दिल्ली पहुंचना आवश्यक था

और उन्होंने वही किया। सैनिक विद्रोह असफल रहा। देश में अंग्रेजी राज्य की नींव सुदृढ़ हो गयी।

सन् १८७० में भारत का वायसराय लॉर्ड मेयो अजमेर आया। उसने वहां एक दरबार किया जिसमें उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूंदी, करौली, टोंक, किशनगढ़ और झालावाड़ के राजाओं ने भाग लिया। सन् १८७१ में भारत सरकार ने अजमेर का प्रशासन उत्तर-पश्चिम प्रांत से हटाकर सीधे अपने हाथ में ले लिया। सन् १८७५ में सरकार ने पहली बार अजमेर में २० वर्षीय बंदोबस्त करवाया।

क्रांति के अग्रदूत

सन् १९०५ के बंग-भंग के बाद बंगाल में क्रांतिकारियों की हलचलें बढ़ गयीं। इन हलचलों का देश के अन्य भागों पर भी प्रभाव पड़ा। राजपूताने में क्रांतिकारियों का प्रमुख केंद्र अजमेर मेरवाड़ा बना। खरवा के राव गोपालसिंह, शाहपुरा के ठा० केसरीसिंह बारहट, जयपुर के अर्जुनलाल सेठी और ब्यावर के सेठ दामोदरदास राठी क्रांतिकारियों की हलचलों के अगुवा थे। स्वामी कुमारानंद ने भी अजमेर मेरवाड़ा को अपनी गतिविधियों का केंद्र बनाया। अरविंद बाबू एवं श्यामजी कृष्ण वर्मा का राजपूताने के क्रांतिकारियों को मार्गदर्शन प्राप्त था। ये दोनों नेता राजपूताने में क्रांतिकारियों के संगठन बनाने की दृष्टि से कई बार अजमेर आए। सर्वश्री अर्जुनलाल सेठी, केसरीसिंह बारहट, भूपसिंह (विजयसिंह पथिक) एवं राव गोपालसिंह खरवा आदि क्रांतिकारियों ने 'वीर भारत सभा' नामक एक गुप्त संगठन की स्थापना की।

श्री अर्जुनलाल सेठी ने सन् १९०७ में जयपुर में वर्द्धमान विद्यालय की स्थापना की और उसे क्रांतिकारियों के प्रशिक्षण का प्रमुख केंद्र बनाया। सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी नेता रासबिहारी बोस ने सेठी जी को राजस्थान में सशस्त्र क्रांति के संगठन का भार सौंपा। क्रांतिकारियों ने भावी क्रांति के लिए धनोपार्जन करने की दृष्टि से डाके डालने शुरू किए। वर्द्धमान विद्यालय के एक शिक्षक विष्णुदत्त ने चार विद्यार्थियों के साथ बिहार के आरा जिले में निमेज के जैन उपासरे पर डाका डाला। इन विद्यार्थियों में केसरीसिंह बारहट का छोटा भाई जोरावरसिंह भी शामिल था। सरकार ने सेठी जी को निमेज और दिल्ली षड्यंत्र केस में फंसा दिया। उक्त मामलों में सेठी जी के खिलाफ सबूत नहीं मिलने के कारण उन्हें सजा नहीं दी जा सकी। पर उन्हें ७ वर्ष तक जयपुर और मद्रास प्रांत की वेलूर जेल में नजरबंद रहना पड़ा।

बारहट परिवार की कुर्बानी

दिसंबर, १९११ में दिल्ली दरबार के अवसर पर वायसराय लॉर्ड हार्डिंज चांदनी चौक से गुजर रहे थे। उस समय क्रांतिकारियों ने योजनानुसार लॉर्ड हार्डिंज पर बम फेंका। वायसराय को साधारण चोटें आयीं पर उसका अंग-रक्षक मारा गया। इन क्रांतिकारियों में केसरीसिंह बारहट के छोटे भाई जोरावरसिंह और पुत्र प्रतापसिंह शामिल थे। कहते हैं कि बम स्वयं जोरावरसिंह ने फेंका था। जोरावरसिंह

ओर प्रतापसिंह घटना-स्थल से फरार हो गए। जोरावरसिंह मृत्यु-पर्यन्त भूमिगत रहा। पर प्रतापसिंह कुछ वर्षों बाद पकड़ा गया। उसे बरेली जेल में रखा गया जहां उसे बड़ी यातनाएं दी गयीं, जिनके फलस्वरूप वह बरेली जेल में ही शहीद हो गया।

मई, १९१४ में स्वयं ठा० केसरीसिंह बारहट जोधपुर के एक धनवान साधु प्यारेराम की हत्या के संबंध में पकड़े गए। बारहट को अन्य दो व्यक्तियों के साथ २० वर्ष की सजा हुई। उन्हें बिहार की हजारीबाग जेल में रखा गया। पर प्रथम महायुद्ध की विजय के उपलक्ष्य में उन्हें जून, १९१९ में रिहा कर दिया गया।

दिसंबर, १९१४ में वाराणसी में रासबिहारी बोस ने भारत के समस्त क्रांतिकारियों के गुट के नेताओं का एक विराट् सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में देश में सशस्त्र क्रांति करने की योजना बनायी गयी। क्रांति की शुरुआत के लिए २१ फरवरी, १९१५ का दिन निश्चित किया गया। राजस्थान का प्रबंध देखने के लिए शचींद्र सान्याल को भेजा गया। अजमेर मेरवाड़ा में खरवा के ठाकुर गोपालसिंह को सेठ दामोदरदास राठी की सहायता से ब्यावर पर अधिकार करने और भूपसिंह को अजमेर और नसीराबाद पर अधिकार करने का भार सौंपा गया।

सशस्त्र क्रांति की योजना

श्री शंकरसहाय सक्सेना ने अपनी पुस्तक 'विजयसिंह पथिक की जीवनी' में बताया है कि भूपसिंह और गोपालसिंह ने क्रांति के लिए व्यापक तैयारियां कीं। उन्होंने कई हजार योद्धाओं का एक क्रांतिकारी दल तैयार किया। बहुत बड़ी मात्रा में अस्त्र-शस्त्र एकत्रित किए जिनमें ३० हजार से अधिक बंदूकें थीं। दुर्भाग्य से देशद्रोहियों ने रासबिहारी बोस की योजना का भेद ब्रिटिश सरकार को दे दिया। फलतः सरकार ने १९ फरवरी को ही क्रांतिकारियों की धर-पकड़ शुरू कर दी। क्रांति विफल हो गयी। इसकी सूचना समय पर राजस्थान के क्रांतिकारियों को मिल गयी। उन्होंने अस्त्र-शस्त्र गुप्त स्थान पर छिपा दिए और दल को बिखेर दिया। कुछ दिनों बाद पुलिस ने खरवा के किले पर छापा मारकर ठाकुर गोपालसिंह को गिरफ्तार करना चाहा। ठाकुर गोपालसिंह को समय पर पुलिस की इस कार्यवाही का पता चल गया। अतः वह भूपसिंह, मोडसिंह, रलियाराम और सवाईसिंह के साथ अस्त्र-शस्त्र, बंदूकें और गोला-बारूद आदि लेकर रातों-रात खरवा के किले से निकल गए और पास के जंगल में बनी हुई ओहदी में मोर्चाबंदी करके जा डटे। अजमेर कमिश्नर ने ५ हजार सैनिकों के साथ ठाकुर गोपालसिंह के दल को घेर लिया। स्थिति की गंभीरता को समझते हुए गोपालसिंह और उसके साथियों ने अपने-आपको सरकार के हवाले कर दिया। उन्हें टाटगढ़ किले में नजरबंद कर दिया गया। इन्हीं दिनों लाहौर षड्यंत्र के मामले में भूपसिंह की गिरफ्तारी का वारंट निकला। भूपसिंह को इसका पता चल गया। वह साधु का भेष धारण कर पहरेदारों की आंखों में धूल झोंकता हुआ टाटगढ़ के किले से गायब हो गया। वह गुरलां, मोही, ओछड़ी और चित्तौड़ होता हुआ बिजोलिया पहुंच गया जहां उसने विजयसिंह 'पथिक' के नाम से जागीर-

दारों के विरुद्ध किसानों का जबरदस्त संगठन बनाया और एक ऐसे आंदोलन का सूत्रपात किया जिसने न केवल राजस्थान में जागीरी प्रथा की जड़ें हिला दीं वरन् राजा-महाराजा और ब्रिटिश सरकार को भी झकझोर कर रख दिया।

अजमेर और राष्ट्रीय आंदोलन

देश में १९१५ के अंत तक क्रांतिकारियों का संगठन प्रायः छिन्न-भिन्न हो गया। यही स्थिति अजमेर में भी हुई। इस समय महात्मा गांधी भारत की राजनीति में धीरे-धीरे अवतीर्ण हो रहे थे। मार्च, १९२० में महात्मा गांधी के एक प्रमुख शिष्य एवं व्यवसायी सेठ जमनालाल बजाज की अध्यक्षता में 'राजपूताना मध्यभारत सभा' का एक अधिवेशन अजमेर में हुआ। बजाज के अलावा सर्वश्री अर्जुनलाल सेठी, केसरीसिंह बारहट, गोपालसिंह खरवा और विजयसिंह पथिक आदि नेताओं ने भी इस अधिवेशन में भाग लिया। इस अधिवेशन से राजस्थान की जनता में बड़ी चेतना आयी। सन् १९२० में देश में खिलाफत आंदोलन चला। अजमेर में खिलाफत समिति की बैठक हुई जिसमें डाक्टर अंसारी, मौलाना मोयुनुद्दीन एवं चांदकरण शारदा आदि ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

अक्तूबर, १९२० में सर्वश्री अर्जुनलाल सेठी, केसरीसिंह बारहट और विजयसिंह पथिक ने अजमेर में 'राजस्थान सेवा संघ' की स्थापना की। उस समय श्री रामनारायण चौधरी वर्धा से लौटकर अजमेर को अपना कार्य-क्षेत्र बना चुके थे। वे संघ के मंत्री नियुक्त किए गए। संघ के तत्त्वावधान में 'राजस्थान केसरी' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला गया जिसमें प्रकाशित एक समाचार को लेकर पुलिस ने श्री चौधरी पर मान-हानि का मुकदमा दायर किया। उक्त मामले में श्री चौधरी को तीन माह के कारावास की सजा हुई। सन् १९२८ में आपसी मतभेदों के कारण सेवा-संघ टूट गया।

'नवजीवन' के तत्कालीन संपादक श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने सन् १९२६ में राजस्थान को अपनी गतिविधियों का केंद्र बनाया। अगले वर्ष ही उन्होंने हटूंडी में गांधी आश्रम की स्थापना की। हरिभाऊ जी अजमेर की राजनीति में कूद पड़े। इस समय सेठी जी अजमेर प्रांतीय कांग्रेस के अध्यक्ष थे। सेठी जी उग्र विचारधारा और हरिभाऊ जी गांधी विचारधारा के थे। अतः दोनों में गहरा मतभेद हो गया। धीरे-धीरे हरिभाऊ जी ने अजमेर कांग्रेस पर आधिपत्य जमा लिया। अप्रैल, १९३० में देश में महात्मा गांधी के नेतृत्व में नमक सत्याग्रह हुआ। राजस्थान में इस सत्याग्रह का केंद्र अजमेर था। सर्वश्री हरिभाऊ उपाध्याय, विजयसिंह पथिक, अर्जुनलाल सेठी, रामनारायण चौधरी और प्रो० गोकुललाल असावा आदि कांग्रेस-नेता एक-एक कर पकड़ लिये गए। प्रो० गोकुललाल असावा कुछ समय पूर्व ही राष्ट्रीय प्रवृत्तियों में भाग लेने के कारण कोटा राज्य के शिक्षा विभाग द्वारा अलग कर दिए गए। सभी सत्याग्रही गांधी-इरविन समझौते के फलस्वरूप नवंबर, १९३० में रिहा हुए। सन् १९३२ के सत्याग्रह में अजमेर ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस सत्याग्रह में

अजमेर से महिलाएं भी एक बड़ी संख्या में जेल गयीं।

गिब्सन की हत्या का प्रयत्न

सन् १९३२ में अजमेर मेरवाड़ा में क्रांतिकारी आंदोलन को पुनः जागृत करने का प्रयत्न किया गया। श्री रामचंद्र नरहरी बापट हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन सेना के सक्रिय सदस्य रह चुके थे। श्री बापट ने अजमेर में स्थानीय स्तर पर एक क्रांतिकारी दल संगठित करने का प्रयत्न किया। उनके इस प्रयत्न में सर्वश्री ज्वालाप्रसाद शर्मा, रामसिंह एवं रामजी बंधु आदि युवक शामिल थे। यह दल देवली में बंगाल के नजरबंद क्रांतिकारियों पर किए जाने वाले अत्याचारों से अत्यंत क्षुब्ध था। दल ने अजमेर मेरवाड़ा के इंस्पेक्टर जनरल ऑफ प्रीजंस श्री गिब्सन को गोली से उड़ा देने का निश्चय किया और इस कार्य की जिम्मेदारी बापट को सौंपी। बापट ने २५ अप्रैल, १९३२ को जिला मजिस्ट्रेट के कार्यालय में श्री गिब्सन पर गोली चलाने का प्रयन्न किया। परंतु उनका रिवाल्वर जाम हो गया। श्री बापट गिरफ्तार कर लिये गए। उन्हें इस मामले में १० वर्ष की सजा हुई। वे सन् १९४० में सजा भोगने के बाद मुक्त हुए। श्री बापट ने श्री ज्वालाप्रसाद शर्मा के साथ स्थानीय लोकोशॉप का खजाना लूटने का भी प्रयत्न किया पर उन्हें सफलता नहीं मिली।

डोगरा शूटिंग केस

सन् १९३५ में क्रांतिकारियों को पकड़ने और उन पर निगाह रखने के लिए प्राणनाथ डोगरा नामक व्यक्ति अजमेर का पुलिस उप-अधीक्षक नियुक्त किया गया। क्रांतिकारी दल ने डोगरा को मौत के घाट उतारने का निश्चय किया। इसकी जिम्मेदारी ज्वालाप्रसाद, रामसिंह और मांगीलाल उर्फ रमेशचंद्र व्यास को सौंपी गयी। श्री व्यास डोगरा को सिनेमा देखने के बहाने से एक छविगृह में ले गए। छविगृह से वापस लौटते हुए डोगरा पर रामसिंह ने गोली चलायी जिससे वह घायल होकर गिर गया। डोगरा के साथी पुलिस इंस्पेक्टर खलीलुद्दीन गोरी पर श्री ज्वालाप्रसाद ने गोली चलायी। गोरी भी जख्मी होकर गिर गया। ज्वालाप्रसाद, रामसिंह और रमेशचंद्र व्यास तीनों ही पकड़े गए। डोगरा शूटिंग केस में पुलिस ने रामसिंह और रमेशचंद्र व्यास पर मुकदमा चलाया और ज्वालाप्रसाद को नजरबंद कर दिया। मुकदमे में रमेशचंद्र व्यास तो छूट गए पर रामसिंह को ७ साल की सजा हुई और उसे काले पानी भेज दिया गया। श्री रमेशचंद्र व्यास ने सन् १९३८ में अपनी मातृ-भूमि मेवाड़ को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। वे सन् १९३८ और १९४२ के स्वातंत्र्य-संग्राम में जेल गए। आजादी के बाद वे कई बार भीलवाड़ा से लोकसभा के सदस्य रहे। श्री ज्वालाप्रसाद अजमेर से राजस्थान विधान सभा के सदस्य रहे और बाद में राजस्थान परिवहन निगम के अध्यक्ष रहे। दोनों का देहांत जयपुर में हुआ।

मेरवाड़ा के टुकड़े

१ अप्रैल, १९३७ को गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, १९३५ अमल में आया। उक्त एक्ट के अंतर्गत अजमेर मेरवाड़ा के लिए कानून बनाने का अधिकार संघीय धारा-सभा को दिया गया। अजमेर के प्रमुख प्रशासक का नाम चीफ कमिश्नर रखा गया। सन् १९३८ में मेवाड़-मेरवाड़ा मेवाड़ राज्य को और मारवाड़-मेरवाड़ा जोधपुर राज्य को सौंप दिया गया।

अगस्त क्रांति और अजमेर

अगस्त, १९४२ में कांग्रेस ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में 'भारत छोड़ो' आंदोलन का श्रीगणेश किया। अजमेर मेरवाड़ा से कई कार्यकर्ता गिरफ्तार किए गए, जिनमें सर्वश्री गोकुललाल असावा, मूलचंद असावा, रमेशचंद्र व्यास, लेखराज आर्य, शंकरलाल वर्मा, बालकिशन कौल, ज्वालाप्रसाद शर्मा, रामनारायण चौधरी, दुर्गाप्रसाद चौधरी, चंद्रगुप्त वार्ष्णेय, मौलाना अब्दुल शकूर, कन्हैयालाल आर्य, बालकिशन गर्ग, बृजमोहनलाल शर्मा, मुकटबिहारीलाल भार्गव, रामनिवास शर्मा आदि प्रमुख थे। २ फरवरी, १९४४ को ज्वालाप्रसाद शर्मा और श्री रघुराजसिंह जेल अधिकारियों की आंखों में धूल झोंक कर जेल से भागने में सफल हो गए।

देशी रियासतों के आंदोलन का केंद्र

अजमेर मेरवाड़ा का भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में महत्त्वपूर्ण योग रहा है। यही नहीं, मेवाड़, जोधपुर और जयपुर आदि रियासतों के जन-आंदोलनों के नेताओं को अजमेर से बड़ा संबल मिला है। सर्वश्री जयनारायण व्यास और माणिक्यलाल वर्मा एवं अन्य रियासती नेताओं ने अजमेर को अपनी गतिविधियों का केंद्र बनाकर अपनी रियासतों में जन-आंदोलन का संचालन किया। अजमेर के समाचार-पत्रों ने, जिनमें 'तरुण राजस्थान', 'राजस्थान संदेश', 'रियासती' और 'नवज्योति' आदि समाचार-पत्र शामिल हैं, राजपूताने की रियासतों के जन-आंदोलनों को उजागर करने में बड़ी सहायता पहुंचायी।

अजमेर का विलय

सन् १९५२ में अजमेर मेरवाड़ा में विधान-सभा के चुनाव हुए। इन चुनावों में कांग्रेस विजयी हुई और उसने श्री हरिभाऊ उपाध्याय के नेतृत्व में एक मंत्रिमंडल बनाया। इस मंत्रिमंडल में भी उपाध्याय के अलावा सर्वश्री बालकृष्ण कौल और बृजमोहन शर्मा शामिल हुए। १ नवंबर, १९५६ में राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिश पर अजमेर मेरवाड़ा का राजस्थान में विलय कर दिया गया। यही विलय यदि राजस्थान निर्माण के समय ही हो गया होता तो अजमेर संभवतया राजस्थान की राजधानी बन जाता। पर राजस्थान जनता की मांग के बावजूद अजमेर को उस

समय राजस्थान में शामिल नहीं किया गया। स्थानीय कांग्रेस के नेता श्री हरिभाऊ उपाध्याय आदि इस मत के थे कि अजमेर राजस्थान से अलग रहकर ज्यादा विकास कर सकता है। पर यह ख्याल अदूरदर्शितापूर्ण था। राज्य के विकास के लिए अजमेर के पास न तो वित्तीय साधन ही थे और न प्राकृतिक खनिज-संपदा ही। अब अजमेर केवल राजस्थान का एक जिला बनकर रह गया है। हां, उसके महत्त्व को बनाए रखने के लिए उसे राज्य-स्तर के कतिपय विभागों का सदर-मुकाम बना दिया गया है। इन विभागों में राजस्व-मंडल, जन-सेवा आयोग, माध्यमिक शिक्षा मंडल आदि हैं।

बारहवां अध्याय

राजस्थान राज्य का निर्माण

'राजस्थान' शब्द की उत्पत्ति का अपना इतिहास है। अब तक की खोज के अनुसार 'राजस्थान' शब्द का सबसे पहले प्रयोग पिंडवारा (सिरोही) से ६ मील दूर स्थित बसंतगढ़ में खीमल माता के मंदिर के पास सं० ६८२ (सन् ६२५) के शिलालेख में होना पाया जाता है। मुहणोत नैणसी ने सं० १७२२ (सन् १६२५) में लिखित अपनी ख्यात में एवं कवि वीरभाण ने सं० १७८८ (सन् १७३१) में लिखित अपने महाकाव्य 'राजरूपक' में 'राजस्थान' शब्द का उपयोग किया है। परंतु न तो बसंतगढ़ के शिलालेख ने और न नैणसी और वीरभाण ने ही 'राजस्थान' शब्द प्रदेश या प्रांत के संदर्भ में प्रयुक्त किया है।[1] राजस्थान शब्द का प्रदेश के रूप में पहली बार प्रयोग करने का श्रेय सुप्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड को जाता है जिसने सन् १८२९ में जैन-यति ज्ञानचंद की सहायता से लिखित 'एनाल्स एंड एंटीक्वीटीज ऑफ राजस्थान' नामक पुस्तक का प्रथम भाग प्रकाशित कर राजस्थान की वीर-भूमि और उसके वीर-वीरांगनाओं की धवल कीर्ति देश-विदेश में फैलायी। राजस्थान की व्याख्या करते हुए कर्नल टॉड ने अपने ग्रंथ में कहा है, "राजस्थान भारत के उस भाग का नाम है जहां राजा लोग निवास करते हैं। स्थानीय बोलचाल की भाषा में इसे रजवाड़ा के नाम से पुकारा जाता है। पर सुसंस्कृत लोग इस प्रदेश को राजस्थान कहते हैं। इस प्रदेश में राजपूत राजाओं की रियासतें होने से अंग्रेज शासकों ने इसे 'राजपूताना' का नाम दे दिया जो 'राजस्थान' शब्द का ही अपभ्रंश है।"[2]

'राजपूताना' शब्द का प्रयोग

प्रदेश के रूप में 'राजपूताना' शब्द का पहला प्रयोग सन् १८०० में जॉर्ज टॉमस

१. डॉ० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया के अनुसार मध्यकाल एवं इसके पूर्व 'राजस्थान' शब्द का उपयोग केवल राजधानी के अर्थ में किया जाता था। —'राजस्थान साहित्य का इतिहास', पृ० ४-५।
२. कर्नल टॉड, 'ए० ए० ए० ऑफ राजस्थान', जिल्द १, पृ० १।

ने किया था।[1] प्रदेश की रियासतों पर नियंत्रण रखने की दृष्टि से अंग्रेज सरकार ने सन् १८३२ में अजमेर में एक एजेंसी की स्थापना की थी। इस एजेंसी का मुख्य अधिकारी एजेंट 'टू दी गवर्नर-जनरल इन राजपूताना' कहलाता था। एक शताब्दी बाद प्रदेश एवं पड़ोस के राज्यों के लिए अजमेर में माध्यमिक शिक्षा की परीक्षाओं के लिए एक संगठन बनाया गया। इस संगठन का नाम 'बोर्ड ऑफ हाई स्कूल एंड इंटरमीडियेट एक्जामिनेशंस, राजपूताना, सेंट्रल इंडिया और ग्वालियर' रखा गया। इसी तरह सन् १९४८ में प्रदेश की विभिन्न रियासतों ने मिलकर जब जयपुर में प्रदेश के लिए एक विश्वविद्यालय की स्थापना की तो उसका नाम भी 'यूनिवर्सिटी ऑफ राजपूताना' रखा गया। विश्वविद्यालय का यह नाम राजस्थान राज्य के निर्माण के बाद भी कई वर्षों तक चलता रहा।

अंग्रेजी राज्य और देशी रियासतें

आइये, अब हम आपको राजस्थान राज्य के निर्माण की पृष्ठभूमि में ले चलें। भारत में लगभग ५६५ देशी रियासतें थीं जिनका कुल क्षेत्रफल १८ लाख वर्ग किलोमीटर से अधिक था। यह क्षेत्रफल सारे देश के क्षेत्रफल का ४५ प्रतिशत था। सन् १८१९ के अंत तक देश की सभी रियासतें ब्रिटिश सरकार को सार्वभौम सत्ता के रूप में स्वीकार कर चुकी थीं। यद्यपि ब्रिटिश सरकार समय-समय पर रियासतों के अंदरूनी मामलों में भी दखल करती रहती थीं, तथापि वैधानिक दृष्टि से सुरक्षा, विदेशी मामलों एवं अंतर्जातीय संबंधों को छोड़कर शेष सभी विषयों में ये रियासतें स्वतंत्र थीं। हर रियासत को अपनी-अपनी आयात, निर्यात एवं औद्योगिक नीति निर्धारण करने, सीमा-शुल्क, उत्पादन-शुल्क, राजस्व कर एवं अन्य किसी भी प्रकार के कर लगाने के असीमित अधिकार थे। केंद्रीय सत्ता रियासतों की जनता अथवा उनकी संपत्ति पर कोई कर नहीं लगा सकती थी। कई रियासतों का अपना रेलवे सिस्टम था। केंद्रीय सरकार ने कई रियासतों में रेलवे लाइन निकाली थी, पर ऐसा उसने संबंधित रियासतों की स्वीकृति से किया था। यद्यपि अंतर्राज्यीय संचार-व्यवस्था केंद्रीय सरकार के हाथ में थी, तथापि कई रियासतों के अपने-अपने डाक-विभाग थे। कई रियासतों का अपना-अपना सिक्का (करेंसी) और तोल था। रियासतों की न्याय-व्यवस्था में केंद्रीय सरकार का कोई दखल नहीं था। रियासतों के न्यायालयों के विरुद्ध न तो प्रीवी कौंसिल और न सन् १९३५ के भारतीय विधान के अंतर्गत स्थापित संघीय अदालत में ही अपील हो सकती थी। रियासतों को अपनी सामर्थ्य के अनुसार शांति-व्यवस्था कायम रखने एवं ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा हेतु सेना रखने की स्वतंत्रता थी।

१. विलियम फ्रैंकलिन, 'मेमोइर्स ऑफ मिस्टर जॉर्ज टॉमस', पृ० ३४७ (टॉमस मरहठों की सेना में भाड़ू सैनिक अफसर था। उसने सन् १७९९ में मरहठों की ओर से चौथ वसूल करने के लिए बीकानेर राज्य पर आक्रमण किया था।)

रियासतों में राजनीतिक संगठन

आजादी के पूर्व राजपूताना एजेंसी में कुल १६ रियासतें थीं। इनमें सबसे अधिक प्राचीन रियासत मेवाड़ थी जिसकी स्थापना गुहिल ने सन् ५६५ में की थी। सबसे नयी रियासत झालावाड़ थी जिसकी स्थापना सन् १८३५ में झाला मदनसिंह ने अंग्रेजों की कृपा से की थी। क्षेत्रफल की दृष्टि से इस प्रदेश की सबसे बड़ी रियासत जोधपुर थी जिसका क्षेत्रफल ४५,००० वर्ग किलोमीटर था और सबसे छोटी रियासत शाहपुरा थी जिसका क्षेत्रफल १००० वर्ग किलोमीटर था। हरिपुरा कांग्रेस में लिये गए निर्णय के अनुसार सन् १९३८-३९ में प्रदेश की लगभग सभी रियासतों में प्रजामंडल, प्रजा-परिषद् अथवा लोक-परिषद् के नाम से राजनीतिक संगठन बन गए थे। इन संगठनों का उद्देश्य अपनी-अपनी रियासतों में संबंधित नरेश की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना था। उस समय तक राजाओं की समाप्ति की तो बात ही क्या, रियासतों के एकीकरण की भी किसी ने कल्पना नहीं की थी। प्रदेश की रियासतों के राजनीतिक संगठनों को एक मंच पर एकत्रित होने का पहला अवसर ३१ दिसंबर, १९४५ को अखिल भारतीय देशी राज्य लोक-परिषद् के उदयपुर अधिवेशन में प्राप्त हुआ। इस अवसर पर लिये गए एक निर्णय के अनुसार अखिल भारतीय देशी राज्य लोक-परिषद् की शाखा के रूप में राजपूताना प्रांतीय सभा की स्थापना हुई। प्रांतीय सभा का कार्यालय जयपुर में रखा गया। प्रदेश के भावनात्मक एकीकरण की ओर यह पहला कदम था। यह एक दिलचस्प बात थी कि इस जन-संगठन ने अपने नाम के साथ भी सरकारी एवं अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं की तरह 'राजपूताना' शब्द ही प्रयुक्त किया।

मंत्रिमंडल मिशन और रियासतें

१९ फरवरी, १९४६ को ब्रिटेन की मजदूर सरकार के प्रधानमंत्री एटली ने स्वतंत्र भारत का विधान बनाने की प्रक्रिया तय करने के लिए भारत सचिव लॉर्ड पैथिक लारेंस के नेतृत्व में तीन मंत्रियों का एक उच्च स्तरीय प्रतिनिधि-मंडल (केबिनेट मिशन) भारत भेजने की घोषणा की। २४ फरवरी को यह मिशन भारत पहुंचा। कांग्रेस, मुस्लिम लीग, राजाओं के प्रतिनिधियों व अन्य हितों के नेताओं से विचार-विनिमय के बाद १६ मई को मिशन ने भारतीय समस्या के समाधान के संबंध में एक बयान जारी किया। रियासतों का जिक्र करते हुए मिशन ने अपने बयान में कहा कि ब्रिटिश भारत द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद ब्रिटिश-ताज और रियासतों के बीच वर्तमान संबंध समाप्त हो जाएंगे। रियासतों के संबंध में सार्वभौम सत्ता का जहां तक प्रश्न है, उसे न तो ब्रिटिश सरकार अपने पास ही रखेगी और न उसे स्वतंत्र भारत की सरकार को ही हस्तांतरित करेगी।

मिशन ने २२ मई, १९४६ को रियासतों के संबंध में एक ज्ञापन प्रकाशित किया। मिशन ने इस ज्ञापन में बताया कि भारत में अंग्रेजी राज की समाप्ति के

बाद रियासतों को भारत की उत्तराधिकारी सरकार या सरकारों के साथ नये सिरे से संबंध स्थापित करने होंगे। ज्ञापन में आगे कहा गया कि भारत के भावी संवैधानिक ढांचे में समुचित रूप से अपना भाग अदा करने के लिए छोटी-छोटी रियासतों को आपस में मिलकर बड़ी इकाइयां बना लेना चाहिए अथवा पड़ोस की बड़ी इकाइयों में मिल जाना चाहिए।[1] छोटी रियासतों को अब स्पष्ट हो गया कि वे अपना अस्तित्व नहीं बनाए रख सकतीं। इस समय सुप्रसिद्ध विधानवेत्ता के० एम० मुंशी मेवाड़ के महाराणा के वैधानिक सलाहकार थे। उनकी सलाह पर महाराणा भूपालसिंह ने राजपूताना, मालवा और गुजरात के शासकों से अपील की कि वे सब मिल कर 'राजस्थान यूनियन' का निर्माण करें ताकि यह यूनियन भावी भारतीय संघ की एक सुदृढ़ इकाई बन सके। महाराणा की योजना के अनुसार प्रस्तावित यूनियन एक कानफिडरेशन अथवा संघ के रूप में बनायी जाने को थी जिसमें संबंधित इकाइयां (रियासतें) अपना-अपना पृथक् अस्तित्व कायम रखते हुए अपने कुछ अधिकार यूनियन को सौंप देतीं। महाराणा की योजना पर विचार करने के लिए राजस्थान और गुजरात के लगभग २२ राजा-महाराजाओं का एक सम्मेलन २५ और २६ जून को उदयपुर में हुआ।[2] पर राजाओं में इस योजना पर मतैक्य नहीं हो सका। फलस्वरूप महाराणा ने इस दिशा में अपने प्रयत्न समाप्त कर दिए। जामनगर और डूंगरपुर के शासकों एवं जयपुर के दीवान सर वी० टी० कृष्णमाचारी ने भी इसी इसी प्रकार के प्रयत्न किए पर एक या दूसरे कारणों से ये प्रयत्न भी विफल रहे।

प्रांतीय सभा का प्रस्ताव

२ सितंबर, १९४६ को केंद्र में पं० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अंतरिम सरकार की स्थापना हुई। केंद्र में इस ऐतिहासिक परिवर्तन से रियासतों की जनता में एक नयी चेतना आयी। ९ सितंबर को अखिल भारतीय देशी राज्य लोक-परिषद् की 'राजपूताना प्रांतीय सभा' ने एक प्रस्ताव द्वारा यह घोषणा की कि राजस्थान की कोई भी रियासत अपने-आप में भावी भारतीय संघ में शामिल होने योग्य नहीं है, अतः समस्त राजस्थान एक ही इकाई के रूप में भारतीय संघ में शामिल होना चाहिए।[3] इस प्रस्ताव ने रियासतों के जन-संगठनों की मूल नीति में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया। नरेशों की छत्रछाया का सिद्धांत समाप्त कर दिया गया। यही नहीं, इस प्रस्ताव में प्रदेश की विभिन्न रियासतों की सीमाएं समाप्त कर राजस्थान को एक संयुक्त राज्य बनाने की कल्पना उभरकर सामने आयी। इस बार प्रांतीय सभा ने अपने प्रस्ताव में प्रदेश के लिए राजपूताना की बजाय 'राजस्थान' शब्द काम में लिया। इस प्रकार लगभग ११७ वर्ष बाद कर्नल टॉड द्वारा इस प्रदेश को दिया हुआ

१. वी० पी० मेनन, 'दी स्टोरी ऑफ दी इंटिग्रेशन ऑफ इंडियन स्टेट्स', पृ० ६६ एवं ४९७-९८।
२. के० एम० मुंशी, 'पिलग्रिमेज टू फ्रीडम', पृ० १५९-६०।
३. अ० भा० दे० रा० लोक-परिषद् की राजपूताना प्रांतीय सभा का अक्तूबर, १९४६ का बुलेटिन।

नाम 'राजस्थान' पुनः गूंज उठा ।

रियासतें और संविधान सभा

मंत्रिमंडल मिशन-योजना के अंतर्गत नवंबर, १९४६ में ब्रिटिश-भारत से संविधान सभा (कांस्टीट्यूट एसेंबली) के लिए चुनाव संपन्न हुए। संविधान सभा में रियासतों के लिए ९३ स्थान सुरक्षित रखे गए थे। संविधान सभा और नरेंद्र-मंडल की समझौता-समितियों ने मिलकर निर्णय लिया कि रियासतों की ओर से संविधान सभा में भेजे जाने वाले सदस्यों में कम-से-कम ५० प्रतिशत चुने हुए सदस्य होंगे। समझौता-समिति के सर्वसम्मत निर्णय के बावजूद नरेंद्र-मंडल का चांसलर भोपाल का नवाब और उसका शक्तिशाली गुट रियासतों द्वारा संविधान सभा में भाग लेने के मार्ग में रोड़े अटकाता रहा। परंतु २८ अप्रैल, १९४७ को बड़ौदा, कोचीन, पटियाला, बीकानेर, रीवा, जोधपुर और जयपुर आदि रियासतों के प्रतिनिधि संविधान सभा की बैठक में शामिल हो गए। इससे नवाब गुट की कमर टूट गयी। अब हैदराबाद को छोड़कर एक-एक कर शेष सभी रियासतों के प्रतिनिधि संविधान-सभा में शामिल हो गए।

राजाओं के षड्यंत्र

रियासतों के प्रतिनिधियों के संविधान-सभा में शामिल होने की औपचारिकता तो पूरी हो गयी, पर इससे अधिक जटिल समस्या थी रियासतों के भारतीय संघ में शामिल (एक्सीड) होने की। मंत्रिमंडल-मिशन ने यह स्पष्ट कर दिया था कि भारत में ब्रिटिश सत्ता की समाप्ति के साथ ही साथ रियासतों पर न केवल ब्रिटिश-प्रभुत्व (पारामाउंटसी) समाप्त हो जाएगा, वरन् रियासतों को यह भी अधिकार होगा कि वे भारत या पाकिस्तान में शामिल हों अथवा अपने-आपको स्वतंत्र घोषित कर दें। ३ जून, १९४७ को वायसराय लॉर्ड माउंटबेटन ने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार १५ अगस्त, १९४७ को भारत और पाकिस्तान की सरकारों को सत्ता हस्तांतरित कर देगी। उसने बताया कि रियासतों के बारे में मंत्रिमंडल-मिशन द्वारा घोषित नीति में कोई परिवर्तन नहीं होगा। माउंटबेटन की इस घोषणा के साथ ही साथ भोपाल के नवाब ने नरेंद्र-मंडल के चांसलर के पद से इस्तीफा देते हुए माउंटबेटन को सूचित किया कि रियासतों पर ब्रिटिश सरकार की सार्वभौमिकता की समाप्ति के बाद भोपाल रियासत स्वतंत्र हो जाएगी।[1] हैदराबाद के निजाम ने भी इस प्रकार का इरादा जाहिर किया।[2] उन्हीं दिनों नवानगर के जाम साहब और ध्रांगध्रा के महाराजा ने रियासती विभाग के सचिव वी० पी० मेनन को सूचित किया कि जूनागढ़ पाकिस्तान में शामिल होने जा रहा है।[3] भारत की भौगोलिक परिधि में आने वाली

१. वी० पी० मेनन, 'दी स्टोरी ग्रॉफ दी इंटीग्रेशन ग्रॉफ इंडियन स्टेट्स', पृ० ८४।
२. वही, पृ० ११७।
३. वही, पृ० १२६।

उक्त तीन मुस्लिम रियासतों के अलावा त्रावणकोर के दीवान सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर ने ११ जून को घोषणा की कि सार्वभौम सत्ता के समाप्त होते ही त्रावणकोर एक खुदमुख्तार स्वतंत्र राज्य बन जाएगा।[१] जैसे यह सब काफी नहीं था। भोपाल के नवाब ने जिन्ना की सहमति से यह योजना बनायी कि बड़ौदा, इंदौर, भोपाल, उदयपुर, जोधपुर और जैसलमेर की रियासतें पाकिस्तान में शामिल हो जाएं। जोधपुर और इंदौर के महाराजा इस योजना से सहमत हो गए। उदयपुर और बड़ौदा को इस योजना में शामिल करने का बीड़ा महाराजा जोधपुर ने उठाया।[२] इस प्रकार देखते ही देखते भारत के टुकड़े-टुकड़े होने का खतरा उपस्थित हो गया।

रियासतें देश के संवैधानिक ढांचे में

रियासतों की समस्याओं से निपटने के लिए भारत सरकार ने २७ जून, १९४७ को रियासती विभाग (स्टेट्स डिपार्टमेंट) की स्थापना की। लौह-पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल इस विभाग के मंत्री और भारत सरकार के वैधानिक सलाहकार वी० पी० मेनन सचिव बने। ५ जुलाई को सरदार पटेल ने अपने बयान में राजाओं को भारतीय संघ में शामिल होने की दावत देते हुए कहा कि भारत में उनका एक्सेशन केवल मात्र सुरक्षा, विदेशी मामलात और सचार-व्यवस्था तक ही सीमित होगा। २५ जुलाई को नरेंद्र-मंडल के एक सम्मेलन में लॉर्ड माउंटबेटन ने भाषण देते हुए कहा कि यद्यपि कानूनी तौर पर रियासतें पाकिस्तान या भारत में शामिल होने को स्वतंत्र हैं तथापि वे ऐसा करते हुए अपनी-अपनी भौगोलिक स्थिति को दरगुजर नहीं करेंगी। उसने राजाओं से १५ अगस्त के पूर्व ही भारतीय संघ में शामिल होने की अपील की। अब राजाओं का भारत-विरोधी गुट टूटने लगा। महाराणा उदयपुर ने जोधपुर के महाराजा के निमंत्रण को ठुकराते हुए कहा कि मेवाड़ भारत के साथ रहेगा। सरदार पटेल से सीमा-सुरक्षा संबंधी आवश्यक आश्वासन प्राप्त करने के बाद जैसलमेर के महाराजा ने भी जोधपुर का साथ देने से इनकार कर दिया।[३] अब राजस्थान में जोधपुर अकेला पड़ गया। फिर भी धौलपुर के महाराजा पर्दे के पीछे रह कर जोधपुर का साहस बढ़ाते रहे। पर अंत में माउंटबेटन और मेनन की समझायश पर जोधपुर भी भारतीय संघ में शामिल हो गया। त्रावणकोर में सर सी० पी० की भारत-विरोधी नीति का बड़ा विरोध हुआ। अंततोगत्वा २७ जुलाई को महाराजा त्रावणकोर ने भारत सरकार को तार द्वारा त्रावणकोर के भारतीय संघ में शामिल होने की सूचना दी। अब भरतपुर और धौलपुर के राजाओं की भी हिम्मत टूट गयी। इन्होंने चुपचाप इंस्ट्रूमेंट ऑफ एक्सेशन पर हस्ताक्षर कर दिए। इस प्रकार

१. वी० पी० मेनन, 'दी स्टोरी ऑफ दी इंटीग्रेशन ऑफ इंडियन स्टेट्स', पृ० ९०।
२. के० एम० मुंशी, 'पिलग्रिमेज टू फ्रीडम', पृ० १६२।
३. वही।

हैदराबाद, जम्मू और काश्मीर एवं जूनागढ़ को छोड़कर शेष सभी रियासतें १५ अगस्त के पूर्व भारतीय संघ का अंग बन गयीं और इसके साथ ही रियासतों को देश के संवैधानिक ढांचे में ढालने का पहला चरण समाप्त हो गया।

अंग्रेजो काल में एकीकरण के प्रयत्न

देशी रियासतों में एक ओर जहां जम्मू एवं काश्मीर तथा हैदराबाद जैसी रियासतें थीं, जिनमें से प्रत्येक का क्षेत्रफल २ लाख किलोमीटर से अधिक था, वहां दूसरी ओर २०० से अधिक ऐसी रियासतें थीं जिनमें से प्रत्येक २५ वर्ग किलोमीटर से अधिक नहीं थी। कई रियासतें ऐसी भी थीं जिनकी वार्षिक आय एक मिस्त्री की आय से अधिक नहीं थी।[1] हिमालय की पर्वत-शृंखलाओं के बीच ऐसी कई रियासतें थीं जिनके शासकों का प्रिवीपर्स २०० रुपये मासिक से अधिक नहीं था। निश्चय ही देश में अधिकतर रियासतें ऐसी थीं जो क्षेत्रफल, जनसंख्या और आय की दृष्टि से शेष भारत के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने में तो असमर्थ थीं ही, उनमें आधुनिक प्रशासन का भार वहन करने की क्षमता भी नहीं थी।

भारत सरकार ने सन् १९३३ में छोटी-छोटी रियासतों के संघ बनाने का प्रयत्न किया। पर उसका यह प्रयत्न असफल रहा। सन् १९३९ में तत्कालीन वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो ने सूचारु रूप से शासन चलाने की दृष्टि से सीमित साधनों वाली रियासतों के समूहीकरण का प्रयत्न किया। पर उसका यह प्रयत्न भी कुछ रियासतों के लिए एकीकृत हाई कोर्ट स्थापित करने और संयुक्त पुलिस संगठन बनाने तक ही सीमित रह गया। सन् १९४३ में भारत सरकार ने पश्चिमी भारत की कतिपय छोटी रियासतों को, जिनका कुल क्षेत्रफल १८,१३० वर्ग किलोमीटर था, शासन-प्रबंध की दृष्टि से बड़ी पड़ोसी रियासतों के साथ जोड़ दिया। पर ये समस्त प्रयत्न समुद्र में पानी की एक बूंद के समान थे।[2]

स्वतंत्र भारत में रियासतें

देश के स्वतंत्र होने के साथ ही साथ रियासतों को एकीकरण द्वारा आत्मनिर्भर इकाइयों में तब्दील करने और उनमें जनतांत्रिक शासन-व्यवस्था कायम करने की समस्या पैदा हुई। भारत सरकार ने निर्णय लिया कि स्वतंत्र भारत में वे ही रियासतें अपना अस्तित्व रख सकेंगी जिनकी आय १ करोड़ रुपए वार्षिक और आबादी १० लाख होगी अथवा जिनका संविधान-सभा में स्वतंत्र प्रतिनिधित्व होगा। भारत सरकार ने यह भी निर्णय लिया कि छोटी-छोटी रियासतों को मिलाकर आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर इकाइयां बनायी जाएं और जहां भौगोलिक दृष्टि से ऐसा करना संभव नहीं हो वहां छोटी रियासतों को पड़ोस की बड़ी रियासतों अथवा

१. 'व्हाइट पेपर ऑन इंडियन स्टेट्स', पृ० १७-१८।
२. २. वही, पृ० ३८।

प्रांतों में मिला दिया जाए। भारत सरकार द्वारा निर्धारित मापदंड के अनुसार राजस्थान में केवल जयपुर, जोधपुर, उदयपुर और बीकानेर ही ऐसी रियासतें थीं जो अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रख सकती थीं।

किशनगढ़ और शाहपुरा का प्रश्न

भारत सरकार ने अपनी घोषित नीति के अनुसार सितंबर, १९४८ में किशनगढ़ और शाहपुरा की रियासतों को केंद्र-शासित प्रदेश अजमेर में मिलाने का निर्णय लिया। इन रियासतों का क्षेत्रफल क्रमशः केवल २२२२ और १००० वर्ग किलोमीटर था। ये दोनों रियासतें अजमेर की सीमाओं से मिली हुई थीं। किशनगढ़ के महाराजा सुमेरसिंह ने २६ सितंबर को दिल्ली में विलय-पत्र पर हस्ताक्षर कर किशनगढ़-राज्य का अजमेर में विलय कर दिया। उसी दिन भारत सरकार ने शाहपुरा के राजाधिराज सुदर्शनदेव से भी शाहपुरा को अजमेर में विलय करने के लिए विलय-पत्र पर हस्ताक्षर करने को कहा परंतु सुदर्शनदेव ने कहा कि वह अपने राज्य की सत्ता जनता के प्रतिनिधियों को सौंप चुके हैं और वे केवल मात्र वैधानिक शासक हैं। अतः वह अपने मंत्रिमंडल की सलाह लिये बिना इस संबंध में कोई निर्णय नहीं ले सकते। सुदर्शनदेव तुरंत अपने प्रधानमंत्री प्रो० गोकुललाल असावा से मिले और उन्हें रियासती विभाग से हुई वार्ता से अवगत कराया। प्रो० असावा और मेवाड़ के जन-नेता श्री माणिक्यलाल वर्मा सरदार पटेल और वी० पी० मेनन से मिले और उनको बताया कि राजस्थान की विभिन्न रियासतों की जनता केंद्र-शासित प्रदेश में मिलने के विरुद्ध है। उन्होंने सुझाव दिया कि राजस्थान की छोटी रियासतों का एक अलग ही संघ बना दिया जाए। सरदार पटेल ने जनमत का आदर करते हुए किशनगढ़ और शाहपुरा को अजमेर में विलय करने के निर्णय को रद्द कर दिया।[1]

महागुजरात का स्वप्न

नवंबर, १९४७ में सरदार पटेल को यह सुझाव दिया गया कि चूंकि पालनपुर, दांता, ईडर, विजयनगर, डूंगरपर, बांसवाड़ा और सिरोही रियासतों की अधिकतर जनता गुजराती भाषा-भाषी है। अतः इन रियासतों को राजपूताना एजेंसी से हटाकर पश्चिमी भारत और गुजरात एजेंसी के अंतर्गत कर दिया जाए।[2] श्री के० एम० मुंशी एवं गुजरात के अन्य नेता महागुजरात के स्वप्न देख रहे थे। यह योजना उसी स्वप्न का एक अंग थी। १ फरवरी, १९४८ को पालनपुरा, दांता, ईडर और विजयनगर की रियासतें पश्चिमी भारत और गुजरात एजेंसी के अंतर्गत कर दी गयीं। जनता के विरोध के कारण डूंगरपुर, बांसवाड़ा और सिरोही की स्थिति फिल-

१. शाहपुरा राजाधिराज सुदर्शनदेव और प्रो० गोकुललाल असावा से लेखक के साक्षात्कार के आधार पर।

२. वी० पी० मेनन, 'दी स्टोरी ऑफ दी इंटिग्रेशन ऑफ इंडियन स्टेट्स', पृ० २७०।

हाल यथावत् रह गयी। परंतु गुजरात के नेता चुप बैठने वाले नहीं थे। राजस्थान के हवाखोरी के प्रसिद्ध स्थान माउंट आबू पर उनकी गिद्ध-दृष्टि लगी हुई थी। माउंट आबू सिरोही रियासत का एक अंग था। अत: जनता के विरोध के बावजूद सिरोही रियासत १ मार्च, १६४८ को राजपूताना एजेंसी से हटायी जाकर गुजरात एजेंसी के अंतर्गत कर दी गयी।

महाराजा अलवर का नजरबंदी

भारत के विभाजन के साथ ही साथ देश में भीषण सांप्रदायिक दंगे हुए। राजस्थान में इन दंगों की सबसे अधिक प्रतिक्रिया अलवर और भरतपुर रियासतों में हुई। इस समय अलवर का दीवान डॉ० एन० वी० खरे था, जो हिंदू सहासभा का अध्यक्ष रह चुका था। भारत सरकार को इस प्रकार की शिकायतें मिलीं कि अलवर राज्य में मुस्लिम सुरक्षित नहीं हैं और उन्हें राज्य से बाहर ढकेला जा रहा है। महाराजा अलवर पर तो यह आरोप भी था कि वे महात्मा गांधी की हत्या के षड्यंत्र से संबंधित कतिपय लोगों को पनाह दे रहे हैं। ७ फरवरी, १६४८ को महाराजा अलवर और डॉ० खरे दिल्ली में नजरबंद कर दिए गए एवं अलवर रियासत का प्रशासन भारत सरकार द्वारा संभाल लिया गया।[1]

भरतपुर में दंगे

भरतपुर की स्थिति भी अलवर से भिन्न नहीं थी। सांप्रदायिक दंगों के कारण राज्य में कानून और व्यवस्था लगभग टूट चुकी थी। भारत सरकार के पास इस प्रकार के समाचार आ रहे थे कि इन दंगों को भड़काने में भरतपुर प्रशासन का हाथ है। भारत सरकार इस विषय में आवश्यक कदम उठाने ही वाली थी कि महाराजा भरतपुर महाराजा ग्वालियर के साथ मेनन के पास पहुंचे। महाराजा भरतपुर को किंकर्त्तव्य-विमूढ़ पाकर मेनन ने उनको सलाह दी कि वर्तमान स्थिति में रियासत का प्रशासन भारत सरकार को सौंप देना रियासत के हक में होगा। महाराजा ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। तदनुसार अलवर की तरह भरतपुर का शासन भी भारत सरकार ने अपने हाथ में ले लिया।

मत्स्य-यूनियन का निर्णय

अलवर और भरतपुर से मिली हुई दो छोटी रियासतें थीं—धौलपुर व करौली। भारत सरकार द्वारा निर्धारित मापदंड के अनुसार वे चारों रियासतें भारतीय संघ की स्वायत्त इकाइयों के रूप में अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकती थीं। अत: भारत सरकार ने चारों रियासतों के शासकों के सामने २७ फरवरी को यह प्रस्ताव रखा कि उक्त रियासतों के एकीकरण द्वारा एक नये राज्य का निर्माण किया जाए।

१. वी० पी० मेनन, 'दी स्टोरी ऑफ दी इंटिग्रेशन ऑफ इंडियन स्टेट्स', पृ० २५३-५४।

चारों शासकों ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। महाभारत-काल में यह क्षेत्र 'मत्स्य-प्रदेश' के नाम से जाना जाता था। अतः भारत सरकार ने इस राज्य को 'मत्स्य-यूनियन' का नाम दिया। इस यूनियन का उद्घाटन १८ फरवरी, १९४८ को भारत सरकार के एक वरिष्ठ मंत्री श्री एन० बी० गाडगिल ने किया। इस नये राज्य का क्षेत्रफल ३०,००० वर्ग किलोमीटर, जनसंख्या लगभग १९ लाख और वार्षिक आय लगभग १ करोड़ ८० लाख रुपए थी। राज्य की राजधानी अलवर बनी। प्रधानमंत्री अलवर-प्रजामंडल के नेता श्री शोभाराम और राजप्रमुख धौलपुर के महाराज राणा उदयमानसिंह बनाए गए।

दोहरी शासन-व्यवस्था

श्री शोभाराम के मंत्रिमंडल में उनके अलावा सर्वश्री भोलानाथ (अलवर), युगलकिशोर चतुर्वेदी (भरतपुर), चिरंजीलाल शर्मा (करौली) और डॉ० मंगलसिंह (धौलपुर) शामिल किए गए। भारत सरकार ने मंत्रिमंडल के सिर पर एक आई० सी० एस० अधिकारी के० बी० लाल को प्रशासक के रूप में बैठा दिया। सेना, पुलिस, कानून और व्यवस्था एवं राजनीतिक विभाग सीधे प्रशासक के हाथ में दे दिए गए। यही नहीं, प्रशासक को यह भी अधिकार दे दिया कि वह कोई भी आदेश जारी कर सकेगा जिसे वह राज्य के हित में उचित समझे। इस प्रकार राज्य में दोहरी शासन-व्यवस्था हो गयी। पर यह स्वीकार करना होगा कि राज्य में उस समय परिस्थितियां ही ऐसी थीं कि भारत सरकार दिल्ली की सीमा पर स्थित इस नये राज्य की शासन-व्यवस्था केवल प्रजामंडल के अनुभव-रहित नेताओं को नहीं सौंप सकती थी।

संयुक्त राजस्थान का निर्माण

अब प्रश्न था राजस्थान की अन्य छोटी रियासतों के भाग्य-निर्णय का। इन रियासतों को यह स्पष्ट था कि स्वतंत्र भारत में वे अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकतीं। कोटा के महाराव कोटा, बूंदी और झालावाड़ को मिलाकर हाड़ोती यूनियन बनाना चाहते थे। पर वे सफल नहीं हुए। इसी तरह महारावल डूंगरपुर बागड़ प्रदेश (डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़) की रियासतों की यूनियन बनाना चाहते थे। पर वे भी अपने प्रयत्न में असफल रहे।[1] रियासती विभाग ने इन रियासतों को मध्य भारत और मालवा में मिलाने का प्रस्ताव रखा। राजस्थान के राजाओं को मध्य भारत और मालवा के मरहठा शासकों का वर्चस्व स्वीकार नहीं था। वे सदियों पूर्व मरहठों द्वारा की गयी लूटपाट और आक्रमणों की बाढ़ को भूले नहीं थे। अतः उन्होंने रियासती विभाग के इस प्रस्ताव का विरोध किया। रियासती विभाग द्वारा शाहपुरा और किशनगढ़ को अजमेर में मिलाने की योजना जन-प्रतिनिधियों के विरोध के कारण पहले ही रद्द कर दी गयी थी। अब रियासती विभाग के सामने

१. 'मेवाड़ प्रजामंडल पत्रिका', फरवरी, १९४८, पृ० १।

राजस्थान की छोटी रियासतों को मिलाकर एक अलग यूनियन बनाने के अलावा कोई मार्ग नहीं था। रियासती विभाग ने ३ मार्च, १९४८ को कोटा, बूंदी, झालावाड़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, टोंक, शाहपुरा और किशनगढ़ की रियासतों को मिला कर 'संयुक्त राजस्थान राज्य' के निर्माण का प्रस्ताव किया। प्रस्तावित राज्य के हाड़ोती और बागड़ इलाके के बीच मेवाड़ रियासत पड़ती थी। पर नियमानुसार मेवाड़ अपना स्वतंत्र अस्तित्व रख सकता था। अतः रियासती विभाग मेवाड़ पर संयुक्त राजस्थान में शामिल होने के लिए दबाव नहीं डाल सकता था। फिर भी प्रस्तावित राज्य की भौगोलिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए रियासती विभाग ने मेवाड़ को नये राज्य में शामिल होने की दावत दी। मेवाड़ प्रजामंडल ने रियासती विभाग के प्रस्ताव का समर्थन किया। पर महाराजा ने बदले में यह प्रस्ताव रखा कि संयुक्त राजस्थान में शामिल होने वाली सभी रियासतों का मेवाड़ में विलय कर दिया जाए। यह प्रस्ताव अन्य रियासतों के शासकों को मान्य नहीं हो सकता था। अतः रियासती विभाग ने बिना मेवाड़ के ही संयुक्त राजस्थान राज्य के निर्माण का फैसला किया। प्रस्तावित राज्य में शामिल होने वाली रियासतों में कोटा सबसे बड़ी थी। अतः रियासती विभाग ने निर्णय किया कि संयुक्त राजस्थान राज्य के राजप्रमुख पद का सेहरा कोटा के महाराव भीमसिंह के सिर पर बांधा जाए। यह प्रस्ताव बूंदी के महाराव बहादुरसिंह के गले नहीं उतरा। कारण यह था कि कोटा के हाड़ा-नरेश बूंदी राज-परिवार के छुटभैया थे। बूंदी महाराव उदयपुर पहुंचे और महाराणा से प्रार्थना की कि यदि मेवाड़ इस नये राज्य में शामिल हो जाए और मेवाड़ के महाराणा इस नये राज्य के राजप्रमुख बन जाएं तो बूंदी की कठिनाई अपने-आप हल हो जाएगी। परंतु महाराणा ने महाराव बूंदी को भी वही उत्तर दिया जो उन्होंने रियासती विभाग को दिया था। अब बूंदी के सामने कोटा के महाराव को राजप्रमुख बनाने के प्रस्ताव को स्वीकार करने के अलावा कोई चारा नहीं था। राज्य में शामिल होने वाली सभी रियासतों के शासकों ने विलय-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। हां, बांसवाड़ा के महारावल चंद्रवीरसिंह ने विलय-पत्र पर हस्ताक्षर करने में थोड़ी आनाकानी की। पर अंत में पड़ोसी रियासतों की सलाह पर उन्होंने भी झुंझलाते हुए यह कहकर विलय-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए कि वे विलय-पत्र पर नहीं, वरन् अपने 'डेथ वारंट' पर हस्ताक्षर कर रहे हैं।[1] रियासती विभाग ने तय किया कि यूनियन का उद्घाटन २५ मार्च, १९४८ को किया जाए और उसका प्रधानमंत्री शाहपुरा राज्य के लोकप्रिय प्रधानमंत्री प्रो० असावा को बनाया जाए।

मेवाड़ विलय की ओर

संयुक्त राजस्थान राज्य के निर्माण की औपचारिकता मात्र ही पूर्ण हो पायी

१. बांसवाड़ा राज्य के तत्कालीन मुख्य सचिव श्री रामसिंह द्वारा लेखक को दी गयी भेंट के आधार पर।

थी कि मेवाड़ में परिस्थितियों ने पलटा खाया। मेवाड़ में विधान-सभा के चुनावों को लेकर उत्तेजनात्मक वातावरण बना हुआ था। प्रजामंडल की टक्कर क्षत्रिय-परिषद् से थी, जिसको मेवाड़ के जागीरदारों एवं सभी प्रतिक्रियावादियों का सक्रिय समर्थन प्राप्त था। प्रजामंडल ने मांग की कि चुनावों को निष्पक्ष संपन्न कराने के लिए अविलंब ही अंतरिम लोकप्रिय सरकार की स्थापना की जाए। देश में तेजी से बदलती हुई राजनीतिक स्थिति के कारण महाराणा को यह मांग स्वीकार करनी पड़ी। प्रजामंडल ने प्रो० प्रेमनारायण माथुर को प्रधानमंत्री पद के लिए नामजद किया। इस मंत्रिमंडल में प्रधानमंत्री के अलावा प्रजामंडल के तीन, क्षत्रिय-परिषद् के दो एवं एक निर्दलीय सदस्य लिया जाना था। मेवाड़ में प्रजामंडल के बहुमत वाला मंत्रिमंडल बनना वहां के मुसद्दी वर्ग के लिए एक बड़ा झटका था। उन्होंने महाराणा को समझाया कि यदि मेवाड़ में प्रजामंडल के बहुमत वाली सरकार बन गयी तो वह केवल महाराणा की मान-मर्यादा को आंच पहुंचाने का ही प्रयत्न नहीं करेगी वरन् उनके प्रिवीपर्स और व्यक्तिगत संपत्ति पर भी हमला करेगी। उन्हें सलाह दी गयी कि मेवाड़ यदि संयुक्त राजस्थान में शामिल हो जाए तो उनके प्रिवी-पर्स और व्यक्तिगत संपत्ति के संबंध में भारत सरकार से उदार शर्तें प्राप्त की जा सकेंगी। मुसद्दियों की यह सलाह महाराणा के गले उतर गयी। उन्होंने २३ मार्च को मेवाड़ के संयुक्त राजस्थान में शामिल करने का संदेश अनौपचारिक रूप से रियासती विभाग को भेज दिया। इस प्रकार जो काम वी० पी० मेनन और महाराव बूंदी नहीं कर सके, वहां के मुसद्दियों ने कर दिखाया।

महाराणा का संदेश प्राप्त होते ही वी० पी० मेनन ने महाराव कोटा को संयुक्त राजस्थान राज्य का उद्घाटन स्थगित करने का प्रस्ताव किया। पर महाराव कोटा ने उत्तर दिया कि नये राज्य के उद्घाटन की सारी तैयारियां पूरी हो चुकी हैं, अतः समारोह को स्थगित करना अनुपयुक्त होगा। निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार २५ मार्च, १९४८ को श्री एन० वी० गाडगिल ने संयुक्त राजस्थान राज्य के निर्माण का विधिवत् उद्घाटन किया। महाराव कोटा ने राजप्रमुख और प्रो० असावा ने प्रधानमंत्री के पद की शपथ ली।

मेवाड़ के प्रधानमंत्री श्री एस० वी० रामामूर्ति २८ व २९ मार्च, १९४८ को दिल्ली में मेवाड़ के संयुक्त राजस्थान राज्य में विलय की शर्तें तय करने के लिए वी० पी० मेनन से मिले। यह तय हुआ कि उदयपुर के संयुक्त राजस्थान राज्य में शामिल होने पर राज्य की राजधानी उदयपुर होगी। महाराणा उदयपुर राजप्रमुख होंगे। उन्हें प्रिवीपर्स के १० लाख रुपयों के अलावा ५ लाख रुपये वार्षिक राजप्रमुख के पद का भत्ता एवं ५ लाख रुपये वार्षिक धार्मिक कार्यों पर खर्च करने के लिए दिए जाएंगे। महाराणा ने उक्त शर्तें स्वीकार कर लीं। उन्होंने १ अप्रैल, १९४८ को मेवाड़ के संयुक्त राजस्थान राज्य में शामिल होने का प्रस्ताव विधिवत् रियासती विभाग को भेज दिया।

बीकानेर का महाराणा को संदेश

यह सब इतना गुप्त रूप से हुआ कि प्रजामंडल को महाराणा के इस कदम की भनक तक नहीं पड़ी। वह तो मेवाड़ विधान-सभा के चुनावों में व्यस्त था। ४ अप्रैल, १९४८ को उदयपुर में विधान-सभा के लिए मतदान के दौरान तिरंगे झंडे के अपमान को लेकर भीषण तनाव की स्थिति पैदा हो गयी। नगर में हड़ताल हो गयी, जो अगले दिन भी जारी रही। उस दिन नगर के प्रमुख बाजारों में भीड़ का जमाव हो गया। प्रजामंडल और क्षत्रिय-परिषद् के बीच नारेबाजी होने लगी। इस उत्तेजनात्मक वातावरण में मजमे को भंग करने के लिए बिना चेतावनी दिए पुलिस ने गोलियां चलायीं, जिससे घटना-स्थल पर ही दो विद्यार्थी शहीद हो गए एवं अनेक कार्यकर्ता घायल हो गए। इस गोलीकांड के फलस्वरूप प्रजामंडल ने चुनावों का बहिष्कार कर दिया और प्रधानमंत्री सर रामामूर्ति और उनकी सरकार के इस्तीफे की मांग की। पर महाराणा और उनके सलाहकार तो इस समय संयुक्त राजस्थान राज्य में विलय की प्रक्रिया में लीन थे। वे प्रजामंडल द्वारा नामजद प्रधानमंत्री और अन्य मंत्रियों की शपथ का मसला एक या दूसरा बहाना बनाकर टालते रहे। इस बीच बीकानेर महाराजा शार्दूलसिंह को महाराणा द्वारा मेवाड़ को संयुक्त राजस्थान राज्य में शामिल करने के निर्णय का पता लगा तो वे आश्चर्यचकित हो गए। दूरदर्शी महाराजा ने समझ लिया कि यदि मेवाड़ जैसी प्राचीन रियासत का राजस्थान में विलय हो गया तो बीकानेर और अन्य रियासतों का अस्तित्व भी कायम नहीं रह सकेगा। महाराजा ने अपने प्रधानमंत्री जसवंतसिंह दाउदसर को महाराणा के पास भेजा और कहलाया कि "देशी राज्यों में मेवाड़ ही एक ऐसी रियासत थी कि जो मुगलों के सामने नहीं झुकी। आज वही रियासत अब सबसे पहले कांग्रेस के सामने कैसे झुक रही है ?" महाराणा ने उत्तर दिया कि वे तो अपने-आपको कांग्रेस के सामने समर्पित कर ही रहे हैं, पर उनके ख्याल से राजस्थान के अन्य राजाओं का भी समर्पण अवश्यंभावी है। जसवंतसिंह खाली हाथ लौट गए।[1]

सलाहकार-परिषद् का विरोध

महाराणा ने ११ अप्रैल, १९४८ को विलय-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। रियासती विभाग ने राज्य के प्रधानमंत्री पद के लिए मेवाड़ के तपस्वी नेता श्री माणिक्यलाल वर्मा को मनोनीत किया। उन्हें राज्य की भावी शासन-व्यवस्था के संबंध में विचार-विमर्श हेतु दिल्ली बुलाया गया। रियासती विभाग ने उनसे कहा कि राजस्थान एक पिछड़ा हुआ प्रदेश है। वहां के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को शासन चलाने का अनुभव नहीं है। अतः उनके मंत्रिमंडल को सलाह देने के लिए कुशल प्रशासकों की एक सलाहकार-परिषद् बनायी जाएगी, जिसमें मेवाड़ के प्रधानमंत्री सर रामामूर्ति, वित्त मंत्री डॉ० मोहनसिंह महता और राजपूताना के प्रादेशिक कमिश्नर

१. रिचार्ड सेशन, 'कांग्रेस पार्टी इन राजस्थान', पृ० १०९।

श्री पी० एस० राव होंगे। रियासती विभाग ने यह भी बताया कि मंत्रिमंडल का कोई भी निर्णय तब तक कार्यान्वित नहीं किया जा सकेगा जब तक सलाहकार-परिषद् उक्त निर्णय पर अपनी मोहर नहीं लगा देगी। रियासती विभाग इस प्रकार की शर्तें मत्स्य-यूनियन के मंत्रिमंडल पर भी लाद चुका था। रियासती विभाग के इस प्रस्ताव की श्री वर्मा पर तीखी प्रतिक्रिया हुई। जिस नौकरशाही के विरुद्ध वे जीवन-भर लड़े, भला वे उसकी मुंसरमात कैसे स्वीकार करते। श्री वर्मा ने रियासती विभाग का प्रस्ताव ठुकरा दिया। वे तुरंत सरदार पटेल से मिले और उनसे कहा, "रियासती विभाग द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार मेरे लिए राजस्थान राज्य का भार उठाना संभव नहीं है। मेवाड़ और अन्य रियासतों में राजशाही समाप्त हो चुकी है और उसके साथ ही प्रजामंडल का उद्देश्य पूर्ण हो चुका है। अब भारत सरकार जैसा चाहे इस नये राज्य का शासन चलाए। प्रजामंडल के नेता शासन से बाहर रह कर ही जनता की सेवा करना पसंद करेंगे।" सरदार स्वाभिमानी वर्मा की बात समझ गए। उन्होंने सलाहकार-परिषद् स्थापित करने का निर्णय रद्द कर दिया।[1] सरदार पटेल की सलाह पर यह भी निश्चय किया गया कि नये राज्य के निर्माण के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए भारत के प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू १८ अप्रैल, १९४८ को इस राज्य का उद्घाटन करेंगे।

नेहरू द्वारा वर्मा का समर्थन

वर्मा ने उदयपुर लौटते ही संयुक्त राजस्थान के मनोनीत राजप्रमुख महाराणा भूपालसिंह से मंत्रिमंडल के निर्माण की चर्चा की। महाराणा ने मंत्रिमंडल में जागीरदार वर्ग और क्षत्रिय-परिषद् को समुचित प्रतिनिधित्व देने का आग्रह किया। वर्मा ने राजप्रमुख का यह प्रस्ताव मानने से स्पष्ट इनकार कर दिया। फलतः एक प्रथम दर्जे का राजनीतिक संकट उत्पन्न हो गया। इसी बीच पूर्व-निश्चित कार्यक्रम के अनुसार पं० जवाहरलाल नेहरू संयुक्त राजस्थान राज्य का उद्घाटन करने १८ अप्रैल को उदयपुर पहुंचे। वर्मा ने पं० नेहरू को बताया कि वह ऐसे किसी मंत्रिमंडल की सदारत करने को तैयार नहीं हैं जिसमें जागीरदारी वर्ग का प्रतिनिधित्व हो। पं० नेहरू ने वर्मा की बात को सिद्धांततः समर्थन देते हुए कहा कि यद्यपि प्रधानमंत्री को अपने मंत्रिमंडल को बनाने के संबंध में महाराणा और अन्य वर्गों से सलाह लेनी चाहिए तथापि इस संबंध में अंतिम निर्णय मनोनीत प्रधानमंत्री का ही होगा। पं० नेहरू ने महाराणा के दीवान और सलाहकार सर राममूर्ति को भी अपने इन विचारों से अवगत करा दिया। पं० नेहरू ने वर्मा को अपने पद की शपथ लेने की सलाह दी और कहा कि यदि मंत्रिमंडल के निर्माण में कोई कठिनाई हो तो वर्मा और राममूर्ति दिल्ली जाकर रियासती विभाग से सलाह कर लें। वर्मा ने पं० नेहरू की सलाह पर संयुक्त राजस्थान राज्य के प्रधानमंत्री पद की शपथ ली।[2]

१. 'नौकरशाही से मुकाबला', राजस्थान-पत्रिका, ३१ अक्तूबर, १९७६।
२. 'सरदार पटेल का पत्र-व्यवहार', जिल्द ७, पृ० ३९५-९६।

मंत्रिमंडल बनाने की स्वतंत्रता

संयुक्त राजस्थान राज्य के उद्घाटन की रस्म अदा करने के तुरंत बाद पं० नेहरू ने इन सारे हालातों के संबंध में रियासती विभाग के मंत्री सरदार पटेल को एक पत्र लिखा।[1] इस पत्र में पं० नेहरू ने यह भी लिखा कि राजस्थान के नेतागण चाहते हैं कि जयपुर, जोधपुर और बीकानेर को भी संयुक्त राजस्थान राज्य में शामिल किया जाए एवं सिरोही को बंबई राज्य से हटाकर संयुक्त राजस्थान राज्य में शामिल किया जाए। संयुक्त राजस्थान राज्य के उद्घाटन के तुरंत बाद वर्मा मंत्रिमंडल के निर्माण के संबंध में दिल्ली गए और सरदार पटेल से मिले। सरदार पटेल ने तुरंत महाराणा उदयपुर को पत्र लिखकर यह सलाह दी कि वे मंत्रिमंडल के निर्माण में वर्मा की सलाह स्वीकार कर लें।[2] जयपुर, जोधपुर और बीकानेर को संयुक्त राजस्थान राज्य में शामिल करने के संबंध में सरदार पटेल ने पं० नेहरू के पत्र का उत्तर दिया कि यह तभी संभव हो सकता है जबकि उक्त राज्यों की जनता भी इसके लिए उत्सुक हो। सिरोही के बारे में सरदार पटेल ने पं० नेहरू को सूचित किया कि "सभी दृष्टि से विचार करने के बाद हमने यह तय किया है कि सिरोही को गुजरात में मिलाया जाना चाहिए। राजस्थान के नेता गोकुलभाई भट्ट को चाहते हैं न कि सिरोही को। उनकी यह मांग सिरोही को बिना राजस्थान में मिलाए भी पूरी की जा सकती है।"[3]

सरदार पटेल द्वारा महाराणा को लिखे गए पत्र ने वर्मा द्वारा मंत्रिमंडल-निर्माण करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। वर्मा ने संयुक्त राजस्थान में मिलने वाली विभिन्न रियासतों के प्रजामंडल के नेताओं से विचार-विमर्श कर अपना ८ सदस्यीय मंत्रिमंडल बनाया जो विशुद्ध प्रजामंडलीय था। मंत्रिमंडल में प्रांत के तपे-तपाए नेता शामिल हुए। वे थे प्रो० गोकुललाल असावा (शाहपुरा), भोगीलाल पंड्या (डूंगरपुर), अभिन्न हरी (कोटा), मोहनलाल सुखाड़िया, प्रेमानारायण माथुर और भूरेलाल बया (उदयपुर) एवं बृजसुंदर शर्मा (बूंदी)। मंत्रिमंडल के निर्माण के तुरंत बाद महाराणा ने सर राममूर्ति को अपना सलाहकार नियुक्त किया। इस नियुक्ति के संबंध में राममूर्ति ने प्रधानमंत्री वर्मा को बताया कि वे न केवल राजस्थान सरकार के वरन् राजप्रमुख के भी सलाहकार हैं और इस हैसियत से उनकी स्थिति मंत्रिमंडल से ऊपर है। वर्मा ने राममूर्ति को एक पत्र द्वारा स्पष्ट किया कि उनकी यह स्थिति सरकार को अस्वीकार है और उन्हें खेद है कि सरकार उनके अनुभव और योग्यता का लाभ नहीं उठा सकेगी। वर्मा ने उनको यह भी बताया कि जिस कोठी में वे रह रहे हैं वह संयुक्त राजस्थान राज्य के प्रधानमंत्री के लिए सुरक्षित कर दी गयी

१. 'सरदार पटेल का पत्र-व्यवहार', जिल्द ७, पृ० ३९५-९६।
२. वही, पृ० ३९६।
३. 'पटेल का पं० नेहरू को पत्र', २० अप्रैल, १९४८, पृ० ३९६-९७।

है, अतः वे इस कोठी में नहीं रह सकेंगे।[1] रामामूर्ति वर्मा के इस पत्र से बड़े खिन्न हुए और उन्होंने राजप्रमुख को इस सारी स्थिति से अवगत कराया। राजप्रमुख ने मामले को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। राजप्रमुख ने १५ मई, १९४८ को सरदार पटेल को लिखा कि वे इस मामले में हस्तक्षेप करें और इस प्रकार का निर्णय लें जो संयुक्त राजस्थान और उनकी (महाराणा की) स्वयं की मर्यादा के अनुकूल हो। सरदार पटेल ने एक ओर वर्मा को रामामूर्ति को लिखे गए पत्र को वापस लेने की सलाह दी तो दूसरी ओर उन्होंने महाराणा को लिखा कि जहां तक कोठी खाली करने का प्रश्न है, रामामूर्ति इसे अपनी प्रतिष्ठा का विषय नहीं बना सकते और उन्हें कोठी खाली करनी होगी। रामामूर्ति की सलाहकार के पद पर नियुक्ति के संबंध में सरदार पटेल ने लिखा कि उन्हें खुशी है कि महाराणा को रामामूर्ति की योग्यता और अनुभव में पूर्ण विश्वास है। पर रामामूर्ति को यह समझ लेना चाहिए कि आज के इस प्रजातांत्रिक युग में प्रशासन चलाने के लिए केवल योग्यता ही नहीं वरन् विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के साथ निभने की कला भी आनी चाहिए। रामामूर्ति के साथ बार-बार ऐसी घटनाएं होना बताता है कि वह अपने-आपको इन नयी परिस्थितियों में नहीं ढाल पा रहे हैं। पटेल ने महाराणा को सलाह दी कि वे रामामूर्ति का ध्यान उसकी उपरोक्त कमियों की ओर आकर्षित करें, नहीं तो उन्हें आशंका है कि कहीं रामामूर्ति को लेकर महाराणा और मंत्रिमंडल के संबंध बिगड़ नहीं जाएं।[2] सरदार पटेल के इस पत्र के बाद जब तक संयुक्त राजस्थान रहा, न तो महाराणा ने सरकार के काम में दखल दिया और न रामामूर्ति ने ही।

कानून और व्यवस्था स्थापित

संयुक्त राजस्थान सरकार के सामने सबसे प्रमुख समस्या थी राज्य में न्याय और व्यवस्था स्थापित करने की। सत्ता-हस्तांतरण के संक्रामक काल में राष्ट्रविरोधी- और असामाजिक तत्त्व संगठित हो गए थे। क्षत्रिय-परिषद् के माध्यम द्वारा जागीर-दारों का एक सबल संगठन खड़ा हो गया था जो किसी भी कीमत पर कांग्रेस सरकार को उखाड़ फेंकने के लिए कटिबद्ध था। प्रांत में डाकेजनी और चोरियां पराकाष्ठा पर पहुंच गयी थीं। विभिन्न रियासतों से विरासत में प्राप्त पुलिस-दल के पास न तो सुयोग्य नेतृत्व था और न आवश्यक मात्रा में अस्त्र-शस्त्र। सरकार ने बंगाल के एक अनुभवी अधिकारी को 'इंस्पेक्टर-जनरल ऑफ़ पुलिस' नियुक्त किया और सरदार पटेल की सहायता से सुरक्षा मंत्रालय द्वारा यथेष्ट मात्रा में राइफलें और आधुनिक अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किए। पुलिस ने मंत्रिमंडल की प्रेरणा से राज्य में कुछ ही महीनों में सारे डाकुओं का सफाया कर दिया। यही नहीं, जहां भी असामाजिक तत्त्वों ने सर उठाया उन्हें कठोरतापूर्वक कुचल दिया गया।

१. 'सरदार पटेल का पत्र-व्यवहार', जिल्द ७, पृ० ४००-४०१।

२. वही, पृ० ४०१-४०२।

प्रगतिशील कदम

संयुक्त राजस्थान की सरकार ने विभिन्न इकाइयों में वसूल की जाने वाली तरह-तरह की लागतों और बेगार-प्रथा को समाप्त किया। जागीरी और कतिपय खालसा क्षेत्रों में प्रचलित लाटेकूंते की प्रथा को समाप्त किया एवं उसके स्थान पर नकद के रूप में लगान नियत कर किसानों को राहत पहुंचायी। प्रधानमंत्री वर्मा की यह मान्यता थी कि कि आई० सी० एस० देश की एक सामंती सेवा है और वह सदैव कांग्रेस की प्रगतिशील विचारधारा की विरोधी रही है। अतः जब रियासती मंत्रालय ने एल० सी० जैन नामक आई० सी० एस० अधिकारी को राजस्थान का मुख्य सचिव बनाकर उदयपुर भेजा तो श्री वर्मा ने श्री जैन को मुख्य सचिव का चार्ज देने से इनकार कर दिया। उन्होंने सरदार पटेल को स्पष्ट कहा कि यदि संयुक्त राजस्थान सरकार पर वे किसी आई० सी० एस० अधिकारी को थोपना चाहते हैं तो उन्हें संयुक्त राजस्थान के लिए कोई दूसरा प्रधानमंत्री खोजना होगा। उदारहृदयी सरदार पटेल ने वर्मा के आग्रह को स्वीकार करते हुए जैन की नियुक्ति के आदेश रद्द कर दिए।

संयुक्त राजस्थान में जो रियासतें शामिल हुईं वे एक प्रकार से भानमती का कुनबा थीं। उनमें एक ओर कुशलगढ़ की चीफशिप एक तहसील के समक्ष थी तो दूसरी ओर मेवाड़ जैसी १२ हजार वर्गमील की बड़ी रियासत थी। इन विभिन्न प्रकार की इकाइयों की सेवाओं का एकीकरण करना सचमुच ही एक कठिन कार्य था। परंतु मंत्रिमंडल ने ३ माह की अवधि के अंदर विभिन्न राज्यों की सभी प्रकार की सेवाओं का एकीकरण कर कमाल कर दिखाया।

क्रांतिकारी परिवर्तन

प्रांत की विभिन्न रियासतों के प्रजामंडलों ने जन्म से ही न केवल रियासतों के शासन का विरोध किया था वरन् जागीरदारी प्रथा के विरोध में भी संघर्ष किया था। रियासतें अब समाप्त हो चुकी थीं। अतः अब संयुक्त राजस्थान राज्य के मंत्रिमंडल ने जागीरदारी प्रथा को समाप्त करने का संकल्प उठाया। मंत्रिमंडल के इस प्रस्ताव से न केवल जागीरदारों वरन् भारत सरकार के रियासती विभाग में भी खलबली मच गयी। रियासती विभाग का कहना था कि जागीरदारी उन्मूलन अखिल भारतीय समस्या है। संयुक्त राजस्थान की नव-निर्मित सरकार के सामने पहले से ही अनेक समस्याएं हैं। अतः संयुक्त राजस्थान सरकार को जागीरदारी उन्मूलन जैसी विवादास्पद समस्याओं को हाथ में लेकर अपने-आपको जोखिम में नहीं डालना चाहिए। प्रधानमंत्री वर्मा ने भारत सरकार को उत्तर दिया कि कठिनाइयां तो सदैव बनी रहती हैं और बनी रहेंगी। हमें उन कठिनाइयों से घबराकर इस वांछनीय कार्यवाही से मुंह मोड़ना चाहिए।[1] वर्मा ने इस संबंध में सरदार पटेल को आश्वस्त कर एक आर्डिनेंस द्वारा एक ही झटके में सदियों पुरानी परंतु शक्तिशाली एवं सुदृढ़

१. शंकर सहाय सक्सेना, 'जो देश के लिए जिये', पृ० १६६।

सामंतवादी व्यवस्था का उन्मूलन कर दिया। सारे भारतवर्ष में जागीरदारी प्रथा को समाप्त करने वाला यह पहला राज्य था। जैसा बाद की घटनाओं से स्पष्ट हुआ यदि संयुक्त राजस्थान की सरकार उस समय यह कदम नहीं उठाती तो शायद राजस्थान तथा अन्य राज्यों में इस प्रथा को समाप्त करने में २० वर्ष लग जाते। हर कार्य के समाधान के अपने मनोवैज्ञानिक क्षण होते हैं। स्वतंत्रता की प्रभात-बेला में देश में सदियों पूर्व की कई समस्याएं क्षणों में सुलझ गयीं। यही बात जागीरदारी प्रथा पर भी लागू होती है। एक-दो साधारण घटनाओं को छोड़कर संयुवत राजस्थान में जागीरदारी उन्मूलन जैसा क्रांतिकारी कार्य शांतिपूर्वक संपन्न हो गया। देश के इतिहास की यह बेमिसाल घटना है।

संयुक्त राजस्थान में शामिल होने वाली मेवाड़ और बागड़ की प्राचीन रियासतों में सदियों से यह कहावत चली आती थी कि 'नया कुछ होगा नहीं, पुराना कुछ मिटेगा नहीं !' वर्मा मंत्रिमंडल ने अपने अल्पकालीन शासन में उक्त कथन को गलत साबित कर दिया। सत्य तो यह है कि संयुक्त राजस्थान राज्य की सरकार ने ११ महीने की अवधि में वह कर दिखाया जो किसी प्रांत या अन्य राज्य की सरकारें ११ वर्षों में भी नहीं कर पायीं। इस आश्चर्यजनक सफलता का श्रेय वर्मा के क्रांतिकारी नेतृत्व और उनके तपे-तपाए सहयोगियों को जाता है, जिन्होंने कठोर परिश्रम कर राजस्थान की सदियों से शोषित जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभाया।

रियासती विभाग की उलझन

रियासती जनता की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था अखिल भारतीय देशी राज्य लोक-परिषद् की राजपूताना प्रांतीय सभा २० जनवरी, १९४८ को एक प्रस्ताव द्वारा प्रदेश की छोटी-बड़ी सभी रियासतों को मिलाकर बृहद् राजस्थान राज्य के निर्माण की मांग को दोहरा चुकी थी। परंतु भारत सरकार के सामने प्रांतीय सभा के प्रस्ताव को असली जामा पहनाने में कई व्यावहारिक कठिनाइयां थीं। प्रदेश में जोधपुर, जयपुर और बीकानेर जैसी रियासतें थीं जो भारत सरकार द्वारा निर्धारित मापदंड के अनुसार अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रख सकती थीं। स्वतंत्र भारत के प्रथम गवर्नर-जनरल लॉर्ड माउंटबेटन ७ जनवरी, १९४८ को राजाओं को यह आश्वासन दे चुके थे कि विलय का सिद्धांत बड़ी रियासतों पर लागू नहीं होगा।[1] सरदार पटेल ने भी २० फरवरी, १९४८ के अपने पत्र में बीकानेर के महाराजा सार्दूलसिंह को यह विश्वास दिलाया था कि किसी बड़ी रियासत का विलय तभी किया जाएगा जबकि वहां की जनता और शासक दोनों समान रूप से विलय के पक्ष में होंगे।[2] प्रदेश की विभिन्न रियासतों में जागीरदार वर्ग राजपूत सभाओं को माध्यम बनाकर अपने-आपको संगठित कर रहा था। यह वर्ग स्थान-स्थान पर सशस्त्र रैलियां

१. वी० पी० मेनन, 'दी स्टोरी ऑफ इंटीग्रेशन ऑफ इंडियन स्टेट्स', पृ० १७२।
२. डॉ० करणीसिंह, 'बीकानेर राज्य के केंद्रीय शक्तियों से संबंध', पृ० ३३७।

निकालकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रहा था। इस वर्ग को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से राजाओं का समर्थन प्राप्त था। अतः भारत सरकार के जिम्मेदार हलकों में यह धारणा बनती जा रही थी कि राजस्थान की रियासतों के एकीकरण से सामंतवादी शक्तियों को संगठित होने का अवसर मिलेगा, जो न केवल प्रदेश के लिए, वरन् सारे देश के लिए घातक होगा।[1] इन परिस्थितियों में रियासती विभाग ने राजस्थान की रियासतों के एकीकरण की दिशा में फूंक-फूंक कर पैर रखने की नीति अपनायी।

केंद्र-शासित प्रांत

जैसाकि ऊपर बताया गया है, रियासती विभाग ने १८ मार्च को प्रदेश के पूर्वी भाग की चार रियासतों को मिलाकर मत्स्य-यूनियन और १८ अप्रैल को दक्षिण और दक्षिण-पूर्व की १० रियासतों को मिलाकर संयुक्त राजस्थान राज्य का निर्माण कर दिया था। मई, १९४८ में सिरोही का शासन-प्रबंध बंबई सरकार को सौंप दिया गया। प्रदेश की जोधपुर, जैसलमेर और बीकानेर की रियासतें थरपरकर के महान् रेगिस्तान का अंग थीं जिनका विकास करना उक्त रियासतों के आर्थिक स्रोतों की सीमा के बाहर था। फिर इन रियासतों की लंबी सीमाएं पाकिस्तान से छूती थीं जिससे इन रियासतों का सामरिक महत्त्व बढ़ गया था। इन सब कारणों से रियासती विभाग ने उक्त तीनों रियासतों को काठियावाड़ की रियासतों से मिलाकर एक केंद्र-शासित राज्य बनाने की योजना बनायी।[2] ऐसा लगने लगा जैसे कि राजस्थान की जनता का बृहद् राजस्थान राज्य के निर्माण का स्वप्न छिन्न-भिन्न हो जाएगा। रियासती विभाग की इस योजना का प्रदेश के नेताओं ने डटकर विरोध किया। फलतः रियासती विभाग को अपनी यह योजना त्याग देनी पड़ी।

बृहद् राजस्थान की मांग

अब रियासती विभाग के सामने बृहद् राजस्थान राज्य के निर्माण के सिवाय कोई रास्ता नहीं था। मई, १९४८ में मध्यभारत-यूनियन बन चुकी थी, जिसमें ग्वालियर और इंदौर जैसी बड़ी रियासतें मिला दी गयी थी। देश की प्राचीनतम एवं महत्त्वपूर्ण रियासत उदयपुर अप्रैल, १९४८ में संयुक्त राजस्थान राज्य का अंग बन चुकी थी। ऐसी स्थिति में प्रदेश की शेष ४ रियासतों—जोधपुर, जैसलमेर, बीकानेर और जयपुर को एकीकरण के सिद्धांत से मुक्त रखना व्यावहारिक नहीं था। फिर प्रदेश में बृहद् राजस्थान के निर्माण की मांग जोर पकड़ती जा रही थी। देशी राज्य लोक-परिषद् के नेता तो बृहद् राजस्थान के निर्माण के लिए केंद्रीय नेताओं पर अपना दबाव जारी रखे हुए थे ही, समाजवादियों ने भी राममनोहर लोहिया के नेतृत्व में

१. 'सरदार पटेल का पत्र-व्यवहार', जिल्द ७, पृ० ४०८-४११।
२. वी० पी० मेनन, 'दी स्टोरी ऑफ इंटिग्रेशन ऑफ इंडियन स्टेट्स', पृ० २६३।

राजस्थान आंदोलन समिति की स्थापना कर इस मांग को और अधिक बल दे दिया। समिति ने दिसंबर, १९४८ में एक प्रस्ताव द्वारा मांग की कि भूतपूर्व राजपूताना एजेंसी में आने वाली सभी इकाइयों को मिलाकर जिनमें सिरोही और अजमेर भी शामिल हों, राजस्थान राज्य का निर्माण किया जाए।[1]

'राजपूत-प्रभुत्व' का भय

अस्तु रियासती विभाग के सचिव वी० पी० मेनन ने जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर और जयपुर को राजस्थान-यूनियन में लाने के लिए जयपुर के दीवान सर वी० टी० कृष्णमाचारी और बीकानेर के दीवान सी० एस० वेंकटाचारी से विचार-विनिमय किया। कृष्णमाचारी ने प्रश्न उठाया कि क्या राजपूताना की सभी रियासतों की एक ही यूनियन बनाना देश के हित में होगा? उन्होंने कहा कि इस समय पंजाब में सिक्ख-प्रभुत्व (हैजेमनी) की समस्या बनी हुई है। यदि बृहद् राजस्थान बन गया तो यहां पर राजपूत-प्रभुत्व (हैजेमनी) की समस्या उठ खड़ी होगी। कृष्णमाचारी ने सुझाव दिया कि राजपूताना की रियासतों का एकीकरण एक के बजाय तीन इकाइयों में करना चाहिए। पहली इकाई वर्तमान संयुक्त राजस्थान यूनियन हो। दूसरी इकाई जयपुर, अलवर और करौली को मिलाकर बनायी जाय। तीसरी इकाई जोधपुर, जैसलमेर और बीकानेर के विलय से बने। भरतपुर और धौलपुर की जाट रियासतों को उत्तर प्रदेश में मिला दिया जाए। मेनन और वेंकटाचारी ने कृष्णमाचारी की इस योजना से असहमति प्रकट करते हुए कहा कि प्रदेश में व्याप्त जन-भावनाओं और विशेष कर समाजवादियों द्वारा शुरू किए गए आंदोलन को ध्यान में रखते हुए राजपूताना की रियासतों का एक ही इकाई के रूप में एकीकरण करने के सिवाय कोई रास्ता नहीं है। सरदार पटेल ने भी मेनन और वेंकटाचारी की राय से सहमति प्रकट की।[2]

बड़े राज्यों के विलय का प्रश्न

६ दिसंबर, १९४८ को मेनन ने बृहद् राजस्थान के निर्माण के संबंध में बीकानेर में जोधपुर, जयपुर और बीकानेर के महाराजाओं से चर्चा की। महाराजा बीकानेर ने प्रश्न उठाया कि ये रियासतें भारत सरकार द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार स्वतंत्र इकाइयों के रूप में रहने की हकदार हैं, फिर उन पर राजस्थान में विलय के लिए दबाव क्यों? महाराजा के तर्क में वजन था। पर समय महाराजाओं के साथ नहीं था। मेनन तीनों राजाओं से उक्त रियासतों को राजस्थान में विलय करने की अनौपचारिक स्वीकृति प्राप्त करने में सफल हो गया।[3] जैसलमेर का प्रशासन भारत

१. 'सरदार पटेल का पत्र-व्यवहार', जिल्द ७, पृ० ४२४-२८।
२. वही, जिल्द ७, पृ० ४२८-३०।
३. करणीसिंह, 'बीकानेर राज्य का केंद्रीय शक्तियों से संबंध', पृ० ३४०-४४।

सरकार पहले ही अपने हाथ में ले चुकी थी।

राजस्थान का भावी ढांचा

सरदार वल्लभभाई पटेल ने १४ जनवरी, १९४९ को उदयपुर में एक सार्वजनिक सभा में घोषणा की कि चारों रियासतों के राजाओं ने अपनी रियासतों को सिद्धांततः राजस्थान में विलय करना स्वीकार कर लिया है। इस घोषणा के साथ ही साथ कुछ अहम सवाल पैदा हुए। राजस्थान का राजप्रमुख और मुख्यमंत्री कौन हो? राजधानी कहां बने? इन प्रश्नों का हल ढूंढ़ने के लिए मेनन ने ३ फरवरी, १९४९ को राजस्थान कांग्रेस के अध्यक्ष गोकुलभाई भट्ट, संयुक्त राजस्थान उदयपुर के प्रधानमंत्री माणिक्यलाल वर्मा, जोधपुर के प्रधानमंत्री जयनारायण व्यास और जयपुर के मुख्यमंत्री हीरालाल शास्त्री की एक बैठक दिल्ली में बुलायी। इस बैठक में सर्वसम्मति से निर्णय लिया गया कि जयपुर के महाराजा सवाई मानसिंह को जीवनपर्यंत राजस्थान का राजप्रमुख बनाया जाय एवं उदयपुर के राजवंश की मान-मर्यादा को ध्यान में रखते हुए महाराणा भूपालसिंह को महाराजप्रमुख का सम्मानीय पद दिया जाए। जब मंत्रिमंडल के निर्माण का प्रश्न आया तो रियासती विभाग ने प्रस्ताव रखा कि वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखते हुए एक ऐसा मंत्रिमंडल बनाया जाय जिसमें जनप्रतिनिधियो के अलावा अनुभवी अधिकारी भी शामिल हो जाएं। चारों नेताओं ने रियासती विभाग के इस प्रस्ताव का कड़ा विरोध किया। रियासती विभाग को अपना प्रस्ताव वापस लेना पड़ा। रियासती विभाग ने नेताओं की यह मांग स्वीकार कर ली कि मंत्रिमंडल में केवल जनप्रतिनिधि शामिल होंगे और आवश्यक हुआ तो एक-दो जागीरदारों के प्रतिनिधि शामिल कर लिये जाएंगे। दूसरी ओर नेताओं ने रियासती विभाग का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि मंत्रिमंडल को सलाह देने के लिए भारत सरकार दो या तीन सलाहकार नियुक्त करेगी। नेताओं ने यह भी मान लिया कि मंत्रिमंडल और सलाहकारों में जिन मामलों के संबंध में मतभेद होगा उन मामलों में भारत सरकार का निर्णय अंतिम होगा।[1]

शास्त्री मुख्यमंत्री

राजस्थान के प्रधानमंत्री[2] पद के लिए जयपुर के मुख्यमंत्री हीरालाल शास्त्री उम्मीदवार थे। वे प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष गोकुलभाई भट्ट के सहयोग से रियासती विभाग को आश्वस्त कर चुके थे कि राजस्थान कांग्रेस में वे ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो भावी राजस्थान जैसे बड़े और पिछड़े हुए राज्य का प्रशासन सुचारु रूप से चला सकते हैं। शास्त्री निःसंदेह एक कुशल प्रशासक थे। उनकी ईमानदारी संदेह से परे थी। पर वे अक्खड़ थे। गत १० वर्षों में सक्रिय राजनीति में रहकर भी वे अपने-

१. 'सरदार वल्लभभाई पटेल का पत्र-व्यवहार', जिल्द ७, पृ० ४४०।
२. २६ जनवरी, १९५० के बाद राज्यों के प्रधानमंत्री मुख्यमंत्री के नाम से जाने जाने लगे।

आपको जनतांत्रिक ढांचे में ढाल नहीं पाए थे। राजस्थान कांग्रेस के आम कार्यकर्ता का मत जयनारायण व्यास को मुख्यमंत्री बनाने के पक्ष में था। परंतु रियासती विभाग व्यास को यह भार नहीं सौंपना चाहता था, बल्कि वह तो व्यास और उनके साथियों के विरुद्ध अपने पद का दुरुपयोग करने एवं अन्य तथाकथित आरोपों को लेकर मुकदमे चलाने की तैयारी कर रहा था। माणिक्यलाल वर्मा मुख्यमंत्री पद की दौड़ से यह कहकर अलग हो गए कि भविष्य में वे कोई सरकारी पद ग्रहण नहीं करेंगे। वर्मा और व्यास में मुख्यमंत्री-पद के लिए गोकुलभाई के नाम पर सहमति हो गयी। वर्मा ने इस संबंध में सरदार पटेल को सूचित कर दिया।[1] परंतु रियासती विभाग ने स्पष्ट रूप से संकेत दे दिया कि विधान-सभा की आम मौजूदगी में राजस्थान प्रशासन की जिम्मेदारी भारत सरकार पर है और वह प्रधानमंत्री पद के लिए हीरालाल शास्त्री को ही उपयुक्त समझती है। अब राजस्थान कांग्रेस के नेतृत्व को शास्त्री को प्रधानमंत्री पद के लिए स्वीकार करने के सिवाय कोई चारा नहीं था। फरवरी, १९४९ में राजस्थान प्रांतीय कांग्रेस की एक विशेष बैठक दिल्ली में हुई। इस बैठक में शास्त्री को प्रधानमंत्री का भार सौंपने संबंधी निर्णय का जमकर विरोध हुआ। कांग्रेस की इस लंबी बैठक में कई दिनों के घोर मंथन के बाद प्रदेश कांग्रेस का नेतृत्व शास्त्री को प्रधानमंत्री बनाने संबंधी प्रस्ताव पास करवाने में सफल हो गया।[2]

राजधानी का प्रश्न

राजस्थान की राजधानी के चुनाव का प्रश्न भी उतना ही जटिल था जितना कि राजस्थान के प्रधानमंत्री चुनने का। राजस्थान की जनता में आम भावना यह थी कि अजमेर को राजस्थान की राजधानी बना दिया जाए। पर अजमेर कांग्रेस का नेतृत्व इस समय संकीर्णता के ऊपर नहीं उठ सका। वहां के मुख्यमंत्री हरिभाऊ उपाध्याय ने अजमेर को राजस्थान में मिलाने का विरोध किया। फलतः अजमेर को राजस्थान की राजधानी बनाने का प्रस्ताव अपने-आप ही समाप्त हो गया। अंत में नेताओं ने यह प्रश्न सरदार पटेल के निर्णय पर छोड़ दिया। पटेल ने राजस्थान की राजधानी के चुनाव के लिए एक आई० सी० एस० अधिकारी के नेतृत्व में विशेषज्ञ समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने जयपुर को राजधानी बनाने के पक्ष में राय दी। सरदार पटेल ने समिति की राय को स्वीकार कर लिया। इस निर्णय से कई भौंहें चढ़ीं। आम तौर से कहा जाने लगा कि जयपुर का राजप्रमुख, जयपुर का ही प्रधानमंत्री और राजधानी भी जयपुर ही। यद्यपि गुण-दोष के आधार पर जयपुर को राजस्थान की राजधानी बनाने का निर्णय सभी दृष्टि से युक्तिसंगत

१. शंकर सहाय सक्सेना, 'जो देश के लिए जिये', पृ० १७०।
२. 'राजस्थान प्रांतीय कांग्रेस कमेटी बुलेटिन', वर्ष २, पत्रांक ४।

था, तथापि क्षेत्रीय भावनाओं के आवेश में राजस्थान के नेताओं ने इस निर्णय को विवाद का रूप दे दिया। कुछ वर्षों के बाद इन्हीं नेताओं को यह कहते हुए सुना गया कि सरदार पटेल का जयपुर को राजधानी बनाने का निर्णय सोलह आने सही था।

दैवी संकट

बृहद् राजस्थान की अभी विधिवत् स्थापना भी नहीं हो पायी थी कि उसे राजनीतिक संकट ही नहीं, दैवी संकटों से भी गुजरना पड़ा। महाराजा जयपुर बृहद् राजस्थान के निर्माण संबंधी वार्ता के अंतिम दौर में भाग लेने के लिए दिल्ली प्रस्थान करने वाले थे कि वे एक भयंकर वायुयान दुर्घटना में फंस गए। वायुयान जलकर भस्म हो गया और महाराजा गंभीर रूप से घायल हो गए। फलस्वरूप यह वार्ता-क्रम कुछ दिनों के लिए स्थगित रहा। अंततोगत्वा जब बृहद् राजस्थान राज्य के निर्माण का निर्णय हो गया तो सरदार पटेल २९ मार्च, १९४९ को उद्घाटन हेतु एक विशेष वायुयान द्वारा दिल्ली से जयपुर के लिए रवाना हुए। यहां भी दुर्भाग्य ने इस नये राज्य का पीछा नहीं छोड़ा। वायुयान में खराबी हो गयी। उसे जयपुर से कुछ मील दूर एक शुष्क नदी के पेटे में उतरना पड़ा। चालक की होशियारी से संभावित गंभीर दुर्घटना टल गयी। परंतु वायुयान का संबंध शेष भारत से कट गया। महाराजा जयपुर, वी० पी० मेनन और राजस्थान के नेता पटेल के जयपुर आगमन का इंतजार करते रहे। जब काफी समय बीत जाने के बावजूद पटेल का वायुयान दिल्ली से जयपुर नहीं पहुंचा तो सारे भारत में खलबली मच गयी। नेहरू ने मेनन को तुरंत दिल्ली बुलाया। जब मेनन दिल्ली पहुंचा तो पं० नेहरू ने उसे सूचित किया कि सरदार पटेल सुरक्षित जयपुर पहुंच गए हैं। उसी समय अर्थात् रात्रि के १० बजे आकाशवाणी के एक विशेष बुलेटिन ने जब यह शुभ संवाद घोषित किया तो सारे देश ने राहत की सांस ली।

समारोह से बहिर्गमन

राजपूताना प्रांतीय कांग्रेस कमेटी ने २९ मार्च, १९४९ की अपनी बैठक में राजस्थान के प्रधानमंत्री के पद पर शास्त्री की नियुक्ति के प्रस्ताव पर किसी न किसी तरह अपनी मोहर तो लगा दी पर इससे प्रांतीय कांग्रेस में व्याप्त अविश्वास के वातावरण का अंत नहीं हुआ और न इस वातावरण को सुधारने की ओर कोई प्रयत्न ही हुए। इसके विपरीत ३० मार्च, १९४९ को सरदार पटेल द्वारा नये राज्य के उद्घाटन के समय जाने-अनजाने में एक ऐसी घटना घटी जो प्रांतीय कांग्रेस में गृह-युद्ध का निमित्त बन गयी। बात यह हुई कि इस ऐतिहासिक समारोह के अवसर पर प्रांत के सभी राजनेताओं को आमंत्रित किया गया। इनमें जोधपुर के प्रधानमंत्री व्यास, संयुक्त राजस्थान उदयपुर के प्रधानमंत्री वर्मा एवं अन्य लोकप्रिय मंत्री भी थे। जब

ये नेता समारोह-स्थल पर पहुंचे तो उन्होंने देखा कि समारोह भवन में बैठने के लिए की गयी व्यवस्था में उनकी मान-मर्यादा का ख्याल नहीं रखा गया है और उनके लिए राजकीय अधिकारियों और जागीरदारों के पीछे बैठने की व्यवस्था की गयी है। माणिक्यलाल वर्मा, गोकुललाल असावा, द्वारकादास पुरोहित, मथुरादास माथुर, मोहनलाल सुखाड़िया आदि सभी नेता सभा-स्थल से बहिर्गमन कर गए। इस घटना से राजस्थान के राजनीतिक क्षितिज पर पुनः कटुता और वैमनस्यता के बादल मंडराने लगे।

मंत्रिमंडल का निर्माण

शास्त्री के सम्मुख अब मंत्रिमंडल के निर्माण का सवाल था। उन्होंने सबसे पहले जयनारायण व्यास को मंत्रिमंडल में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया। व्यास ने मंत्रिमंडल में शामिल होने से इनकार कर दिया और सर्वश्री मथुरादास और द्वारकादास पुरोहित को मंत्रिमंडल में शामिल करने का सुझाव दिया। शास्त्री ने व्यास का यह सुझाव ठुकरा दिया। शास्त्री ने वर्मा से टेलीफोन पर कहा कि मेवाड़ से वे जिनके भी नाम सुझायेंगे उनको वे मंत्रिमंडल में शामिल कर लेंगे। वर्मा ने उत्तर दिया कि पहले वे इस संबंध में व्यास जी की सलाह मान लें। शास्त्री ने कहा कि उनके लिए व्यास द्वारा सुझाये गड़ व्यक्तियों को मंत्रिमंडल में शामिल करना संभव नहीं है। इस पर वर्मा ने उत्तर दिया कि यदि ऐसा है तो इस संबंध में हम जोधपुर वालों का साथ देंगे।[1] इस प्रकार शास्त्री को मंत्रिमंडल-निर्माण में राजस्थान में दोनों वरिष्ठ नेताओं का सहयोग प्राप्त नहीं हो सका। परंतु इसके लिए केवल शास्त्री को ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता। शास्त्री ने ७ अप्रैल, १९४९ को अपना मंत्रिमंडल बनाया जिसमें सर्वश्री सिद्धराज ढड्ढा (जयपुर), प्रेमनारायण माथुर और भूरेलाल बया (उदयपुर), फूलचंद बापणा, नृसिंह कछावा और रावराजा हणूतसिंह (जोधपुर), रघुवरदयाल गोयल (बीकानेर) और वेदपाल त्यागी (कोटा) को शामिल किया गया। यद्यपि मंत्रिमंडल के सभी सदस्य व्यक्तिगत रूप से चरित्रवान् एवं योग्य थे, तथापि इनमें से अधिकांश ऐसे थे जिनकी जड़ें कांग्रेस संगठन में गहरी नहीं थीं। मंत्रिमंडल की इस कमजोरी की कीमत शास्त्री को निकट भविष्य में ही चुकानी पड़ी। पर यह सर्वथा एक अलग कहानी है।

'मत्स्य-संघ' का विलय

जैसाकि पहले बताया गया है, १८ मार्च, १९४८ को अलवर, भरतपुर, धौलपुर और करौली राज्यों को मिलाकर 'मत्स्य-संघ' की स्थापना की गयी। परंतु शुरू से ही यह स्पष्ट था कि यह राज्य आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी नहीं। अतः यह प्रश्न

१. शंकर सहाय सक्सेना, 'जो देश के लिए जिये', पृ० १७३।

उठा कि इस राज्य को यू० पी० में मिलाया जाए या राजस्थान में ? अलवर और करौली का जनमत स्पष्ट रूप से राजस्थान में मिलने के पक्ष में था। परंतु भरतपुर और धौलपुर की स्थिति स्पष्ट नहीं थी। इन दोनों राज्यों की जनता की राय जानने की दृष्टि से सरदार पटेल ने शंकरराव देव की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण किया। समिति ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि इन राज्यों की अधिकतर जनता राजस्थान में शामिल होने के पक्ष में है। भारत सरकार ने शंकरराव देव समिति की सिफारिशों को मान लिया और 'मत्स्य-संघ' १५ मई, १९४९ को राजस्थान का अंग बन गया।

सिरोही का प्रश्न

ब्रिटिश शासन में राजपूताना के अन्य राज्यों की तरह सिरोही राज्य भी 'राजपूताना एजेंसी' के अंतर्गत था। परंतु देश के आजाद होने के कुछ समय बाद रियासती मंत्रालय ने सिरोही को 'राजपूताना एजेंसी' से हटाकर 'वेस्टर्न इंडिया एवं गुजरात स्टेट्स एजेंसीज' में हस्तांतरित कर दिया। रियासती विभाग के इस निर्णय सिरोही की जनता ने विरोध किया। फलस्वरूप जब वेस्टर्न इंडिया एवं गुजरात स्टेट्स एजेंसी की रियासतों को बंबई राज्य में मिलाने का निर्णय लिया गया तो सिरोही को अलग छोड़ दिया गया। रियासती मंत्रालय के सचिव वी० पी० मेनन ने राजस्थान कांग्रेस कमेटी के तत्कालीन अध्यक्ष और सिरोही राज्य के सलाहकार गोकुलभाई भट्ट से पूछा कि सिरोही को बंबई राज्य में मिलाया जाए या राजस्थान में ? गोकुलभाई भट्ट ने कहा कि सिरोही के भाग्य के संबंध में इस समय एक या दूसरी तरह निर्णय करना उपयुक्त नहीं है। और फिलहाल इसे केंद्रीय शासन के अंतर्गत ले लिया जाए।[1] तदनुसार रियासती मंत्रालय ने सिरोही को केंद्र-शासित क्षेत्र बना दिया। पर इसके ठीक दो माह बाद भारत सरकार ने अपनी ओर से शासन चलाने के लिए सिरोही को बंबई सरकार को सौंप दिया। भारत सरकार के इस कदम से जनता को यह संदेह हो गया कि भारत सरकार की यह कार्यवाही सिरोही को धीरे-धीरे गुजरात में मिलाने की है।

नेहरू और सिरोही

१८ मार्च, १९४८ को पं० जवाहरलाल नेहरू संयुक्त राजस्थान राज्य का उद्घाटन करने के लिए उदयपुर गए। इस अवसर पर प्रांत-भर के कांग्रेस कार्यकर्ताओं ने उनसे सिरोही को राजस्थान में मिलाने की मांग की। पं० जवाहरलाल नेहरू ने तुरंत ही सरदार पटेल को लिखा कि सिरोही का राजस्थान से ३०० वर्ष पुराना संबंध है और भाषा तथा सभी दृष्टि से वह राजस्थान का अंग है। उन्होंने पटेल को

१. 'स्टोरी ऑफ़ इंटिग्रेशन ऑफ इंडियन स्टेट्स', पृ० २७०।

सलाह दी कि इस प्रकार के मामलों में साधारणतया जनता की इच्छा सर्वोपरि मानी जानी चाहिए।[1] इस प्रकार पं० नेहरू ने स्पष्ट संकेत दे दिया कि सिरोही राजस्थान को दिया जाना चाहिए।

सिरोही की बन्दरबांट

सरदार पटेल ने २२ अप्रैल, १९४८ को पं० नेहरू को दिए गए अपने उत्तर में लिखा कि मैंने सिरोही के संबंध में लोगों से विचार-विमर्श किया है और सभी मुद्दों को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय लिया है कि सिरोही गुजरात में मिलना चाहिए। राजस्थान वाले चाहते हैं गोकुलभाई भट्ट को न कि सिरोही को। उनकी यह मांग सिरोही को राजस्थान में मिलाए बिना भी पूरी की जा सकती है।[2] सरदार पटेल के इस उत्तर का आधार जयपुर राज्य के तत्कालीन मुख्यमंत्री और राजस्थान के भावी मुख्यमंत्री हीरालाल शास्त्री का १० अप्रैल, १९४९ का वह तार मालूम होता है, जिसमें उन्होंने सरदार पटेल को लिखा था कि उदयपुर के राजस्थान संघ में शामिल होने के बाद यह आवश्यक हो गया कि सिरोही भी राजस्थान में शामिल हो। शास्त्री ने तार में आगे कहा कि हमारे लिए सिरोही का अर्थ है गोकुलभाई, जिनकी कि राजस्थान को आवश्यकता है।[3] चतुर सरदार ने जनवरी, १९५० में माउंट आबू सहित सिरोही का महत्त्वपूर्ण भाग तो गुजरात प्रांत में दिया और गोकुलभाई के गांव हांथल सहित सिरोही का शेष भाग राजस्थान में मिला दिया। इस प्रकार शास्त्री की मांग के अनुसार सरदार पटेल ने गोकुलभाई को राजस्थान को सौंप दिया। इस निर्णय के फलस्वरूप सिरोही में व्यापक जन-आंदोलन उठ खड़ा हुआ। यह आंदोलन तब समाप्त हुआ जब भारत सरकार ने अपने निर्णय पर पुनर्विचार का आश्वासन दिया।[3]

आबू और अजमेर राजस्थान में

राजस्थान के साथ किए गए अन्याय का निराकरण १ नवंबर, १९५६ को हुआ, जब 'राज्य पुनर्गठन आयोग' की सिफारिश के आधार पर सिरोही का माउंट आबू वाला इलाका पुनः गुजरात से निकालकर राजस्थान में मिलाया गया। इस आयोग की सिफारिशों के आधार पर अजमेर राज्य भी राजस्थान का अंग बना। इस प्रकार राजस्थान-निर्माण की जो प्रक्रिया १८ मार्च, १९४७ को कोटा में शुरू हुई, वह १ नवंबर, १९५६ को अजमेर और आबू के राजस्थान में विलय के साथ संपूर्ण हुई। राजस्थान का यह स्वरूप १९ सलामती रियासतें, दो चीफशिफ और

१. 'सरदार पटेल का पत्र-व्यवहार', जिल्द ७, पृ० ३९५।
२. वही, पृ० ३९६।
३. वही, पृ० ३९७।

अजमेर प्रांत के विलय से बना। इस राज्य का क्षेत्रफल ३३६७०० वर्ग किलोमीटर, जनसंख्या १ करोड़ ६० लाख और वार्षिक आय लगभग २० करोड़ थी।

'गृह-युद्ध' की शुरुआत

जैसा कि ऊपर बताया गया है राजधानी और प्रधान के चुनाव एवं मंत्रिमंडल के निर्माण के प्रश्न को लेकर राजस्थान कांग्रेस के नेताओं में गंभीर मतभेद उत्पन्न हो गए थे। बृहद् राजस्थान के उद्घाटन समारोह के समय वर्मा और व्यास जैसे नेताओं के साथ हुए अपमान से स्थिति और भी विषद हो गयी। इस कटुतापूर्ण वातावरण में शास्त्री और उनके सहयोगियों ने ७ अप्रैल, १९४९ को रामबाग महल में मंत्री-पद की शपथ ग्रहण की। मंत्रिमंडल को पद-ग्रहण किए हुए अभी कुछ दिन ही हुए थे कि १९ अप्रैल, १९४९ को सर्वश्री जयनारायण व्यास, माणिक्यलाल वर्मा, गोकुललाल असावा तथा मीठालाल त्रिवेदी (काका) ने मंत्रिमंडल निर्माण संबंधी नीति से मतभेद जाहिर करते हुए प्रांतीय कांग्रेस की कार्य-समिति से इस्तीफा दे दिया।

गोकुलभाई और शास्त्री पर अविश्वास

३० अप्रैल को प्रांतीय कांग्रेस के ५६ सदस्यों ने प्रांतीय कांग्रेस के अध्यक्ष गोकुलभाई भट्ट एवं राजस्थान के प्रधानमंत्री हीरालाल शास्त्री के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए प्रांतीय कांग्रेस की बैठक बुलाने की मांग की। यह बैठक ९ जून, १९४९ को हुई। इस बैठक की सदारत प्रो० गोकुललाल असावा ने की। प्रांतीय कांग्रेस ने इस बैठक में ३ के विरुद्ध ७९ मतों से प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष गोकुलभाई भट्ट और राजस्थान सरकार के प्रधानमंत्री हीरालाल शास्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दिया।[1] दूसरी ओर गोकुलभाई भट्ट ने प्रांतीय कांग्रेस की बैठक ११ जून को बुलायी। इस बैठक की अध्यक्षता करते हुए श्री भट्ट ने कहा कि मंत्रिमंडल के नेता के विरुद्ध अविश्वास पेश करना प्रांतीय कांग्रेस के अधिकार में नहीं है एवं जहां तक उनके प्रति अविश्वास प्रस्ताव का सवाल है, वे अध्यक्ष पद से अपना त्याग-पत्र प्रस्तुत कर चुके हैं। कांग्रेस-कमेटी ने गोकुलभाई भट्ट का त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया और उसके स्थान पर जयनारायण को अध्यक्ष चुन लिया। इसके बाद कांग्रेस कमेटी ने १ के विरुद्ध ८८ मतों से एक प्रस्ताव द्वारा प्रधानमंत्री शास्त्री तथा अन्य कांग्रेस मंत्रियों को आदेश दिया कि वे अपने-अपने पदों से त्याग-पत्र दे दें।[2] जयनारायण व्यास ने जब प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के उक्त निर्णय की सूचना सरदार पटेल को भेजी तो सरदार इस कार्यवाही से अत्यधिक खिन्न हुए और उन्होंने १३ जून, १९४९ को एक तार द्वारा श्री जयनारायण व्यास को सूचित

१. 'राजस्थान प्रांतीय कांग्रेस बुलेटिन', वर्ष २, पत्रक ६।
२. वही।

किया कि "हीरालाल शास्त्री प्रधानमंत्री की हैसियत से कांग्रेस कमेटी के प्रति उत्तरदायी नहीं हैं। वे प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के नेता चुने जाने के कारण अथवा कांग्रेस कमेटी के आदेशानुसार प्रधानमंत्री नहीं बने हैं बल्कि रियासती विभाग की पसंद के कारण बने हैं। अत: वे जब तक हमारा विश्वास नहीं खो देंगे तब तक प्रधानमंत्री बने रहेंगे!" सरदार पटेल ने अपने तार में व्यास को यह भी संकेत दिया कि उनको इस कार्यवाही के नतीजे भुगतने होंगे।

पटेल से टक्कर

सरदार पटेल के तार से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने के लिए २२ जून, १९४९ को प्रांतीय कांग्रेस कार्य-समिति की दिल्ली में बैठक हुई। इस बैठक में न केवल तार की भाषा और तर्ज को बल्कि उसमें व्यक्त विचारों को आपत्तिजनक ठहराया गया। समिति ने अपने एक लंबे प्रस्ताव में कहा कि धारा-सभा के अभाव में प्रधानमंत्री प्रांतीय कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी है, विशेष तौर पर जबकि प्रधानमंत्री का चुनाव और मंत्रिमंडल का गठन प्रांतीय कांग्रेस की सहमति के आधार पर किया गया हो।[1] प्रांतीय कांग्रेस के इस प्रस्ताव ने आग में घी का काम किया। सर्वश्री जयनारायण व्यास, द्वारकादास पुरोहित और मथुरादास माथुर पर कतिपय आरोपों को लेकर मुकदमा चलाने की तैयारियां शुरू हो गयीं। राज्य सरकार ने आर्डिनेंस द्वारा एक विशेष अदालत की स्थापना की जिसके सम्मुख उक्त तीनों नेताओं के विरुद्ध चालान प्रस्तुत किए गए। आर्डिनेंस में एक विशेष प्रावधान यह रखा गया कि अदालत के सम्मुख प्रस्तुत चालान में अभियुक्तों पर जो आरोप लगाए गए हैं उन आरोपों की असत्यता सिद्ध करने का भार अभियुक्तों पर होगा। अभियुक्तों ने विशेष अदालत में चुनौती दी कि यह आर्डिनेंस अवैध है। अदालत ने अभियुक्तों का यह तर्क अस्वीकार कर दिया। इस बीच देश में नया संविधान लागू हो गया। अभियुक्तों ने अविलंब ही राजस्थान उच्च न्यायालय की शरण ली। उच्च न्यायालय ने अभियुक्तों का तर्क स्वीकार करते हुए कार्यवाही को रोकने का आदेश दिया।

राजनीति में मोड़

यह सब कुछ हो ही रहा था कि देश में राजनीतिक परिस्थितियों ने एक नया मोड़ लिया। अखिल भारतीय कांग्रेस के पद के लिए चुनाव होना था। इस पद के लिए दो उम्मीदवार थे—आचार्य कृपलानी और पुरुषोत्तमदास टंडन। आचार्य कृपलानी को पं० नेहरू का और पुरुषोत्तमदास टंडन को सरदार पटेल का समर्थन प्राप्त था। राजस्थान कांग्रेस ने टंडन का समर्थन किया। चुनाव में टंडन विजयी हुए। इस घटना का राजस्थान की राजनीति पर प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था।

१. 'रा० प्रा० कांग्रेस बुलेटिन', वर्ष २, पत्रांक ६।

सरदार पटेल ने समझ लिया कि जनमत वर्मा और व्यास के पक्ष में है । वे इस बात से भी प्रभावित हुए कि प्रांतीय कांग्रेस ने दिल खोलकर टंडन का समर्थन किया । उन्होंने शास्त्री को प्रधानमंत्री पद से हटाने का निर्णय किया । इस संबंध में उन्होंने शास्त्री को बुलाया । पर वे सरदार से न मिलकर पं० नेहरू से मिले । इससे सरदार की नाराजगी और बढ़ गयी । परंतु इसी बीच सरदार पटेल बीमार हो गए और वे अपने निर्णय को अमली जामा पहनाने के पूर्व ही इस असार संसार से चल बसे । अब यह जिम्मेदारी अकेले पं० नेहरू के कंधों पर आ गयी । उन्होंने शास्त्री को तुरंत त्याग-पत्र देने का आदेश दिया । शास्त्री ने इस आदेश की पालना में टालमटोली की । उस समय प्रचलित एक अफवाह के अनुसार किसी ज्योतिषी ने शास्त्री को यह सलाह दी थी कि वे अपना त्याग-पत्र कुछ दिनों के लिए टाल दें तो उनका एक लंबे समय तक प्रधानमंत्री बने रहना निश्चित है । परंतु रियासती विभाग के आदेश पर जब राजप्रमुख ने शास्त्री को प्रधानमंत्री पद से अलग करने की धमकी दी तो शास्त्री के सामने इस्तीफा देने के सिवाय कोई चारा नहीं रह गया। उन्होंने ३ जनवरी, १९५१ को अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया । शास्त्री मंत्रिमंडल के स्थान पर तीन आई० सी० एस० अधिकारियों का अस्थायी मंत्रिमंडल बनाया गया ।

व्यास मुख्यमंत्री बने

शास्त्री मंत्रिमंडल हट तो गया पर जयनारायण व्यास के मंत्रिमंडल बनाने का मार्ग अभी प्रशस्त नहीं हुआ । भारत सरकार चाहती थी कि व्यास अपने मंत्रिमंडल में कुछ आई० सी० एस० अधिकारियों और जागीरदारों को शामिल करें । प्रांतीय कांग्रेस का नेतृत्व इसके लिए तैयार नहीं था । लगभग चार महीने की राजनीतिक सरगर्मी के बाद रियासती विभाग ने जयनारायण व्यास को अपना मंत्रिमंडल बनाने की सहमति दी । यह सर्वविदित है कि व्यास को राजस्थान का मुख्यमंत्री बनाने के लिए माणिक्यलाल वर्मा को अथक परिश्रम करना पड़ा । पर शायद यह बहुत कम लोगों को विदित है कि यदि प्रो० गोकुललाल असावा केंद्रीय नेताओं के द्वारों पर भटक-भटककर कतिपय भ्रांतियों को दूर नहीं करते तो आइ० सी० एस० मंत्रिमंडल के स्थान पर कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनाने की बात विधान-सभा के चुनावों तक टल जाती । अस्तु व्यास और उनके मंत्रिमंडल ने २६ अप्रैल, १९५१ को अपने-अपने पदों की शपथ ग्रहण की । इस मंत्रिमंडल में थे—सर्वश्री टीकाराम पालीवाल, मोहनलाल सुखाड़िया, बलवंतसिंह मेहता, मथुरादास माथुर, बृजसुंदर शर्मा, कुंभाराम आर्य, युगलकिशोर चतुर्वेदी और नरोत्तम जोशी । व्यास मंत्रिमंडल राज्य-सेवाओं के एकीकरण में जूझा रहा । इसी बीच प्रथम चुनाव समीप आ गए । इन चुनावों में व्यास और उनके कई साथी महाराजा जोधपुर हनुवंतसिंह के हाथों परास्त हो गए । फलतः उन्हें मुख्यमंत्री पद से इस्तीफा देना पड़ा । परंतु जाते-जाते व्यास ने राजस्थान में जागीर उन्मूलन संबंधी कानून पास कर एक जोरदार धमाका कर दिया । उनके इस स्तुत्य कार्य के पीछे राजस्व मंत्री टीकाराम पालीवाल का प्रमुख हाथ था ।

नेतृत्व में परिवर्तन

सन् १९५२ के चुनावों में राजस्थान कांग्रेस को कई जगह मुंह की खानी पड़ी, विशेषतया जोधपुर संभाग में। मुख्यमंत्री व्यास तो हारे ही, साथ ही कांग्रेस को विधान-सभा में केवल १ का बहुमत मिला। कांग्रेस की खुशकिस्मती कहिए या विरोधी दल का दुर्भाग्य कि चुनावों के नतीजों का एलान होने के साथ ही महाराजा हनुमंतसिंह का वायुयान दुर्घटना में देहांत हो गया, जिसके फलस्वरूप विरोधी दल निस्तेज हो गया। थोड़े ही दिनों बाद विरोधी दल के नेता श्री इंदरनाथ मोदी ने राजस्थान हाईकोर्ट के जज का पद स्वीकार कर लिया। इस प्रकार कांग्रेस को राहत मिली और वह मंत्रिमंडल बनाने की स्थिति में आयी। व्यास के दुबारा विधान-सभा के लिए चुने जाने तक टीकाराम पालीवाल को दल का नेता और मुख्यमंत्री चुना गया। पालीवाल ने २२ फरवरी, १९५२ को अपने पद की शपथ ली। काफी दौड़-धूप के बाद व्यास को दुबारा चुनाव लड़ने की इजाजत मिली। किशनगढ़ क्षेत्र के एक कांग्रेसी कार्यकर्ता से धारा-सभा की सदस्यता से इस्तीफा दिलाकर व्यास को चुनाव लड़ाया गया और वे विजयी रहे। पर इसी बीच प्रांतीय कांग्रेस का एक गुट पालीवाल का पक्षपाती हो गया। इस गुट ने व्यास को पुनः मुख्यमंत्री पद पर आसीन करने के प्रयत्न का जबरदस्त विरोध किया। एक बार पुनः माणिक्यलाल वर्मा ने बीच में पड़कर व्यास और पालीवाल के बीच समझौता कराया। १ नवंबर, १९५२ को व्यास पुनः मुख्यमंत्री बने। पर पालीवाल और व्यास के बीच मतभेद बढ़ते ही गए। दुर्भाग्य से कुछ समय बाद व्यास और वर्मा के बीच भी मनमुटाव हो गया। वर्मा मूलतः संगठन के प्राणी थे। वे चाहते थे कि सरकार अपनी रीति-नीति के संबंध में समय-समय पर कांग्रेस संगठन को विश्वास में ले। व्यास का मत था कि कांग्रेस सरकार के मुख्यमंत्री होने के नाते वे कांग्रेस संगठन का बिना शर्त सहयोग और समर्थन पाने के हकदार हैं। दोनों नेताओं के बीच दरार बढ़ती गयी। इसी बीच अधिकारियों की नियुक्ति और तबादलों को लेकर व्यास और मंत्रिमंडल के कतिपय सदस्यों के बीच मतभेद हो गए। नियुक्ति विभाग आम तौर से मुख्यमंत्री के अंतर्गत रहता है और उच्च अधिकारियों की नियुक्तियां और तबादले उन्हीं के निर्णय से होते हैं। परंतु मुख्यमंत्री के निर्णय लेने के पूर्व साधारणतया संबंधित मंत्रियों से सलाह ले लेते हैं। यही परंपरा अब तक चली आ रही थी। दुर्भाग्य से नवनियुक्त मुख्य सचिव श्री बी० जी० राव आई० सी० एस० ने इस परंपरा को तोड़ दिया। मंत्रियों और स्वयं वर्मा ने भी कई बार व्यास का इस ओर ध्यान आकर्षित किया। पर व्यास ने मंत्रियों की इस शिकायत को दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। इससे मंत्रिमंडल का एक शक्तिशाली गुट व्यास से नाराज हो गया। व्यास एक अत्यंत भावुक व्यक्ति थे। समस्या का उचित हल खोजने की अपेक्षा उन्होंने विधान-सभा के कांग्रेस दल का विश्वास प्राप्त करने की ठानी। पं० नेहरू और कांग्रेस के अन्य नेताओं ने व्यास को यह रास्ता अख्तियार नहीं करने की सलाह दी। पर व्यास नहीं

माने। कांग्रेस दल की बैठक बुलायी गयी। व्यास कुछ मतों से हार गए और राजस्व मंत्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया दल के नए नेता चुन लिये गए। सुखाड़िया ने १३ नवंबर, १९५४ को मुख्यमंत्री के पद का भार संभाला। इस पद पर वे ९ जुलाई, १९७१ तक रहे।[1]

१. श्री सुखाड़िया के बाद जोधपुर के नेता श्री बरकतउल्ला खान ने ९ जुलाई, १९७१ को मुख्यमंत्री के पद का कार्यभार ग्रहण किया। दुर्भाग्यवश वे ११ अक्तूबर, १९७३ को हृदयगति रुक जाने से चल बसे। उनके स्थान पर बांसवाड़ा के कांग्रेसी नेता और खान मंत्रिमंडल के उद्योगमंत्री श्री हरिदेव जोशी मुख्यमंत्री बने। उन्होंने राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होने पर ३० अप्रैल, १९७७ को अपने मंत्रिमंडल का इस्तीफा दिया। जून में आम चुनाव हुए। इन चुनावों में कांग्रेस हार गयी। जनता पार्टी को प्रचंड बहुमत मिला। जनता विधान दल द्वारा चुने जाने पर श्री भैरोंसिंह शेखावत मुख्यमंत्री बने। उन्होंने २२ जून १९७७ को अपने पद की शपथ ली। १८ फरवरी, १९८० को राष्ट्रपति ने विधान-सभा भंग कर, राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया। मई में विधान-सभा के चुनाव में कांग्रेस को दो-तिहाई बहुमत मिला। फलतः राजस्थान विधान-सभा कांग्रेस दल के नेता श्री जगन्नाथ पहाड़िया ने अपना मंत्रिमंडल बना लिया। उक्त मुख्यमंत्रियों के शासन-काल का लेखा-जोखा अभी लेना समय के पूर्व होगा।

तेरहवां अध्याय

राजस्थान की भाषा, कला और सांस्कृतिक धरोहर

राजस्थान हिंदी भाषा-भाषी राज्य माना जाता है। इसके बावजूद राजस्थान के विभिन्न भागों में जो बोलियां बोली जाती हैं, वे हिंदी भाषा के निकट होते हुए भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं। जोधपुर, जैसलमेर और बीकानेर जिलों में मारवाड़ी; अलवर में मेवाती; भरतपुर, धौलपुर और करौली में ब्रज; सीकर, झुंझनू और चुरू जिलों में थली या शेखावाटी; जयपुर जिले में ढूंढारी; कोटा, बूंदी और झालावाड़ जिलों में हाड़ोती; उदयपुर, भीलवाड़ा और चित्तौड़गढ़ जिलों में मेवाड़ी; डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ एवं निकट के भीली इलाकों में बागड़ी या भीली बोलियां प्रचलित हैं। ये बोलियां एक-दूसरे के निकट हैं। फिर भी गत कुछ दशकों से 'मारवाड़ी' अधिकाधिक समृद्ध हुई है। आकाशवाणी से इसे प्रोत्साहन मिला है। आधुनिक भाषा-शास्त्रियों ने भी मारवाड़ी को ही राजस्थानी भाषा के रूप में स्वीकार किया है। भारत सरकार ने अभी तक राजस्थानी भाषा को न तो मान्यता ही प्रदान की है और न ही वह संविधान के परिशिष्ट (८) में शामिल की गयी है।

राजस्थानी का विकास

राजस्थानी भाषा ने १३वीं शती (वि०) में साहित्यिक स्वरूप प्राप्त कर लिया था। 'भरतेश्वर बाहुबली', 'जंबू स्वामी-चरित्र', 'स्थूलीभद्र रास' और 'चंदनबाला रास' आदि जैन ग्रंथ उसी शताब्दी की देन हैं। मध्यकालीन युग में राजस्थान के विभिन्न भागों में डिंगल-शैली का विकास हुआ। चारण कवियों ने गीत और दोहों में इस शैली का बड़ी खूबी से उपयोग किया। इसी युग में लौकिक शैली का भी प्रादुर्भाव हुआ। भक्त कवियों ने इस शैली को लोकप्रिय बनाया। इस युग में पद्य-रचनाओं के साथ-साथ ग्रंथ-रचना भी प्रचुर मात्रा में हुई। इस काल के कवि थे—पद्मनाभ, महाकवि चंदबरदाई, मीराबाई, दुसाजी आढ़ा, ईसरदास बारहठ, पृथ्वीराज

राठौड़, कविराज बांकीदास, संत दादू दयाल, स्वामी चरणदास, विनयसमुद्र, हेमरत्न सूरि, समय सुंदर और आनंदघन आदि।[1]

विद्वानों के मत के अनुसार राजस्थानी भाषा का आधुनिक काल सन् १८५१ से आरंभ होता है। इस काल में एक ओर जहां राजस्थानी भाषा की लौकिक शैली फली-फूली वहां दूसरी ओर डिंगल शैली का ह्रास हुआ। इस काल में बूंदी के राजकवि महाकवि सूर्यमल मिश्रण ने 'वंशभास्कर', 'वीरसतसई' एवं 'बलवंत-विलास' आदि अनेक ग्रंथों की रचना कर अपने आपको अमर कर दिया। सूर्यमल न केवल राजस्थानी भाषा के कवि और ग्रंथकार थे वरन् इतिहासकार और देशभक्त भी थे। मेवाड़ के महाराज चतुरसिंह (१८७९-१९२९) ने 'चतुर चिंतामणि', 'चतुरप्रकाश', 'अलख पच्चीसी' एवं 'अनुभव-प्रकाश' आदि ग्रंथों की रचना कर राजस्थानी साहित्य को समृद्ध बनाया। उन्होंने कई ग्रंथों की टीकाएं भी लिखीं। कंवर चंद्रसिंह कृत 'लू और बादली' राजस्थानी भाषा की अमूल्य निधि है। राजस्थानी भाषा के अन्य प्रमुख कवि हैं नारायणसिंह भाटी, भरत व्यास, कन्हैयालाल सेठिया, मनोहर प्रभाकर, रेवतदान चारण, गजानंद वर्मा और रावत सारस्वत आदि। राजस्थानी गद्य के क्षेत्र में रानी लक्ष्मीबाई चूंडावत का प्रमुख स्थान है जिन्होंने कई ग्रंथों का राजस्थानी भाषा में अनुवाद किया है। श्रीमती चूंडावत द्वारा संकलित और संपादित 'बगड़ावत-देवनारायण महागाथा' ने न केवल राजस्थान की संस्कृति को वरन् राजस्थानी भाषा को भी समृद्ध किया है।

संगीत और नृत्य-कला

राजस्थान के राजाओं ने संगीत के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। मेवाड़ के महाराणा कुंभा ने 'संगीत राज', 'संगीत मीमांसा' और 'सूडप्रबंध' नामक ग्रंथों की रचना कर संगीत-साहित्य को समृद्ध बनाया।[2] बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह की छत्रछाया में रहकर पं० भावभट्ट ने 'अनूप-संगीत-विलास' और 'अनूप-संगीत-रत्नाकर' आदि ग्रंथों की रचना की। जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह ने 'रागरत्नाकर', 'श्री राधागोविंद संगीतसार' एवं 'स्वर सागर' आदि ग्रंथों की रचना में सहयोग दिया। जयपुर के ही महाराजा रामसिंह ने बंशीधर भट्ट और वल्लभाचार्य जैसे प्रसिद्ध संगीतज्ञों को संरक्षण देकर शास्त्रीय संगीत को लोकप्रिय बनाया। मीराबाई के मलार, सिंधु और मांड आदि राग राजस्थान की भारतीय संगीत को विशेष देन हैं।

नृत्य के क्षेत्र में भी देश में राजस्थान का विशिष्ट स्थान रहा है। मेवाड़, हाड़ोती और मारवाड़ के लोक-नृत्यों के अलावा भील प्रदेश के लोक-नृत्य देश में बड़े लोकप्रिय सिद्ध हुए हैं। राजस्थान के लोक-नृत्यों को उन्नत और उजागर करने में उदयपुर की 'भारतीय कलामंडल' नामक संस्था का अमूल्य योगदान रहा है। संस्था

१. डॉ० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया, 'राजस्थान साहित्य का इतिहास', पृ० ५९-१६०।
२. डॉ० हरविलास सारदा, 'महाराणा कुंभा', पृ० १६६।

के संचालक श्री देवीलाल सामर स्वयं राजस्थानी लोक-नृत्य के जाने-माने विद्वान् हैं। जयपुर घराने का कथक-नृत्य देश के शास्त्रीय नृत्य का महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। इसका श्रेय महाराजा जयपुर द्वारा संरक्षण-प्राप्त नारायणप्रसाद को जाता है जो स्वयं चोटी के कत्थक नर्तक थे।

राजस्थानी चित्रकला

प्राचीन काल के शिलालेखों और बैराठ तथा आहड़ की खुदाई में मिली सामग्री पर जो रेखाचित्र मिले हैं उनसे पता चलता है कि प्रदेश में प्राचीनकाल में भी चित्रकला बड़ी विकसित थी। कालांतर में प्रदेश की चित्रशैली पर अजंता-परंपरा का असर पड़ा। ११वीं और १५वीं शताब्दी के बीच रचित 'निशीथचूर्णी', 'नेमीनाथ-चरित', 'उत्तराध्ययन सूत्र' और 'कल्पसूत्र' आदि प्रमुख जैन-ग्रंथों में जो चित्र पाए जाते हैं, उनमें मूल राजस्थानी और अजंता-चित्रकला का सुंदर समन्वय देखने को मिलता है।[1] जैसलमेर जैन-ग्रंथ भंडार में उपलब्ध काष्ठपट्टिकाओं और ताड़-पत्रों पर अंकित चित्र हमारे देश की मूल्यवान् निधि हैं।[2]

राजस्थान की विभिन्न चित्र-शैलियों में मेवाड़ शैली का प्रमुख स्थान है। मेवाड़ में गुहिल वंश का राज्य स्थापित होने के बाद अजंता-परंपरा से प्रभावित मेवाड़ शैली का विकास हुआ। आयड़ में सन् १२६१ में रचित 'श्रावण-प्रतिक्रमण-सूत्र चूर्णी' नामक चित्रित ग्रंथ इस शैली का सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ है। सन् १४२३ में देलवाड़ा में लिखित 'सूपासनाचर्यम्' और सन् १५३६ में लिखित सरस्वती भंडार, उदयपुर में सुरक्षित 'कल्प-सूत्र' में मेवाड़-शैली का भली भांति दिग्दर्शन होता है। डॉ० गोपीनाथ शर्मा के अनुसार मेवाड़ शैली का समृद्ध रूप चित्तौड़ के प्राचीन महलों के रंगों में दिखाई देता है। सन् १६१५ की मेवाड़-मुगल संधि के बाद मेवाड़ की चित्रशैली में मुगल वेश-भूषा ने प्रवेश किया। साहबदी द्वारा चित्रित 'मेवाड़ का भागवत' और 'आर्श-रामायण' इस विकसित शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं।

मारवाड़ चित्रशैली का इतिहास भी पुराना है। मूल मारवाड़ शैली और अजंता शैली के सामंजस्य का श्रेय श्रृंगधर को दिया जाता है।[3] १५वीं शताब्दी तक मारवाड़ में लिखे गए जैन-ग्रंथों के चित्र इसी मिली-जुली शैली के प्रतीक हैं। मुगल-काल में मेवाड़ शैली की तरह मारवाड़ शैली में भी मुगल वेश-भूषा घर कर गयी। बीकानेर शैली ने मारवाड़ी शैली का अनुकरण किया। पर आगे जाकर उस पर पंजाब शैली का रंग चढ़ गया। देश-विदेशों में बूंदी-शैली के चित्र बड़े लोकप्रिय साबित हुए हैं। बूंदी-शैली शुरू में मेवाड़ शैली से और बाद में मुगल संस्कृति से प्रभावित हुई।

१. रामकृष्णदास, 'भारत की चित्रकला', पृ० ३८-३९।
२. डॉ० मेनारिया, 'राजस्थान साहित्य का इतिहास', पृ० २८।
३. कुमार, 'हिस्ट्री ऑफ इंडियन आर्ट', पृ० ८६-८७।

राजस्थान की मध्यकालीन शैलियों में किशनगढ़ शैली सर्वश्रेष्ठ है। किशनगढ़ शैली का विकास विशेषतया महाराजा राजसिंह और सावंतसिंह के शासनकाल (सन् १७१०-१७५६) में हुआ। महाराजा सावंतसिंह स्वयं एक कवि और चित्रकार थे और 'नागरीदास' के नाम से जाने जाते थे। वे 'बनी-ठनी' नामक सुंदरी के प्रेम-पाश में बंध गए थे, पर साथ ही वे परम वैष्णव भक्त भी थे। यही कारण है कि किशनगढ़ शैली में उस जमाने के बने हुए राधाकृष्ण के चित्रों में कला, प्रेम और भक्ति का अपूर्व सामंजस्य पाया जाता है। किशनगढ़ शैली ने लौकिक नारी शैली को एक नया रूप दिया। सावंतसिंह इस नारी-मुखाकृति शैली के जन्मदाता माने जाते हैं। किशनगढ़ शैली के चित्रकारों में सावंतसिंह के कृपा-पात्र निहालचंद प्रमुख थे। किशनगढ़ शैली में भी मुगलकालीन वेश-भूषा का घुसना स्वाभाविक था।

मुगलकाल में जयपुर के मुगलों से गहरे राजनीतिक और सांस्कृतिक संबंध थे। अतः जयपुर शैली पर मुगलों के रहन-सहन और वेश-भूषा का स्पष्ट ही व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। नाथद्वारा शैली का प्रारंभ सन् १६३१ में हुआ जब औरंगजेब के मूर्ति-विरोधी अभियान के कारण श्रीनाथ जी की मूर्ति व्रज से मेवाड़ में लायी गयी। नाथद्वारा शैली में श्रीनाथ जी की दिनचर्या संबंधी चित्रों की भरमार रहती है। धीरे-धीरे नाथद्वारा शैली व्यावसायिक रूप धारण करती जा रही है।

यह स्पष्ट है कि राजस्थान में एक लंबे काल तक चित्रकला के क्षेत्र में जैन-शैली का प्रमुत्व रहा। वास्तव में मेवाड़ और मारवाड़ में १५वीं शताब्दी के पूर्व की जितनी भी चित्रकला आज देखने को मिलती है, वह प्रायः सभी तत्कालीन हस्त-लिखित जैन-ग्रंथों में पायी जाती है। मुगल-काल में राजस्थान की चित्रकला ने तेजी से विकास किया। पर यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण है कि उस काल में राजस्थान की विभिन्न चित्र-शैलियों पर मुगल-शैली का असर पड़ा। यह दूसरी बात है कि राजस्थान पर मुगलों का आधिपत्य होने के कारण मुगल वेश-भूषा राजस्थानी चित्रकला में घुस गयी। सुप्रसिद्ध चित्रकार रामगोपाल विजयवर्गीय के अनुसार राजस्थानी चित्र भारतीय चित्रकला की एक मौलिक शाखा है। उनके अनुसार राजस्थानी चित्रों में ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो मुगलों से लिया गया हो या उनकी परंपरा के रूप में व्यवहार में आता रहा हो।[1]

आधुनिक काल में राजस्थान के चित्रकारों ने यथार्थवादी और परंपरावादी दोनों शैलियों को अपनाया। यथार्थवादी शैली के चित्रों में राजस्थान के जन-जीवन की सजीव झांकियां मिलती हैं। इस शैली के उल्लेखनीय कलाकार हैं सर्वश्री भूरसिंह शेखावत, द्वारकाप्रसाद शर्मा, पारस भंसाली, देवीसिंह राठौड़ और कृष्णचंद्र जोशी। परंपरावादी चित्रकारों में रामगोपाल विजयवर्गीय, कृपालसिंह शेखावत और गोवर्धन-

१. देखिए—'अणिका' के सन् १९७१ के राजस्थान साहित्य, संस्कृति और कला विशेषांक में श्री विजयवर्गीय द्वारा लिखित 'राजस्थान चित्र-परंपरा' नामक लेख, पृ० १२६-२९।

लाल जोशी प्रमुख हैं।

डॉ० जयसिंह नीरज के शब्दों में मेवाड़ में जन्मी एवं संपूर्ण राजस्थान में शैलियों और उपशैलियों के माध्यम से विकसित एवं पल्लवित हुई राजस्थानी कला से भारतीय कला-जगत विशेष रूप से समृद्ध हुआ है।

स्थापत्य कला

राजस्थान में स्थापत्य के अवशेष आज भी उसके प्राचीन गौरव का स्मरण दिलाते हैं। गंगानगर जिले में कालीबंगा और सोंथी एवं उदयपुर जिले में आयड़ में पुरातत्त्व संबंधी खुदाइयों से जो भग्नावशेष मिले हैं उनसे पता चलता है कि इतिहास-काल के पूर्व भी राजस्थान एक उन्नत सभ्यता और संस्कृति का केंद्र था। जयपुर जिले के बैराठ कस्बे में विद्यमान बौद्धविहार और लेख मौर्यकाल का स्मरण कराते हैं। चित्तौड़ के निकट माध्यमिका (नगरी) में उपलब्ध अवशेषों से इस क्षेत्र की २००० वर्ष पूर्व की सभ्यता का पता चलता है।

सामरिक स्थापत्य

चित्तौड़गढ़ : समुद्र से २००० फुट की ऊंचाई पर स्थित चित्तौड़ का विशाल दुर्ग प्राचीनकाल के सामरिक स्थापत्य का उत्कृष्ट नमूना है। किंवदंतियों के अनुसार यह दुर्ग महाभारत काल में भी विद्यमान था। यह भी कहते हैं कि इस किले को मौर्यवंशी राजा चित्रांगद ने बनवाया था एवं इसी कारण इस दुर्ग का नाम 'चित्रकूट' पड़ा जो कालांतर में चित्तौड़ कहा जाने लगा। कुछ भी हो, इसमें शक नहीं कि चित्तौड़ का दुर्ग भारत के प्राचीनतम दुर्गों में है। दुर्ग तीन मील लंबा और आधा मील चौड़ा है एवं चारों ओर सुदृढ़ चहारदीवारी से घिरा हुआ है। दुर्ग की रक्षा के लिए ८ द्वार बने हुए हैं। इस दुर्ग पर प्राचीन और मध्यकाल में बने राजमहलों के अलावा कुंड, तालाब और बावड़ियां बनी हुई हैं। किले पर एक छोटे कस्बे के बराबर बस्ती है और खेती होती है। यही कारण था कि जब-जब चित्तौड़ पर शत्रुओं के आक्रमण हुए, किले के रक्षकों को महीनों पानी और खाद्य-सामग्री की कमी का सामना नहीं करना पड़ा। मालवा-गुजरात मार्ग पर स्थित होने के कारण दुर्ग का बड़ा सामरिक महत्त्व था। यही कारण था कि इस दुर्ग को केवल दिल्ली के ही नहीं वरन् गुजरात और मालवा के बादशाहों के कई हमलों का शिकार होना पड़ा। यों तो सल्तनत-काल से लगाकर मुगल-काल की लंबी अवधि में चित्तौड़ तीन बार शत्रुओं के हाथ में गया, परंतु मुगल सम्राट् अकबर पहला आक्रमणकारी था जिसने ५ महीने के घेरे के बाद २३ सितंबर, १५६८ को बारूद की सुरंगों से दुर्ग की प्राचीरों को तोड़कर इस प्रतिष्ठित और अभेद्य किले के सामरिक महत्त्व को भग्न कर दिया।

चित्तौड़ दुर्ग के पूर्वी छोर पर बगेरवंशीय जैन साहूकार जीजाशाह द्वारा ११वीं शताब्दी में निर्मित २३ मीटर ऊंचा और पांच मंजिला कीर्तिस्तंभ स्थित है। जीजाशाह ने यह स्तंभ प्रथम जैन तीर्थंकर आदिनाथ की स्मृति में बनाया था। इस

स्तंभ के भीतर विभिन्न तीर्थंकर एवं जनजीवन से संबंधित अनेक कृतियां अंकित हैं जो उस जमाने की कला और संस्कृति का दिग्दर्शन कराती हैं। दुर्ग पर एक और स्तंभ है जो महाराणा कुंभा ने मालवा के सुल्तान मुहम्मद खिलजी को परास्त करने की स्मृति में सन् १४५८ से १४६८ के बीच बनवाया था। यह नौ मंजिला भव्य स्तंभ ३७ मीटर ऊंचा है। इसमें हिंदू देवी-देवताओं की अनेक मूर्तियां अंकित हैं। यह स्तंभ राजपूत स्थापत्य कला का उत्कृष्ट नमूना है।

दुर्ग पर महारानी पद्मिनी और राणा कुंभा के ऐतिहासिक महलों के अलावा अनेकों जैन और वैष्णव मंदिर हैं। इनमें सतबीस देवरी नाम से विख्यात २७ जैन मंदिरों का एक समूह है जिनमें सैकड़ों जैन-मूर्तियां उपलब्ध हैं। नवलखा भंडार के निकट जैन तीर्थंकर शांतिनाथ का मंदिर है जिसका जीर्णोद्धार महाराणा कुंभा के ख़जानची बैलाक ने सन् १४४८ में कराया था। इस मंदिर को शृंगार चंवरी का मंदिर भी कहते हैं। मंदिर में देवी-देवताओं, नर्तकों और जानवरों की खुदी हुई भव्य कृतियां हैं। हिंदू मंदिरों में शिव जटाशंकर और मालवा के राजा भोज का बनवाया हुआ सांडेश्वर महादेव का मंदिर है। दुर्ग पर सबसे पुराना मंदिर काली माता का है जो ८वीं शताब्दी का बना हुआ है। किले पर अन्य प्राचीन मंदिरों में कुंभश्याम का मंदिर प्रमुख है जहां मीरा हरि-कीर्तन किया करती थीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि चित्तौड़ का किला न केवल वीर-वीरांगनाओं के शौर्य का वरन् शताब्दियों पुरानी भारतीय संस्कृति और राजस्थान की प्राचीन स्थापत्य और शिल्पकला का भी प्रतीक है।

कुंभलगढ़ : मेवाड़ राज्य का दूसरा दुर्ग कुंभलगढ़ है जिसने अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। कर्नल टॉड के अनुसार यह दुर्ग जैन राजा संप्रति ने तीसरी सदी में बनाया था। महाराणा कुंभा ने सन् १४५८ में इस किले का पूर्ण रूप से नव-निर्माण कराया। समुद्र की सतह से ३६,००० फुट की ऊंचाई पर यह किला अरावली पर्वत की शृंखलाओं से घिरा हुआ है। किले के चारों ओर सुदृढ़ परकोटा बना हुआ है जो मीलों लंबा है। परकोटा इतना चौड़ा है कि चार घुड़सवार इस पर एकसाथ चल सकते हैं। दुर्ग की रक्षा के लिए ७ बुर्जे और ७ दरवाजे बने हुए हैं। प्राचीन और मध्यकालीन युग में सामरिक और सुरक्षा की दृष्टि से यह दुर्ग अद्वितीय था। यही कारण था कि मुगलों के हमलों के समय मेवाड़ के महाराणा कुंभलगढ़ को अपनी अस्थायी राजधानी बना लेते थे। किले पर नीलकंठ महादेव का मंदिर एवं महाराणा कुंभा के शूरवीर प्रपौत्र पृथ्वीराज का स्मारक है। कर्नल टॉड और शारदा ने इस किले को सामरिक दृष्टि से अभेद्य बताया है।

मांडलगढ़ : मेवाड़ का एक और प्रसिद्ध दुर्ग है मांडलगढ़, जो भीलवाड़ा से लगभग ५० किलोमीटर पूर्व की ओर स्थित है। इस किले को अजमेर के चौहानों ने १२वीं शताब्दी में बनवाया था। इस किले पर समय-समय पर कई शक्तियों का अधिकार रहा। अंत में सन् १७२६ में मेवाड़ का महाराणा अमरसिंह (द्वितीय) मुगल-सम्राट् बहादुरशाह से यह किला स्थायी रूप से प्राप्त करने में सफल हो गया।

तारागढ़ : अजमेर की वीठली पहाड़ी पर स्थित अजमेर का दुर्ग ७वीं शताब्दी में चौहान-वंश के अजयपाल ने बनवाया था। १५वीं शताब्दी के अंत में मेवाड़ के महाराणा रायमल के पुत्र पृथ्वीराज ने अजमेर के सूबेदार मल्लूखां को हरा कर इस किले पर अपना अधिकार किया। पृथ्वीराज ने इस दुर्ग का नाम अपनी पत्नी ताराबाई के नाम पर 'तारागढ़' रख दिया। यह किला समुद्रतल से २८५५ फुट ऊंचा और ८० एकड़ के क्षेत्र में फैला हुआ है। इस दुर्ग की चहारदीवारी के साथ कई बुर्जें हैं जो किले की रक्षा के लिए बनायी गयी थीं। इस दुर्ग पर सन् १२०२ में निर्मित मीरान साहब की दरगाह स्थित है।

रणथंभौर : प्राकृतिक दृष्टि से रणथंभौर राजस्थान का सबसे महत्त्वपूर्ण दुर्ग है। घने जंगलों और दुर्गम पहाड़ियों के बीच स्थित यह दुर्ग आज भी भयावह लगता है। यह दुर्ग जयपुर से १३० किलोमीटर दक्षिण-पूर्व की ओर स्थित है। १२वीं शताब्दी के अंत में यह दुर्ग दिल्ली के सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक और इल्तुतमिस के अधिकार में आया। इसके पूर्व यह दुर्ग चौहानों के अधिकार में था। सन् १३०० के आस-पास दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने रणथंभौर पर आक्रमण किया। दुर्ग के फौज-दार हमीर देव ने बड़ी बहादुरी से खिलजी के आक्रमण का सामना किया। पर लग-भग एक वर्ष बाद खिलजी दुर्ग पर अधिकार करने में सफल हो गया। खिलजी वंश के पतन के बाद इस किले पर महाराणा कुंभा का अधिकार रहा। परंतु कुछ समय बाद मांडू के सुल्तान ने इस दुर्ग पर अधिकार कर लिया। सन् १५१५ में राणा सांगा ने सुल्तान को हराकर दुर्ग पर एक बार फिर मेवाड़ की पताका फहरायी। राणा सांगा के उत्तराधिकारी राणा रतनसिंह ने हाड़ी रानी कर्मवती के प्रभाव में आकर रणथंभौर अपने छोटे पुत्र विक्रमादित्य और उदयसिंह को दे दिया। ये दोनों राजकुमार बूंदी के हाड़ा शासकों के भानजे थे। अतः रणथंभौर पर हाड़ाओं का प्रभुत्व हो गया। मुगल-सम्राट अकबर ने सन् १५६९ में इस दुर्ग पर आक्रमअ किया। पर उसे सैनिक सफलता नहीं मिली। उसने कूटनीति से काम लिया और वह दुर्ग पर अधिकार करने में सफल हो गया। सन् १७५२ में जयपुर के महाराजा माधोसिंह ने यह किला मुगल-सम्राट् अहमदशाह से स्थायी रूप से प्राप्त कर लिया।

आमेर : कछवाहों की भूतपूर्व राजधानी आमेर जयपुर से ११ किलोमीटर दूर स्थित है। यह किला अरावली की दो श्रेणियों के बीच में बसा हुआ है। यह अंबामाता को समर्पित किया गया था। इसी कारण यह किला आम्बेर या आमेर कहलाया। आमेर स्थित सूर्य मंदिर के एक शिलालेख से पता चलता है कि यह किला सन् ९५७ के पूर्व भी मौजूद था। ढोला राव के पुत्र कोकिलदेव कछवाहा ने सन् १०३६ में आमेर भीलों से छीनकर उसे अपनी राजधानी बनाया। कछवाहों ने इस किले पर परकोटे, बुर्ज, मंदिर और जलाशयों का निर्माण करवाया। किले पर शीश-महल, दीवानेआम और दीवानेखास आदि सुंदर इमारतें हैं जो आगरे के किले की शैली पर बनी हुई हैं। किले पर अनेक हिंदू और जैन-मंदिर हैं। १७वीं शताब्दी में आमेर में बनाया गया जगतशिरोमणी का मंदिर मूर्तिकला और तक्षण-कला का

एक सुंदर उदाहरण है। कछवाहों से मुगलों के अच्छे संबंध रहे। इस कारण इस किले को मुगलकाल में अधिक क्षति नहीं उठानी पड़ी। सन् १७२७ में आमेर का सितारा अस्त हो गया, जबकि महाराजा सवाई जयसिंह ने अपने नाम से जयपुर नगर बसाकर राज्य की राजधानी आमेर से जयपुर स्थानांतरित कर दी। अब आमेर एक सैलानी-केंद्र के रूप में निखरा है।

जैसलमेर : राजस्थान के पश्चिमी भाग में थरपरकर के महा रेगिस्तान में स्थित जैसलमेर का दुर्ग महारावल जैसलदेव भाटी ने सन् ११५६ में बसाया था। १५०० फुट लंबी, ७५० फुट चौड़ी और समुद्र की सतह से १००० फुट ऊंची पहाड़ी पर स्थित इस दुर्ग में ९९ बुर्ज हैं। पहाड़ी के चारों ओर सुरक्षा की दृष्टि से पत्थरों की ७ फुट चौड़ी और १५ फुट ऊंची चहारदिवारी बनी हुई है। दुर्ग में सर्वोत्तम विलास-रंगमहल और मोती-महल आदि राजप्रासाद हैं। दुर्ग में ही लक्ष्मण विहार में १४वीं और १५वीं शताब्दी में बने कई जैन-मंदिर हैं जिनमें नक्काशी का काम बड़ी बारीकी से किया हुआ है। दुर्ग के उसी क्षेत्र में श्री जिनभद्र सूरी ज्ञान-भंडार है जिसमें कागज व ताड़-पत्रों पर लिखे गए २६८३ प्राचीन और दुर्लभ ग्रंथ सुरक्षित रखे हुए हैं। इनमें से कई ग्रंथ ७-८ सौ वर्ष पूर्व लिखे हुए हैं। इन ग्रंथों में 'रघुवंश', 'जंबूद्वीप पन्नती', 'प्रमाण-मीमांसा' और 'कल्प-सूत्र' आदि प्रमुख हैं।

दुर्ग के नीचे पीले पत्थरों से बना जैसलमेर नगर है जो सूर्योदय और अस्ताचल के समय स्वर्णिम आभा की भांति चमकने लगता है। जैसलमेर नगर एवं दुर्ग का प्रत्येक भाग जाली और झरोखों से सजा हुआ है। नगर में सेठ गुमानमल पटवा (वापणा) द्वारा सन् १८३५ में निर्मित पांच हवेलियां बिना चूने या सीमेंट के पत्थर को पत्थर से जोड़कर बनायी गयी हैं। इन्हें पटवों की हवेलियां कहा जाता है। इन ६ मंजिली हवेलियों में झूलते हुए झरोखे, पारदर्शक जालियां, छतों पर सोने की कलम की कलाकृतियां, भित्ति चित्रकला एवं पीले पाषाणों पर खुदी फूल-पत्तियां, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी और बेल-बूटे देखते ही बनते हैं। ये हवेलियां अब भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग द्वारा राष्ट्रीय स्मारक के रूप में अपने अधिकार में ले ली गयी हैं। नगर में १८वीं शताब्दी में बनी दीवान सालमसिंह की हवेली एवं १९वीं शताब्दी में बनी दीवान नथमल माहेश्वरी की हवेली उच्चतम तक्षण-कला की प्रतीक हैं।

अन्य किले : थरपरकर के रेगिस्तान में दूसरा महत्त्वपूर्ण किला बीकानेर का है जो सन् १५८८ में महाराजा रायसिंह ने बनाया था। इसकी चहारदीवारी लगभग ४० फुट मोटी है। किले के चारों ओर खाई खुदी हुई है। मध्यकालीन युग में सुरक्षा की दृष्टि से यह किला बड़ा महत्त्वपूर्ण साबित हुआ है। जोधपुर राज्य में जालौर का किला सबसे प्राचीन माना जाता है जो एक समय प्रतिहारों की राजधानी रह चुका था। पश्चिमी राजस्थान में स्थित अन्य प्रमुख किले हैं जोधपुर, नागौर, मेड़ता, सिवाना, लोद्रवा और भटनेर (हनुमानगढ़)।

पूर्वी राजस्थान में बयाना का किला सबसे प्राचीन है। राणा सांगा और बाबर के बीच सन् १५२७ में पहली टक्कर इसी स्थान पर हुई थी और सांगा ने

बाबर को हराकर इस किले पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था। इस क्षेत्र के अन्य किले हैं भरतपुर और डीग, जिन्हें भरतपुर-राज्य के संस्थापक सूरजमल जाट ने बनवाया था। इन किलों के मरडे (मिट्टी) के दोहरे परकोटे बने हुए हैं। परकोटे से मिली हुई किलों के चारों ओर ५० मीटर चौड़ी और १५ मीटर गहरी खाइयां खुदी हुई हैं। सामरिक दृष्टि से इन किलों का स्थापत्य अपने ही ढंग का है। इन किलों ने मुगलों, मरहठों और अंग्रेजों के तोपखानों का अनेक बार सफलतापूर्वक सामना किया है।

राजस्थान की प्राचीन दुर्ग-निर्माण पद्धति सामरिक स्थापत्य की एक महत्त्वपूर्ण थाती रही है। राजस्थान में बिछे हुए दुर्गों के इस व्यापक जाल के कारण ही राजस्थान के विभिन्न राजवंश सदियों तक बिना किसी उथल-पुथल के राज करते रहे जबकि दिल्ली में सल्तनतों के बाद सल्तनतें बदलती रहीं।

उत्कृष्ट स्थापत्य कला

स्थापत्य कला के दो उत्कृष्ट नमूने हमें राजस्थान के जैन-मंदिरों में देखने को मिलेंगे। सिरोही जिले में आबू से ५ किलोमीटर दूर स्थित दिलवाड़ा के जैन-मंदिर शिल्पकला में आज भी बेजोड़ हैं। दिलवाड़ा में आदिनाथ का मंदिर गुजरात की रियासत के एक सेनापति विमलशाह ने सन् १०३१ में बनवाया था। संगमरमर से बने मंदिर के तोरण-द्वार, स्तंभ और सभा-मंडप तक्षण-कला से परिपूरित हैं। दूसरा मंदिर नेमीनाथ भगवान का है जो जैन-श्रेष्ठी तेजपाल एवं वस्तुपाल नामक दो भाइयों ने सन् १२३० में बनवाया था। यह मंदिर भी स्थापत्य कला का खजाना है।

पाली जिले में स्थित राणकपुर के जैन मंदिर भारतीय स्थापत्य कला में चार चांद लगाने वाला है। यहां का प्रमुख मंदिर महाराणा कुंभा के विश्वासपात्र सेठ धरणाक शाह ने सन् १४३९ में बनवाया था। यह मंदिर आदिनाथ का चौमुखा मंदिर कहलाता है। इस मंदिर में कुल १४४४ स्तंभ हैं। इस मंदिर में लक्षण-कला चरम सीमा पर पहुंचा दी गयी है। इस मंदिर पर उस समय ९९ लाख रुपया व्यय हुआ था।

नगर-निर्माण-शैली

नगर-निर्माण-शैली की दृष्टि से राजस्थान की राजधानी जयपुर आज भी सारे देश में बेजोड़ है। जयपुर की नींव सन् १७२७ में महाराजा सवाई जयसिंह ने रखी थी। इसका निर्माण सुप्रसिद्ध नियोजक और वास्तुविद् विद्याधर चक्रवर्ती की देखरेख में हुआ था। योजना के अनुसार बसाया गया उस समय भारत का यह एकमात्र नगर था। नगर के स्वरूप-निर्माण की मापकीय प्रणाली और वास्तुकला के अक्षोत्थान नियंत्रण के आधार पर बनाया गया है। नगर के सब मार्ग एकदम सीधे और एक-दूसरे को काटते हुए समकोण बनाते हैं। नगर की मुख्य सड़क पूर्व से पश्चिम की ओर जाती है। उसे तीन सड़कें विभाजित करती हैं। विभाजन का स्थान चोपड़ कहलाता

है। नगर नौ चौकड़ियों में विभाजित है। नगर-निर्माण में सामरिक सुरक्षा, जल उपलब्धि, बरसाती पानी का निकास और भावी विकास की संभावनाओं का पूरा ध्यान रखा गया है। जयसिंह ने नक्षत्रों की सही-सही गति जानने की दृष्टि से भारत के अन्य चार नगरों की तरह जयपुर में भी वेधशाला (जंतर-मंतर) की स्थापना की। इस वेधशाला में रामयंत्र और राशिवलय-यंत्र जयसिंह के मौलिक आविष्कार हैं।

महाराजा प्रतापसिंह ने हवामहल का निर्माण कर जयपुर की छवि को और अधिक निखार दिया। छोटे-छोटे जाली-झरोखों वाली ६ इंच चौड़ी दीवार पर खड़ा पांच मंजिला हवामहल उस समय की उन्नत निर्माण कला का सूचक है। पर ध्यान रहे, यह तथाकथित महल राजा-रानियों का निवासस्थान न होकर केवल मात्र एक पेवेलियन है, जहां से राजमहल की महिलाएं शहर में निकलने वाले जुलूसों को देखा करती थीं। सुंदरता से परिपूरित इस भव्य इमारत का निर्माण इस ढंग से किया गया है कि उसमें हर समय ठंडी हवा के झोंके बहते रहते हैं। इसी कारण इस इमारत का नाम 'हवामहल' रखा गया। विश्व-भर में प्रसिद्ध यह 'हवामहल' जयपुर नगर की नाक है।

सांगानेरी गेट से लगाकर किशनपोल तक चहारदीवारी के समानांतर महाराजा रामसिंह द्वारा बनाया गया रामनिवास बाग जयपुर नगर के फेफड़ों का काम करता है। उद्यान में सन् १८८७ में जैकब स्विटन की देखरेख में 'अलबर्त-हॉल' का निर्माण हुआ। यह भवन पूर्वी और पश्चिमी स्थापत्य का सुंदर मिश्रण है। इस समय इसमें राज्य का केंद्रीय म्यूजियम स्थित है। यह भवन आधुनिक स्थापत्य की दृष्टि से देश की सुंदरतम इमारतों में से एक है।

कालांतर में सारे नगर को गुलाबी रंग में पोत दिया गया। फलतः जयपुर संसार-भर में गुलाबी नगरी अथवा 'पिंक सिटी' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। देश-विदेश के वास्तुविदों ने जयपुर के नियोजन और सुंदरता की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। किपलिंग ने तो जयपुर को अचंभों की नगरी की संज्ञा दे डाली।

दर्शनीय स्थान

उदयपुर : स्थापत्य कला से परिपूरित दुर्ग, मंदिर और राजप्रासादों के अलावा राजस्थान में कई दर्शनीय स्थान हैं जो देश-विदेश के सैलानियों के आकर्षण का केंद्र बने रहते हैं। प्राकृतिक छटा से ओत-प्रोत एवं हरी-भरी पहाड़ियों की गोद में बसी हुई झीलों की नगरी उदयपुर को भला कौन नहीं जानता? महाराणा उदयसिंह द्वारा सन् १५६० में बसायी गयी यह नगरी भारत का स्विट्जरलैंड है। पीछोला झील में बने जग-मंदिर और जग-निवास महल नगर की सुंदरता में चार चांद लगाते हैं। फतहसागर झील में स्थित जवाहर पार्क झूलता हुआ उद्यान नजर आता है। इस झील से लगी हुई मोती-मगरी नामक ऐतिहासिक पहाड़ी पर हाल ही में बनाया गया प्रताप-स्मारक है जिस पर चेतक घोड़े पर बैठे हुए स्वतंत्रता के पुजारी राणा प्रताप

की आदम-कद मूर्ति स्थापित की गयी है। यह स्थान देश-विदेश के यात्रियों के लिए तीर्थ-स्थान बन गया है।

राजसमंद : उदयपुर से ६४ किलोमीटर दूरी पर स्थित राजसमंद नामक सुप्रसिद्ध झील है। यह झील महाराणा राजसिंह ने सन् १६६२ से १६७६ के बीच बनवायी थी। झील का बांध २०० गज लंबा और ६० गज चौड़ा है। इस बांध को नौचौकी कहते हैं। इसका कारण यह है कि बांध के नीचे के तीन बड़े चबूतरों पर तीन-तीन छत्रियों वाले मंडप बने हुए हैं। इन मंडपों के स्तंभों व छत्रियों में पशु-पक्षी और नारियों की सुंदर मूर्तियां खुदी हुई हैं। स्तंभों में जालियों तथा बेलबूटों की खुदाई देखने योग्य है। बांध की ताकों में राज-प्रशस्ति खुदी हुई है जिसमें मेवाड़ के इतिहास के अलावा तत्कालीन मेवाड़ की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अवस्था का सुंदर चित्रण किया गया है।

जयसमंद : उदयपुर के दक्षिण-पूर्व में ५० मील दूर पर महाराणा जयसिंह द्वारा सन् १६९१ में बनायी गयी जयसमंद नामक झील है। एक समय जयसमंद संसार की सबसे बड़ी मनुष्यकृत झील मानी जाती थी। इस झील से ८ किलोमीटर दूर पर ६४ वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ अभ्यारण्य है जिसमें सांभर, चीतल, शेर और जंगली सुअर आदि अनेक प्रकार के जंगली जानवर पनाह पाते हैं।

मंडोर : मारवाड़ की पुरानी राजधानी मंडोर जोधपुर से ८ किलोमीटर दूरी पर स्थित है। मंडोर का उद्यान रेगिस्तान में एक ओयसिस का काम करता है। यहां ३३ करोड़ देवताओं का एक मंदिर है जिसमें आदम-कद के राठौड़ वीरों की मूर्तियां बनी हुई हैं। इस मंदिर के पास ही एक भवन में ब्रह्मा, सूर्य, राम, सीता, हनुमान, कृष्ण और शिव की मूर्तियां हैं।

अन्य दर्शनीय स्थान : अलवर जिले में सिरस्का का सुप्रसिद्ध अभ्यारण्य है, जिसमें चीतल, सियार, जंगली बिल्लियां, चीते और शेर आदि जंगली जानवर निवास करते हैं। भरतपुर में विश्वप्रसिद्ध घाणा पक्षी-विहार स्थित है जहां शरद ऋतु में देश-विदेश से आए हुए लाखों पक्षी पनाह पाते हैं और पर्यटकों का मनोरंजन करते हैं।

डीग के महल : डीग भरतपुर के जाट-राजाओं की क्रीड़ा-स्थली रही है। गोपालसागर से जुड़े हुए विशाल उद्यान में संगमरमर के बने हुए महलों और फव्वारों की छटा देखने योग्य है। जाटों द्वारा लूटकर लाया हुआ मुगल सम्राज्ञी नूरजहां का संगमरमर का झूला आज भी इस उद्यान की शोभा बढ़ा रहा है।

माउंट आबू

राजस्थान में सबसे ऊंचा स्थान आबू पर्वत है जो समुद्र की सतह से ५ हजार फुट की ऊंचाई पर स्थित है। आजादी के पूर्व यह स्थान सिरोही राज्य का अंग था। एक पहाड़ी के एक छोर पर अचलगढ़ का किला है जिसे महाराणा कुंभा ने १५वीं शताब्दी में बनवाया था। सामरिक महत्त्व के कारण आबू कभी गुजरातियों के अधि-

कार में रहा तो कभी मेवाड़ और मारवाड़ के राजाओं के। १६वीं शताब्दी में सिरोही पर जब मुगल आक्रमण हुए तो सिरोही के शासकों ने आबू पर्वत से गुरिल्ला युद्ध का संचालन कर कई बार मुगल सेना के दांत खट्टे किए। अंग्रेजों के आने के बाद आबू हवाखोरी का केंद्र बन गया। यह राजपूताना के ए० जी० जी० का सदर मुकाम भी रहा। देश के आजाद होने पर आबू गुजरात और राजस्थान के बीच झगड़े की जड़ बन गया। एक बार तो उसे गुजरात में मिला भी दिया गया। परंतु १९५६ में राज्य-पुनर्गठन आयोग की सिफारिश पर आबू पुनः राजस्थान में आ गया। आबू राजस्थान का एकमात्र हिल-स्टेशन (पहाड़ी स्थल) है जहां गर्मियों में राजस्थान और गुजरात से हजारों सैलानी हवाखोरी के लिए आते हैं। आबू पर्वत पर स्थित नक्की झील, अस्ताचल बिंदु और अभ्यारण्य और अन्य स्थानों का गत कुछ वर्षों में तेजी से विकास हुआ है।

तीर्थ-स्थान

पुष्करराज : राजस्थान में विभिन्न धर्मों से संबंधित अखिल भारतीय महत्त्व के कई तीर्थ-स्थान हैं। इनमें सबसे प्राचीन अजमेर से ७ किलोमीटर दूर स्थित पुष्करराज है। पौराणिक कथाओं के अनुसार स्वयं ब्रह्मा ने पुष्कर झील की रचना की थी। रामायण और महाभारत में पुष्कर के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। पुष्कर में अनेक प्राचीन मंदिर बने हुए हैं जिनमें ब्रह्मा, सावित्री और गायत्री के मंदिर प्रमुख हैं। कार्तिक पूर्णिमा के दिन देश के विभिन्न भागों से आये हुए हजारों यात्री पुष्कर स्नान कर अपने को धन्य मानते हैं। हिंदुओं में यह मान्यता है कि उनकी तीर्थ-यात्रा तब तक पूर्ण नहीं होती है जब तक कि वे पुष्कर झील में स्नान नहीं कर लें।

ख्वाजा साहब की दरगाह : अजमेर नगर के बीच सन् ११९० में निर्मित सुप्रसिद्ध सूफी संत ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह स्थित है, जहां हर वर्ष और विशेषतया ख्वाजा साहब उर्स के अवसर पर देश-विदेश के लाखों जायरीन आते हैं। विभिन्न मुगल-सम्राट् ख्वाजा साहब की जियारत के लिए अक्सर अजमेर आया करते थे। मक्का-मदीना के बाद इस्लाम जगत में शायद मुसलमानों का यह सबसे अधिक अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व का तीर्थ है।

श्रीनाथ जी : उदयपुर से ४८ किलोमीटर दूर उत्तर में नाथद्वारा नामक कस्बे में श्रीनाथ जी का सुप्रसिद्ध मंदिर स्थित है। श्रीनाथ जी की मूर्ति यहां पर औरंगजेब के भय से सन् १६६९ में मथुरा से लायी गयी थी। भारत-भर के पुष्टि-मार्गी व वल्लभाचार्य के संप्रदाय का यह सबसे महत्त्वपूर्ण तीर्थ-स्थान है। देश के विभिन्न भागों से प्रतिवर्ष लाखों यात्री श्रीनाथ जी के दर्शनार्थ आते हैं। यहां सदैव ही त्यौहार का वातावरण बना रहता है।

ऋषभदेव : उदयपुर से दक्षिण की ओर ६४ किलोमीटर दूर पर स्थित अखिल भारतीय महत्त्व एक और तीर्थ-स्थान ऋषभदेव है। जैन-धर्म के प्रथम तीर्थंकर

श्री ऋषभदेव भगवान का यह मंदिर १४वीं शताब्दी के पूर्व बनाया गया था। यद्यपि देश में और विशेषतया राजस्थान में बड़े-बड़े जैन मंदिरों का जाल बिछा हुआ है, तथापि भारत-भर के जैन धर्मावलंबी इस मदिर की यात्रा को कार्मिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इस क्षेत्र के आदिवासी ऋषभदेव की मूर्ति को 'काला बाबा' के नाम से पुकारते हैं और वे इसी रूप में उनकी पूजा करते हैं।

रामद्वारा : राजस्थान की पवित्र-भूमि को एक और संप्रदाय का अखिल भारतीय केंद्र होने का सम्मान प्राप्त है। भीलवाड़ा जिले के शाहपुरा कस्बे में रामस्नेही संप्रदाय का सबसे प्रमुख रामद्वारा है, जहां संप्रदाय के सबसे बड़े महंत निवास करते हैं। रामस्नेही संप्रदाय द्वारा आयोजित फूलडोल के मेले के अवसर पर संप्रदाय के अनुयायियों के अलावा इस क्षेत्र के हजारों लोग मेले में भाग लेने एकत्रित होते हैं।

सवाई-भोज : भीलवाड़ा जिले में आसींद के निकट ११वीं शताब्दीं में बना सवाई भोज का मंदिर-समूह है। इस देवस्थान के पीछे क्षत्राणी जैमती और गूजर जाति के बगड़ावत सवाई भोज के प्रेम की अमर कहानी है। जैमती और सवाई भोज के संबंधों को लेकर बगड़ावतों और राणके राजा दुर्जनशाल के बीच ठन गयी। राठौला तालाब के निकट दोनों पक्षों में घमासान युद्ध हुआ जिसमें सवाई भोज और उसके कई भाई शहीद हुए। स्वयं जैमती युद्ध करती हुई मारी गयी। सवाई भोज की पहली पत्नी साढ़ू को छोड़कर अन्य बगड़ावत महिलाएं या तो लड़ाई में काम आयीं या जलकर भस्म हो गयीं। साढ़ू अपने नवजात शिशु देवनारायण के लालन-पालन के लिए जिंदा रही और उसे लेकर अपने मायके उज्जैन चली गयी। यह बालक बड़ा होनहार, वीर और प्रतिभाशाली निकला। बड़ा होने पर वह अपनी ननिहाल से मेवाड़ लौटा और अपने परिवार के शत्रुओं से बदला लिया। गूजर लोग देवनारायण को जीते-जी भगवान का अवतार मानने लगे थे। धीरे-धीरे उसके नाम से एक अलग पंथ ही चल गया। आज राजस्थान और मध्यप्रदेश में देवनारायण के नाम से अनेक देवरे बने हुए हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध देवरा या मंदिर सवाई भोज में है। आसींद के निकट खारी नदी के तट पर सवाई भोज के मंदिर-समूह में देवनारायण, भोज, भूणाजी और नियाजी आदि बगड़ावतों की मूर्तियां स्थापित हैं। पास ही राठौला तालाब पर जैमती का मंदिर और अन्य बगड़ावत योद्धाओं के स्मारक के रूप में चबूतरे बने हुए हैं। यह स्थान न केवल भारत-भर के गूजरों का वरन् क्षेत्र की अन्य जातियों का भी प्रमुख तीर्थ-स्थान बन गया है।[1]

रामदेव का मंदिर : जैसलमेर जिले की फलोदी तहसील के रूणेचा गांव में अनुसूचित जातियों का भारत प्रसिद्ध बाबा रामदेव का मंदिर है। तंवर क्षत्रिय रामदेव और उसकी हरिजन शिष्या डाली बाई ने अपना सारा जीवन अनुसूचित जातियों की सेवा में समर्पित कर दिया था। इसी कारण वे उक्त जातियों के मसीहा बन गए।

१. देवनारायण की विस्तृत कथा श्रीमती लक्ष्मीकुमारी चूंडावत द्वारा मेवाड़ी भाषा में लिखित 'बगड़ावत देवनारायण महागाथा' नामक ग्रंथ में पढ़िये।

मंदिर में बाबा रामदेव और डाली बाई की समाधियां बनी हुई हैं। यों तो गांव-गांव में रामदेव जी के देवरे मिलेंगे, परंतु रुणीचा में बाबा का समाधिस्थल होने से देश के कोने-कोने से उनके लाखों अनुयायी वहां की तीर्थ-यात्रा पर आते हैं।

नारायणा का दादू-द्वारा : दादू-पंथ के प्रवर्तक स्वामी दादू दयाल के देश में और विशेषतया राजस्थान में बड़ी संख्या में अनुयायी हैं। दादू-पंथी निराकार परब्रह्म की उपासना करते हैं। दादू जी १७वीं शताब्दी के शुरू में ही पैदा हुए थे। उनका देहांत जयपुर जिले के नारायणा नामक स्थान पर हुआ था। यहां के दादू-द्वारे में दादू जी के कपड़े और पुस्तकें रखी हुई हैं जिनकी पूजा की जाती है। राजस्थान और अन्यत्र कई जगह दादू-द्वारे बने हुए हैं। परंतु नारायणा को दादू-पंथियों की खालसा-शाखा का मुख्य केंद्र होने का सम्मान प्राप्त है।

जांभो जी का समाधि-स्थल : पंवार क्षत्रिय-कुल में पैदा हुए संत जांभो जी ने १६वीं शताब्दी में विश्नोई संप्रदाय की नींव डाली। इस संप्रदाय के २० और ९ सिद्धांत हैं। इसी कारण जांभो जी का संप्रदाय विश्नोई संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जांभोजी जोधपुर के पीपासर गांव में पैदा हुए। उन्होंने बीकानेर के तालवा ग्राम में समाधि ली थी। इस कारण तालवा विश्नोई संप्रदाय का तीर्थ-स्थान बन गया। वहां हर वर्ष जांभो जी की याद में मेला लगता है जिसमें भारत-भर के विश्नोई भाग लेने आते हैं।

राजघरानों के मंदिर

राजस्थान के राजाओं ने विभिन्न स्थानों में कई महत्त्वपूर्ण देवस्थान बनाए थे जो कालांतर में जन-साधारण के लिए भी तीर्थ बन गए। उदयपुर से २५ किलोमीटर दूर कैलाशपुरी में मेवाड़ के महाराणाओं के कुल-देवता एकलिंग जी का मंदिर स्थित है। इस मंदिर को १२ सौ वर्ष पूर्व गुहिल वंश के बापा रावल ने बनाया था। मंदिर में चौमुखी शिवलिंग है। इसके साथ ही साथ मंदिर में पार्वती, कार्तिकी, गंगा, जमुना और गणेश की प्रतिमाएं विद्यमान हैं।

बीकानेर से ३२ किलोमीटर दूर देशनोक नामक स्थान पर करणी माता का मंदिर है जिसे बीकानेर के राठौड़ राजाओं ने १६वीं शताब्दी में बनवाया था। करणी माता चारण जाति की एक महिला थी जिसके आशीर्वाद से राठौड़ों ने बीकानेर राज्य को स्थापित किया था। बीकानेर का राज-परिवार ही नहीं, क्षेत्र की आम जनता भी इस स्थान को तीर्थ मानती है। यहां की एक विशेषता यह है कि मंदिर में हर समय भारी संख्या में चूहे स्वच्छंदतापूर्वक विचरते रहते हैं।

जयपुर के उत्तर-पूर्व में स्थित आमेर के किले पर शिलादेवी का मंदिर है। देवी की यह मूर्ति राजा मानसिंह १६वीं शताब्दी में बंगाल से लाया था। तभी से जयपुर के कछवाहा इसे अपनी कुलदेवी मानते हैं। आज भी आमेर के किले पर जाने वाले यात्रियों और अन्य कई भक्तों का शिलादेवी के दर्शनों के लिए हर रोज तांता लगा रहता है।

अन्य तीर्थ-स्थान

राजस्थान में और भी अनेक तीर्थ हैं जिनका क्षेत्रीय और स्थानीय महत्त्व है। जयपुर के पूर्व में एक सुंदर पहाड़ी पर हिंदुओं का प्रसिद्ध तीर्थ गलता स्थित है। कहते हैं कि यहां पर गालब ऋषि का आश्रम था। पहाड़ी पर अनेक मंदिर बने हुए हैं जिनमें सूर्य और हनुमान के मंदिर प्रसिद्ध हैं। यहां कई प्राकृतिक झरने बहते हैं। इन झरनों का पानी दो कुंडों में एकत्रित होता है। ये कुंड गंगा नदी की तरह पवित्र माने जाते हैं। एक कुंड में लोग स्नान कर अपने-आपको पवित्र करते हैं और दूसरे कुंड में अपने मृतकों की अस्थियां प्रवाह करते हैं। जयपुर जिले में ही डिग्गी में कल्याण जी का मंदिर है जो राजस्थान का एक प्रमुख वैष्णव तीर्थ माना जाता है।

सवाई जोधपुर जिले के करौली कस्बे से १६ किलोमीटर दूर केला ग्राम में पहाड़ियों के बीच स्थित महालक्ष्मी केलादेवी का एक प्राचीन मंदिर है। यह मंदिर ११वीं शताब्दी के पूर्व का बना हुआ है। इस मंदिर का जीर्णोद्धार सन् ११४३ में खींची राजपूतों ने कराया था। सन् १४०७ में इस मंदिर पर करौली के यदुवंशी राजाओं का अधिकार हो गया। उन्होंने केलादेवी को अपनी कुलदेवी के रूप में स्वीकार कर लिया। यह मंदिर इस क्षेत्र का लोकप्रिय तीर्थ बन गया है एवं सदियों से हरिजनों सहित सभी जातियों के लिए खुला हुआ है। मंदिर में कई पौराणिक और ऐतिहासिक चित्र हैं। यहां पर चैत्र महीने में १५ दिन के लिए विशाल मेला लगता है जिसमें देश के अनेक भागों से केलादेवी के दर्शन हेतु हजारों यात्री आते हैं। सवाई माधोपुर जिले में ही श्री महावीर जी का प्रसिद्ध मंदिर है जो दिगंबर जैनियों का प्रमुख तीर्थ-स्थान है।

चित्तौड़ जिले के राशमी ग्राम के पास मातृकुंडा नामक स्थान है, जहां पर तीन नदियां मिलती हैं। यहां वर्ष में एक बार बड़ा भारी मेला लगता है। उस अवसर पर त्रिवेणी में स्नान करने हेतु लाखों यात्री आते हैं। इसी जिले में भैंसरोडगढ़ के निकट बाडोली नामक स्थान पर शिव का मंदिर है जो ८वीं शताब्दी में बनाया गया था। देलवाड़ा और रणकपुर के मंदिरों के बाद कारीगरी की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण मंदिर है।

डूंगरपुर जिले में सागवाड़ा से ११ मील दूर गलियाकोट में मीर फखरुद्दीन साहब की दरगाह है जो दाऊदी बोहरों का तीर्थ-स्थान है। ख्वाजा साहब की दरगाह के बाद राजस्थान में मुसलमानों का यह सबसे बड़ा तीर्थ-स्थान है।

उदयपुर जिले में गडबोर स्थित चारभुजा का प्रसिद्ध मंदिर स्थित है, जहां प्रतिदिन सैकड़ों की संख्या में चारभुजा के दर्शन करने वाले यात्री आते रहते हैं।

●●●